AALOCHNA

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
पुस्तकालय

विषय संख्या
पुस्तक संख्या
आगत पंजिका संख्या

पुस्तक पर किसी प्रकार का निशान लगाना वर्जित है। कृपया १५ दिन से अधिक समय तक पुस्तक अपने पास न रखें ।

079551

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

Stock Verification-2004

Stock Verification-2004

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

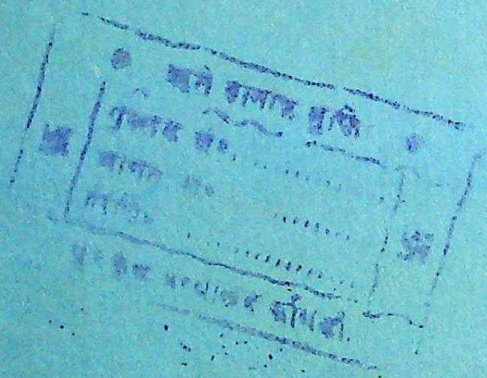

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

आलोचना

त्रैमासिक

सम्पादक : नामवर सिंह

079551

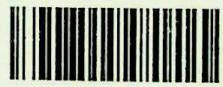

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना त्रैमासिक

सम्पादक : नामवर सिंह • प्रबन्ध सम्पादिका : शीला सन्धू

इस अंक में

विचारों से विदाई पर एक अभिभाषण
अशोक वाजपेयी १

पाँच कविताएँ
मलयज ८

बिम्ब प्रक्रिया
रामस्वरूप चतुर्वेदी १०

एक तरह से देखो तो
विपिन कुमार अग्रवाल २२

साहित्य क्यों
नित्यानन्द तिवारी २७

लेखक और आलोचक : विकासमानता का प्रश्न
देवराज ३१

भाषा और सृजनशीलता
रमेशचन्द्र शाह ३८

बिलकुल वही
प्रभात कुमार त्रिपाठी ४७

आधुनिक त्रासदी : बलिदान और क्रान्ति
रमेश कुंतल मेघ ४९

एन्सडिटी : संप्रत्ययात्मक विश्लेषण
देवकीनन्दन द्विवेदी ६२

ओसिप मेंदलस्तम की पाँच कविताएँ
कमलेश ६८

परिवर्तित नैतिक मूल्य और साहित्यकार की स्थिति
यशदेव शल्य ७२

वक्रोक्ति सिद्धान्त : आधुनिक परिप्रेक्ष्य
विजेन्द्रनारायण सिंह ७९

अमूर्त ज्यामिति से बाहर
मलयज ८७

विजय सोनी की चित्र-प्रदर्शनी पर
शमशेर बहादुर सिंह ९१

मूल्यांकन :

अप्रासंगिकता के कगार पर
अधुनातन का प्राध्यापकीकरण
विष्णु खरे ९२, ९७

मध्यकालीन रसदर्शन और समकालीन सौन्दर्यबोध
आनन्दप्रकाश दीक्षित १००

आधुनिकता के संदर्भ में एक सार्थक 'सोच'
विजय मोहन सिंह १०६

भावुकता के बावजूद
नित्यानन्द तिवारी १०८

विनिमय :

विश्वविद्यालय और साहित्य-शिक्षा
कर्णसिंह चौहान ११२

ऊँची शिक्षा के ताजमहल
नरेन्द्र प्रताप सिंह ११७

वर्ष १८ : नवांक १२, (पूर्णांक ४९) जनवरी-मार्च १९७०, मूल्य ३.००
वार्षिक—साधारण डाक द्वारा १२.००—रजिस्टर्ड डाक द्वारा १५.००
विदेशों में—१६.००

शिक्षा निदेशालय, दिल्ली के परिपत्र संख्या डी० ई० वी०/८/एस० ई० लायब्रेरी/मैग०/१९६७-६८ दिनांक २०-१-६८ एवं उपनिदेशक, समाज शिक्षा, राजस्थान के पत्रांक पु० प्र०/१/एफ/११-६८/५०५ दिनांक ६-९-६९ के अनुसार स्कूलों के पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिए स्वीकृत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

029551

CHECKED 1973

विचारों से विदाई पर एक अभिभाषण

अशोक वाजपेयी

शायद इस बात से कोई असहमत न हो कि बीसवीं सदी में सारी दुनिया में विचारों का भीषण टकराव हुआ है। कुछ इस तरह का कि इस सदी में यह वैचारिक टकराव किसी भी रचनात्मक या बौद्धिक कर्म का एक स्थायी सन्दर्भ बन गया है। इसके सिर्फ बौद्धिक या रचनात्मक ही नहीं बल्कि मानवीय नतीजे निकले हैं क्योंकि इस टकराव ने संगठित राजनीति के माध्यम से रोज़मर्रा का और साधारण लोगों का जीवन भी प्रभावित और नियमित किया है भले ही उन्हें अक्सर विचारों का सीधा या सार्थक अहसास न रहा हो। अलग-अलग अनुशासनों में विचारों की अलग-अलग भाषाएँ भी विकसित हुई हैं और ऐसी स्थिति आ गई है कि इन भाषाओं में कोई आपसी संवाद लगभग असम्भव हो गया है। लेकिन भाषाओं की बहुलता और उनके बीच संवादहीनता का असर रचनात्मक भाषा पर पश्चिम में बहुत स्पष्ट और गहरा पड़ा है—इस हद तक कि रचनात्मक भाषा के लिए सतह पर आ जाना एक ट्रैजिक-सी बाध्यता हो गई है। शायद यह कहना अनुचित न होगा कि पश्चिम के समूह-समाजों में रचनात्मक भाषा में अभिव्यक्ति की कोशिश करना उस पर बढ़ते दबावों के रहते एक खतरनाक और ट्रैजिक निर्णय लेना है। शब्द का सतह पर अपनी जीवंतता के लिए जैसे चिपट जाना पश्चिम की भाषाओं के लिए जिस तरह की अनिवार्यता हो गया है उस तरह की अनिवार्यता या परिस्थिति हिन्दी में बल्कि भारत में पैदा हो गई है, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है।

हमारा सोच-विचार जो थोड़ा-बहुत होता है, हमारी भाषाओं में नहीं है और इसलिए चिन्तन की विशिष्ट शब्दावलियों का रचनात्मक भाषा पर कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं है। फिर इस सोच-विचार का हमारी रचनात्मक मानसकता या संस्कारों पर भी कोई सीधा प्रभाव नहीं है। अगर पश्चिम में मनुष्य की हालत को ठीक-ठीक पहचानने और समझने की कोशिश करने का मतलब परिभाषाओं की बहुलता से जूझना है तो हमारे देश में ऐसी कोशिश करना वैचारिक अस्पष्टताओं और अपरिभाषित प्रसंगों का सामना करना है। इस स्थिति का एक नतीजा साफ़ है और वह है भारतीय जीवन में प्रायः हर स्तर पर विचार और कर्म के बीच कटाव और असम्बद्धता। सबसे खुले ढंग से यह संगठित राजनीति के क्षेत्र में है जहाँ विचारों को कर्म में बदलने की रसायन-भाषा अभी तक विकसित नहीं हो पायी है। एक हवाई और धुँधले ढंग से विचार को पकड़ने का एक हश्र हर पार्टी का समाजवाद का पल्ला पकड़ना और उसकी चीख-पुकार करना है। अगर लोक-जीवन में विचार और कर्म कटे हैं याने या तो विचारहीन कर्म है या फिर कर्मच्युत विचार, तो साहित्य में विचार और कर्म अगर असम्बद्ध होते गए हैं तो इसमें अचरज न होना चाहिए।

पर अचरज न सही, दुख तो होता ही है। क्योंकि विचार और कविकर्म की असम्बद्धता में रचनात्मक भाषा और भारतीय मनुष्य की हालत दोनों का एक भयावह सरलीकरण छुपा हुआ है। अगर यह मान लिया जाए कि साहित्य समकालीन मनुष्य की हालत की गहरी पहचान और समझ को चरितार्थ करता है तो यह स्पष्ट है कि इस असम्बद्धता के कारण यह पहचान कितनी धुँधली और यह समझ कितनी उथली हो सकती है।

यहाँ शायद यह स्पष्ट कह देना प्रासंगिक होगा कि यह बिल्कुल ज़रूरी नहीं है कि महान् विचार से महान् कविता पैदा ही हो। शायद बिना विचारों और विचारशीलता के कोई कविता महान् नहीं हो सकती। यह कहना ज़रूरी न होना चाहिए कि विचार को किसी विचार-प्रणाली से जोड़ना अनिवार्य नहीं है और यदि यह बिलकुल ज़रूरी नहीं है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्हीं विचारों का अपने सन्दर्भ को समझने के लिए इस्तेमाल करने वाला कवि किसी विचार-प्रणाली से प्रतिबद्ध हो ही। टी० एस० इलियट की दिलचस्पी पश्चिमी मनुष्य की आध्यात्मिक सचाई की खोज में थी और इसलिए उन्होंने रोमन कैथोलिक ईसाइयत, उसकी आस्थाओं और प्रतीक रूपकों का इस्तेमाल किया, लेकिन इसलिए उसे रोमन कैथोलिक कवि कहकर उसकी कविता का कलात्मक और मानवीय सन्दर्भ सीमित करना उस कविता की महानता और परिणतियों को अधूरा देखना होगा। ठीक इसी तरह मुक्तिबोध ने समकालीन सचाई की भयानकता को पकड़ने के लिए ऐसे औज़ारों का, जो अस्तित्ववादी जान पड़ते हैं और सचाई को समझने के लिए मार्क्सवादी विश्लेषण और धारणाओं का इस्तेमाल किया। लेकिन इसलिए उनके कृतित्व को मार्क्सवादी या अस्तित्ववादी या दोनों क़रार देना उचित नहीं है। कविता में विचारों का आत्यंतिक महत्त्व नहीं है—सवाल यह है कि क्या वे विचार कुछ प्रासंगिक उजागर करते हैं। अगर नहीं तो वे हस्तक्षेप होकर रह जा सकते हैं। लेकिन यह भी सच है कि बिना विचारों के याने बिना किन्हीं विचारों में जड़ जमाए कविता निरी ऐन्द्रिक फुरफुरी या तुच्छ खिलवाड़ भर रह सकती है। विचारहीन कविता कभी भी मनुष्य की हालत की कोई सार्थक पहचान या कोई समझ उत्तेजित नहीं कर सकती। यह इसलिए भी कि शुद्ध संवेदनात्मक स्तर पर, फिर संवेदना कितनी भी पैनी और धारदार क्यों न हो, आज के मनुष्य और उसकी ज़िन्दगी की जटिलताओं, तनावों और अन्तर्विरोधों को समझ पाना, बल्कि ठीक से पहचान भी पाना, असंभव है। अगर समकालीन दुनिया और सचाई का उनकी पूरी जटिलताओं के साथ साक्षात्कार साहित्य की मूल प्रतिज्ञा है तो यह साक्षात्कार बिना विचारों से उलझे और उन्हें जज़्ब किए न तो पूरा हो सकता है और न ही गहरा और प्रासंगिक। संवेदना की यों भी सीमाएँ हैं हर समय में, लेकिन आज की जटिल और अबूझ होती जाती सभ्यता में तो वे एकदम स्पष्ट और प्रखर हैं। दूसरे, कवि-संवेदना के बौद्धिक ही नहीं मानवीय सन्दर्भ का एक महत्त्वपूर्ण भाग विचार और उनका टकराव है। उनसे कोई सरोकार न रखना या इस टकराव को नजरन्दाज़ करना इस सन्दर्भ से कटना है, लगभग सन्दर्भहीन हो जाना है।

यह है वह व्यापक ढाँचा जिसमें मुझे आज के साहित्य के बारे में कुछ कहना है। अगर थोड़ी अतिरंजना का सहारा लेने को आप मुआफ़ करें तो मुझे लगता है कि युवालेखन का एक बहुत बड़ा अंश ऐसा है जिसे विचारहीन लेखन कहा जा सकता है। निश्चय ही एक ऐसा भाग भी है जो विचारहीनता की इस नयी दकियानूसी से अलग है और ऐसे भी कई लेखक हैं जिनमें किसी हद तक दोनों प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं—लेकिन पूरे दृश्य पर अधिक आतंक विचारहीन लेखन का है और वही सबसे मुखर है। इस विचारहीनता के पहलू कई हैं। कुछेक में यह इसलिए है, जैसे कि और लेखक, युवालेखक भी बौद्धिक काहिली का शिकार है। और उनमें न तो इतनी प्रतिभा और न ही इतना धीरज है कि वे अपनी स्थिति की बौद्धिक और नैतिक परिणतियों की पड़ताल कर सकें या उनका सामना करने का साहस कर सकें। तथाकथित अकवियों में से ज़्यादातर इसी कोटि के लेखक हैं। अन्यथा उनकी बेहद रूमानियत इतने किशोर-सुलभ बड़बोलेपन से व्यक्त न होती और न ही स्त्री को एक चीज़ भर मानने की मध्यकालीन हरकत आधुनिकता की एक परम विद्रोहमूलक मुद्रा के रूप में प्रस्तुत होती। अकवियों ने असंगति को भी अपने साहित्यिक दर्शन का एक मुद्दा बनाया है। इस मुद्रा की निपट दरिद्रता और अप्रासंगिकता बताने के लिए इतना ही कहना काफ़ी होगा कि उसके पीछे भारतीय मनुष्य की हालत का कोई बखान नहीं है और सारी बात एक समुन्नत समाज और समूह-संस्कृति के सन्दर्भ में ही समझ में आ सकती है। यह भले ही बड़ा खेदजनक हो, लेकिन सही है कि हमारा तात्कालिक सन्दर्भ न तो समृद्धि का है और न ही समूह-संस्कृति का। अकविता इसीलिए एक स्तर पर हमारे मध्यवर्गीय उठाईगीरपन की एक अभिव्यक्ति है जैसे कि पब्लिक स्कूलों में पढ़ रहे बच्चों का रहन-सहन, सोचने का ढंग और उनके खेल-तमाशे। एक दूसरे स्तर पर वह अकवियों के सामाजिक पिछड़ेपन की कुण्ठा को दुरुस्त करने का एक ज़रिया है क्योंकि उससे एक ऐसे अभिजात्य में शामिल हुआ जा सकता है जिसमें समृद्धि के सभी नये और उठाईगीर प्रतीक जमा हैं और जहाँ एक अतृप्त 'टीनएज', स्त्रियों के अभाव और ऐसी ही दूसरी ललकों को पूरा करने का कम-से-कम एक शाब्दिक छद्म बन सकता है। भारतीय जीवन की सबसे क्रूर विसंगतियाँ उस दुनिया की नहीं हैं जहाँ बड़े शहर और उनके रेस्तराँ, क्लब-डिस्कोथिक् हैं बल्कि उस दुनिया की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं जहाँ हर स्तर पर जाति-प्रथा का कड़ा होता शिकंजा है, साधारण मनुष्य को अपनी भाषा की दुनिया से काटने की अमानवीयता है, आदि-आदि। इन सचाइयों को अगर अकविता नज़रन्दाज़ करती है तो इसलिए कि इन्हें रचनात्मक स्तर पर खोजने के लिए जिस वैचारिक निष्ठा और बौद्धिक पड़ताल की ज़रूरत है उसके लिए आसानी से उपलब्ध समृद्धिमूलक विसंगतियों के आकर्षण के रहते न तो फ़ुरसत है और न ही उसके लेखे ज़रूरत ही। स्थापित व्यवस्था को इस बौद्धिक काहिली से मदद भी मिलती है और अन्यथा करने से उसे चोट पहुँच सकती है जो करना अकवि नहीं चाहते। स्त्री-पुरुष की एक अमूर्त दुनिया को ही अपना केन्द्र बनाने में एक स्पष्ट राजनीति है—उससे मध्यवर्गीय कुत्सा और सनसनीखेज़ी तुष्ट होती है और स्थापित व्यवस्था भी कोई आघात या आपत्ति महसूस नहीं करती। वैचारिक दलिद्दर और गड्डमड्ड आधुनिक स्थापित व्यवस्था के बहुत अनुकूल हैं और वैचारिक स्पष्टता के जो नैतिक और भौतिक निष्कर्ष निकलते हैं उनसे इस तरह साफ़ और सुरक्षित ढंग से बचा जा सकता है।

बौद्धिक काहिली के अलावा और अकवितावादियों से अलग भी युवा कवियों की एक बड़ी जमात ऐसी है जिसने अबुद्धिवाद या इर्रेशनल को अपनी रचना का मूल आधार बनाया है और एक नयी आदिमता प्रतिष्ठित करने की कोशिश की है। अगर कुछ समुन्नत-समृद्ध-समाजों में बुद्धिवाद के विरुद्ध ऊब या अरुचि हुई है तो इसलिए कि उस पर आधारित चिन्तन-भाषाओं ने उसे उसकी अन्तिम परिणतियों तक याने एक अन्धे अन्त तक पहुँचा दिया है। दूसरे, यूरोप में दूसरे महायुद्ध के रूप में बुद्धिवाद की एक भयानक परिणति, खासकर नाज़ियों द्वारा उसके कुछ प्रमुख औज़ारों, जैसे सूक्ष्मता और सक्षमता, के इस्तेमाल के रूप में, हुई और इसलिए बुद्धिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। लेकिन यह अबुद्धिवाद सभ्यता और सवाल की जटिलताओं से कतराने का तरीका नहीं बल्कि उन जटिलताओं के लिए बुद्धिवादी औज़ार और धारणाएँ अपर्याप्त हो जाने के कारण बुद्धिवाद की सीमाओं से आगे जाने की कोशिश है। वह बुद्धि का नकार उतना नहीं जितना कि उसका अतिक्रमण है। लेकिन युवा कवियों का अबुद्धिवाद अक्सर इस किस्म का नहीं है—वह बुद्धिवाद का उसकी सीमाओं का नाकाफ़ीपन के कारण अतिक्रमण नहीं, बुद्धि-विरोध है। बुद्धि से अबुद्धि की ओर जाना कोई नयी या आधुनिक प्रक्रिया ही है ऐसा नहीं है। बल्कि एक माने में तो सारी महान् कला अबुद्धि में अपनी जड़ें फेंकती है। लेकिन हाल ही एक कवि मुक्तिबोध में इस प्रक्रिया को ज़्यादा सीधे देखा जा सकता है। मुक्तिबोध के काव्य-संसार में बौद्धिकता के साथ-साथ अबुद्धि, अर्थात् बुद्धि से परे का दबाव बहुत गहरा है। मुक्तिबोध का चारित्रिक फार्म फेण्टेसी बुद्धि से अबुद्धि की ओर जाने का, दोनों के बीच अन्तर्क्रिया का ही माध्यम है। लेकिन इस अत्यन्त समृद्ध मानवीय कविता में कहीं भी बुद्धि से अपसरण या बुद्धि-विरोध नहीं है और यह भी एक कारण है कि इस कविता में सारे समकालीन तनाव जीवन्त और तात्कालिक होकर उसे जटिल बनाते हैं और बुद्धि-विरोधी कविता का आयासहीन सरलदिमाग़ीपन उसमें असम्भव है। लेकिन युवा कवियों का बुद्धि-विरोध सीधा, सपाट और सरलदिमाग़ी है। सौमित्र मोहन की लम्बी कविता 'लुकमान अली' और मणि मधुकर की 'खण्ड खण्ड पाखण्ड पर्व' इसी बुद्धि-विरोध और उससे निकलने वाले सरलदिमाग़ीपन के दिलचस्प उदाहरण हैं। उनके पीछे किसी तरह की वयस्क समझ नहीं है भले ही छिट-पुट सौन्दर्यमूलक आस्वाद के लिए कुछ विचारों को किशोर-उत्साह में इधर-उधर फेंक दिया गया हो। बल्कि लगता है कल्पनाशीलता को अविवेक का पर्याय मान लेने का ये कविताएँ सीधा नतीजा हैं। विचारों के प्रति ऐसे कवियों की दृष्टि का बखान कैलाश वाजपेयी के इन शब्दों में किया जा सकता है—

पर जब सभी कुछ
ऊल ही जलूल है
सोचना फ़िजूल है···

यह एक दिलचस्प संयोग है कि स्थापित व्यवस्था के प्रायः सभी पक्षों में सोचने का फिजूलपन एक तरह से मूल प्रतिज्ञा है। जातिप्रथा, नौकरशाही, गोहत्या-विरोध, साम्प्रदायिक दंगे, इन सबकी पकड़ हिन्दुस्तानी नागरिक पर इसीलिए है कि उसने सोचना फिजूल मान लिया है—विवेक की ओर हलकी-सी कोशिश भी इन पर यानी स्थापित व्यवस्था पर चोट करती है। उस समाज में, जिसमें अधिकांश लोगों को सिर्फ अविवेक और अबुद्धि के कारण अमानवीय ज़िन्दगी बिताने, "मनुष्य से एक दर्जा नीचे"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहने को बाध्य होना पड़ता है, सोचने को फिजूल मानना (भले ही इस धारणा में कितना ही विद्रोही लटका हो) इस अमानवीयता का समर्थन करना है, स्थापित व्यवस्था को मुँहमाँगा सहयोग देना है। उस सबके प्रति सहानुभूति रखना है जो हमारे जीवन में मनुष्य-विरोधी है। इसी सिलसिले में यह बात भी उल्लेखनीय है कि पश्चिम की तरह भारतीय भाषाएँ चिन्तन और विचार का माध्यम नहीं बन पाई हैं। जो कुछ थोड़ा-बहुत सोच-विचार है वह अंग्रेजी में ही है— भारतीय भाषाओं में जो शुरुआत इधर हुई है उसे पकने और इस्तेमाल के योग्य बनने में अभी देर है। इसलिए एक भारतीय लेखक को ऐसे विचारों को पाने-खोजने के लिए स्वयं कोशिश करनी पड़ती है जो भारतीय मनुष्य की आज की हालत को समझने में सहायक हो सकें। भले ही इससे छद्म दार्शनिकता का खतरा काफ़ी वास्तविक बना रहा हो, भारतीय लेखक एक स्तर पर अपनी बौद्धिक समझ और पकड़ को प्रासंगिक और पैनी करने के लिए विचारक बनने को बाध्य है। युवा लेखक अगर सोचने को फिजूल मानते हैं तो रचनात्मक भाषा के इस आपद्कर्तव्य को तो बलाए-ताक रखते ही हैं, भारतीय मनुष्य की सच्ची स्थिति से अपना किसी भी तरह का सरोकार समझ के स्तर पर काट लेते हैं।

विचारों से कटाव, बुद्धि-विरोध और समझ के अभाव का ही एक नतीजा बहुत सारे युवालेखन का छिछोरापन और तुच्छता है। हिन्दी के रचनात्मक मुहावरे के साथ जुड़ी जो यादें, प्रतीक-ध्वनियाँ, चित्रमालाएँ, विन्यास हैं उनका तो युवा-संवेदना से कोई सम्बन्ध बाकी रहा नहीं है और विचारों से विदाई ले लेने के बाद तो इस लेखन का उस पूरे जातीय संसार से हिन्दी के मातृलोक से कोई सरोकार ही नहीं रहा है। कहीं-न-कहीं सपाटबयानी इसकी ही एक अभिव्यक्ति है— विचारों और अपने मातृलोक से कटी भाषा में जानबूझकर या किसी ट्रैजिक विडम्बना के स्तर पर नहीं, अपनी असमर्थताओं के कारण सपाटता और सतहीपन है। यही नहीं कि वह एक विपन्न भाषा है, वह एक चरम अर्थ में अनुत्तरदायी भी है। अगर आप फिर अतिरंजना करने की मोहलत दें तो मुझे लगता है कि इस सिलसिले में यह कहना ग़लत न होगा कि यह लेखन मातृभाषा का या मातृभाषा में लेखन नहीं है।

भाषा को उसके मातृलोक से और उसकी जड़ों से काटने का मतलब अन्ततः उसे 'डिह्यूमेनाइज़' करना है। इसका सिर्फ एक पहलू उन कविताओं में उभरता है जो लीलाधर जगूड़ी, चन्द्रकान्त देवताले, सौमित्र मोहन, आदि से लेकर मंगलेश डबराल और त्रिनेत्र जोशी जैसे कवियों ने जनतंत्र, प्रजातन्त्र, संविधान, संसद, देश आदि शब्दों का इस्तेमाल करते हुए लिखी हैं। धूमिल, कमलेश, श्रीराम वर्मा और विनोदकुमार शुक्ल जैसे कवि भी, जिन्होंने उत्तरदायी कवि-कर्म की संभावना को अपने दूसरे कृतित्व द्वारा जीवंत रखा है, इसके शिकार हुए हैं। इन कविताओं में समझ और नैतिक विवेक दोनों का दिवालियापन ज़ाहिर होता है। इन शब्दों का इस्तेमाल इन्हें चीज़ों के रूप में, उनमें व्यंजित विचार-पद्धति या जीवन-पद्धति या मूल्य को बिल्कुल नज़रन्दाज़ कर रिड्यूस करके किया जा रहा है।

इक्कीसवीं शताब्दी को—
इस बेरौनक गोचर लोकतंत्र में जब जीना है तो
वेश्या की सार्वजनिक योनि से संभव करना है।
न्याय की सड़ी हुई गलियों में
वह सम्भोग और संविधान के बीच
चीज़ों के चेहरे मिटा देगा

(मंगलेश डबराल)

जिस पर कोई नहीं खाना चाहता
आज़ादी एक जूठी थाली है।

(लीलाधर जगूड़ी)

गोया मैंने ही हत्या कर दी है
राह चलते हुए उस एक निरपराध व्यक्ति की
वह राष्ट्रीयता भी हो सकती है
और गणतंत्र भी

(देवेन्द्रकुमार)

इन सब कविताओं में गणतन्त्र या संविधान या आज़ादी जैसे शब्दों का उपयोग सिर्फ़ 'चित्र' के रूप में किया गया है और युवा छिछोरेपन का एक और नमूना है। विचार के प्रति घोर ऊब किस तरह नैतिक असंवेदना की ओर ले जाती है—यह भी इन कविताओं में साफ़ दीख पड़ता है। दूसरे प्रजातन्त्र या संविधान या वेश पर कुछ भी कहने का, लफ़्फ़ाजी करने या अपनी चुस्तबयानी आज़माने का अधिकार बिना किसी तरह के वैचारिक टकराव के सिर्फ़ भाषायी धौंस के दम पर पा लिया मान लेना न सिर्फ़ अतर्कित है बल्कि कवि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के निकट अनुत्तरदायी या बाक़ी सबको बेवकूफ़ मानने का ही नतीजा हो सकता है। यह कविता हिस्सेदारी की कविता नहीं है: मेरा गणतन्त्र, मेरा देश, मेरी आज़ादी में 'मेरा' 'मेरी' शोभापरक विशेषण भर है अन्यथा ज़्यादातर कविताओं में गणतन्त्र या देश कवि से बिलकुल अलग-थलग 'वहाँ' रखी हुई चीज़ें हैं जिन पर उसे किसी भी तरह का फ़ैसला देने की फ़ुरसत और हक़ किसी नैतिक विवेक के अनुपस्थित होने के कारण सहज प्राप्त है।

यह आकस्मिक नहीं है कि ऐसी अधिकांश रचनाओं का स्वर या तो पैग़म्बराना है या शहीदाना। दोनों ही स्थितियों में कवि लोकतंत्र या देश से नैतिक दृष्टि से बेहतर प्रगट होते हैं। सारे देश और प्रजातंत्र को, राजनीति, संविधान और संघ संसद को शूद्र और अधम करार देते हुए ये कवि-लेखक नये ब्राह्मण हैं जिन्हें शास्त्र से शूद्रों का भाग्य-निर्णय करने का असीम अधिकार है। अगर अकवियों की कविताएँ तथाकथित पिछड़ेपन के संदर्भ में अपने सामाजिक उन्नयन का इज़हार है तो कहीं-न-कहीं श्रीकान्त वर्मा जैसे कवियों की कविताएँ अपनी नैतिक श्रेष्ठता का वक्तव्य बन जाती हैं—

कुछ लोग मूर्तियाँ बनाकर
फिर
बेचेंगे क्रान्ति की (अथवा षड्यन्त्र की)
कुछ और लोग
सारा समय
कसमें खाएँगे
लोकतन्त्र की।
मुझसे नहीं होगा।

इस पैग़म्बराना अन्दाज़ में "मैं सब-कुछ जानता हूँ" की मुद्रा भी छिपी हुई है। मणि मधुकर और धूमिल की 'खण्ड खण्ड पाखण्ड पर्व' और 'पटकथा' जैसी कविताओं में यह मुद्रा बहुत स्पष्ट है। चूँकि इस मुद्रा का कोई वैचारिक आधार कविताओं में उपलब्ध नहीं है उन्हें भीषण नैतिक अनुत्तरदायित्व के अलावा कुछ और कहना सम्भव ही नहीं है। यह नैतिक अनुत्तरदायित्व सिर्फ़ सामाजिक सचाइयों तक सीमित नहीं है। जिस तरह की क्रम-परम्परा संविधान गणतंत्र को लेकर है, कुछ उसी तरह की परम्परा स्त्री को लेकर भी है। गणतंत्र की तरह स्त्री को भी एक अधम चीज़ के स्तर पर रिड्यूस किया गया है और यहाँ भी अपने कल्पित-अकल्पित पुरुषत्व की 'इमेज' में गिरफ़्तार युवा लेखकों ने स्त्री पर कुछ भी कहने और उसके साथ कुछ भी करने का अधिकार हथिया लिया है। यहाँ भी पुरुष को स्त्री से श्रेष्ठ मानने-दिखाने का जतन किया गया है।

शहीदाना अन्दाज़ के कवि वे हैं जो अपने को 'लोकतंत्र के शहीद' दिखाने की कोशिश करते हैं जैसे लीलाधर जगूड़ी:

लोकसभा से संयुक्त राष्ट्र संघ तक
हमारी कोई उपयोगिता नहीं
विश्वयोनि में बहुत दिन तक
हम चरित्र की तरह खुजला नहीं सकते

ऐसे कवियों में भी हिस्सेदारी का भाव नहीं है जैसा मसलन् मुक्तिबोध में था। जो कुछ हो रहा है उसका दोष प्रजातंत्र या दूसरों पर डालकर अपने को शहीद बताना न केवल नाबालिग़ समझ है बल्कि एक भयानक नैतिक संवेदनहीनता है।

इस नैतिक संवेदनहीनता का भी कुछ खुलासा ज़रूरी है। नैतिक से मुराद भद्राचार से नहीं, अच्छे-बुरे के भेद से है। अपने को छोड़कर बाकी सबको एकषड्यंत्र में भागीदार समझना, जो हुआ है उसके लिए दूसरों को, फिर दूसरे गणतंत्र हों, भीड़ हो, स्त्री बल्कि स्त्रियाँ हों, दोषी ठहराना और कभी-कभार सौजन्यवश अपने को भी कुछ उत्तरदायी मान लेना नैतिक विवेक का प्रत्याख्यान है। बल्कि यह अपने और दूसरों के बीच के रिश्ते को नीतिहीन अर्थात् अमानवीय बना देना है। इस तरह की 'अमानवीयता' से एक ख़ास तरह का दम्भ और 'हीरोइज़्म' टपकता है। यह आकस्मिक नहीं है कि ऐसे कवियों का मूल स्वर 'हीरोइक' है। कैलाश वाजपेयी जैसे कवियों में तो यह हीरोइक्स उपलक्षित ढंग से किसी 'हीरो' की प्रतीक्षा ही बन जाती है:

कोई भी। नहीं बताना तुम्हें
इस सुअर सभ्यता का
मल ढोते हुए
तुम्हें कहाँ जाना है।

या दूसरी ओर ईसा की तरह का 'हीरोइज़्म' है:

दुनिया भर के आधे पागलों
लफंगों, धूर्तों, सत्तान्धों को लेकर
शर्मिन्दा हूँ।

मुख्तसर यह कि पैग़म्बराना और शहीदाना दोनों ही स्वर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक-दूसरे से घुल-मिलकर एक तरह का 'हीरोइक रिटारिक' बनाते हैं। हालाँकि कभी-कभार "संशय की भाषा में बड़-बड़ाने" की बात भी एकाध कवियों ने की है लेकिन ज़्यादातर यह 'रेटोरिक' अत्यन्त आश्वस्त 'रेटोरिक' है और इन कवियों में अपने ग़लत होने की सम्भावना का कोई क्रियात्मक एहसास नहीं है जो कि बौद्धिकता और विचारशीलता का मूलाधार होता है। भारतीय मनुष्य की पीड़ा से इस रिटोरिक का क्या रिश्ता है ? लेकिन उसके पहले यह पहचानना ज़रूरी है कि साहित्य से अलग जानकारी के सूत्रों से पता चली यह पीड़ा और अन्तःसंघर्ष क्या है। जाति-प्रथा और नौकरशाही में समायी अमानवीयता, अहमदाबाद के दंगे, आन्ध्र प्रदेश में हरिजन बालक को जलाने की घटना, नरबलियाँ आदि लोक-जीवन में उनकी कुछ अभिव्यक्तियाँ हैं। यह 'रिटोरिक' अधिक-से-अधिक इनका अपने काव्य-संसार को विचित्र या रंगारंग बनाने के लिए दृश्यपट के रूप में तो इस्तेमाल करता है लेकिन रचनात्मक स्तर पर इनकी कोई गहरी या सार्थक पड़ताल नहीं करता। हमारे प्रजातंत्र की सही विसंगतियाँ सम्भोग और संविधान के चतुर द्वन्द्व में नहीं शायद ऐसी घटनाओं में हैं। यह 'रेटोरिक' इन विसंगतियों को चरितार्थ नहीं करता—शुद्ध वक्तव्य के स्तर पर ही उनका महत्त्व युवा कवि के लिए तिरोहित हो जाता है। दरअसल यह रिटोरिक और उसके पीछे सक्रिय काव्य-संवेदना में मानवीय पीड़ा के वास्तविक प्रसंगों से प्रतिकृत होने की कोई क्षमता और उत्सुकता नहीं है। जैसाकि जार्ज स्टाइनर ने कहा है कि जो हमें उदासीन छोड़ता है हम उसमें भागीदार हैं। सच्ची अमानवीयता और पीड़ा के सम्मुख उदासीन युवा कविताएँ अपने फलितार्थों में इस अमानवीयता की भागीदार बन जाती हैं।

यह एक दिलचस्प संगति है कि इस लेखन की कुछ विशेषताएँ हमारी राजनैतिक-सामाजिक ज़िन्दगी में व्याप्त वैचारिक गड्डमड्ड, नाबालिग़पन और दृष्टिहीनता से सीधा मेल खाती हैं। शायद इस मेल में यह विडम्बना भी छुपी हुई है कि जो लेखन राजनीति, विचार और संगठन का विरोधी है वह उसी गड्डमड्ड और उठाईगीरपन का इज़हार हो या शिकार हो जिनसे हमारे यहाँ बहुत सारी राजनीति और संगठन ग्रस्त हैं। शायद इसकी और पड़ताल अलग से ज़रूरी होगी कि किस हद तक यह संगति आकस्मिक है और किस हद तक इन दोनों की जड़ें हमारे सामाजिक जीवन के मूल से कहीं पोषण पाती हैं।

लेकिन यह दृश्यालेख अधूरा रहेगा अगर युवालेखन के उस पक्ष की चर्चा न की जाय जिसने विचार-विरोध की इस दकियानूसी से अपने को अलग रखा है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि कुछ ऐसे भी कवि हैं जिन पर इस दकियानूसी का खिंचाव कभी-कभी पड़ा है और वे उसके शिकार भी हुए हैं, लेकिन कुल मिलाकर उन्होंने वयस्क और विवेकपूर्ण ज़िम्मेदारी से लिखना जारी रखा है। दरअसल इस दकियानूसी का इतना आतंक है कि यह ज़रूरी था कि विस्तार से उसके कुछ पहलुओं का विश्लेषण किया जाए।

धूमिल, कमलेश, रघुवीरसहाय, विनोदकुमार शुक्ल, ऋतुराज और श्रीराम वर्मा के नाम लिए जा सकते हैं। धूमिल और रघुवीरसहाय की कविताओं में, फिर वे 'मोची राम' या 'उस औरत की बगल में लेटकर' हो या 'आत्महत्या के विरुद्ध' और 'गिरीश की मृत्यु' हों, वयस्क विचारशीलता है और भले ही इन दोनों कवियों से ही जनतंत्र, संसद वाले चालू मुहावरों का सूत्रपात हुआ हो उन्होंने स्वयं ज़्यादातर उनका 'शब्दीकरण' या उन्हें निरी चीज़ों के रूप में रिड्यूस कर उनकी मानवीयता और मूल्यवत्ता को अवमूल्यित नहीं किया है। धूमिल, कमलेश और विनोदकुमार शुक्ल की ज़्यादातर कविताओं में किसी तरह का 'हीरोइक्स' नहीं है और उनकी भाषा अपने मातृलोक से कटी नहीं है बल्कि मसलन् कमलेश में अपनी जड़ों की ओर उत्कटता से जाती है। इन कवियों में आत्मस्फूर्ति और बड़बोलेपन का लटका भी प्रायः नहीं है। धूमिल की 'मोची राम', कमलेश की 'जरत्कारु', विनोदकुमार शुक्ल की 'उदरस्थ' या 'राज-नैतिक बहस' में ऐसी कविताएँ हैं जिनमें एक सूक्ष्म पर स्पष्ट नैतिक चेतना है और वे कैलाश वाजपेयी के 'रुख', 'हर दिमाग़ एक चकला है' में व्याप्त सरलीकरण और चुस्तबयानी से साफ़ बचकर खोज और तलाश, टटोल के मुहावरे की कविताएँ हैं। रघुवीरसहाय, कमलेश और धूमिल की कविताओं में भी 'मीड़े' हैं लेकिन वे इस बहाने सामाजिक संघर्ष और समाज को सरलीकृत नहीं करते। सरलीकरण से मुक्त रहने का ही एक नतीजा है कि जहाँ पहले किस्म के कवियों की बड़बोली विद्रोही रचनाएँ ज़्यादा-से-ज़्यादा चौंकाती हैं, विनोदकुमार शुक्ल की अबोध—मासूम लगती कविताएँ बेहद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शान्त होते हुए भी विचलित करती हैं। धूमिल ने कहा है, "मुझे अपनी कविताओं के लिए दूसरे प्रजातंत्र की तलाश है। यह हमारी प्रजातांत्रिक व्यवस्था की अपर्याप्तता को पहचान कर प्रजातंत्र को शब्दछद्म न मानकर एक सचाई के रूप में स्वीकार करना है और भारतीय मनुष्य की समकालीन तलाश का, उसकी नयी आक्रामकता का सीधा और नाटकीय वक्तव्य भी। अगर आप एक सामान्यीकरण करने की इजाज़त दें (सामान्यीकरण की सीमाओं को ध्यान में रखते हुए) तो मैं इन दूसरे कवियों को, दूसरे प्रजातंत्र की तलाश के कवि कहना चाहूँगा। विकल्प की खोज हमेशा मानवीय है और वयस्क कर्म भी। उसमें न पैग़म्बर होने का भाव है और न शहीद होने की आत्मदया। यह खोज सोचने को व्यर्थ नहीं मानती बल्कि सचाई को समझने-बूझने और बदलने के लिए सोचना अनिवार्य समझती है, वह सोचने का संकल्प करती है यही खोज साक्षात्कार की खोज है।

अन्त में विचारहीनता वाले लेखन की ओर फिर लौटा जाए जैसे रचनात्मक स्तर पर बुद्धि और विवेक की आवश्यकता और मूल्य में विश्वास समाप्त हो रहा है वैसे ही आलोचना के क्षेत्र में यह भरोसा धीरे-धीरे खतम हुआ जा रहा है। किसी भी धारणा या स्थापना का प्रतिकार बौद्धिक या तर्क के स्तर पर किया जा सकता है। दूसरे से नैतिक श्रेष्ठता की मुद्रा ही कुछ लेखकों को दूसरों की नीयत पर शक करते रहने की ओर ले जाती है। इन दिनों ज़्यादातर आलोचना नीयत पर शक करने का व्यायाम-भर रह गयी है और विचारों की वहाँ भी बेइज़्ज़ती होने लगी है। चरित्र-हत्या, छिछोरेपन और रेटारिक ने आलोचना-कर्म की जगह ले ली है। पूरा वातावरण ऐसा हो गया है कि बौद्धिक चुनौतियों की कोई गुंजाइश ही नहीं रह गयी लगती। बहुत-कुछ अजब बिरादरीपने के भाव से तर्क के बल पर नहीं, उग्र रिटोरिक की धौंस पर चलने लगा है। कुछ लोग तो विचारों का विरोध या सवालों का निपटारा बौद्धिक धरातल और भाषा से दूर सड़क पर करने की बात भी करने लगे हैं।

बुद्धि-विरोध, युवा उग्रता, बिरादरी-भाव और आदिमता इन सबका मेल भयंकर ऐतिहासिक परिणतियों तक पहुँच सकता है। नैतिक श्रेष्ठता का भाव, हीरोइक रिटारिक वास्तविक मानवीय पीड़ा के प्रति उदासीनता, विरोधी के प्रति अनादर अगर हमारे युवा लेखन के एक बड़े और मुखर भाग की विशेषताएँ हैं तो इस साहित्य की राजनैतिक-सामाजिक परिणतियों को नज़रन्दाज़ नहीं किया जा सकता। चूँकि ऐसा साहित्य स्पष्ट रूप से राजनैतिक-सामाजिक तथ्यों और कुछेक सचाइयों का (भले ही शुद्ध ऐच्छिक धरातल पर) उल्लेख करता है, वह स्वयं ऐसी परिणतियों की बात उठाने की ओर उकसाता है। अगर हमारे देश में अधिनायकवाद या किसी तरह की तानाशाही सिर उठाती है और प्रजातांत्रिक व्यवस्था नष्ट होती है तो शायद ऐसी तानाशाही को, भले ही वह स्वतंत्रता और रचनात्मकता की घोर शत्रु हो, ऐसे साहित्य में अपना समर्थन प्राप्त होगा। केदारनाथ सिंह ने कहा है कि "बहस किस बात पर हो रही है, यह जानना व्यर्थ है।" यह एक खतरनाक बात है, ऐन इस समय यह जानना बिलकुल सार्थक है जैसे कि यह पूछना भी दो टूक कि विचारों को विदाई देने के लिए खुले दरवाज़े से कौन आ रहा है। ●

['आलोचना' की गोष्ठी में १६ जनवरी '७० को पठित।]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाँच कविताएँ

मलयज

: १ :

खरोंच पर मज़ाक की धूल डाल
स्टेज-फ़र्श की धप् धप्
और फालतू दर्शक की कुर्सी के तीन पायों से
अपने को बचाकर चलता हुआ मैं
सिर के गंजा होने
और नाई की दुकान पर
मुफ़्त नाख़ून न कटा पाने के दुख से
प्रमुख हो गया हूँ।

एक सीधा सच
कि मुझे आलू पसंद है कहते
तमाम सारी डालियों में उलझे चिमगादड़ों को
तकता कवि क्यों याद आता है ?

देर से भुना हुआ मन
फजीहतों में सिर्फ़ सोंधा हुआ जाता है।

: २ :

कहानी-कविता की पत्रिकाएँ एक हुईं
एक रिकार्ड के पृष्ठभूमि-संगीत पर अटक गईं
एक संतरा जिसे स्वतंत्रता-दिवस पर छीलना शुरू
किया
पहले निकले बीज फूल पत्तियाँ
फिर पेड़ ठिठक सोचता सा
सारा देश हो जायेगा सोख्ता सा
एक नंगी डालों वाला अंतरा
घी में डूबी कलम पकड़े
टेढ़ी अँगुलियोंवाले लोग
उसके नीचे बैठ कर कहते हैं :
'दो और दो चार'
परस्पर सहमत हो जाने के बाद
सभा विसर्जित कर देते हैं।

: ३ :

एक अध-लिखा खत
उड़ कर आया और कहने लगा
मुझे पढ़ो
उसने सिगरेट सुलगा ली
और अँधेरे में हँसने लगा
मुझे समझो और सिर धुनो
सब शराबों के नाम उसे याद थे
पर ईमानदारी को वह 'आनेस्टी' कहता था
फुटपाथ पर सैकड़ों लोग बैठे थे
और हाथों के सिग्नल की तरह उठाये किसी के
चले जाने की इंतज़ारी में थे
उनके उठे हाथों बीच
अँसुवन जल सींच भींच होंठों को
दोनों हाथों को
जोड़ वह सैकड़ों को नमस्ते कर रहा था
कहाँ है कहाँ है कह
प्रेम-बेल बो रहा था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: ४ :

गंदे फ़र्श, अस्त-व्यस्त बिस्तर, बिखरे कपड़े मैले
हत्थे-टूटे प्याले, मसले अखबारों
तकाज़ों, इलाजों और पार्कों में चरते गधों के बगल
से ही निकालनी है

जाड़े के दिन आज खूब घनी बदली है और आज
ही इतवार है
किसी स्वप्न को देखती नहीं सोचती हुई आँखों में
गुबार है, दिल में नहीं
चार दोस्त बैठे हैं बुखार के इंतज़ार में
मुर्दनी है लिखी हुई कविता
जो छपी नहीं

छुरा भोंक कर एक गहरा जख़्म करता हूँ रात
निकलती है कटी हुई फाँकों में एक-एक कैद
फाँद कर दीवार बाइस साल बाद टप् से गिरता है
पक कर भाषा की ज़मीन पर आतंक
चक्खेगा कौन इतराते हुए इरादों में ?

निकालनी है जूते के तालू में गड़ी हुई कील मुँह में
दबी हुई चीख एक सूरत है कम कम मरते हुए को
मारने की
मेज़ के नीचे बढ़ी हुई मुट्ठी में कुछ धर आने की
कटी हुई जीभ को ले कर तमाशे में ग़ायब हो
जाने की।

: ५ :

कुछ नया नहीं पहले के
पेंसिल-निशानों को महज़ और गहरा किया है
'सिर कटाने के लिए प्रस्तुत'-जैसी स्थितियों में
हथियार पैने किये हैं पत्थर पर बस—
ट्रेजिडी का पथ इतना लम्बा है
कि उसे तय करने में साहस की नहीं
डर की ज़रूरत है सफ़ेदपोश आत्मा पर
जो रेंग रहा है सिर्फ़
एक अदबी कीड़ा है
और दोनों पक्षों के झंडों पर
मसौदों के जाले लटके हैं
मेरे प्राण नहीं।

एक दस्तख़त किया हुआ सादा कागज़
रोज़ सलाखों में से बाहर गिरता है मय उस हाथ के
जो रोज़ अपना गरेबाँ चाक करता है
सब-कुछ जो कड़ुआ है उसे दवा
की घूँट समझने का दिलासा देता हुआ
पर खून इतना पारदर्शी है कि
सच की तस्वीरें आँखों की पट्टियाँ बन गयी हैं
और पकड़ में आने वाली सब दिशाएँ शुरू से अंत
की ओर
चिरी हुई हैं
मैदान की लूट में दो बित्ता नाक
और पुछल्ले के साथ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिम्ब-प्रक्रिया

रामस्वरूप चतुर्वेदी

इधर बिम्ब-सम्बन्धी कई विवेचन प्रकाशित हुए हैं; कुछ पुस्तकाकार और कुछ लेख-रूप में। इनमें कई जगह तो बिम्ब-जैसी संश्लिष्ट प्रक्रिया के अधिक-से-अधिक वर्गीकरण का आग्रह है, कहीं चिन्ता इस बात की है कि बिम्ब का विभावन पारम्परित भारतीय काव्यशास्त्र में से कैसे खोज निकाला जाए! यह देखा जा सकता है कि भारतीय काव्यशास्त्र में दो अंतर्धाराएँ साथ-साथ चलती हैं—एक ओर जितना सूक्ष्म तात्त्विक विवेचन है, दूसरी ओर उतना ही स्थूल ब्यौरेवार वर्गीकरण है (रचना-प्रक्रिया की समझ कई बार दोनों जगह, ख़ास तौर से दूसरे ढंग में, उपेक्षित रह जाती है)। हिन्दी समीक्षा में संस्कृत का सूक्ष्म दार्शनिक चिन्तन तो विरल हो गया है, पर सरल वर्गीकरण की प्रवृत्ति बढ़ती पर है, जिससे बिम्ब-जैसी विशिष्ट रचना-प्रक्रिया को समझना संभव नहीं हो पाता।

'काव्यभाषा का स्वरूप' के अंतर्गत इस विषय की कुछ आरम्भिक मान्यताओं को उपस्थित किया गया है। प्रस्तुत विवेचन में बिम्ब की अपनी प्रक्रिया के विश्लेषण का अधिक अवसर होगा। प्रतीक और बिम्ब काव्यभाषा की निर्माण-प्रक्रिया के विशिष्ट तत्त्व हैं। ये दोनों ही विभावन मूलतः पश्चिमी समीक्षा के हैं। भारतीय साहित्य-चिन्तन का अलंकार-विधान प्रस्तुत और अप्रस्तुत को प्रायः साथ-साथ ले चलने के कारण रचना-शिल्प या रचना-कौशल का अंग तो है, पर काव्यभाषा के विकास में पर्यवसित नहीं हो पाता। प्रतीक और बिम्ब अप्रस्तुत होते हुए भी भाषिक प्रक्रिया में प्रस्तुत के स्थानापन्न हो जाते हैं, अतः भाषा के अत्यन्त संवेदनशील स्तर पर रूपांतरित हो जाते हैं, भाषा हो जाते हैं। जबकि अलंकार अपने नाम से भी और अपनी स्थिति में अतिरिक्त सजावट के रूप में देखे जा सकते हैं, भाषा की रचना-प्रक्रिया का अभिन्न अंग नहीं बन पाते।

प्रतीक किसी सूक्ष्म भाव की अभिव्यक्ति के लिए एक अपेक्षया स्थूल तत्त्व का चुनाव है। जैसे सूर्य ज्ञान का प्रतीक है, अँधेरा विभ्रम का प्रतीक है, कमल स्निग्धता और मंगल का प्रतीक है। कालांतर में प्रतीक भाषा की सामान्य शब्दावली की तरह बहुप्रचलित और स्वीकृत हो जाते हैं, जैसे कि उपर्युक्त प्रतीक हो गए हैं। फिर कविता के विकास-क्रम में नये प्रतीक बनते हैं और क्रमशः स्वीकृत होकर रूढ़ बन जाते हैं। प्रतीक-विधान का यह रूप काव्यभाषा के विकास का पहला स्तर है। अगला और अधिक विकसित स्तर बिम्ब-प्रक्रिया का है। बिम्ब या भावचित्र की प्रक्रिया अधिक संश्लिष्ट होती है। वह कई तत्त्वों से निर्मित होने के कारण स्थिर न होकर गतिशील होता है, और उसका प्रतीक की तरह पूर्व-स्वीकृत अर्थ नहीं होता। इसलिए कविता में अर्थ को स्वायत्त तथा विकसनशील बनाए रखने का मुख्य दायित्व बिम्ब पर होता है।

अधिकतर आधुनिक पश्चिमी समीक्षक (आर्किबाल्ड मैकलीश-जैसे रचनाकार समीक्षकों को अपवाद मानना होगा) बिम्ब का महत्त्व उसके चाक्षुष संवेदन के कारण मानते हैं। बिम्ब में चित्र का भाव आता ज़रूर है, पर चित्र का दृश्य भाव यहाँ प्रधान नहीं है, वरन् चित्र का संश्लिष्ट रूप—'कम्पोज़ीशन'—होना प्रमुख बात है। इस तरह चाक्षुष पक्ष यानी कि एक दृश्य प्रतिमा का निर्माण कर सकना वस्तुतः बिम्ब-विधान का एक प्राथमिक और गौण स्तर है। मुख्य बात यह है कि संश्लिष्ट गठन होने के कारण बिम्ब में उसके विभिन्न तत्त्वों के बीच संपर्क और टकराहट से एक द्वन्द्वात्मक (डाइलैक्टिक) प्रक्रिया परिचालित होती है, जो अर्थ को विकसनशील बनाती है। इस तरह बिम्ब प्रधानतः और अनिवार्यतः एक अर्थ-संश्लेष है और इसलिए रचना में काव्यभाषा या कि काव्य बनने की मुख्य प्रक्रिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा के सामान्य प्रयोग में बात, और जिस भाषा में वह बात कही जा रही है, उनके बीच शाब्दिक स्तर पर साम्य होने पर भी अनुभवगत अंतर होता है। पर कविता की भाषा में, यानी अधिकतम सर्जनात्मक भाषा में, यह अंतर नहीं रह जाता, बात और भाषा में अभेद रहता है। प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्रियों ने अभिधा और व्यंजना का जो लक्षण निर्धारित किया है, उसमें स्थिति इसके कुछ विपरीत है। वहाँ बात और भाषा में, व्यंजना शब्द-शक्ति के अंतर्गत सीधा सम्बन्ध नहीं रह जाता। वस्तुतः ऐसा मानना व्यंजना के चमत्कारी पक्ष पर अधिक बल देना है। यों व्यापक रूप में कविता की अर्थ-प्रक्रिया के लिए 'व्यंजना' बहुत उपयुक्त शब्द है। पर पारिभाषिक रूप में शास्त्रीय लक्षणकारों ने व्यंजना को अच्छे ढंग से उपस्थित नहीं किया। यह सारी पड़ताल शब्दशः अर्थ की दृष्टि से की गई है, अनुभव की दृष्टि से नहीं। अधिकतम सर्जनात्मक काव्यभाषा में—जो व्यंजना से अभिप्रेत है—'मुख्यार्थ' और 'व्यंग्यार्थ' की अलग-अलग परिकल्पना नहीं रह सकती। वहाँ तो समूचा अर्थ समरस और संश्लिष्ट है, और 'व्यंग्यार्थ' के ही सूक्ष्म स्तरों की टकराहट से व्यंजना परिचालित होती है, 'मुख्यार्थ' का स्वयं कोई अलग रूप नहीं रह जाता। पश्चिमी साहित्य-चिन्तन में कहीं यह ठीक ही कहा गया है कि कविता का कोई अर्थ नहीं होता, कविता स्वयं होती है। आधुनिक रचना-प्रक्रिया तथा साहित्य-चिंतन के सन्दर्भ में जब हम बात और भाषा के अभेद और अद्वैत की बात कहते हैं तो हम तनाव पर उतना ही बल देते हैं जितना कि अभेद पर। अनुभव और अर्थ का यह सम्बन्ध समझना कविता और सर्जनात्मकता की प्रक्रिया को संभवतः अधिक गहरे और प्रकृत रूप में समझना है। यही भाषा और संवेदना का अद्वैत है, जहाँ दोनों एक नहीं हैं, पर अलग-अलग होकर भी एक हो जाते हैं। साहित्य के क्षेत्र में इस अद्वैत का परिचालन प्रतीक और बिम्ब-जैसे भाषिक-रचनात्मक तत्त्वों की अपनी प्रक्रिया से होता है।

रचना में अर्थविकास-प्रक्रिया की यह समझ आधुनिक पश्चिमी तथा भारतीय, साहित्य-चिंतन के दोनों क्षेत्रों में अभी नयी है। इलियट—जो बिम्बवादी आन्दोलन से भी सम्बद्ध रहे हैं—का प्रख्यात विभावन 'ऑब्जैक्टिव कोरिलेटिव', उदाहरण के लिए, अर्थ की इस सूक्ष्म, सुकुमार प्रक्रिया को अनदेखा कर जाता है। आधुनिक कविता ने यह क्षमता विकसित की है कि यहाँ पूरी रचना का अर्थ एक ओर सीधा नहीं है, पर रीतिकालीन शिष्ट काव्य की तरह दो अलग-अलग अर्थ भी नहीं हैं, वरन् एक ही अर्थ के दो सूक्ष्म स्तर अपने तनाव और संश्लेष से एक वृहत्तर अर्थ की सृष्टि करते हैं। रचना में अर्थ का यह अद्वैत भाव शरीर-संभोग और ब्रह्म-साक्षात्कार जैसी सृजन-प्रक्रियाओं के समानान्तर देखा जा सकता है। 'झरना' में संकलित प्रसाद की प्रसिद्ध कविता 'विषाद' ("किसी हृदय का यह विषाद है, छेड़ो मत वह सुख का कण है। उत्तेजित कर मत दौड़ाओ, करुणा का विश्रान्त चरण है") में हृदय में विषाद और बाहर छाया मानो एक ही अनुभव के अंग हैं। इलियट छाया को 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव' कहता, आंतरिक विषाद के भाव को व्यक्त करने के लिए। पर इस विश्लेषण से प्रसाद की कविता के संश्लिष्ट अनुभव के साथ न्याय नहीं हो सकता। वस्तुतः विषाद और छाया (अथवा संध्या) एक ही समग्र अनुभव के अंग हैं, एक ही अर्थ के दो सूक्ष्म स्तर हैं, जो अपनी टकराहट में अर्थ की गहरी क्षमता विकसित करते हैं। बिम्ब-रचना द्वारा परिचालित अर्थ की यह प्रक्रिया आधुनिक काव्य-विधान का अभिन्न अंग है, और जटिलतर होते अनुभव-अर्थ-संश्लेष को उसकी समग्रता में पकड़ने तथा व्यक्त करने का अचूक माध्यम है। साहित्य यदि बिखरे और खंडित जीवनानुभवों और यथार्थ की पुनर्रचना है तो बिम्ब-विधान इस पुनर्रचना-प्रक्रिया का मुख्य अंग है। काव्य जीवन को अर्थवत्ता प्रदान करता है, और आधुनिक काव्य की सूक्ष्म अर्थवत्ता बिम्ब से निर्मित होती है।

जैसा पहले कहा गया, समीक्षा के क्षेत्र में बिम्ब की उद्भावना मूलतः पश्चिम की है। वहाँ यह उद्भावना प्रसिद्ध दार्शनिक हुल्म तथा कवि पाउण्ड के सहयोग से बीसवीं शती के आरम्भ में क्रमशः आन्दोलन के रूप में परिणत हुई, और फिर शीघ्र ही, प्रायः १९१७ ई० के आसपास उसकी विरोधी प्रतिक्रिया भी हुई। पर बिम्ब के इस पक्ष और प्रतिपक्ष के बीच, और इन विवादों के परिशमित होने पर, समझ का एक ऐसा स्तर बराबर रहा है जहाँ बिम्ब-विधान को कविता भाषा की समूची प्रक्रिया में केन्द्रीय स्थान दिया जाता है। इस रूप में बिम्ब-प्रक्रिया का महत्त्व आधुनिक समीक्षा में प्रायः अक्षुण्ण रहा है। पर बिम्ब की समझ में पश्चिम के अधिकतर रचनाकार और समीक्षक अधिकतर दृश्यमयता के तत्त्व को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिक महत्त्व देते रहे हैं। हिन्दी समीक्षा में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बिम्ब-विधान का बढ़िया विश्लेषण और उपयोग किया है। बिम्ब-विधान के सन्दर्भ में उन्होंने 'संश्लिष्ट' शब्द का प्रयोग करके रचना-प्रक्रिया के इस रूप को अच्छी तरह समझा। पर हिन्दी के परवर्ती समीक्षक अपने पश्चिमी स्रोतों की तरह बिम्ब की दृश्यमयता की ही चर्चा करते हैं, और इस दृश्य तत्त्व के आधार पर बिम्ब-विधान का विश्लेषण फूलों से बने बिम्ब और पशु-पक्षियों से बने बिम्ब के वर्गीकरणों में करते-कराते हैं। शुक्लजी द्वारा संकेतित बिम्ब-विधान के संश्लिष्ट रूप को वे आसानी से भूल गए।

बिम्ब का दृश्य पक्ष उसका आरम्भिक स्तर है, और शास्त्रीय समीक्षक प्रायः उसी में उलझे रहे हैं। बिम्ब के माध्यम से कविता में अर्थविकास की सूक्ष्म और स्वायत्त प्रक्रिया को उन्होंने परिलक्षित नहीं किया। दृश्य पक्ष या शिक्षण-शास्त्र में जिसे 'विजुअल एड्स' कहते हैं, ज्ञान के माध्यमों में प्राथमिक सीढ़ी है। सामान्य बातचीत में, अलंकारों में और विविध शास्त्रों में 'दृष्टान्त' के प्रयोग के पीछे इस दृश्य पक्ष को ही उभारने की चेष्टा रहती है। उदाहरण के लिए काव्य और दर्शन की भाषा में तुलना की जा सकती है। अनुभव-स्तर की समानता होने पर भी दोनों की भाषिक सर्जन-प्रक्रिया अलग-अलग है। दर्शन की भाषा में, बहुत-कुछ विज्ञान की तरह, शब्दों के निर्दिष्ट और चौकस प्रयोग पर बल है। काव्य में शब्द का समूचा अर्थ न लेकर उसके अर्थ-विस्तार की सजगता उत्पन्न करते हुए भी उसकी किसी आंशिक, वैकल्पिक छाया की ओर संकेत किया जाता है। आधुनिक कविता में एक शब्द की मिलती-जुलती अर्थछायाओं के बीच तनाव उत्पन्न करके अर्थ और अनुभव को विकसित किया जाता है। काव्य में अर्थ का निश्चित-निर्दिष्ट रूप इसीलिए काम्य नहीं है कि वह ग्रहण किए जाने में एकबारगी खत्म न हो जाए। वहाँ अर्थ की एक दिशा है, जिस ओर वह गतिशील होता रहता है। इसीलिए जीवन की ही तरह काव्य में अर्थ की अनन्त सम्भावना है।

अन्य शास्त्रों की तरह दर्शन की भाषा में अर्थ का निश्चित रूप ग्रहण करने के लिए दृष्टान्त का प्रयोग होता है, काव्य में अर्थ और अनुभव को विकसनशील बनाए रखने के लिए बिम्बयोजना का केन्द्रीय महत्त्व है। कभी-कभी तो एक ही प्रकार के उपकरणों से दर्शन का दृष्टान्त और काव्य-बिम्ब दोनों बनते हैं। कुम्हार का घड़ा दर्शन में दृष्टान्त है, कविता में बिम्ब है। दर्शन में जहाँ वह दृष्टान्त है, वह उक्ति का एक माध्यम भर है, जिससे जीवन के किसी एक पक्ष पर प्रकाश डाला जा रहा है। दर्शन ग्रंथों के अन्तर्गत मनुष्य-जीवन या संसार के घड़े से तुलना में घड़े का उपयोग ज्ञान के संवर्द्धन के लिए दृश्य-उपकरण (विजुअल एड्स) की तरह हो रहा है। पर जब कबीर कहते हैं—

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है बाहिर भीतरि पांनीं।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समांनां यहु तत कथौ गियांनीं॥

तो यहाँ घट का बिम्ब अनुभव को समृद्ध करता है, और अर्थ के 'स्पष्टीकरण' का साधन न बनकर स्वयं में ही अर्थ के 'विकास की प्रक्रिया' हो जाता है। इस माने में बिम्ब काव्य का दृश्य-उपकरण न होकर अर्थ की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया है, जो क्रमशः अद्वैत की ओर उन्मुख होती है।

भारतीय काव्य-परम्परा तथा शास्त्र में सांगरूपक का दृश्य-विधान के लिए प्रयोग कवियों ने प्रभावशाली ढंग से किया है। तुलसी की रचना-प्रक्रिया में सांगरूपक का केन्द्रीय महत्त्व है। 'रामचरितमानस' के अनेक श्रेष्ठ प्रसंग इसी माध्यम से निर्मित हुए हैं। अयोध्याकांड में कैकेयी का क्रोध, प्रयाग और चित्रकूट के वर्णन, जनकजी की सेना का राम के आश्रम में आना आदि प्रसिद्ध दृश्य अपने पूरे विस्तार और वैविध्य में सांगरूपक के सहारे अंकित हुए हैं। इस दृष्टि से 'संश्लिष्ट' वर्णन के लिए सांगरूपक का विशिष्ट महत्त्व है। पर अर्थ के सूक्ष्म और स्वायत्त विकास की दृष्टि से बिम्ब की तुलना में सांगरूपक कमज़ोर पड़ जाता है, क्योंकि सांग-रूपक में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का उल्लेख साथ-साथ चलता है :

दोउ बर कूल कठिन हठ धारा।
भँवर. कूबरी बचन प्रचारा॥
ढाहत भूपरूप तरु मूला।
चली बिपति बारिधि अनुकूला॥

यहाँ एक ओर 'बर', 'हठ', 'कूबरी बचन', 'भूप', 'बिपति' का उल्लेख होता है, और दूसरी ओर 'कूल', 'धारा', 'भँवर', 'तरु' और 'बारिधि' का दृश्य खड़ा किया जाता है। प्रस्तुत का साथ-साथ चलने वाला यह उल्लेख अप्रस्तुत विधान की सूक्ष्म व्यंजनाक्षमता को कमज़ोर कर देता है। इसी स्थिति को यदि बिम्ब-रूप में विकसित किया जाता तो केवल कैकेयी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की बात कहकर फिर उसके लिए बढ़ती-उमड़ती नदी का बिम्ब बनता, कैकेयी प्रसंग का ब्यौरा न दिया जाता। यह ब्यौरा दृश्यमयता भले बढ़ाता हो अर्थप्रक्रिया को समृद्ध नहीं करता, स्थूल स्तर पर सादृश्य को स्थापित करता है पर सूक्ष्म अर्थ-स्तरों के विकास को बाधित करता है। सांगरूपक का दृश्य विधान पाठक की कल्पना-शक्ति को कुछ उत्तेजित तो करता है, पर एक सीमा के बाद वह उस दृश्यमयता में ही उलझ जाती है, और अर्थ की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया को परिचालित नहीं होने देती।

अर्थ-वैविध्य के प्रसंग में यहाँ बिम्ब-प्रक्रिया के स्पष्टीकरण के लिए श्लेष-विधान से तुलना की जा सकती है। संस्कृत और मध्यकालीन हिन्दी काव्य में श्लेष के सहारे एक शब्द के कई-कई अर्थ सम्भव किए जाते थे। इस प्रक्रिया में बल अधिकतर चमत्कार और कौशल पर था, अर्थ को सघन और विकसनशील बनाने पर नहीं। चमत्कार की कसौटी यही थी कि कितने असम्बद्ध अर्थ एक शब्द के सहारे जुटाए जाएँ। पर कुशल कवि लाक्षणिक अर्थों की भावात्मक अन्विति पर ध्यान देते थे। "कहै कबीर गुर दिया पलीता सो झल बिरलै देखी", यहाँ 'झल' में प्रकाश और आध्यात्मिक अनुभूति के अर्थ परस्पर संबद्ध हैं। इसलिए यहाँ चमत्कार प्रधान नहीं, वरन् अर्थ को प्रशस्त करने का गहरा उपक्रम है।

सहज श्लेष प्रयोगों के सहारे रत्नाकर ने 'उद्धव शतक' में अपना प्रसिद्ध सांगरूपक बाँधा है—"रस के प्रयोगनि के सुखद सुजोगिन के जेते उपचार चारु मंजु सुखदाई हैं।" इस कवित्त में गोपियों का कठोर विरह और विषम ज्वर तुलनीय हैं, और श्लिष्ट शब्द समान संगति और उपयुक्तता के साथ दोनों सदृश सन्दर्भों में अर्थ ध्वनित करते हैं। कहीं भी दूरारूढ़ अर्थ की आवश्यकता नहीं होती इस दृष्टि से आधुनिक काल के आरम्भ में रचित यह श्लेषयुक्त लम्बा सांगरूपक रीतिकाल की अपनी कला को भी समृद्धतर बनाता है। पर श्लेष के दोनों पक्षों में समाकर अर्थ समाप्त हो जाता है।

आधुनिक रचनाकार के बिम्ब-प्रयोग श्लेष के भिन्न अर्थों को न लेकर एक ही शब्द की मिलती-जुलती अर्थ-छायाओं में हल्का तनाव उत्पन्न करते हैं, और इस तरह अर्थ को सूक्ष्म स्तर पर गतिशील रखते हैं। 'कामायनी' के श्रद्धा की मुस्कान के अंकन के लिए प्रयुक्त किसलय पर अलसाई किरण का बिम्ब बहुचर्चित है :

और उस मुख पर वह मुसक्यान !
रक्त किसलय पर ले विश्राम
अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम।

यहाँ 'अलसाई' शब्द में थकान का जितना आलस है, उतना ही सौंदर्य और मद का आलस है, और साथ ही अलसाने की संक्षिप्त अवधि भी व्यंजित होती है। इसी तरह अलसाने में जितनी थकन की व्यंजना है उतनी ही ताज़गी की भी। एक सामान्य नामधातु की इन विविध संबद्ध छायाओं के परस्पर तनाव से वैसा ही सूक्ष्म और सुकुमार प्रभाव निर्मित होता है जैसा श्रद्धा के सौंदर्य अनुभव के लिए कवि रचना-स्तर पर उचित मानता है। एक कुशल कवि के लिए कहने और न कहने के बीच सही अनुपात साध पाना कितना ज़रूरी है, यह ऐसे ही संवेदनशील अंकनों में समझा जा सकता है।

काव्य-रचना में सामान्यतः भाषा के दो स्तर परिलक्षित किए जा सकते हैं—सामान्य वर्णन की भाषा और बिम्बों की भाषा। कविता के रचना-विधान में बहुत बार बिम्बात्मक भाषा अपने आन्तरिक संस्पर्श से वर्णन की सामान्य भाषा को भी आलोकित करती है। यह तो स्पष्ट है कि कविता का अधिकांश वर्णन की सामान्य भाषा में होता है, जबकि कविता का पूरा रचना-संघटन कुछ विशिष्ट प्रयोगों से समग्रतः दीप्त हो उठता है। उदाहरण के लिए प्रसाद का एक प्रसिद्ध और संक्षिप्त गीत लिया जा सकता है :

बीती विभावरी जाग री।
अम्बर पनघट में डुबो रही—
तारा-घट ऊषा नागरी।
खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भर लाई—
मधु मुकुल नवल रस गागरी।
अधरों में राग अमन्द पिये
अलकों में मलयज बन्द किये—
तू अब तक सोई है आली !
आँखों में भरे विहाग री !

इस गीत के रचना-संघटन का यदि हम विश्लेषण करें तो जो बात आसानी से समझ में आ जाती है वह कविता का नाद-सौंदर्य है। पर यह भी स्पष्ट है कि अकेले नाद-सौंदर्य का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविता की रचना-प्रक्रिया में निर्णायक महत्त्व नहीं है। गीत के पूर्वार्द्ध में प्रातःकाल का जो रूप अंकित हुआ है वह प्रधानतः वर्णनात्मक है। इन पंक्तियों में यद्यपि दो बिम्ब भी आते हैं—'ऊषा नागरी' तथा 'मधु मुकुल नवल रस गागरी', पर ये दोनों बिम्ब इतने बहुप्रयुक्त अप्रस्तुत विधान पर आधारित हैं (ऊषा की युवती, और कली की रस-गागर) कि इन्हें काव्य-बिम्ब संकोच के साथ ही कहा जा सकता है। खग-कुल और और किसलय वाली पंक्तियाँ तो सीधे ही इतिवृत्त-प्रधान और वर्णनात्मक हैं। अतः यहाँ तक कविता में नाद-सौन्दर्य के अतिरिक्त कोई शक्ति विकसित नहीं होती।

पर अंतिम चार पंक्तियाँ कविता की सारी भंगिमा को बदल देती हैं। यहाँ कवि ने दो सर्वथा नये और सूक्ष्म बिंब विकसित किए हैं—'अलकों में मलयज बन्द किये' तथा 'आँखों में भरे विहाग री'। दोनों बिंब—'मलयज', 'विहाग' एकशब्दीय हैं, और यदि उनका वैसा सूक्ष्म रूप न होता तो उन्हें बिंब कहना कठिन था। पर अपने सूक्ष्म और अमूर्त स्तर पर वे अर्थ की गहरी छायाएँ विकसित करते हैं। 'मलयज' से कोमलता, सुगंधि, आकर्षण, सलज्ज भाव, मादकता और इनसे मिलती-जुलती न जाने कितनी व्यंजनाएँ संभव होती हैं। यों सामान्यतः एक शब्द से बिंब-रचना कम होती है, हाँ प्रतीक का रूप बनता है। पर 'मलयज' के सूक्ष्म-अमूर्त रूप ने एक अकेले शब्द से ही एक समूचे बिंब का निर्माण होने दिया है। दूसरा बिंब आता है 'विहाग' का, जो वैसा ही सुकुमार, सूक्ष्म और अमूर्त है जैसा कि 'मलयज' का बिंब, और इसी-लिए उतना व्यापक और संश्लिष्ट भी है। रात्रिकालीन राग 'विहाग' देर रात तक जागरण, खुमार, अलस भाव और संगीतात्मकता की विविध छायाओं को व्यंजित करता है। फिर दोनों बिंबों की भाव-प्रक्रिया परस्पर संबद्ध है। इसी स्तर पर आकर कविता का आरंभिक प्रातःकाल-वर्णन सौंदर्य और यौवन के उन्मुक्त अनुभव में रूपांतरित हो जाता है। इस प्रकार गीत में कविता बनती है अन्त के इन दो बिंबों के सहारे, जो क्रमशः पूरे गीत में परिव्याप्त हो जाती है पूर्व-प्रभावी—रेट्रस्पेक्टिव—ढंग से। इन बिंबों के अभाव में पूरी कविता का नाद-सौन्दर्य बेकार होता, और यह गीत प्रातः-काल का इतिवृत्तात्मक वर्णन मात्र होकर रह जाता।

बिंब-विधान को जगह-जगह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'संश्लिष्ट' कहा है। इसका एक अच्छा उदाहरण प्रसाद का काव्य प्रस्तुत करता है। व्याकरणिक भूलें जो उनके काव्य में जगह-जगह मिलती हैं, उनके बिंब-प्रसंगों में नहीं के बराबर हैं। इससे समझा जा सकता है कि बिंब और उसका अनुभव समग्रतः विकसित होता है। उसमें यदि भूल होगी तो पूरे संश्लेष में, न कि अलग-अलग टुकड़ों में। यथार्थ अनुभव को उसकी संपूर्णता और गतिमयता में पकड़ने के लिए बिंब-रचना साक्षात्कार का दक्ष उपाय है। साधारण शब्द अनुभव को जड़ और निःशेष कर देता है, पर बिंब अनुभव को न केवल उसकी वर्तमान स्थिति में वरन् उसकी संभावना में भी उसकी पूरी जटिलता और सूक्ष्मता के साथ अंकित करता है। श्रद्धा के सौन्दर्य-वर्णन के अन्तर्गत उसकी मुस्कान का बिंब-परक अंकन फिर से स्मरण करना होगा। यहाँ यदि श्रद्धा की मुस्कान की तुलना केवल किरण से की जाती तो एक प्रतीक बनता (मुस्कान=किरण), और वह मुस्कान के अनुभव को ऐसे समग्र और सूक्ष्म रूप में व्यंजित न कर पाता। पर यहाँ एक पूरा बिंब रचा गया है—नये सूर्य की दूर से आती हुई किरण, जो कुछ थक गई है और एक रक्तिम, कोमल किसलय को पाकर क्षणभर के लिए—क्षणभर के लिए ही क्योंकि उसे दूर जाना है—विश्राम की मुद्रा में अलस भाव से लेटी हुई है। यह पूरा बिंब या भावचित्र कई तत्त्वों से निर्मित हुआ है, और उनका आपसी सम्बन्ध और टकराहट मुस्कान के रूप को अधिकाधिक गहरे और सूक्ष्म स्तर पर विकसित करते हैं, जहाँ उसकी ताज़गी, सूक्ष्मता, अलस भाव और सौन्दर्य सब मिलकर एक संश्लेष बन जाते हैं। मुस्कान जितनी सूक्ष्म है उतनी ही कलापूर्ण और भावात्मक है। कवि ने अनुभव के इसी वैशिष्ट्य को अंकित करना चाहा है, और बिंब-रूप में अंकित करते-करते न केवल उसे अभिव्यक्त किया है, वरन् मानो स्वयं भी उसे और अच्छी तरह समझा है। भाषा इस स्तर पर आकर अभिव्यक्ति ही नहीं, अभिव्यक्ति और अनुभव दोनों एक साथ हो जाती हैं।

हिन्दी कविता के विकास-क्रम में मध्यकालीन कवियों ने अधिकतर प्रकृति-वर्णन के समय बिंब-विधान का एक ख़ास रूप में प्रयोग किया है, पर उनका ध्यान दृश्यमयता के तत्त्व पर अधिक है। वस्तुतः हिन्दी तथा अंग्रेज़ी कविता की रचना-प्रक्रिया में उतना अंतर नहीं जान पड़ता जितना कि भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र की प्राथमिकताओं के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बीच है। बिंब भारतीय काव्य-शास्त्र में न हो, कविता में है। जायसी और सूर की बिंबग्राहिणी शक्ति की आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सही सराहना की है। जायसी ने प्रकृति-वर्णन के अतिरिक्त विरह-दशा के संदर्भ में भी कुछ मार्मिक बिंब विकसित किए हैं। जहाज़ टूटने पर मूर्च्छित पद्मावती बहते-बहते किनारे जा लगती है, जहाँ समुद्र की बेटी लक्ष्मी की एक सहेली उसे देखती है। पद्मावती की दीन दशा का वर्णन वह इस प्रकार करती है—

जो देखा, तिवइ है साँसा। फूल मुवा, पै मुई न बासा।

मूर्च्छित पद्मावती के लिए मुरझाया फूल, पर निर्गंध नहीं—यह बिंब सटीक और मार्मिक है। जाग्रत होने पर पद्मावती प्रिय को स्मरण करती है, और प्रिय के न होने पर अपनी 'निरवलंबता' के बारे में कहती है—

आवा पवन बिछोह कर, पाट परी बेकरार।
तरिवर तजा जो चूरि कै, लागौं केहि के डार?

इस बिंब-विधान की व्याख्या आचार्य शुक्ल ने इस प्रकार की है—"विरह-दशा के भीतर 'निरवलंबता' की अनुभूति रह-रहकर विरही को होती है। देखिए कैसा परिचित और साधारण प्राकृतिक व्यापार सामने रखकर कवि ने इस 'निरवलंबता' का गोचर प्रत्यक्षीकरण किया है—" (जायसी ग्रंथावली, भूमिका, पृ० ४३)। यहाँ स्पष्ट है कि शुक्लजी 'गोचर प्रत्यक्षीकरण' पर अधिक बल दे रहे हैं, जो इसलिए ठीक भी है कि 'बिंब' में 'गोचर प्रत्यक्षीकरण' से आगे 'अर्थ संश्लेष' का भाव तो आधुनिक छायावादी काव्य में विकसित हुआ है। भारतीय काव्यशास्त्र में 'बिंब' की परिकल्पना भले न हो, पर भारतीय काव्य में 'बिंब', या उससे मिलते-जुलते प्रयोग बराबर देखे जा सकते हैं। कहीं ये उत्प्रेक्षा हो सकते हैं, और कहीं सांगरूपक। पर मध्यकालीन काव्य में ऐसे बिंब-प्रयोग 'गोचर प्रत्यक्षीकरण' के लिए ही हैं, अर्थ की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का परिचालन वहाँ अकल्प्य है। इस प्रसंग में बिंब-विधान से संबद्ध शुक्लजी की मान्यता उद्धृत करना उचित होगा—"काव्य में बिंब-स्थापना (Imagery) प्रधान वस्तु है। वाल्मीकि, कालिदास आदि प्राचीन कवियों में यह पूर्णता को प्राप्त है। अंग्रेज़ी कवि शेली इसके लिए प्रसिद्ध है।" (जायसी ग्रंथावली, भूमिका, पृ० ११७)

कबीर के लिए प्रकृति-वर्णन का विशेष अवकाश नहीं, पर उन्होंने भक्त की विविध मनःस्थितियों के अंकन के लिए कहीं-कहीं अच्छे बिंब विकसित किए हैं। भक्त के लिए बालक और ईश्वर के लिए पिता या माता की उपमा पुरानी है। कबीर ने इस सादृश्य को लेकर एक सरल और मार्मिक बिंब रचा है—

हरि जननी मैं बालक तेरा।
काहे न अवगुन बकसहु मेरा॥
सुत अपराध करत है केते।
जननी के चित रहैं न तेते॥
कर गहि केस करै जो घाता।
तऊ न हेत उतारै माता॥
कहै कबीर इक बुद्धि बिचारी।
बालक दुखी दुखी महतारी॥

माँ और बेटे के सम्बन्धों की स्नेहपूर्ण सरलता पूरे बिंब में परिव्याप्त है। कबीर, जैसा कि जन-विश्वास है, पढ़े-लिखे भले न हों, और परंपरित काव्यशास्त्र में बिंब की धारणा भी भले न हो, पर यह पूरा छन्द 'गोचर प्रत्यक्षीकरण' की दृष्टि से बढ़िया बिंब है।

सूरदास की कला प्रकृति और मानवीय सौन्दर्य के विविध दृश्यों को अंकित करने के कारण बिंब-रचना के अपेक्षया अधिक निकट है। सौन्दर्य के दृश्य-विधान में कवि का प्रिय अलंकार उत्प्रेक्षा है, 'जिसमें भेद-ज्ञानपूर्वक उपमेय में उपमान की प्रतीति होती है'। बिंब की विशेषता है कि वह भेद-ज्ञान को नहीं उभरने देता, इसीलिए वहाँ 'जानो'-'मानो' (उत्प्रेक्षा के चिह्न) जैसे प्रयोग विशेष अपेक्षित नहीं हैं। इस दृष्टि से उत्प्रेक्षा बिंब की निकट स्थिति में होने पर भी अपनी 'बलपूर्वक संभावना' के कारण विधान में बिंब-जैसी सहज प्रवाहयुक्त नहीं होती। अपने रचना-संगठन की इस सीमा के बावजूद सूरदास की उत्प्रेक्षाएँ दृश्य-विधान में बेजोड़ हैं। रासलीला का दृश्य है, प्रत्येक गोपी के साथ कृष्ण नृत्य कर रहे हैं—

मानो माई घन-घन अन्तर दामिनि
घन दामिनि दामिनि घन अन्तर सोभित हरि ब्रज-भामिनि

कृष्ण और गोपी के अनेक युग्मों के लिए काले बादल और चमकती बिजली की घनिष्ठता के चित्र बहुत उपयुक्त हैं। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि पद का आरम्भ उत्प्रेक्षा से हो जाता है, प्रस्तुत का हल्का-सा उल्लेख बाद में होता है। कृष्ण के लिए बादल और युवती के लिए बिजली का उपमान पुराना हो सकता है, पर दोनों की पारस्परिक स्थिति की इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में परिकल्पना उत्प्रेक्षा की विशेषता है। इन तत्त्वों के आपसी सम्बन्ध पर बल देना—'कम्पोज़ीशन' को उभारना—जैसे बिंब-प्रक्रिया के विकास की आरम्भिक स्थिति हो! कृष्ण-लीला और उससे सम्बन्धित अनेक चित्रों में सूर की उत्प्रेक्षाएँ जीवन को एक विराट् उत्सव के रूप में प्रस्तुत करती हैं।

सूर के लिए जैसी प्रिय उत्प्रेक्षा है, तुलसी के सन्दर्भ में वही स्थिति सांगरूपक की है। उन्होंने ये सांगरूपक भी प्रायः उत्प्रेक्षा के सहारे विकसित किए हैं (अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी। मानहुँ रोष तरंगिनि बाढ़ी), और इस प्रकार इन दोनों का योग एक खास ढंग से बिंब की समीपवर्ती स्थिति में आता है। सांगरूपक अपनी प्रकृति से विस्तृत और ब्यौरेवार अधिक होता है, फलतः उसमें चित्रमयता अधिक होती है। पर जैसा कहा जा चुका है, सांगरूपक में प्रस्तुत का साथ-साथ ब्यौरेवार उल्लेख होना, बिंब की तुलना में, अप्रस्तुत विधान की व्यंजनाक्षमता को क्षीणतर बना देता है। इन अलग-अलग उल्लेखों के कारण चित्र की संश्लिष्टता भी आहत होती है। कुल मिलाकर अपने ब्यौरे के कारण सांगरूपक में चित्रण की समग्रता तो हो सकती है, पर अनुभव की सूक्ष्मता विकसित नहीं हो पाती।

बिंब-विधान की वास्तविक शुरुआत आधुनिक काल में खड़ीबोली काव्य के विकास के साथ होती है। मैथिलीशरण गुप्त, जो सामान्यतः अपनी इतिवृत्तात्मकता के लिए प्रख्यात हैं, जगह-जगह इस नये ढंग के बिंब-विधान में रुचि लेते दिखते हैं। 'साकेत' के आठवें सर्ग में राम अपनी माँ को सहसा वैधव्य वेष में देखते हैं—

जिस पर पाले का एक पर्त-सा छाया,
हत जिसकी पंकज-पंक्ति, अचल-सी काया।
उस सरसी-सी, आभरणरहित, सितवसना,
सिहरे प्रभु माँ को देख, हुई जड़ रसना।

अपेक्षया स्थूल सादृश्य पर आधारित होने पर भी यह बिंब प्रसंग की असहाय करुण-भावना को भलीभाँति व्यक्त करता है। सादृश्य सटीक होने में बिंब की सफ़ाई है, पर उससे बड़ी सफलता दृश्य की जड़ता के प्रभाव को व्यंजित करने में है। दोनों स्थितियों की सफ़ेदी जीवन के जड़ हो जाने, जम जाने की द्योतक है। और यहीं बिंब की अपनी द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया गति पकड़ लेती है। ब्रजभाषा से खड़ीबोली में रूपांतरण का समय ही उत्प्रेक्षा-सांगरूपक के बिंब में रूपांतरण का भी समय क्यों और कैसे है, यह एक महत्त्वपूर्ण और दिलचस्प, पर स्वतंत्र खोज का विषय है। इसके पूर्व का रीतिकाव्य तो शास्त्रीयता के समानान्तर चलने के कारण परम्परित अलंकार विधान पर ही बल देता रहा।

फिर आधुनिक बिंब-प्रक्रिया छायावादी कवियों—विशेषतः प्रसाद में आरम्भ होती है। अनुभव की सूक्ष्मता, जटिलता और समग्रता पर बल बढ़ता है, और इसकी अभिव्यक्ति के लिए बिंब-विधान को अधिकाधिक दक्ष बनाने की कोशिश होती है। प्रसाद की बिंब-प्रक्रिया का वैशिष्ट्य कई रूपों में देखा जा सकता है। रचना के स्तर पर सबसे अधिक चिन्ता कवि को इस बात की है कि उसके बिंब अनुभव के सूक्ष्म और जटिल तराशों को भलीभाँति रूपायित कर सकें। इसके लिए उसने मानवीय सौन्दर्य के रीतिकाल, और फिर द्विवेदी-युग में प्रचलित स्थूल अप्रस्तुत विधान को निरस्त करके बिंबों को नये सूक्ष्म स्तर पर विकसित किया है। स्थूल पदार्थ बाहरी और स्थिर सादृश्य को ही अधिकतर प्रस्तुत करते हैं, जबकि सूक्ष्म स्तरों से लिये गए बिंब प्रभाव और अनुभव-प्रक्रिया को व्यंजित करते हैं। प्रसाद के प्रसिद्ध बिंबों की बनावट में इन्द्रजाल, चाँदनी, सौरभ, मलयज, किसलय पर अलसाती किरण, शून्य, ज्योत्स्ना-निर्झर, सिंधु की हिलकोर, दक्षिण का समीर-विलास, जल चुकी अगरबत्ती का हल्का सुगन्धित धुआँ-जैसे अपेक्षया अमूर्त तत्त्वों का प्रयोग अधिक हुआ है। जहाँ बिंब-विधान के परंपरित तत्त्व को लिया भी गया है, वहाँ उसे सर्वथा नया सन्दर्भ देने का प्रयत्न कवि ने किया है। श्रद्धा के सौन्दर्य-वर्णन के प्रसंग में शरीर के अधखुले अंग को रूपायित करने के लिए कवि ने फूल का बिंब लिया है, पर यह फूल साधारण नहीं है—

खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।

बादलों के वन में 'बिजली का फूल' कितना सूक्ष्म होगा, उसमें कितनी तड़प और चमक होगी, इसका अनुभव यह बिंब भलीभाँति संप्रेषित और विकसित करता है। ऐसा ही एक अन्य प्रसंग तब आता है जब काम अपनी पुत्री का सौन्दर्य-वर्णन मनु की अंतश्चेतना में करता है—

रंगों ने जिनसे खेला हो
ऐसे फूलों की वह डाली

यहाँ भी बिंब का आधारभूत तत्त्व फूल है, पर 'रंगों ने जिनसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खेला हो' कहकर कवि ने फूलों की आकृति को पीछे करके रंग-वैभव और उसके उल्लास को सूक्ष्म स्तर पर संप्रेषित किया है। ऐसे अनेक प्रसंग मिलेंगे, जहाँ कवि अपेक्षया स्थूल उपकरण को लेकर भी उसके सूक्ष्म रूप और अनुभव को ही अभिव्यक्ति देता है।

इस प्रसंग में प्रसाद के सूक्ष्म और अमूर्त बिंब-विधान के दो-एक उदाहरण देना समीचीन होगा। 'कामायनी' में मनु प्रेम और उसके आकर्षण की मादकता का पहला अनुभव कर रहे हैं। यह स्मरणीय है कि यह मानवीय सृष्टि का प्रथम प्रणयानुभव है, क्योंकि देव सृष्टि में तो स्थूल भोग-विलास था, काम का अनंग रूप और सूक्ष्म प्रणय-स्तर मानवीय सृष्टि में ही विकसित होता है। इस प्रथम प्रणयानुभव की मादकता और बेचैनी काम-सर्ग में मनु के स्वगत में व्यक्त होती है—

है स्पर्श मलय के झिलमिल-सा
संज्ञा को और सुलाता है

पहले प्रणय-स्पर्श का सूक्ष्म अनुभव वैसे ही सूक्ष्म बिंब-विधान में विकसित हुआ है। 'मलय' अपने में अमूर्त तत्त्व है, उसे और सूक्ष्म तथा अमूर्त बनाने के लिए कवि 'झिलमिल' का प्रयोग करता है, और फिर एक सामान्य-सा अव्यय 'सा' उस झिलमिल की प्रकृति को और अनिर्दिष्ट बना देता है। एक-एक शब्द व्याकरणिक और काव्य रचनात्मक दृष्टि से सावधानी के साथ प्रयुक्त हुआ है, 'सा' का प्रयोग जिसका अच्छा उदाहरण है। 'मलय के झिलमिल' की बिंब-प्रक्रिया पहले मानवीय प्रणय की सूक्ष्म और जटिल अनुभूति को कला के स्तर पर वैसे ही अस्पष्ट रूप में व्यंजित करती है, जैसी अस्पष्ट और अनिर्दिष्ट वह मनु के लिए रही होगी।

मनोविकारों का रूप अपने में सूक्ष्म है, फिर आदिम मानव के क्रमशः जटिल होते हुए मनोविकारों की पकड़ और कठिन है। मनु के प्रणय-निवेदन को सुनकर और यह समझ कर कि मनु पहली बार श्रद्धा को नारी के रूप में पहचान रहे हैं, श्रद्धा के मन में प्रणय के प्रतिदान और उससे उत्पन्न क्रीड़ा और अनिश्चय का जो प्रथम अनुभव होता है उसका सूक्ष्म कलात्मक अंकन कवि इस प्रकार करता है—

धूम लतिका-सी गगन तरु पर न चढ़ती दीन
दबी शिशिर निशीथ में ज्यों ओस भार नवीन।
झुक चली सव्रीड़ वह सुकुमारता के भार,
लद गई पाकर पुरुष का नर्ममय उपचार ;

पुरुष और नारी के लिए वृक्ष और लता का बिंब पुराना है। पर इस अतिपरिचित बिंब के भीतर आकाश के पक्ष, और शिशिर की रात में ओस के भार से दबती किंतु ऊपर उठने का यत्न करती धुएँ की लता का रूप, पुरुष तथा नारी के नये और कोमल संबंधों को एक नये अनुभव-स्तर पर विकसित करता है। जिसे प्राचीनों ने 'भाव शबलता' या मिलते-जुलते शब्दों से अभिहित किया है उससे व्यापकतर अनुभव-संश्लेष की अभिव्यक्ति के लिए 'बिंब में बिंब' के ऐसे प्रयोग बड़े दक्ष और सार्थक सिद्ध होते हैं।

तरह-तरह के जटिल बिंब-विधान पर प्रसाद का असाधारण अधिकार है। एक का उल्लेख अभी हुआ। यहाँ एक प्रचलित स्थूल बिंब के भीतर एक अन्य सूक्ष्म बिंब को विकसित किया गया है। ऐसे भी स्थल हैं जहाँ कवि ने दो सूक्ष्म बिंबों को एक-दूसरे पर संयुक्त और आरोपित करके (व्याकरण की संयुक्त क्रियाओं की तरह) अनुभव को व्यक्त करना चाहा है। 'आँसू' और 'कामायनी' में ऐसे अनेक उदाहरण हैं। देव सृष्टि के विनाश पर श्रद्धा सर्ग के आरंभ में मनु को सारा जीवन अर्थहीन और निःसार लगता है, इसकी अभिव्यक्ति उन्होंने एक पूरी बिंब-माला से की है—

क्या कहूँ, क्या हूँ मैं उद्भ्रांत ?
विवर में नील गगन के आज
वायु की भटकी एक तरंग,
शून्यता का उजड़ा सा-राज

बिंब-माला फिर आगे बढ़ती है, तथा उसमें 'विस्मृति का स्तूप' और कई अन्य बिंब विकसित होते हैं। उद्धृत पंक्तियों में 'शून्यता का उजड़ा सा-राज' आरोपित बिंब-प्रक्रिया का अच्छा उदाहरण है। शून्य अपने में ही जीवन की निःसारता को व्यक्त करने के लिए प्रचलित प्रतीक या बिंब—जिस भी रूप में प्रयुक्त किया जाए—है। उसे और सूक्ष्म बनाने के लिए 'शून्यता' का प्रयोग किया गया। फिर 'उजड़ा राज' भी विनाश और निःसारता का द्योतक है। यहाँ 'शून्यता' के बिंब पर 'उजड़ा राज' के बिंब को आरोपित करके अनुभव को अधिक सूक्ष्म धरातल पर उतारा गया है। 'उजड़ा-सा' में 'सा' उजड़ने के भाव को कम न करके और फैला देता है। इस प्रक्रिया में कवि ने बिंब को सूक्ष्म करके उसे अधिक संश्लिष्ट बनाया है। यदि सूक्ष्म, और फलतः संश्लिष्ट न बनता तो अपने अकेले रूप में 'शून्य' एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतीक रह जाता।

प्रसाद की काव्य-भाषा में प्रतीकों के माध्यम से बिंब को विकसित करने की सूक्ष्म प्रक्रिया भी देखी जा सकती है। इड़ा सर्ग का प्रसिद्ध गीत है—'जीवन निशीथ के अंधकार!' यहाँ अंधकार मनु के अपने ही मन के विभ्रम का प्रतीक है। इस अंधकार के समूचे अनुभव को अधिक यथार्थ तथा जटिल स्तर पर प्रेषणीय बनाने के लिए कवि एक बिंब-माला की रचना करता है। इन बिंबों में कच्ची इच्छाओं के जलने का धुआँ है, 'यौवन मधुवन की कालिंदी' है, मायाविनी युवती के नेत्रों का अंजन है, और अतीत के धुँधले चित्रों का संकलन है। इस पूरे छंद में एक प्रतीक तथा उसके लिए प्रयुक्त कई बिंबों का परस्पर गठन इतना संश्लिष्ट है कि अर्थ की प्रक्रिया बड़ी सघन और भारी, यद्यपि निर्मल लगती है। रचना में अर्थ कैसे अशेष रूप में रहता है, और कभी पूरी तरह खत्म नहीं किया जा सकता, यह प्रसाद के बिंब गठन में अच्छी तरह समझा जा सकता है। बिंब और बिंब, तथा प्रतीक और बिंब के ऐसे विविध संघटन छायावादी काव्य की श्रेष्ठतम उपलब्धि हैं। रूप के अभिमान में उन्मत्त होकर फिर चूर-चूर हो जाने वाली कमला की अनेक मनःस्थितियों के तनाव का अंकन प्रसाद ने अपनी लंबी कविता 'प्रलय की छाया' में इन अचूक विधानों से किया है। उदाहरणार्थ एक बिंब प्रस्तुत है, जिसके विश्लेषण का प्रयत्न अब नहीं होगा—

कृष्णागुरुवर्तिका
जल चुकी स्वर्ण पात्र के ही अभिमान में
एक धूम-रेखा मात्र शेष थी;
उस निस्पन्द रंग मंदिर के व्योम में
क्षीण-गंध निरवलंब।
किंतु मैं समझती थी, यही मेरा जीवन है।

निराला में प्रसाद जैसा बिंबों का वैभव नहीं है, यद्यपि अपनी सूक्ष्म परिकल्पना में वे पीछे नहीं हैं। 'राम की शक्ति पूजा'—जो अपने रचना संघटन में बेजोड़ है—में विशिष्ट बिंब-प्रयोग अपेक्षया कम हैं। युद्ध से लौटे राम के शरीर पर जटा-जूट खुल जाने से बालों की लटें बिखरी हैं। यहाँ कविता की पंक्तियाँ हैं—

दृढ़ जटा-मुकुट हो विपर्यस्त प्रतिलट से खुल
फैला पृष्ठ पर, बाहुओं पर, वक्ष पर विपुल
उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार;

इन पंक्तियों में बिंब का रूप प्रस्तुत से कुछ आक्रांत होने पर भी राम के दृढ़ चरित्र और उनकी वर्तमान अस्थिर मनःस्थिति को एक साथ और उनके द्वन्द्व में अंकित करता है। यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बात यह समझी जानी चाहिए कि बिंब के प्रयोग से ही श्रेष्ठ कविता रची जाए, यह आवश्यक नहीं है। रचना के अन्य उपकरण भी हैं, बिंब-प्रक्रिया आधुनिक कविता के संदर्भ में शायद सबसे विकसित है। यों बिंब की व्यापक परिकल्पना के अंतर्गत निराला की 'संध्या सुन्दरी' 'जुही की कली', 'बादल राग' और 'स्नेह निर्झर बह गया है' जैसी प्रसिद्ध कविताओं का विधान आता है। उनके काव्य 'तुलसीदास' के अनेक छंदों में बिंबों का बड़ा सटाक और सुकुमार प्रयोग हुआ है। महिमाशाली बुन्देलखण्ड मुगल काल में कैसा श्रीहत हो गया है, इसका अंकन निराला ने यों किया है—

निश्चल अब वही बुँदेलखण्ड, आभा गत,
निःशेष सुरभि, कुरबक-समान
संलग्न वृंत पर, चित्य प्राण,
बीता उत्सव ज्यों, चिह्न म्लान, छाया श्लथ।

यहाँ दो बिंब परस्पर जुड़े हुए हैं—'निःशेष सुरभि कुरबक' और 'बीता उत्सव'। पहला मूल बिंब है, और दूसरा उसमें संलग्न है। दोनों मिलकर मुगल काल में हिंदी क्षेत्र के जातीय मानस और संस्कृति के विघटनशील और निष्प्राण-से होते रूप का सजीव (?) चित्र प्रस्तुत करते हैं। 'संलग्न वृंत पर' बड़ा सावधान पर्यवेक्षण है, जो गिरने और न गिरने के बीच की स्थिति है, एक तरह से न गिरने की प्रक्रिया है। ऐसी सूक्ष्म स्थितियों और मनःस्थितियों के अंकन में बिंब की रचना-क्षमता अच्छी तरह प्रमाणित होती है।

छायावादी कवियों में सुमित्रानंदन पंत आरंभ से ही अपने लाक्षणिक प्रयोगों के कारण आकर्षण के केन्द्र रहे हैं। लाक्षणिक प्रयोग या 'मैटाफर' सारे अप्रस्तुत विधान की पहली कड़ी है, क्योंकि दो भिन्न अर्थ-संदर्भों को वह परस्पर संपर्कित करके इस प्रक्रिया में एक नये अर्थ-संदर्भ को उद्भासित करता है। पंत के प्रतीक और बिंब-विधान आरंभिक लाक्षणिक प्रयोगों से विकसित होकर प्रकृति तथा मनुष्य के एक नये समीकरण की तलाश में संलग्न हैं। उनकी प्रसिद्ध लम्बी कविता 'परिवर्तन' में बिंबों की रचना कोमल तथा कठोर के संयोग से हुई है, जिनमें से होकर कविता की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल वस्तु विकसित होती है। यों कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए विख्यात कवि की रचना में अधिक प्रभावशाली बिंब जीवन और प्रकृति के कठोर-उग्र पक्षों से लेकर रचे गए हैं। इनमें से वासुकि नाग का लम्बा बिंब सांग-रूपक के सहारे चलता है। फिर नृशंस नृप और शतदल कमल के बिंब आते हैं। और इनके बाद एक प्रलय-चित्र है जो कई बिंबों से बना है। इसमें क्षुब्ध सागर और आकाश का चित्रण इस प्रकार है—

आलोड़ित अंबुधि फेनोन्नत कर शत शत फन,
मुग्ध भुजंगम सा, इंगित पर करता नर्तन !
दिक् पिंजर में बद्ध, गजाधिप सा विनतानन,
वाताहत हो गगन
आर्त करता गुरु गर्जन !

सागर का मुग्ध सर्प और आकाश का मतवाला हाथी एक ओर बिंब-प्रक्रिया को परिचालित करते हैं, और दूसरी ओर पुराण-कथा के सांकेतिक रूप में उभारते हैं, इतिवृत्तात्मक रूप में नहीं। आकाश, सागर और पवन की यह टकराहट मानो मानवीय तत्त्वों का ही सूक्ष्म द्वन्द्व है, यथार्थ की असली बनावट है।

छायावादोत्तर परिदृश्य पर प्रयोगवादी तथा नयी कविता का बिंब-विधान जीवन के व्यापकतर क्षेत्रों से विकसित होता है। अज्ञेय के बिंब अधिक जटिल हुए संसार में सामान्य और अकिंचन क्षेत्रों से आते हैं। 'नदी के द्वीप' जैसी प्रभावशाली कविता का बिंब एक स्तर पर सामान्य प्रकृति-क्षेत्र से लिए जाने पर भी स्वयं प्रकृति के अपने संघटन को एक नये स्तर पर परिभाषित करता है, और जिस स्थिति के लिए यह बिंब है वह तो अपने में एक नयी जीवन-समस्या है ही। व्यक्ति और समाज की अंतर्प्रक्रिया, जो आज के जीवन की एक मुख्य चिंतना है, इस कविता में मानवीय अनुभव के रूप में व्याख्यायित होती है।

अज्ञेय और नयी कविता के अन्य कवियों के बिंब-विधान में क्रमशः प्रस्तुत पक्ष का उल्लेख कम होता जाता है, फलतः रचना की निर्भरता बिंब-प्रक्रिया पर बढ़ जाती है। उदाहरण के लिए अज्ञेय की 'बावरा अहेरी' में पहली पंक्ति में 'भोर' का उल्लेख आता है, उसके बाद तो भोर का बावरा अहेरी बिंब-रूप में समूची कविता में परिव्याप्त हो जाता है। एक दूसरी छोटी कविता में प्रस्तुत सिर्फ़ शीर्षक में है, कविता बिंब से बनी है। शीर्षक है—'दूज का चाँद'—

मेरे छोटे घर-कुटीर का दिया
तुम्हारे मंदिर के विस्तृत आँगन में
सहमा-सा रख दिया गया।

छोटे-छोटे बिंबों से बनी ऐसी प्राकृत कविताएँ 'अरी ओ करुणा प्रभामय' में मिलकर एक विराट् पर आत्मीय प्रकृति-चित्र उपस्थित करती हैं। इस शृंखला की एक कविता है 'धूप'—

सूप-सूप भर
धूप-कनक
यह सूने नभ में गई बिखर।
चौंधाया
बीन रहा है
उसे अकेला एक कुरर।

अज्ञेय के ऐसे सामान्य-साधारण जीवन से लिए गए बिंब (जो प्रसाद के सूक्ष्म सौंदर्य-विधायक बिंबों से साफ़ तौर पर अलग देखे जा सकते हैं) साधारण मानव-जीवन की प्रक्रिया और अनुभव को अर्थवत्ता प्रदान करते हैं, जो उनकी रचना की मूल वस्तु है।

नयी कविता की इस बिंब-प्रक्रिया का बड़ा सुकुमार विकास शमशेर की कविताओं में होता है, जिसमें कहीं-कहीं प्रसाद से अधिक सूक्ष्म विधान और अज्ञेय से अधिक मित-कथन देखा जा सकता है। प्रकृति और मानवीय अनुभव की अंतर्प्रक्रिया उनका मूल स्वर है, जिसे वे अपने बहुत-से स्पष्ट, और कुछ कलात्मक रीति से अस्पष्ट बिंबों के सहारे परिचालित करते हैं। वस्तुतः शमशेर में बिंब से कविता नहीं बनती, वरन् बिंब और कविता एकाकार हो जाते हैं—

एक नीला आइना
बेठोस-सी यह चाँदनी
और अन्दर चल रहा हूँ मैं
उसी के महातल के मौन में।
मौन में इतिहास का
कन किरन जीवित, एक, बस।

और कविता का अंत होता है—

रह गया सा एक सीधा बिंब
चल रहा है जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शान्त इंगित सा
न जाने किधर ।

यहाँ काव्य-अनुभव की शुरुआत और परिणति बिंब में ही होती है। दोनों में अन्तर यह है कि शुरू का बिंब व्याख्यायित है, जबकि अंत में एक अज्ञात-अनाम बिंब का अनुभव मात्र शेष रह जाता है। कुछ कविताओं के अंश और उद्धृत हैं—

अब गिरा अब गिरा वह अटका हुआ आँसू
सांध्य तारक-सा
अतल में । (एक पीली शाम)

चाँदनी की उँगलियाँ चंचल
कोशिये से बुन रही थीं चपल
फेन-झालर बेल, मानो । (सागर-तट)

दूसरी कविता के ठीक अंत में 'मानो' की स्थिति देखकर लगता है कि बिंब जैसे उत्प्रेक्षा को मुँह चिढ़ा रहा हो।

नयी कविता के अपने विकास में बिंब का क्षेत्र आसमान से लेकर घर के खपरैल तक व्याप्त हो जाता है। गजानन माधव 'मुक्तिबोध', सर्वेश्वरदयाल सक्सेना और लक्ष्मीकांत वर्मा के प्रयोग नयी कविता की भंगिमा को निखारते हैं। यों प्रगतिवादी दौर में केदारनाथ अग्रवाल के ऐसे प्रयोग विशेष रूप से आकर्षक रहे हैं—

धूप चमकती है चाँदी की साड़ी पहिने
मैके में आई बेटी की तरह मगन है

मुक्तिबोध, सर्वेश्वर और लक्ष्मीकांत का बिंब-विधान रचनात्मक दृष्टि से बहुत अलग न होने पर भी संवेदनात्मक विस्तार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। मुक्तिबोध के बिंबों में भय और आत्मीयता का एक विचित्र मिश्रण है, जो उनके लिए आज की औसत भारतीय निम्न-मध्यवर्गीय ज़िंदगी का असली रूप है। उनके काव्य की शक्तिमत्ता अधिकतर इस बिंब-विधान से उपजती है और 'गरवीली गरीबी' के समूचे वैविध्य को रूपायित करती है। सर्वेश्वर और लक्ष्मीकांत में भय के विस्तार की जगह व्यंग्य का तीखापन विकसित होता है। मध्यवर्गीय जीवन का अंकन वे सामान्य व्यक्ति के सामान्य अनुभवों में करते हैं। घास काटने की मशीन या लैटरबाक्स या राख का स्तूप में नयी कविता के साधारण जीवन की पहचान साफ़ देखी जा सकती है। इन कवियों के बिंब-प्रयोग आत्मीय बोध के साथ-साथ मानवीय अनुभव के समकालीन तनाव और बेचैनी को पूरी क्षमता के साथ अंकित करते हैं। पर कहीं-कहीं बिंबों का फैलाव रचना का संतुलन बिगाड़ भी देता है।

रचनात्मक स्तर पर बिंब-विधान के कुछ नये रूप रघुवीरसहाय की कविताओं में विकसित हुए हैं। अपनी भाषा के रचाव में उन्होंने वर्णन और बिंब के भेद को क्रमशः मिटाया है। कविता की भाषा को सही अर्थ में बोलचाल और अखबार की भाषा से संबद्ध करने में वर्णन और बिंब का अन्तर डूब जाए, यह स्वाभाविक है। इस प्रक्रिया में सामान्य भाषा की रचनात्मक क्षमता का बिलकुल नया और प्रीतिकर अहसास रघुवीरसहाय के संकलन 'अत्महत्या के विरुद्ध' की कविताओं में होता है, वे कविताएँ चाहे राजनीति के अनुभव-क्षेत्र से संबद्ध हों या कि प्रेम के अनुभव-क्षेत्र से, अथवा प्रकृति के मानवीय चित्र हों। अंग्रेज़ी में एक परिभाषा दी गई है कि कविता उत्कृष्ट शब्दों का उत्कृष्ट क्रम है, पर आधुनिक कवि की रचना सामान्य शब्दों के सामान्य क्रम से बनती है। रघुवीरसहाय की कविताओं में वर्णन-बिंब का अभेद कैसे संभव होता है, यह समझने के लिए कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

सिंहासन ऊँचा है सभाध्यक्ष छोटा है
अगणित पिताओं के
एक परिवार के
मुँह बाये बैठे हैं लड़के सरकार के
लूले काने बहरे विविध प्रकार के
हल्की-सी दुर्गन्ध से भर गया है सभाकक्ष ।
(मेरा प्रतिनिधि)

एक ग़रीबी, ऊबी, पीली, रोशनी, बीबी
रोशनी, धुंध, जाला, यमन, हरमुनियम अदृश्य
डब्बाबंद शोर
गाती गला भींच आकाशवाणी
अन्त में टड़ंग
(आत्महत्या के विरुद्ध)

पहले उद्धरण में किसी सामान्य सभाकक्ष का वर्णन भी है, और किसी विशिष्ट सभाकक्ष का बिंब भी है। वर्णन और बिंब के स्तरों की टकराहट अर्थ को असाधारण विस्तार देती है। यही स्थिति दूसरे उद्धरण के 'वर्णन-बिंब' की है। और यह संभव होता है कविता में बोलचाल की भाषा के प्रयोग के कारण, जो रचना को विशिष्ट बनाते हुए भी उसे सच्चे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन से प्रजातांत्रिक रखती है। वर्णन और बिंब, प्रजातांत्रिक और विशिष्ट को एक साथ समोने में रघुवीरसहाय की कविताओं का रूप साधारण अर्थ और अनुभव को एक विराटता देता है; उनकी कविताओं में बहुप्रयुक्त शब्द 'लोग'—'लोग लोग लोग चारों तरफ है मार तमाम लोग'—में ये दोनों (तथा अन्य भी !) व्यंजनाएँ साथ-साथ चलती हैं। छोटी कविताओं के विधान में यह प्रक्रिया कुछ भिन्न और सुकुमार ढंग से समझी जा सकती है—

बच्चा गोद में लिए
चलती बस में
चढ़ती स्त्री
और मुझमें कुछ दूर तक घिसटता जाता हुआ।

(चढ़ती स्त्री)

प्रार्थना में नमित रहकर
जरूरत भर
जब
सिर उठाया
तब
सुबह हो गई
डाल पर ठहरा हुआ है खिचा फूल गुलाब का।

(खिचा गुलाब)

इन कविताओं का विधान जापानी 'हाइकू' का स्मरण दिला सकता है, और तब अनायास ही ध्यान जाता है कि जापानी भाषा की वर्णमाला और उसकी चित्रलिपि एक-दूसरे में कैसे घुल-मिल गए होंगे ! इन कविताओं में वर्णन और बिंब का अभेद, अद्वैत बहुत-कुछ उसकी समानांतर प्रक्रिया जैसा है।

यदि सांगरूपक और उत्प्रेक्षा को बिंब की एक पूर्व-स्थिति के रूप में स्वीकार किया जाए तो देखा जा सकता है कि हिन्दी कविता में बिंब के विकास में प्रस्तुत का उल्लेख क्रमशः क्षीणतर होता जाता है, और रचना की व्यंजना-क्षमता के लिए अप्रस्तुत पर बल बढ़ता जाता है। समकालीन कविता तक आते-आते एक तरह से प्रस्तुत का लोप हो जाता है, या यों कहें कि आधुनिक बिंब-प्रक्रिया में प्रस्तुत-अप्रस्तुत अभेद हो जाते हैं। मानव-जीवन और अनुभव अपने में जटिल, संश्लिष्ट तथा गतिशील प्रक्रिया है, इस अनुभव को खंडित होने दिए बिना कविता उसकी पुनर्रचना करती है। और यह संश्लिष्ट पुनर्रचना सबसे अधिक संभव होती है बिंब-प्रक्रिया से, जो अपनी प्रकृति में अर्थ के द्वन्द्व को परिचालित करती हुई भी अर्थ और अनुभव के अद्वैत की ओर उन्मुख है।

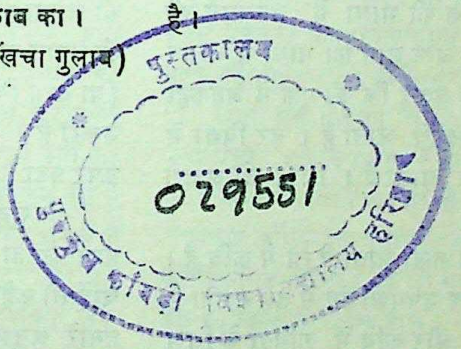

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक तरह से देखो तो

विपिनकुमार अग्रवाल

कविता के महान् होने का यदि कोई एक निश्चित माप है तो सूरदास और रघुवीरसहाय दोनों महान् कवि नहीं हो सकते। यदि तुलसीदास या सुमित्रानंदन पंत को महान् कवि माना जाता है, तब साफ है कि लक्ष्मीकान्त महान् कवि नहीं हैं। लेकिन अगर लक्ष्मीकांत महान् कवि नहीं हैं तब तो न कबीर हैं और न ही श्रीकान्त। पर जो भी हो, यद्यपि रघुवीरसहाय महान् कवि नहीं हैं, तुलसीदास और कबीर दोनों हैं। अतः कविता महान् होने का कोई एक निश्चित माप नहीं हो सकता। और जिस तत्त्व का निश्चित माप नहीं हो सकता उसकी चर्चा करना बेकार है क्योंकि उसके सहारे हम किसी निश्चित नतीजे पर नहीं पहुँचेंगे।

कविता की भाषा में, नाटक की भाषा में, उपन्यास की भाषा में, अखबार की भाषा में और ज्ञान की भाषा में अन्तर होता है। इस अन्तर का कारण यह है कि जो एक में अनकहा रह जाता है वह दूसरे में व्यक्त हो जाता है। हर विद्या में भाषा का रंग और ठाठ बदल जाता है। जिन्हें जो अच्छा लगता है वे उसके हो जाते हैं।

मुझे अगर कविता पढ़ने में मज़ा आता है तो मैं कवि हूँ। कविता की भाषा में जो अनुभव उपयुक्त ढंग से ढल सकता है उसका मैं साझीदार हूँ। मुझमें और कवि में कविता के लिख जाने के बाद कोई अन्तर नहीं रह जाता। कविता के लिखे जाने के पहले मुझमें और कवि में महज़ इतना अन्तर है कि जहाँ वह अनुभव के उपयुक्त भाषा को ढूँढ़ लेने की समस्या का हल निकाल लेने की तरकीब जानता है और इस इच्छा से पीड़ित है, वहाँ मैं पिछड़ जाता हूँ या कोशिश ही नहीं करता। मैं एक तरह का बेहद आलसी कवि हूँ। पर कविता के लिखे जाने के बाद मैं उसे सही ढंग से पढ़ सकता हूँ, उसकी खूबियों और कमियों के प्रति आगाह हो जाता हूँ। यदि कविता अच्छी है तो मुझे सहज ही पूर्णरूप से कवि बना देती है, अन्यथा अधूरा। इस अधूरेपन को अपने से पूरा कर लेने की क्षमता मुझमें नहीं है। पर कविता पढ़कर कवि के समक्ष आ जाने की चाह मुझमें मौजूद है। मैं कविता रचते या / और पढ़ते समय अपने साझे के अनुभव के कच्चे माल को ढाँचा प्रदान करता हूँ, या नयी व्यवस्था प्रदान करता हूँ। अनुभव के उस पहलू को उजागर करता हूँ जो ढँका-मुँदा या अनखोजा रह जाता यदि भाषा को ख़ास ढंग से तैयार करके इस पहलू को परखा न जाता।

यदि बार-बार कविता की प्रकृति के अनुसार भाषा ऐंठा कर अनुभव को परखने और व्यक्त करने के लिए तैयार नहीं की जाती तो पूरा समाज एक प्रकार के अनुभव को प्राप्त करने की क्षमता ही खो बैठता है। अतः अनुभव के विभिन्न पहलुओं को बनाए रखने और बनाते रहने के लिए मेरे लिए कविता (या अन्य विद्या, या साहित्य) रचते या / और पढ़ते रहना ज़रूरी है। इसमें इत्तफ़ाक बस इतना है कि यह भार मेरे ऊपर पड़ा है, मेरे पड़ोसी पर नहीं।

अगर हमें कविता लिखते या / और पढ़ते रहना है तो प्रश्न उठता है, कैसी? संक्षेप में और सरल-सा उत्तर देना चाहें तो कहेंगे कि हमें ऐसी कविता से सरोकार रखना है जो हमारे अनुभव के दायरे को विभिन्न दिशाओं में बढ़ाने की संभावना प्रदान कर सके। उस कविता द्वारा दिखायी गई नयी दिशा या यथार्थ की नयी व्यवस्था में भले ही हम अपने अनुभव को न ढालने का निर्णय लें, पर महज़ इससे कि हमारे चुनाव की संभावनाओं में वृद्धि हुई हम कह सकते हैं कि हमने अपने को जड़ स्थिति से मुक्त कर लिया। इस चुनाव की संभावना का अज्ञान ही हमें पिछड़ेपन में क़ायम रखता। चुनावों की संभावना को बढ़ाना ही आधुनिकता है। युग में अन्तर चुनावों में गुणात्मक परिवर्तन का आना है।

नवीनतम होना आधुनिक होना नहीं है। हमने भारत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में जब अपनी मोटर बनाई तो कैडिलैक या रोल्सरॉयस के बाद बनाई। हमारा मॉडल नवीनतम है पर आधुनिक नहीं है, क्योंकि विज्ञान मोटर बनाने में आज जो सम्भावनाएँ प्रस्तुत करता है उनका पूरा उपयोग कैडिलैक में ही उपस्थित है। पर अपना मॉडल बनाकर हम अपने पूर्वजों से आधुनिक अवश्य हो गए जो केवल बैलगाड़ी बना सकते थे। हम दोनों बना सकते हैं। अपना मॉडल बना लेने के पहले हमारे बुद्धिजीवी इस बात से आगाह थे कि दुनिया में बैलगाड़ी भी है और मोटर भी। पर हम आधुनिक हैं क्योंकि न केवल हम मोटर के प्रति आगाह हैं बल्कि हमने उसे बना लेने का निर्णय भी ले लिया है। इसलिए सिर्फ़ संभावनाओं के प्रति आगाह हो जाना और उन्हें नुमाइश में लगी वस्तुओं की तरह देखना काफ़ी नहीं है। जब हम सम्भावना को ठोस रूप देते हैं तभी आधुनिक होते हैं। रेगिस्तान के बीच अगर हमें किसी स्थान पर पहुँचना है तो आज हम रेगिस्तान के किनारे तक मोटर से जा सकते हैं और रेगिस्तान के अन्दर ऊँट से। ऊँट रेगिस्तान में अब भी उचित सवारी है इसलिए उस पर तय करके चढ़ना आधुनिक है। आधुनिकता इस पर निर्भर नहीं है कि हम मोटर पर चढ़ते हैं या बैलगाड़ी पर, बल्कि इस पर कि लक्ष्य पर पहुँचने की समस्या पर विचार करते समय हम सभी साधनों के प्रति आगाह हैं. उनमें से उपयुक्त या सार्थक को चुनते हैं और चुनकर उसका निर्माण और उपयोग कर सकते हैं। सिर्फ़ इतने से कि हमारे पूर्वज मोटर की कल्पना नहीं कर सकते थे और हम उसके आगाह हैं, उसे सैद्धान्तिक ढंग से जानते हैं, उसकी तस्वीर देखी है, या उसे अपना भर सकते हैं आयात करके, हम आधुनिक नहीं हो जाते। मोटर और ऊँट दोनों खड़े हों तो अपने से वे हमें नहीं बता सकते कि क्या उपयुक्त और सही है। मोटर का होना आवश्यक है हमें आधुनिक बनाने के लिए, पर काफ़ी नहीं। क्योंकि जो मोटर बनाना और चलाना नहीं जानता है वह वास्तव में मुक्त होकर चुनने की स्थिति में नहीं है। वह बेबस है ऊँट ही को चुनने के लिए। जीवन में बुद्धिजीवी और साहित्य में कवि, सब तरकीबें जानता है और चुनाव करता है। भले ही वह मोटर को त्याग करके ऊँट को चुने। पर मोटर का उपयोग करने की सामर्थ्य होते हुए, उपस्थित समस्या की माँग के अनुकूल ऊँट को चुनना आधुनिक होता है। मोटर के आ जाने से चुनाव में संख्यात्मक अन्तर आया, और इन सब चुनावों के बीच किसी एक का, ऊँट का, या साइकिल का, या मोटर का, चुनाव करना एक गुणात्मक भिन्न स्थिति का सृजन करना है, इसलिए संभावना को बढ़ाना है। एक देश, एक साहित्य आधुनिकता के भिन्न स्तरों पर आकर रुक जा सकता है। वह महज़ संसार में संभावनाओं के पैदा हो जाने की बात सुनकर संतुष्ट हो जा सकता है, रुचि नहीं लेता। रुचि ले तो उसे स्वीकार मात्र करने तक की या सिर पर आ पड़े तो उसे सह लेने तक की। या बनाने की बात सोचे या निर्णय ले तो उतना भर जितना ग्रहण आसानी से हो जाए, बिना पूर्व में कोई अन्तर डाले। वास्तव में वह आधुनिक तब होता है जब सब संभावनाओं के प्रति जागरूक होकर, समकालीन समस्या के अनुरूप उपयुक्त ढंग को चुनता है, उसे कार्यरूप में परिणत करने का खतरा मोल उठाता है, और इस सिलसिले में जो अन्तर आना आवश्यक हो जाता है उसे सहज स्वीकार करता है।

इस सिद्धान्त को अगर हम कवि पर लागू करें तो पूछेंगे कि कबीर, तुलसी, भूषण, भारतेन्दु, मैथिलीशरण, प्रसाद, पंत आदि के बीच यदि उसे आज के 'जटिल' जीवन से प्राप्त अनुभवों को व्यक्त करने का ढंग चुनना है तो कौनसा ढंग सबसे उपयुक्त या सार्थक होगा। यदि इनमें से कोई ढंग उपयुक्त नहीं है, तब तो उसे सर्वथा नया ढंग ढूँढ़ना ही पड़ेगा।

किसी एक ढंग को चुनने के माने यह नहीं होंगे कि वह उसी प्रकार उसे उपयोग में लाए जैसे वह पहले लाया जाता था। आज की आवश्यकता के अनुसार वह उसे बदलेगा, लचाएगा अधिक दक्ष बनाएगा और कुल मिलाकर वह उस ढंग को विकसित करेगा। यह भी मुमकिन है कि इस क्रिया में वह ढंग को बिल्कुल बदल डाले। जब वह ऐसा कर रहा हो तब परम्परा के नाम पर उसे रोकना परम्परावादी बनना होगा।

अब देखा जाए कि आज के माने गए जटिल संदर्भ में उस कविता के क्या गुण हैं जो अनुभवों की बनावट को भाषा के माध्यम से उपयुक्त ढंग से परख सके और व्यक्त कर सके। इसके लिए जटिल होने के क्या माने हैं, तय कर लेना उचित होगा। आज के जीवन को देखें तो गति, एक ही समय में एक स्थान पर बहुत से दबावों की उपस्थिति, हर दिशा में प्रगति की अति की खोज, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म का साक्षात्कार और उसमें भी संरचना की उपस्थिति, आदि जटिलता के लक्षण मिलते हैं। ऐसे में किसी समाकलित अनुभव की आशा करना समस्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को न समझना होगा। सब उलझा है, किसी घटना को देर तक अलग करके समझना मुमकिन नहीं है, और हर दिशा में (अक्सर विपरीत दिशाओं में जैसे परमाणविक और खगोली) एक साथ सीमाएँ लाँघी जा रही हैं। ऐसे में यदि किसी व्यवस्था का आभास, किसी स्थिति की समझ, या किसी राह का संकेत पाना है, तो जिस संकेतक या निर्देशक का सहारा लें, उसमें खुद का कोई बहुमुखीपन नहीं होना चाहिए। यदि हुआ तो घपला और बढ़ जाएगा।

साहित्य में हमारा मुख्य निर्देशक कवि है। कवि का उपकरण भाषा है। अतः कवि के अन्तर को बहुसंयोजकता से और भाषा को अस्पष्टता से मुक्त रखना नितान्त आवश्यक है। ये दोनों बातें हमें मैथिलीशरण गुप्त में प्राप्त होती हैं। मैथिलीशरण अपने को एक विनयशील सरल, और प्रभाव-ग्रहण-इच्छुक प्रेक्षक के रूप में रखकर बाह्य जगत् का निरीक्षण करते हैं। वे इसके लिए अपने को तैयार करते हैं जब कहते हैं :

हम कौन थे क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी ॥

समस्याओं के बीच घिरे होने की जागरूकता उन्हें प्रेरित करती है कम-से-कम अपनी स्थिति को स्पष्ट करने के लिए। इसके विपरीत, कवि जब स्वयं अपने अन्तरमन में जटिल होने का रास्ता अपनाता है तो उसे अपनी बात दक्ष तरीके से कह लेने के लिए यथार्थ को सपाट और सरल बना लेना पड़ता है। इस मजबूरी का कारण यह है कि जब वह अपने अन्तरमन की जटिलता का बखान करने बैठता है, तब जिस यथार्थ के सहारे वह बात कहता है, उसकी जटिलता का मिश्रण हो जाने पर जो कहना चाह रहा था वही विकृत हो जाता है। अभाग्यवश, जब अन्तरमन की जटिलता को सपाट बाह्य के सहारे (जो कि उपयुक्त ढंग है इसके लिए) व्यक्त करने बैठता है तो उसकी कविता हमें यथार्थ के अनुभव से कही हुई लगती है, नकली लगती है, क्योंकि हमें बाह्य संसार सपाट दीखता नहीं। जो दीख रहा है उसे झुठलाकर कवि के अन्तरजगत् को थाहने के लिए मन तैयार नहीं होता। अब और भी नहीं जब संचार और यातायात के साधन बाह्य जगत् को तीव्र गति से पास लाते रहते हैं, बदलते रहते हैं, और उनसे जूझने के लिए हमें मजबूर करते रहते हैं।

सबके जाने-बूझे उलझे अनुभव में से जब कवि अपने को सपाट और भाषा को सरल करके एक व्यवस्थित, चाहे पुनः-संयोजित, संसार हमें दिखलाता है तब हम उसके साथ सहज ही कवि बन जाते हैं। वह तुरन्त हमारा विश्वास जीत लेता है। कविता लिखने का यह अन्दाज़ हमें मैथिलीशरण में मिलता है। उनकी कविता में अविश्वसनीय आन्तरिक ज्वालाओं के बजाय हमें बाहर की स्थितियों की परतों के खुलने का आभास मिलता है। इसको हासिल करने के लिए उन्हें अपनी भाषा को ठंडा और खास ढंग से कसा हुआ बना लेना पड़ता है :

निधि खोले दिखला रही प्रकृति निज माया
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया
कहता है कौन कि भाग ठगा है मेरा?
वह सुना हुआ भय दूर भगा है मेरा
कुछ करने में अब हाथ लगा है मेरा
वन में ही तो गार्हस्थ्य जगा है मेरा।

इन पंक्तियों में सीता की स्थिति की समझ की परतें एक के बाद एक खुलती चली जाती हैं। स्थिति की विडम्बना के बीच से ही सीता का चरित्र अन्तिम पंक्ति में निखर आता है, छलकता नहीं। भाषा का भी कविता के संगठन की माँग के अनुरूप उपयोग है। 'कुटिया' और 'राज-भवन', 'भाग ठगा' और 'हाथ लगा', 'भय' और 'गार्हस्थ्य' ऐसे शब्द पास-पास आकर एक-दूसरे के अर्थ को पैना और गहरा बनाते चलते हैं। शब्दों और स्थितियों के अन्तर-तनावों को एक सीमा तक पहुँचाकर मैथिलीशरण आगे आने वाले कवियों के लिए एक नयी चुनौती की स्थिति पैदा करते हैं।

इस चुनौती को स्वीकार किया लक्ष्मीकांत और सर्वेश्वर ने। नमूने के लिए लूँ तो मैथिलीशरण की तरह इन्हें भी अपनी स्थिति के बारे में प्रश्न पूछ लेने की ज़रूरत हुई :

कहाँ हूँ मैं
कहाँ है अर्जुन
ओ कुरुक्षेत्र
कहाँ हूँ मैं···? (लक्ष्मीकांत)

अक्सर सोचता हूँ
मैं कहाँ खड़ा हूँ !
··· ··· ···
मैं कहाँ खड़ा होऊँ !
··· ··· ···

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कैसी विचित्र है यह जिन्दगी
जिसे मैं जीता हूँ !
(सर्वेश्वर)

मैं हूँ अपने ही लघु अस्तित्व से जन्मा
व्यापक परिवेश का साक्षी और साक्ष्य ।
(लक्ष्मीकान्त)

इस अपरिचित नगर में
जहाँ भी मैं खड़ा होता हूँ
चारों ओर के रास्ते
डायनामाइट से उड़ते दिखाई देते हैं । (सर्वेश्वर)

खुद न व्यापक और विचित्र होकर, जो आसान है, ये कवि अपने को लघु और सरल इकाई मानकर संसार को, जीवन को, यथार्थ को, अजीब, रणस्थल-सा और उड़ते-बदलते रूप में देखते हैं, देखने का जोखिम उठाते हैं। इसमें हम सहज ही अपने साझे के अनुभव की बैसाखी का सहारा ले इनके साथ यात्रा पर निकल पड़ते हैं। इनके साथ हम भी कवि बन जाते हैं और बाह्य दबावों को महसूस करते हैं :

तुम्हारे साथ रहकर
अक्सर मुझे ऐसा महसूस हुआ है
कि दिशाएँ पास आ गयी हैं
हर रास्ता छोटा हो गया है
दुनिया सिमट कर
एक आँगन-सी बन गयी है
जो खचाखच भरा है
कहीं भी एकान्त नहीं
न बाहर, न भीतर ।
(सर्वेश्वर)

मैथिलीशरण की परम्परा को आगे बढ़ाकर ये कवि इस आपत्तिकाल में उलझे बाह्य को समझने के लिए अपने को परिभाषित कर, स्थिरांक या इकाई मान, यथार्थ के कुछ हिस्सों को लचाकर आकार दे देते हैं, या उसे परखते हैं :

एक बहुत बड़ा नक्शा है
... ...
उन करोड़ों के साथ-साथ
मैंने देखा है—
उन्हीं में से एक मैं हूँ
यानी करोड़ों का अन्तिम करोड़वाँ हिस्सा
यानी एक अकेली इकाई
... ...
शाम को थका-मांदा
... ...
मैं किसी स्थिति का पूरक हूँ।
(लक्ष्मीकांत)

हर चीज का आकार घट गया है
पेड़ इतने छोटे हो गए हैं
कि मैं उनके शीश पर हाथ रख
आशीष दे सकता हूँ
आकाश छाती से टकराता है
मैं जब चाहूँ बादलों में मुँह छिपा सकता हूँ। (सर्वेश्वर)

अतः मैथिलीशरण की सीता की तरह इन कवियों का 'मैं' भी इस बदली हुई स्थिति में आश्रय की, अपने को पुनः पाने की, कोशिश करता है ।

मुझे एक स्थिति दो
उस स्थिति का वातावरण दो
मैं उसके अनुकूल
उस प्रवाहित क्षण के दायित्व को
वहन कर लूँगा ।
(लक्ष्मीकांत)

तुम्हारे साथ रहकर
अक्सर मुझे महसूस हुआ है
कि हर बात का एक मतलब होता है
... ...
तुम्हारे साथ रहकर
अक्सर मुझे लगा है
कि हम असमर्थताओं से नहीं
सम्भावनाओं से घिरे हैं ।
(सर्वेश्वर)

सीता को गार्हस्थ्य घेर लेता है, मैं को दायित्व और सम्भावनाएँ। पर नये कवियों का ढंग अधिक विकसित है, अधिक सधा हुआ है, अधिक पका हुआ है। उनमें प्रथम अन्वेषी का अटकाव, जो मैथिलीशरण में था, अनुपस्थित है। मैथिलीशरण से लेकर श्रीराम वर्मा तक की पृष्ठभूमि में ही हम नयी कविता के महत्त्व को, तरीके को, समझ सकते हैं ।

अब देखा जाए कि नयी कविता एक दौर है या नहीं और इस दौर में बने रहने की कितनी क्षमता है। एक दौर की उत्पत्ति कैसे होती है ? इस प्रश्न के सब पहलुओं पर विचार करना मुश्किल है। पर कुछ छोटी-मोटी बातें कही जा सकती हैं ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक दौर सिर्फ इसलिए नहीं पैदा होता कि परम्परा बदल जाती है, या ईश्वर के बारे में भावना बदल जाती है, या यातायात के साधन बदल जाते हैं। जिस परम्परा से पंत उधार लेते हैं उसी से लक्ष्मीकांत भी, जितना ईश्वर को पंत मानते हैं उतना लक्ष्मीकांत भी (इधर शायद ज्यादा ही), जिस रेल पर पंत अपनी जवानी में चढ़ते थे उसी पर लक्ष्मीकांत भी। प्रकृति जितनी पहले थी उतनी अब भी है। अन्तर इसलिए आया कि प्रश्न दूसरे पूछे गए। जिज्ञासा की दिशा में परिवर्तन आ गया, जैसे भीतर से बाहर की ओर। यथार्थ का भिन्न हिस्सा दृष्टि के केन्द्र में लाकर फ़ोकस किया गया। इसके अलावा, ऐसे प्रश्न, ऐसी जिज्ञासा, ऐसी दृष्टि रखने वाले लोग इत्तफ़ाकन एक जगह मिल गए। कम-से-कम इतना सामान जुटने पर ही एक दौर का पैदा होना मुमकिन होता है। नयी कविता को यह सब प्राप्त हुआ।

यदि एक दौर को दूर तक प्रभावशील बने रहना है तो कम-से-कम उसमें दो गुण होने चाहिए। एक यह कि उसे पूरा एहसास होना चाहिए कि हर दौर में भाग लेने वालों के सम्पूर्ण अनुभवों का एक दायरा होता है या एक क्षितिज होता है। जब इसे अस्वीकार करके, सीमित को सारा मान करके, दौर आत्मसंतोष महसूस करने लगता है और अपनी उम्र को बड़प्पन समझने लगता है, तभी उसकी जिज्ञासा बुझने लगती है, प्रश्न दुहराए जाने लगते हैं और यथार्थ का स्थान 'यथार्थ की तस्वीर' ले लेती है।

दूसरा आवश्यक गुण पहले गुण से सम्बन्धित है। समकालीन क्षितिज पर भविष्य की घटनाओं की आहटें आती रहती हैं। यदि दौर में लोच अभी बाकी है तो वह नए प्रभावों को ग्रहण करने के लिए तत्पर रहेगा। दूसरे शब्दों में, यदि क्षितिज का आभास है तो नए प्रभावों के आने की संभावना के प्रति सजगता भी होगी, और यदि सजगता है तो इन प्रभावों को स्वीकार करके अधिक तनावदार और जटिल बनने की लियाकत भी होगी। पर यहाँ एक खतरे की ओर ध्यान आकर्षित करना भी ठीक होगा। जिन्हें क्षितिज का आभास नहीं है, जो अपनी सीमा को अस्वीकार करके सारे इतिहास, सारे वर्तमान और सारे भविष्य को आत्मसात करने की रूमानी प्रवृत्ति के शिकार हो जाते हैं, उनसे भी अक्सर अपने दौर को बनाए रखने के लालच में नए प्रभावों को आश्रय देने का रोग पैदा हो जाता है। यह बहुत घातक स्थिति होती है क्योंकि तब दौर स्वयं तो निस्तेज हो ही जाता है पर साथ ही नए दौर के आने के लिए आवश्यक रोक-टोक वाली ज़मीन भी तैयार नहीं करता। यदि क्षितिज का भान हो, पर सीमित दृष्टि से लगाव पैदा हो जाने के कारण नए प्रभावों से बचने की आदत बन जाए, तो बहुत बुरा नहीं है, क्योंकि नए प्रभावों की वर्जना में नए दौर के पैदा होने के बीज पड़ जाते हैं।

नयी कविता में दौर के दोनों गुण (१) समकालीन क्षितिज का एहसास, और (२) नए प्रभावों की सजगता और उन्हें स्वीकार करने की लोच, मौजूद थे; और लगता है आज भी मौजूद हैं। नए भाग लेने वालों की दृष्टि में यथार्थ का भिन्न हिस्सा (जैसे, देह का) फ़ोकस में आ गया हो तो अलग बात है। यथार्थ की जगह तस्वीर ने नहीं ली है यही मुख्य बात है।

* परिमल पर्व (फरवरी '७०) पर एकत्र लेखकों के सम्मुख इस निबंध का प्रारूप पढ़ा गया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य क्यों ?

नित्यानंद तिवारी

मानवीय प्रयत्न की संस्कृति-विरोधी दिशा को आज आमतौर पर इन्कार नहीं किया जा सकता, जबकि इसके पहले इस तरह का दबाव इतने गहरे और व्यापक रूप में मस्तिष्क और संवेदना को प्रभावित नहीं करता रहा। इसका सीधा परिणाम खीझ, तनाव, संघर्ष और मखौलपूर्ण व्यवहार में होता है। जब सारे-के-सारे युग के व्यवहार का मिज़ाज इस तरह का हो तब वह मिज़ाज अपने-आपमें चुनौती का रूप ग्रहण कर लेता है। आज जीवन और विद्या के हर क्षेत्र में यह चुनौती उभर आई है।

अगर हम मान लें कि साहित्य का सम्बन्ध किसी-न-किसी रूप में जीवन से है ही, तो जीवन के अनुरूप साहित्यिक हल्के में भी चुनौती को स्वीकार करना ही पड़ेगा। जिस तरह यह प्रश्न उठाया जाता है कि जीवन ही क्यों ? उसी तरह साहित्य के लिए भी यह प्रश्न उठ सकता है, जिसे आज उठाया गया है। इसलिए जीवन और साहित्य का यह अस्तित्वपरक प्रश्न बिल्कुल एक है।

इसके अलावा इस तरह भी बात को उठाया जा सकता है कि जीवन तो हमें मिल गया है, उसे जीना-ढोना है ही, लेकिन इस अनिवार्यता के साथ साहित्य का भार भी क्यों ढोया जाय ? तब साहित्य का अस्तित्व अवश्य विवादात्मक हो जाता है। या फिर जीवन को भी न ढोकर आत्महत्या कर ली जाय, ऐसी हालत में किसी भी अस्तित्व के बारे में चिन्ता करने को नहीं रह जाता। लेकिन जो आत्महत्या की बात करते हैं, वे भी जीवन की चिन्ता करते हैं और आत्महत्या का विचार उनकी चिन्ता का ही परिणाम है।

जीवन के साथ-साथ हम साहित्य को भी इसलिए ढोएँ कि वह जीने को बेहतर बनाता है और हमारी योग्यता और क्षमता को संगठित कर दिशा देता है तो आज के तमाम समसामयिक साहित्य के प्रमाण और साक्ष्य पर इस प्रतिज्ञा को अस्वीकार करने में कठिनाई नहीं होगी। अर्थात् **आज गहरे-से-गहरे उपयोगपरक अर्थ में भी साहित्य की सार्थकता प्रमाणित करने का प्रयत्न असंगत लगने लगता है**। इसलिए उपयोग (चाहे वह नैतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक किसी भी प्रकार का हो) से अलग किसी तात्त्विक बिन्दु से यह अस्तित्व-मीमांसा शुरू करनी होगी।

तात्त्विक बिन्दु से क्यों ? क्या ऐतिहासिक परिवर्तन में नई विकसित वास्तविकता की पहचान से यह उत्तर नहीं दिया जा सकता ? हमारा पिछला अनुभव और इतिहास साक्षी है कि उस पहचान से उत्तर दिए-पाए जाते रहे हैं। तो क्या उसी तरह आज भी हम अपने उत्तर की तलाश कर कर सकते हैं ? क्या परिवर्तन केवल स्वरूप को चुनौती देता है, अस्तित्व को नहीं ? क्या कलिदास और तुलसी **जिस तरह** अपने साहित्य की प्रयोजनीयता का उत्तर पाते हैं **उसी तरह** आज का साहित्यकार भी अपने 'क्यों' का जवाब पा सकता है ? अगर पा सकता है तो सिर्फ स्वरूप को चुनौती मिली है उस **'तरह'** को नहीं। हो सकता है कालिदास का उत्तर हमारी सहायता न करे लेकिन **'तरह'** तो फिर भी सहायता करेगा। लेकिन ऐतिहासिक परिवर्तन **'तरह'** को भी बदलता है, बदल सकता है। **'तरह'** तब बदलता है जब मौलिक और मूलभूत परिवर्तन हो जाता है। यही नहीं, ऐतिहासिक परिवर्तन की धारणा भी बिल्कुल भिन्न हो जाती है जो ऐसे बिन्दु पर ले जाकर छोड़ देती है, जहाँ लगता है कोई भी क्रम-प्रक्रिया हमारी सहायता नहीं कर पायेगी। ऐसी हालत में एक नई शुरुआत के सामने हम खड़े हो जाते हैं और अस्तित्व के मूलभूत बिन्दु से हमारे सवाल उभरते हैं।

'किसी' भी 'कुछ' के लिए—अगर वह 'कुछ, अनुपस्थित हो तो भी—जीना हमारी मौलिक क्रिया और बाध्यता है (निश्चय ही जब तक आत्महत्या का निर्णय न कर लिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाय)। अब हमारी जीने की यह क्रिया किस तरह के संदर्भों में घिरी है? क्यों बार-बार ये संदर्भ मानवीय संस्पर्शों को उपहासास्पद और असंगत बना देते हैं? बार-बार लोगों ने इस तथ्य को लक्षित किया है कि बनाने और रचने के विशेष प्रयत्न के साथ जो जीवन जिया जाता है उसे आज की तकनीकी सभ्यता ने स्वचालित, सामान्य और समानुरूप क्रिया में परिवर्तित कर दिया है, अर्थात् मनुष्य की सर्जक और विशिष्ट प्रकृति स्वचालित सामान्य सांस्कृतिक परिवेश में घिरी हुई है। मानवीय प्रकृति और सांस्कृतिक परिवेश का इतना गहरा विरोध और इतनी गहरी खाई मानव-जीवन ने अपने इतिहास में इस तीखेपन और तात्त्विक रूप में कभी महसूस नहीं की। ऐसी हालत में जीना अगर निर्विशेष सामान्य में बह जाना है तो उसका अस्तित्व कहाँ रहा? वह जीना केवल मूलप्रवृत्त्यात्मक है और ऐसे जीवन के लिए 'अर्थ' अर्थहीन हो जाता है। इसके विपरीत जीवन का अस्तित्व कायम रखना आदमी की अपनी प्रतिभा, महत्त्वाकांक्षा और जिज्ञासा पर निर्भर करता है, जो अपने प्राकृतिक परिवेश से आगे निकल जाना चाहता है और इसलिए उसके प्रयत्न विविध प्रक्रियाओं में प्रतिफलित होने लगते हैं। उसके प्रयत्न की यह विविधता सभी क्षेत्रों में प्रायोगिक विधियों और प्रायोगिक मस्तिष्क की माँग करती है। प्रश्न यह है कि क्या तकनीकी और वैज्ञानिक प्रयोगक्षमता के साथ जीवन के हर क्षेत्र में यह प्रयोगक्षमता उतनी ही तेज़ी से प्रतिफलित हुई है या हो रही है? असल में तकनीकी स्वचालन और समनुरूपता और मनुष्य के सर्जक रूप का यह संघर्ष उतना भयानक नहीं है, जितना मस्तिष्क की अप्रायोगिकता और प्रायोगिकता की कशमकश। इस प्रकार सबसे भयानक संकट अप्रायोगिकता का है। दुनिया में सब जगह आधुनिक और आधुनिकतावादी कहे जाने वाले चिन्तकों और साहित्यकारों ने इस अप्रायोगिकता के ही कारण जीवन को असंगतिपूर्ण और निरर्थक घोषित करने का साहस किया—ऐसा मुझे लगता है। मुझे तो कभी-कभी ऐसा भी लगता है कि अपने प्रायोगिक और गत्यात्मक मस्तिष्क के सहारे वे किसी आत्यन्तिक मूल्य की भी खोज करने लगते हैं और चूँकि अन्तिम स्वयंपूर्ण अर्थ देना इस पद्धति का स्वभाव नहीं और इसलिए भी शायद उन्हें जीवन अर्थहीन लगने लगता है। खैर यह तो उनकी परिणति की कथा है, लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि मस्तिष्क के इन दोनों स्वभावों और अनुशासनों की विरोधी प्रतिक्रियाओं के कारण जीवन में बड़ी व्यापक और सर्वग्रासी विसंगति उपजी है; यहाँ तक कि आदमी, उसके आसपास और चीज़ों में कोई रिश्ता ही नहीं रह गया है। बिना रिश्ते के जीना आज की सबसे बड़ी हक़ीकत हो गई है और बिना रिश्ते के किसी तरह की पहचान संभव नहीं है—

मैंने एक बड़े आदमी से पूछा
'तुमने यह कोट कहाँ से पाया'
उसने मुझे घूरकर देखा
और कोट उतारकर फेंक दिया
मैंने उससे पूछा 'तुमने यह चश्मा कहाँ से पाया'
उसने चश्मा भी उतारकर फेंक दिया
और अंधा हो गया!
जब मैंने पूछा
'बड़े आदमी तुम आदमी तो हो न!'
तो वह नंगा हो गया और मर गया।

—विश्वनाथ त्रिपाठी

आदमी से पूछना कि 'तुम आदमी तो हो न!' इससे सीधा सवाल और क्या हो सकता है! लेकिन यह छोटा-सा सवाल उसे बेपर्द कर देता है। बड़बोले दर्शन और वाचाल व्यवस्थाएँ इस छोटे-से सवाल से दरक जाती हैं और आदमी अनस्तित्व में घुलने लगता है। फिर या तो जीवन विसंगति के सामने (विरोध में भी) खड़ा हो और अपने अस्तित्व को प्रमाणित करे या फिर अमानुषिक बर्बर संदर्भों में खो जाये, जिसके लिए उसे कोशिश करने की जरूरत ही नहीं है। सामने खड़ा होना और अस्तित्व की मीमांसा और प्रमाण देना आदमी की निरन्तर प्रायोगिकता पर निर्भर है क्योंकि स्थापित प्रमाण और मीमांसा अपने तमाम रिश्तों के साथ अर्थहीन हो चुके हैं। यह संदर्भ किसी खास देश या कि कुछ लोगों का ही नहीं तमाम दुनिया के लोगों का है। उसके उत्पन्न होने के विवरण अलग हो सकते हैं और दिए जा सकते हैं, लेकिन इससे प्रश्न के स्वरूप और विश्लेषण में कोई बहुत बड़ा फ़र्क नहीं पड़ने वाला।

आखिर इस विसंगति में जीने की कोशिश की जाये या नहीं? अगर नहीं तो हम जी लिए जाएँगे और एक पुर्जे या कि पत्थर के टुकड़े से अलग जीवन की कल्पना असंभव होगी। इस तरह भयानक विसंगति में भी जीने की हरकत और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोशिश संभवतः उसकी अपनी आन्तरिक प्रकृति और प्रक्रिया के लिए ज़रूरी है न कि अंतिम और स्वयंपूर्ण अर्थवत्ता पाने के लिए।

मान लीजिए यह कोशिश अगर शुरू होती है तो कहाँ से और कैसे होगी ? आदमी जिन छोटी-बड़ी, अच्छी-बुरी, कुरूप-सुन्दर परिस्थितियों में घिरा है उनके भीतर से गुजरने के अलावा वह और क्या कर सकता है। ऐसी हालत में एक-एक परिस्थिति और अनुभव को वह जितना निचोड़ सकता है, निचोड़ ले। लेकिन वह कैसे और क्या निचोड़ेगा सिवा इसके कि तटस्थ सचेतनता के साथ उन्हें झेलने की एक मानसिक तैयारी कर ले। यह मानसिक तैयारी, मेरा खयाल है, बहुत दूर तक परिस्थितियों को बदल देती है और आदमी के गौरव को उभारने लगती है जो निश्चित रूप से उपदेशित और आरोपित गौरव और सार्थकता से भिन्न होती है। आज जीवन की यह बुनियादी शर्त और मौलिक क्रिया है। सवाल यह है कि इस बुनियादी शर्त और मौलिक क्रिया में साहित्यिक क्रियाएँ कहाँ तक उसकी अंगभूत हैं। इस बिन्दु पर जीवन और साहित्य जो अपने-अपने प्रतिमानों के साथ प्रमाणित और भिन्न सत्तात्मक प्रतीति थे उनका अंतर नहीं रह जायेगा और कला और साहित्य अपने बने-बनाये मानदण्डों को लेकर अपनी सार्थकता खोजने का यत्न करेंगे तो वह हास्यास्पद और असंगत क्रिया मात्र होगी।

क्या कारण है कि आज की सारी कला और सारा साहित्य अमानवीय बर्बरतापूर्ण हरकतों में ही संगत और प्रभविष्णु लगता है ? वास्तविकताओं को विरूप और व्यंग्यात्मक पुट देकर गैर-जिम्मेदाराना अंदाज़ में उछालता है ? उसे क्यों लगता है—

तमाम किताबों के बीच
घिरा हुआ
मैं जानवर सा चुप हूँ।

—गोविन्द उपाध्याय

क्या कारण है कि ज्ञानरंजन की कहानी का आदमी थोड़ी-सी शराब के लिए एक तथाकथित सभ्य आदमी का घंटा बनता है और एक मामूली-सी हँसी आ जाने के कारण बेहद अपमानित होता है और पिटकर रेस्तराँ से नीचे उतर आता है। हँसी जो उसका निजत्व, उसकी ज़िन्दगी है, पिटकर, अपमानित होकर ही क्यों प्रभावित करती है ? रवीन्द्र कालिया की कहानी का 'छोटा' क्यों बकरा बनता है ? क्या है जिससे उसे यह करना और कहना पड़ता है "तुम्हें कैसे समझाऊँ उससे मेरा कोई ताल्लुक नहीं है। मेरी बात पर यकीन करो और रुक जाओ। वह केबिन की प्रेमिका है। मैं तो सिर्फ बकरा हूँ। मैं केबिन के बाहर के दाँत हूँ। इसी नाटक के लिए पिछली बार मुझे डबल इन्क्रीमेण्ट मिला था। मैं इस नाटक में हिस्सा न लेता तो काला रजिस्टर मुझे खा जाता। मेरा कोई कसूर नहीं, यकीन मानो मैं सिर्फ बकरा हूँ।" और "हालत इतनी बकवास हो गई/कि हर किसी को/आजादी के नाम पर/अदालत जाने की लत पड़ गई है/आदमी की जात कहीं से भी दबोचो/ढीली पड़ गई है/"—लीलाधर जगूड़ी। ये सारे एहसास कविता और साहित्य नहीं हैं क्योंकि "किताबों के भीतर/नज़रों का खेल खत्म हो जाने के बाद/कुछ नहीं मिलता है/" इसलिए "तुम्हारे माथे पर/कविता नहीं हाथ रखूंगा/"—लीलाधर जगूड़ी।

जीने की क्रिया और इन पंक्तियों में कोई अन्तर नहीं है और यद्यपि यह जल्दीबाज़ी हो सकती है, फिर भी कहा जा सकता है कि **आज साहित्य लिखना सिर्फ जीने की मौलिक क्रिया और एहसास है** (यह मूल प्रवृत्त्यात्मक नहीं सचेत प्रयास का प्रतिफलन है) जिसमें इनसे अलग अर्थ कहीं से नहीं आयेगा—

अर्थ उगते हैं/गोया तुमने इन्हें नहीं बोया/
जरूर कहीं कोई छेद है/जो तुम्हारी आँख से होकर
उतना नहीं/
जितना तुम्हारे अण्डरवीयर और बनियान से है/

—लीलाधर जगूड़ी

अपने आस-पास की परिस्थितियों में आदमी जिस तरह आज जीता है, ये पंक्तियाँ उस जीने की आंतरिक प्रकृति और प्रक्रिया की अंगभूत हैं। इसके अलावा न उनका कोई उपयोग है न कोई सार्थकता—ऐसा मुझे लगता है। वह हमारी और जीवन की सत्ता का स्वयं प्रमाण है।

साहित्यिक कृतियाँ हमारे पृथक्-पृथक् आचरण हैं। जिस तरह आचरण और कार्य हर व्यक्ति के लिए भिन्न हैं उसी प्रकार वे भी अनन्य और अद्वितीय हैं। जीवन का प्रत्येक क्षण हमारे कर्तृत्व के लिए अवसर देता है और सवाल खड़े करता है। उसका सामना करना हमारे अपने विवेक और प्रयोगधर्मी साहसिकता पर निर्भर करता है। यह अवश्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि ऐसी हालत में जीवन सिर्फ तात्कालिक और साथ-साथ अवधिहीन भी बन जाता है। हमारी समय की धारणा अव्यवस्थित हो जाती है। जीने की शक्ति क्षरित होने लगती है। आदमी अपनी नितान्त निजता में इतना संसक्त हो जाता है कि वह भावनाशून्य हो जाता है और वास्तविकता के प्रति बहुत अधिक शंकालु। तब केवल यही एक चारा रह जाता है कि हम भविष्य में और गतिक्रम में विश्वास रखें, क्योंकि इस विश्वास के बिना हमारी प्रायोगिकता चरितार्थ ही नहीं हो सकती। अक्सर ऐसा होता नहीं, लेकिन लोग अक्सर जीते ही कहाँ हैं ?

'अर्थ' या 'क्यों' का जवाब अनुभवों के भीतर से ही दिया जा सकता है और हर-एक की जीवन की भिन्नता के अनुसार उसका उत्तर भिन्न होगा। यह उत्तर सर्वथा निजी और बिना किसी की सहायता के खुद खोजना होता है। हम लोगों का 'क्यों' का प्रश्न उठाना अपने-आप में इस बात का प्रमाण है कि आदमी इसके बिना शायद रह ही नहीं सकता। डॉ० फ्रैंकल ने 'मैन्स सर्च फॉर मीनिंग' में नाज़ियों के कंसेण्ट्रेशन कैम्प की भयंकर यंत्रणाओं का विवरण दिया है और मौत तथा यंत्रणा के भयंकर क्षणों के भीतर से गुज़रते हुए उनके अनुभवों का सार है—"इन मनोवैज्ञानिक स्थितियों के विवरण से ऐसी धारणा बनती है कि मनुष्य संभवतः परिस्थितियों का दास है। तो क्या आदमी में संकल्प जैसी कोई चीज नहीं ? क्या उसे अपना रास्ता चुनने का अधिकार नहीं ? अनुभव बताता है कि मनुष्य के पास यह अधिकार है। मुझे याद है, ऐसे भी लोग कैम्प में थे, जो दूसरों को सांत्वना देते थे और २४ घंटे में मिलने वाली एक ही रोटी के टुकड़े भी दूसरों को दे देते थे। भले ही ये मुट्ठी-भर ही हों लेकिन ऐसे एक आदमी का अस्तित्व भी इस बात का प्रमाण है कि आदमी का सब-कुछ छीना जा सकता है किन्तु परिस्थितियों के प्रति वह क्या मनोवृत्ति अपनाए यह स्वतंत्रता उससे नहीं छीनी जा सकती।" यही स्वतंत्रता किसी भी चुनौती के सामने आदमी को खड़ा कर सकती है और कुरूप, भदेस, अमानवीय होकर भी आज का साहित्य इसका प्रमाण है, कम-से-कम मुझे ऐसा ही एहसास होता है। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखक और आलोचक : विकासमानता का प्रश्न

देवराज

'आलोचना—९' में प्रकाशित श्री विष्णु खरे द्वारा की गयी 'जो बँध न सका' की समीक्षा पढ़कर मन में कुछ प्रश्न उठे, जिन पर, एकालाप के रूप में ही सही, विचार करने की प्रेरणा हुई। यों स्मरण होता है कि प्रस्तुत लेखक ने एक बार 'आलोचना' के वर्तमान सम्पादक को यह सुझाव दिया था कि वह 'लेखकीय विकास' के प्रश्न पर अपनी पत्रिका में लिखित परिसंवाद का आयोजन करें। सम्भवतः माननीय सम्पादक को वह सुझाव पसन्द नहीं पड़ा—शायद इसलिए कि उक्त प्रश्न को एक उत्तेजक बहस का रूप नहीं दिया जा सकता था। या फिर यह कि ऐसे प्रश्नों का अनुचिन्तन आलोचना-प्रत्यालोचना की प्रचलित शैलियों के अनुकूल नहीं पड़ता। श्री विष्णु खरे की समीक्षा जिस स्वर और तर्ज में लिखी गई है वह वाद-विवाद की प्रचलित शैलियों का कम-बढ़ प्रतिनिधित्व करती है। इसलिए उसके द्वारा उकसाये गये प्रश्नों का सम्बन्ध आधुनिक हिन्दी के, समग्र नहीं तो अधिकांश, समीक्षात्मक लेखन से हो सकता है।

श्री खरे के संक्षिप्त समीक्षा-लेख का शीर्षक है, 'आदतन लिखते रहने की नियति'। उनका कहना है कि : 'गिरिजा-कुमार तथा उनके हमउम्र कवि के सामने उनकी वरिष्ठता एक विचित्र समस्या उपस्थित करती है। वह इकट्ठे तीन चीजें होना चाहते हैं—अग्रणी, समसामयिक तथा जैसे वह वास्तव में हैं।' श्री खरे द्वारा प्रयुक्त पदावली के अनुसार समस्या बहुत-कुछ मनोवैज्ञानिक है—तथाकथित वरिष्ठ लेखक कुछ 'होना' चाहते हैं। इस मनोवैज्ञानिक अथवा विशिष्ट जीवनियों से सम्बन्धित (बायोग्रैफिकल) प्रश्न में—जिसके एक समीक्षात्मक लेख में उठाये जाने के औचित्य में शंका की जा सकती है—हमें एकदम ही रुचि नहीं है। हम यह भी नहीं मानना चाहेंगे कि प्रश्न केवल 'सामयिक' या 'समसामयिक' है। किसी सांस्कृतिक परिवेश में कौनसे प्रश्न 'सामयिक' या 'समसामयिक' समझें जायेंगे—यह मुख्यतः इस पर निर्भर करता है कि संस्कृति-विशेष के लेखकों और प्रवक्ताओं का स्तर क्या है। मनुष्य-जीवन के चरम अर्थ अथवा नियति का प्रश्न, एक तरह से, चिरन्तन प्रश्न है; वह चिर-सामयिक प्रश्न भी है, इस अर्थ में कि—विशेषतः ऐसे युगों में जब धर्मग्रन्थों में आस्था खत्म हो चुकी हो—हर बड़े लेखक और (दार्शनिक) विचारक को किसी-न-किसी रूप में, उससे उलझना पड़ेगा। सच यह है कि मानव-संस्कृति के इतिहास में समझदार लेखकों-विचारकों द्वारा पूछे गये अधिकांश प्रश्न, कमोवेश परिवर्तित रूप में, आज के लिए भी महत्त्वपूर्ण बने हुए हैं। यह दूसरी बात है कि किसी वर्तमान संस्कृति या समाज मे, कुछ मानसिक ऊर्जा की कमी या सीमित मात्रा के कारण, कुछ फैशनपरस्ती या गतानुगतिकता के प्रभाव से, और कुछ युगीन रुचियों की एकांगिता के सबब से, सिर्फ कुछ प्रश्नों को ही महत्त्वपूर्ण करार देकर विवाद और विमर्श का विषय बनाया जाय। उदाहरण के लिये पिछले दशक (१९५१-६०) में हिन्दी जगत् के समीक्षात्मक चिन्तन का एकमात्र विषय था—प्रयोगवाद; वर्तमान दशक (१९६१-७०) के समीक्षकों के बीच एक प्रच्छन्न-सा समझौता रहा है कि 'प्रयोग' का विषय उतना महत्त्वपूर्ण या उल्लेखनीय नहीं है। क्लॉसिकी लेखकों एवं चिन्तकों पर लिखनेवालों की एक उपयोगिता यह भी होती है कि वे पुराने या पिछले प्रश्नों की ओर वर्तमान पीढ़ी का ध्यान दिलाएँ; लेकिन, सौभाग्यवश, नई पीढ़ी के हिन्दी-लेखक इस तरह के किसी बोझे को ढोते हुए चलना पसन्द नहीं करते। एक दशक में सिर्फ एक प्रश्न, एकाध वाद (जैसे रसवाद या छायावाद) अथवा लेखक (अज्ञेय, मुक्तिबोध) की बुराई-भलाई पर बहस करते हुए वे अपनी बौद्धिक जिज्ञासा और ऊर्जा दोनों के प्रति पूरा-पूरा न्याय कर लेते हैं। दूसरी दृष्टि से यह कहा जा सकता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि, विशेषतः हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं का क्षेत्र, उस तरह के प्रश्नों को छेड़ने के लिए उपयुक्त नहीं होता जो उक्त सीमित अर्थ में 'समसामयिक' नहीं है।

हमारा निवेदन है कि 'आदतन लिखते रहने की नियति' एक लेखक की भी हो सकती है, और समीक्षक की भी; दूसरे वह नियति किसी भी युग के लेखक-समीक्षक की हो सकती है। इसलिए श्री खरे द्वारा उठाया गया प्रश्न सिर्फ 'समसामयिक' नहीं है, और उसका सम्बन्ध एक या दूसरे लेखक से जोड़ा जाना भी उचित प्रतीत नहीं होता।

वरिष्ठ होने की नियति, जीवधर्म के नाते, सभी के हिस्से में पड़ती है। यहाँ एक रोचक प्रश्न उठता है : एक लेखक को किस उम्र तक लिखना चाहिए ? कब वह इतना वरिष्ठ हो जाता है कि उसका लेखन 'युग के लिए अनुपयोगी' होने लगता है ? कालिदास आदि के बारे में हमारे पास ठीक सूचना नहीं है (संभवतः सूर-तुलसी के बारे में वैसी सूचनाएँ उपलब्ध हैं। या नहीं हैं ?), लेकिन मेरा अनुमान है कि विश्व के अनेक बड़े लेखक—प्लेटो, अरस्तू, कान्ट, हेगेल, गेटे, बर्गसाँ, हाइडेगर, ह्वाइटहेड, आदि—काफी उम्र तक लिखते रहे; इनमें से कुछ के काफी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ बड़ी अवस्था में लिखे गये। सार्त्र और रसेल अभी तक लिख रहे हैं—रसेल की महत्त्वपूर्ण 'हिस्टरी ऑफ़ वेस्टर्न फिलासफी' संभवतः ७६ वर्ष की अवस्था में लिखी गयी थी और उसकी आत्मकथा कुछ ही वर्ष पहले निकली है।[1]

कुछ लोगों की दृष्टि में एक अन्य प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण हो सकता है। दुनिया के साहित्य को कुछ देने की आकांक्षा रखनेवाला लेखक किस उम्र में, लेखन का प्रश्न छोड़ भी दें तो, अपनी कृतियों का प्रकाशन शुरू करे ? एक रईस लेखक अपनी स्कूल की उम्र में लिखी गई कृतियों का प्रकाशन कर सकता है; लेकिन यह देखते हुए कि देश की कागज़ आदि सम्पत्ति सीमित होती है, वैसे प्रकाशन को प्रोत्साहन देना उचित नहीं कहा जा सकेगा। (यों हमारी कम उन्नत भाषाओं में स्थिति उलटी ही है; यहाँ घटिया जासूसी उपन्यास और 'आवारा' तथा 'गुलशन नन्दा' जैसे लेखकों की रचनाएँ धड़ल्ले से प्रकाशित होती और बिकती हैं।) मेरा संकेत एक ज्यादा बड़े प्रश्न की ओर है : कब, किस निम्नतम अवस्था तक पहुँचने पर, हम किसी लेखक से सही तौर पर यह आशा कर सकते हैं कि वह हमारे साहित्य को कमोबेश प्रौढ़ कृतियाँ दे सके ? माना जा सकता है कि विभिन्न लेखकों में प्रतिभा का योग कम-बढ़ होता है; बुद्धि और जिज्ञासा के अनुपात में उनकी 'सीखने' की रफ्तार भी अलग-अलग हो सकती है। फिर भी, यह देखते हुए कि आज के मनुष्य को, ज्ञान-विज्ञान और हर तरह के साहित्य के अपार विस्तार के कारण, अपने को सुशिक्षित बनाना एक लम्बा काम है, इस सम्भावना को स्वीकार किया जा सकता है कि एक खास उम्र तक पहुँचे बिना कोई लेखक सचमुच ऐसी कृति का प्रणयन नहीं कर सकता जो समझदार पाठकों को आकृष्ट कर सके। या कर सकता है ? हिन्दी में—पता नहीं इसे सौभाग्य कहा जाए या दुर्भाग्य—अभी तक रोमांटिक साहित्यशास्त्र की यह धारणा प्रचलित है कि सर्जनशील प्रतिभा को विशेष शिक्षा-दीक्षा की ज़रूरत नहीं है। सिद्धान्त में नहीं तो व्यवहार में—इसके बावजूद कि आज के अधिकांश लेखक छायावादी मनोवृत्ति के विरोध को अपना पवित्र और क्रान्तिकारी कर्तव्य मानते हैं—हिन्दी साहित्य-जगत् की यह प्रचलित धारणा है कि अच्छा लेखन करने के लिए इतना काफी है कि लेखक-विशेष, जन्म-तिथि और ज़िन्दगी की परिस्थितियों के हिसाब से, तथाकथित नई पीढ़ी का सदस्य हो। जहाँ तक शिक्षा का प्रश्न है, यह काफी समझा जाता है कि उसने एम० ए० की डिग्री ले ली हो (पी०-एच० डी० की उपाधि नौकरी के लिए ज़रूरी समझी जाती है, न कि लेखन के लिए)। इसके अलावा उदीयमान लेखक का अस्तित्ववाद, बीटनिक साहित्य आदि से चलताऊ परिचय होना आवश्यक माना जा सकता है। यदि आइन्स्टाइन, विटगैन्सटाइन जैसे कुछ नामों से परिचय हो तो, रौब जमाने की दृष्टि से, उपयोगी है। इस सबके अलावा सिर्फ इतना और अपेक्षित है कि उसका लिखने और बोलने का एक खास अन्दाज़ हो—वह 'वस्तुतः' की जगह नियम से 'दर-असल', 'रचना' या 'संरचना' की जगह रचाव, बनावट या बुनावट जैसे शब्दों का प्रयोग करे; वगैरह-वगैरह। पता नहीं नया और महत्त्वपूर्ण लेखक बनने के ये नुसखे अंग्रेज़ी, फ्रैन्च आदि भाषाओं के साहित्यकारों को अभी तक ज्ञात हो सके हैं या नहीं। कम-से-कम इस मामले में हिन्दी के युवा लेखक विश्व के साहित्यिकों को बहुत-कुछ

१. बर्ट्रेण्ड रसेल की ९७-९८ वर्ष की अवस्था में ३ फरवरी, १९७० को मृत्यु हो गयी। सार्त्र की अवस्था इस समय ६५ के लगभग होगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिखा सकते हैं।

इधर नयी पीढ़ी से नये अनुभव पर विशेष ज़ोर दिया दिया जाने लगा है। चूंकि तथाकथित वरिष्ठ लेखकों का अनुभव अपने समय की नयी पीढ़ी के समान नहीं होता, इसलिए उन्हें लिखते रहने का अधिकार नहीं रह जाता। हमारी सम्मति में इस तरह की मान्यता एक अर्ध-सत्य है। हर लेखक और हर पीढ़ी का लेखक, स्वभावतः अपने अनुभव को अभिव्यक्ति का विषय बनाता है; इसमें शिकायत की बात क्या है? देश के इतिहास में कुछ वर्ष और दशक अन्न की कमी या बेकारी के हो सकते हैं और कुछ अपेक्षाकृत ज्यादा अच्छी स्थिति वाले। निश्चय ही इन स्थितियों का समसामयिक मनोवृत्ति, नैतिकता और दृष्टि पर असर पड़ता है। यों, अपनी-अपनी आर्थिक-सामाजिक स्थिति के हिसाब से, हर लेखक का अनुभव और मनोवृत्ति भिन्न हो सकती है। किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि किसी खास अनुभूति को शब्दबद्ध करने वाला साहित्य आवश्यक रूप में अच्छा या बुरा होता है। आज हम कालिदास, शेक्सपियर और टॉलस्टाय को इसलिए पढ़ना और सराहना बन्द नहीं कर देते कि उनकी अनुभूतियाँ हमारे युग के अनुभव से भिन्न थीं। यदि नई पीढ़ी के इस तर्क को छोर तक पहुँचाया जाए तो निष्कर्ष यह होगा कि एक दशक या पीढ़ी का लेखन सिर्फ उसी दशक या पीढ़ी के लिए होता है, और यह कि उसका सही मूल्यांकन उसी दशक या पीढ़ी में हो सकता है। सम्भव है आज के कुछ लेखकों की महत्त्वाकांक्षा इतनी सीमित हो, लेकिन हम उस महत्त्वाकांक्षा को स्वस्थ और दाद देने लायक मनोवृत्ति का सूचक नहीं कह सकेंगे। किन्तु हम श्री खरे से इस बात में पूर्णतया सहमत हैं कि किसी लेखक को उस अनुभूति को प्रकट करने का दावा और कोशिश नहीं करनी चाहिए जो उसकी अपनी नहीं है।

हमारी मान्यता है कि किसी भी लेखक को तब तक लिखते रहने का अधिकार है जब तक, एक शब्द में, वह विकासशील है। असली महत्त्व का प्रश्न यह है कि इस विकासशीलता का स्वरूप और पहचान क्या है।

एक अर्थ है जिसमें किसी व्यक्ति या लेखक की अनुभव-क्षमता एक खास उम्र तक ही सक्षम और क्रियाशील बनी रहती है। साहित्य-सर्जना की दृष्टि से अर्थवान् एवं महत्त्वपूर्ण अनुभव वह है जो हमारे समूचे अस्तित्व को झकझोरता या संसक्त बना लेता है।

शुरू उम्र के अनुभवों में कुछ आवेग प्रधान रहते हैं; तब शायद प्रकृति, और खास उम्र के स्त्री-पुरुष ज्यादा दिलचस्पी जगाते हैं। लेखक की अपनी और आसपास की संघर्षमूलक आर्थिक स्थितियाँ और विषमताएँ भी आक्रोश और गुस्से से भरी प्रतिक्रियाएँ उकसाती हैं। शुरू की जिन्दगी में हर लेखक, शायद, द्रष्टा की अपेक्षा भोक्ता अधिक होता है। यों तो साहित्यकार सदा ही जीवन में आसक्ति रखनेवाला व्यक्ति होता है, पर एक तरह की आसक्ति है जो क्रमशः द्रष्टा की अनासक्ति से सम्पृक्त हो जाती है। उस स्थिति में लेखक स्वयं अपने भोगे हुए जीवन को मनुष्यमात्र के जीवन का प्रतीक मानते हुए देखना, आँकना और चित्रित करना सीखता है। सम्भवतः यहीं से उस प्रक्रिया का प्रारम्भ होता है जो लेखक को प्रौढ़ता के धरातल पर ले जाती है। जीवन को आँकने की क्रिया में जैसे-जैसे विकास होता है, वैसे-वैसे लेखक उसे इतिहास और संस्कृति के व्यापक परिवेश में रखकर देखने का अभ्यस्त बनता है।

संक्षेप में, लेखकीय विकास के क्रमों के आयाम नैतिक, आध्यात्मिक और बौद्धिक या दार्शनिक हैं। इन आयामों में समुचित प्रवेश पाने के लिए यह ज़रूरी है कि लेखक गहरे अर्थ में पृच्छाशील और अन्वेषी हो—वह सहज ही किसी नये-पुराने वाद या फ़ैशन के प्रति आत्मसमर्पण कर देनेवाला न हो। अन्ततः बड़ा लेखक प्रखर और गहरे व्यक्तित्व-सम्पन्न लेखक होता है। इस तरह का व्यक्तित्व जहाँ लेखक को केवल सामयिक फैशन या आन्दोलन की बाढ़ में बह जाने से रोकता है, वहाँ वह उसे इतना आत्म-विश्वास भी देता है कि वह तरह-तरह के विरोधों और विरोधी आलोचनाओं की ज्यादा परवाह न करके, चुपचाप, अपने अनुभव को गठित करते हुए, उपयुक्त अभिव्यक्ति के माध्यमों की खोज करता रहे।

जो लेखक जितना ही बड़ा होता है, वह अपने और विगत युगों के ज्ञान-विज्ञान, चिन्तन और लेखन का उतना ही ज्यादा ऋणी होता है। एक महत्त्वपूर्ण लेखक का व्यक्तित्व, उसकी चेतना और दृष्टि, जिन अनगिनत प्रश्नों और समाधानों, उलझनों और द्वन्द्वों की कशमकश में गुज़रकर प्रौढ़ता प्राप्त करती है उनकी गहरी पकड़ और परिचय सिर्फ चन्द लेखकों, दो-चार आन्दोलनों और साहित्यिक इतिहास के दस-बीस वर्षों की सीमा में बँधे रहकर नहीं हो जाता। उसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए लेखक को मानवीय जीवन और संस्कृति का लम्बा लेखा-जोखा लेना पड़ता है। अन्ततः युग-युग का द्रष्टा बनने लायक जीवनी शक्ति और योग्यता से (जो प्रतिभा और परिश्रम का यौगिक है) सम्पन्न लेखक ही युग का महत्त्वपूर्ण लेखक बन सकता है। जिन्हें लेखकीय विकास की ये शर्तें ज्यादा सख्त जान पड़ें, उनसे निवेदन है कि वे ठीक-ठीक अन्दाज़ा लगाने की कोशिश करें कि कालिदास और भवभूति, सूर और तुलसी, दान्ते और वर्जिल, टॉल्स्टाय, जेम्स ज्वायस, इलियट—वे कोई भी लेखक जो इतिहास पर थोड़ी-बहुत छाप छोड़ सके हैं—कहाँ तक अपने समय के प्रबुद्ध सांस्कृतिक बोध से सम्पन्न थे, और कहाँ तक जीवन की महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक समस्याओं का गहराई से अनुभव कर सके थे।

श्री खरे ने चलते-चलते टी० एस० इलियट के 'फोर क्वार्टेट्स' और उसकी प्रसिद्धि का संकेत किया है। निःसन्देह, उन्हें पता होगा कि इलियट की 'संस्कृति' 'इतिहास' और 'अध्यात्म' (विशेषतः ईसाई धर्म) में गहरी अभिरुचि थी। निश्चय ही इलियट की मान्यता का श्रेय दसवर्षीय आन्दोलनों और दससाला लेखन का ख्यापन करने वाले हिन्दी-समीक्षकों की विवेक-बुद्धि को नहीं दिया जा सकेगा। यह भी ध्यान देने योग्य है कि जिस देश में रहकर इलियट ने अपना लेखन किया वहाँ 'इतिहास' की सस्ती (यानी जोशीली) अवज्ञा का चलन नहीं था; वहाँ ट्वायनबी जैसे लेखक बारह जिल्दों में इतिहास की व्याख्या करने का प्रयत्न करते हैं। स्मरण होता है कि श्री गिरिजाकुमार माथुर ने, धर्मयुग में प्रकाशित अपने किसी लेख में, दो-तीन पंक्तियों में 'मानववाद' को असामयिक या कुछ ऐसा ही कहकर बरखास्त कर दिया था। अपने देश में साहित्य और चिन्तन की प्रगति के लिये शायद यह बिलकुल ही ज़रूरी नहीं है कि किसी विचार या प्रश्न को संजीदगी से लिया जाय। हिन्दी-जगत् में प्रचलित होनेवाले वाद भी बहुत-कुछ जटिलताओं से मुक्त और एकांकी होकर रह जाते हैं; किसी मसले को इतनी गंभीरता से लेना कि उस पर, भूल से भी, कोई छोटी-मोटी 'क्लासिक' कही जा सकनेवाली पुस्तक तैयार हो जाय, यह हमें सह्य नहीं है। उदाहरण के लिए, हमने पिछले दशक में प्रयोगवाद पर पूरे ज़ोर-शोर से चर्चा की, लेकिन प्रयोग के विभिन्न रूपों और आयामों को उद्घाटित करनेवाली एक सौ पृष्ठ की सुचिन्तित एवं सुसंघटित पुस्तिका तैयार करने की भूल नहीं की। हम, शायद विनम्रतावश, यह महत्त्वाकांक्षा पालने की धृष्टता नहीं करते, कि हमारे अपने दशक में चलनेवाले बहस-मुबाहसे की कोई ऐसी यादगार रह जाय जो हज़ार-पाँच सौ नहीं तो सौ-दो सौ वर्ष बाद तक भी जातीय मस्तिष्क को किसी तरह की उत्तेजना या प्रेरणा दे सके। हमारी अधिकांश शक्ति पिछले दशकों को कोसने और अपनी परिपूर्ण आधुनिकता का राग अलापने में खत्म हो जाती है।

हम कह रहे थे कि लेखकीय व्यक्तित्व के विकास का अर्थ उसकी नैतिक-आध्यात्मिक एवं दार्शनिक चेतना का विकास और परिष्कार है। लेखक के लिए विकासशीलता का अर्थ है सांस्कृतिक सम्पन्नता और निजी जीवन-दृष्टि के निर्माण की ओर उन्मुखता। लेखन के लिए अनुभव आवश्यक है, लेकिन केवल अनुभव का महत्त्व सीमित है। जिन्हें दुनिया का ज्यादा अनुभव है, वे आवश्यक रूप में बड़े लेखक बन जायँ, यह जरूरी नहीं है। इसके विपरीत अक्सर देखा जाता है कि खासतौर से वे लेखक जो अपने समाज में फैले तरह-तरह के भ्रष्टाचार से—बड़े व्यवसायियों, नेताओं, सरकारी कर्मचारियों, पुलिस आदि की कुटिलताओं से—ज्यादा घना परिचय रखते हैं, अपने में एक तरह की 'सिनिसिज़्म' पैदा कर लेते हैं, जो उन्हें मूल्यों-सम्बन्धी सूक्ष्म विभेद देखने में अक्षम बना देती हैं। अच्छा लेखक सिर्फ तात्कालिक जीवन की परिस्थितियों को ही नहीं देखता, वह उन उच्च प्रवृत्तियों की उपेक्षा भी नहीं करता जिनकी सिर्फ झलकें ही दिखायी पड़ती हैं। व्यक्तिगत या जातीय जीवन द्वारा उकसायी जाने वाली सब तरह की कटुता या 'सिनिसिज़्म' से ऊपर उठकर अच्छी और ऊँची प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देना—पाठकों में उस तरह का विवेक पैदा करना जो भलाई-बुराई, ऊँचाई-नीचाई के सूक्ष्म प्रभेदों को देख सके—लेखक का विशेष दायित्व होता है।

लेखक की सांस्कृतिक सम्पन्नता—उसकी नैतिक-आध्यात्मिक-बौद्धिक दृष्टि की जटिलता—उसके साहित्य को कई तरह से प्रभावित करती है। सच यह है कि वह उसकी रचना में प्रकट होनेवाली अनुभूति के प्रत्येक अवयव और उसकी समग्रता को विशेषित करती है। लेखक की सांस्कृतिक अवगति का पहला और सीधा प्रभाव यह होता है कि वह जीवन की विभिन्न स्थितियों और उनसे सम्बद्ध अनुभवों को कम-बढ़ महत्त्व देना सीखता है। कोई स्थिति या घटना वहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक महत्त्वपूर्ण होती है जहाँ तक वह किसी मनोवैज्ञानिक, नैतिक या दूसरे वैसे तथ्य या मूल्य का वहन और उद्‌घाटन करती है। मतलब यह कि लेखक की चयन-क्रिया लगातार उसकी सांस्कृतिक दृष्टि से नियन्त्रित रहती है। आज के युग में शास्त्रीय अन्वेषणों की विविधता और व्याख्या-प्रकारों तथा दृष्टियों की अनेकता व आपसी विरोध के कारण एक ही स्थिति या घटना अनेक, कभी-कभी विरोधी, मूल्यों के संकेत दे सकती है। तात्पर्य यह कि आज के सजग साहित्यकार का मूल्य-बोध अनेकरूप और जटिल है; यह जटिलता लेखक के समूचे अनुभव को, उसकी सांस्कृतिक सम्पन्नता के अनुपात में, उलझा हुआ और तनावपूर्ण बना देती है। अनुभव की यह विविधरूपता जहाँ लेखकीय प्रतिक्रियाओं की संभावनाओं में वृद्धि करती है, वहाँ वह उसकी अपने अनुभवों को समेटने और संघटित करने की क्रियाओं को कठिन भी बना देती है।

सांस्कृतिक दृष्टि के दबाव से जहाँ हमारे अलग-अलग होनेवाले अनुभव जटिल और विविध रूप अख्तियार करते हैं, वहाँ जीवन की समग्रता—उसकी अर्थवत्ता और नियति से सम्बन्धित प्रश्न—लेखक के सामने उपयुक्त गौरव और, उसके प्रतिबिम्बभूत शिल्प की, दूसरी समस्याएँ खड़ी कर देते हैं। इन दूसरी कोटि की समस्याओं से उलझता हुआ लेखक माध्यम और शिल्प के तरह-तरह के प्रयोग करने को बाध्य हो जाता है।

जिसे हम सांस्कृतिक सम्पन्नता या दृष्टि और चेतना की जटिलता कहकर पुकार रहे हैं वह लेखक के सर्जन-प्रयत्नों को मुख्यतः दो रूपों में नियन्त्रित एवं प्रभावित करती है। प्रथमतः वह लेखक की चयन-क्रिया को निर्धारित करती हुई उसे समझदार पाठकों के लिए अधिक रोचक बनाती है। एक बड़े आकार के उपन्यास को प्रस्तुत करने वाला लेखक यदि सांस्कृतिक दृष्टि से सम्पन्न मूल्य-चेतना से सम्बन्धित उलझनों, विसंगतियों और शब्दों या तनावों की पर्याप्त अवगति रखने वाला नहीं है, तो वह स्तरीय पाठकों की दिलचस्पी को कायम नहीं रख सकेगा। प्रेमचन्द के, और उनके ढंग पर लिखने वाले दूसरे कई लेखकों के, अधिकांश उपन्यास यदि आज के पाठक को रोचक नहीं जान पड़ते तो उसका प्रमुख कारण उनमें सन्निहित मूल्य-बोध और बौद्धिक अवगति की सरलता या सादगी है। 'गोदान' के कुछ अंश भी, जैसे मेहता और मालती से सम्बन्धित प्रसंग—इस सादगी से आक्रान्त हैं। यों 'गोदान' में ग्राम्य-जीवन का चित्रण उसकी पूरी सांस्कृतिक जटिलता में हुआ है, जिसके कारण वह उपन्यास स्तरीय बन सका है। एक प्रकार से कालिदास के मूल्य-बोध में भी उलझन और तनाव के तत्त्व नहीं हैं—वैसे तत्त्व इधर के युगों की सांस्कृतिक चेतना की निजी चीज हैं—किन्तु कालिदास का भारतीय संस्कृति-बोध के जटिल और ऊँचे रूपों से पूरा-पूरा परिचय है।

ऊपर के विवेचन का एक निष्कर्ष यह है कि संस्कृति-सम्पन्न लेखक की रचना में अनावश्यक विस्तार नहीं होता; वहाँ अर्थपूर्ण और आवश्यक विस्तार ही रहता है। एक जटिल भाव-बोध वाले लेखक को, ठीक और स्पष्ट गौरव देने की कोशिश करते हुए, इतना-कुछ कहने को रहता है कि वह, कदम-कदम पर, मितभाषी होने को बाध्य होता है।

भाव-बोध की जटिलता, और अपनी जीवन-सम्बन्धी संवेदना और दृष्टि को अनेक सन्दर्भों में उचित गौरव के साथ प्रकाशित करने की बेचैनी, लेखक को लगातार सृजनशील बने रहने की प्रेरणा देती है। इसके विपरीत, अपनी लेखन-यात्रा के दौरान में, जो साहित्यकार अपनी सांस्कृतिक चेतना को विकासशील नहीं रख पाता, वह कुछ वर्षों के बाद, अपने को चुका हुआ पाने लगता है। जैसा कि हमने पहले संकेत किया था वरिष्ठ साहित्यकार से हम नयी अनुभूतियों की आशा नहीं करते; उससे हम यह ज्यादा बड़ी अपेक्षा करते हैं कि वह हमें जीवन-स्थितियों और उनमें अनुस्यूत मूल्यों के जटिलतर क्रिया-प्रतिक्रियामूलक सम्बन्धों की अवगति देते हुए पाठकों और जातीय परम्परा के सांस्कृतिक बोध को समृद्ध करें।

अन्ततः चेतना के विस्तार और गहराई के आयाम परस्पर सम्बद्ध और अन्योन्याश्रित होते हैं। ज्यादा महत्त्वपूर्ण बोध या अवगति वह है जो, कुछ पात्रों द्वारा युगजीवन को और युगबोध के द्वारा इतिहास में फैले मानवजीवन को उद्‌भासित करती है। हमारे लिए गहरे अर्थ में प्रभावशाली या महत्त्वपूर्ण वह है जो सम्पूर्ण मानव जाति और उसके इतिहास के लिए सार्थकता रखता है। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि मनुष्य का इतिहास सिर्फ उसका राजनैतिक और आर्थिक इतिहास ही नहीं है; वह उसकी आस्थाओं, उसके सौन्दर्य-बोध और नीति-बोध, उसकी नियति-सम्बन्धी धारणाओं और सम्भावनाओं का इतिहास भी है। साहित्यकार की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृष्टि में मनुष्य का इतिहास मुख्यतः उसके सुख-दुख की संभावनाओं और उसके मूल्य-बोध का इतिहास है। साहित्यकार के समस्त प्रयत्न, उसका समूचा कृतित्व, इस इतिहास की कड़ी बनने और उसे आगे बढ़ाने के लिए होता है।

अन्ततः लेखक और आलोचक दोनों के विकास की दिशाएँ वही होती हैं। विकसित साहित्य या साहित्यकार अनुभव और मूल्यबोध के जिन आयामों को अभिव्यक्ति देता है—और ऐसा करते हुए जिन उलझनों और जटिलताओं से जूझता है—उनका संश्लिष्ट विश्लेषण और अभिव्यक्ति देने वाले शिल्प का उद्घाटन और मूल्यांकन, यही आलोचक के मुख्य कार्य हैं। इसका एक निष्कर्ष यह है कि संस्कृति-सम्पन्न समीक्षक ही वैसे साहित्य की माँग करते हुए उसका समुचित विश्लेषण और मूल्यांकन कर सकते हैं। यह भी सही है कि, अन्ततः, बड़ी कृतियों की समुचित परीक्षा-समीक्षा कर सकने और करनेवाला आलोचक ही अपने कृतित्व को आपेक्षिक स्थायित्व दे पाता है। यों, समीक्षा के इतिहास में, चिन्तक समीक्षक ही—जिनमें अधिकांश स्वयं लेखक थे, यानी साहित्यकार या दार्शनिक—क्लासिकों की श्रेणी में पहुँच पाये हैं।

हम लेखकीय विकास के आयामों की चर्चा कर रहे थे। पुराने युगों में विविध मूल्यों—मूल्य-बोधों—का आकलन और उनका सर्जनात्मक (रचनात्मक) विस्तार महज़ बुद्धि, प्रतिभा और परिश्रम की अपेक्षा रखता था; आज द्वन्द्व-मूलक तनाव उसकी आवश्यक शर्त बन गया है। इधर कविता के नये प्रतिमानों में तनाव की अक्सर चर्चा होती रही है। यहाँ हम सिर्फ़ एक बात पाठकों के विचारार्थ रखेंगे। तनाव के लिए प्रतिबद्धता या उसकी ओर नैसर्गिक रुझान एक आवश्यक स्थिति है। जिस लेखक में ये वृत्तियाँ जितनी गहरी होंगी, वह, विपरीत साक्ष्य या दबावों की उपस्थिति में, उतना ही ज्यादा तनाव महसूस करेगा। साधारण लेखक तनावहीन रूप में आदर्शवादी होते हैं; कुछ का तनाव अखबारी स्तर की समस्याओं को लेकर होता है। ऐसे लेखकों की रचनाएँ जल्दी ही समझदार पाठकों के लिए बासी पड़ जाती हैं। ज्यादा बड़े प्रश्नों में एक तरह की चिरन्तनता, चिरनवीनपन, रहता है; उन पर केन्द्रित तनाव भी सदाबहार रूप में दिलचस्प लगता है।[1]

लेखकीय विकास के प्रश्न की उपेक्षा के खराब परिणाम मुख्यतः लेखकों को ही झेलने पड़ते हैं, विशेषतः प्रतिभा-संपन्न लेखकों को। शुरू यौवन में किसी आन्दोलन के अंग बनकर सहज प्रशंसा पाते हुए ये लेखक क्रमशः उस साधना से विरत हो जाते हैं जो लेखक-चेतना के बहुमुखी विकास के लिए ज़रूरी है। 'डिबंकिङ्' और छिछले विद्रोही नारों के साथ ज़िन्दगी का प्रारम्भ करते हुए युवा लेखक बड़ी समस्याओं से गंभीरता के साथ उलझने की मनोवृत्ति बनाने के अयोग्य बन जाते हैं, फलतः दस-बारह वर्ष के भीतर ही उनके सर्जन-प्रयत्न शिथिल और रचनाएँ आवृत्ति-परक होने लगती हैं। लेखक को वरिष्ठ होकर, अपने देखे-सोचे को नई, सशक्त अन्विति में ढालने के प्रयत्न में, ज्यादा प्रौढ़ सृष्टि कर सकनी चाहिए—यह अपेक्षा हिन्दी जगत् में नहीं की जाती। आन्दोलनों का कोलाहल युवा लेखक को, फिर चाहे वह कितना ही प्रतिभाशाली क्यों न हो, एकांकी दृष्टि के घेरे में खींच कर जीवन और इतिहास की उन अनगिनत भंगिमाओं और

१. इधर के दो महत्त्वपूर्ण हिन्दी उपन्यासों—'मैला आँचल' और 'राग दरबारी'—के लेखकों में प्रतिबद्धता-मूलक तनाव नहीं दीखता। फणीश्वर रेणु समस्त जीवन को विनोदपूर्ण स्वीकृति देते जान पड़ते हैं, श्रीलाल शुक्ल सब-कुछ पर व्यंग्य कसते हुए। यों दोनों उपन्यास प्रखर रूप में बौद्धिक हैं। 'राग दरबारी' में दूसरी तरह का तनाव है—अर्थात् पाठकों की प्रत्याशाओं—पक्षपातों और चित्रित परिस्थितियों के बीच। (ऐसा ही कुछ तनाव शरच्चन्द्र के 'शेष प्रश्न' में है।) 'मैला आँचल' में, शायद, मूल्यों के तारतम्य को नकारने की, सब-कुछ को समान भाव से, विनोद की मुद्रा में, देखने की प्रवृत्ति पाठक की चेतना को झकझोरती है। संभवतः तनाव-हीन, एकरस दृष्टि इस कोटि के लेखकों द्वारा दूसरी, भिन्न कोटि की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ प्रस्तुत किये जाने में बाधक हो जाती है। (आधा पढ़ जाने पर 'राग दरबारी' की एकरसता भी खलने लगती है।) प्रश्नों और चरित्रों के सरलीकरण की प्रवृत्ति और कमोबेश अखबारी (आर्यसमाजी?) स्तर का नैतिक तनाव एवं द्वन्द्व प्रेमचन्द तथा उनके समानधर्मा लेखकों में पाया जाता है। मूल्यों की अपेक्षा में गहरी प्रतिबद्धता सुचिन्तित आस्था और विकसित व्यक्तित्व की माँग करती है—वह कच्चे मस्तिष्क की हठवादिता मात्र नहीं है। तनाव की सशक्त अभिव्यक्ति के लिए यह जरूरी है कि लेखक या उसका प्रमुख पात्र (नायक या नायिका) विरोधी तथ्यों और स्थितियों का दूर तक साक्षात्कार और मुकाबला करे, न कि उनकी अनदेखी। शायद कमजोर भावुकता और दृढ़ आस्था-मूलक प्रतिबद्धता में यही मुख्य अन्तर है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जटिलताओं को देखने के अयोग्य बना देता है जिनकी तीखी अवगति लम्बे मानसिक विकास की भूमिका तैयार करती है। युवा अवस्था ज़िन्दगी और उसे देखने के कोणों की विविधता से परिचित होने का समय है, न कि कठमुल्लापन की स्पिरिट में किसी एकांगी वाद को पकड़ बैठने का; विद्रोह और क्रान्ति, सन्देह और अनास्था की आबहवा से गुज़रते हुए युवा मानस को, महापुरुषों और बड़ी कृतियों के निकट संपर्क में, क्रमशः सौन्दर्य, शुचिता, निष्ठा और श्रद्धा की वृत्तियों से परिचय करने की कोशिश करनी चाहिए। उनमें इतिहास के प्रति अपने दायित्व की चेतना और उसे आगे बढ़ाने की महत्त्वाकांक्षा भी जागृत होनी चाहिए। इन मनोवृत्तियों से संपन्न लेखक ही बड़ी सृष्टि के प्रयत्न और उनके अनुरूप शिल्प-विधान के ठोस प्रयोग कर सकता है। निश्चय ही यह रास्ता छोटी, ईमानदार, परिश्रम व साधना की अनभ्यस्त प्रतिभाओं के लिए नहीं है। (हमारा विचार है कि अन्ततः बड़ी प्रतिभाएँ ही ईमानदार और परिश्रमशील तथा ज़िम्मेदारी की भावना से संयुक्त भी होती हैं। इसीलिए उनके कृतित्व में मानव, व्यक्ति और समाज के मौलिक मूल्य मूर्त्त रूप में प्रकाशित होते और सुरक्षित रहते हैं।)

लेखक के लम्बे अरसे तक विकासशील रहने के लिए ईमानदारी और अध्यवसाय से सहचरित प्रतिभा के अलावा शायद एक और चीज़ ज़रूरी है—विनयशीलता। किसी सुभाषितकार की यह उक्ति कि विद्या विनय देती है, सांस्कृतिक प्रगति की प्रक्रिया की गहरी जानकारी व्यक्त करती है। किसी लेखक का जीवन के जटिल रूपों और प्रश्नों से ज्यों-ज्यों परिचय बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों वह उससे चकित और अभिभूत होता जाता है।[1] न जाने कितनी प्रतिभाओं ने कितने शिल्प-विधानों की परिकल्पना करके मानवीय मनश्चित्त की कुटिलता और जिह्मता, भावप्रवणता और उदारता, क्षुद्रता और मनस्विता, विगलित श्रद्धा और संशयशीलता की असंख्य संभावनाओं का उद्घाटन किया है, फिर भी वे संभावनाएँ कहीं चुकती नहीं दीख पड़तीं। मानव-जीवन की इन बेशुमार वृत्तियों और संभावनाओं को आन्दोलन-विशेष के दो-एक नारों में बाँध लेने की कोशिश हास्यास्पद है। उसी तरह कलासृष्टि के मिज़ाज और सूक्ष्म-बड़े प्रभावों के बारे में इने-गिने सूत्र बोलकर उन पर निरपवाद गौरव देना भी अपरिपक्व मनोवृत्ति का परिचायक है। साहित्य-रचना के स्वास्थ्य, सप्राणता और स्थायित्व की दृष्टि से सिर्फ रोमांटिक तत्त्वों या उनके पूरे बहिष्कार पर ज़ोर देना भी वैसे ही कच्ची समीक्षा-बुद्धि का सबूत है।

सेमुएल जॉन्सन से लेकर आजतक के दर्जनों बड़े समीक्षक, अपनी-अपनी दृष्टि और संवेदना के हिसाब से, शेक्सपियर का मूल्यांकन करते आये हैं; प्रत्येक बड़ा समीक्षक उक्त लेखक में कुछ ऐसी चीज़ें ढूंढ़ लेता है जो दूसरों को नहीं दीख सकी थीं। इससे ज़ाहिर है कि एक बड़े कृतित्व का विश्लेषण दो-एक नारों के आधार पर नहीं किया जा सकता। सच यह है कि अतीत के बड़े लेखक हर नये समीक्षक की दृष्टि और विश्लेषण-क्षमता को चुनौती देते हैं। उनकी समीक्षा का इतिहास उसे अहंकारशून्य और विनययुक्त होने की सीख भी देता है। हरेक प्रतिभासंपन्न और महत्त्वाकांक्षी समीक्षक का यह आवश्यक कर्तव्य है कि वह, अपनी नयी दृष्टि या एप्रोच की प्रतिष्ठा के लिए, किसी बड़े, हो सके तो सौ-दो-सौ वर्ष पहले के, लेखक का विश्वसनीय विश्लेषण और मूल्यांकन प्रस्तुत करे। हमारी आस्था है कि एक बड़ा साहित्यकार—जो कालिदास-भवभूति-भारवि और सूर-तुलसी आदि के निकट पहुँचने का दावा कर सकता है—सब तरह के प्रतिमानों के लिए विश्वसनीय साक्ष्य उपलब्ध करा सकेगा। हम मानते हैं कि अपने हर प्रस्तावित प्रतिमान के समर्थन में, एक प्रबुद्ध और समर्थ नया समीक्षक दो-चार ऐसे लेखकों का निश्चित रूप में हवाला दे सकेगा जो समयदेवता के द्वारा प्रतिष्ठित करार दे दिए गये हैं। इसकी सौ-फीसदी संभावना है सूरदास और शेक्सपियर, कालिदास, तुलसी और दान्ते, टॉल्स्टाय, दास्ताएव्स्की, प्रूस्त और हैनरी जेम्स में से दो-चार की बड़ी कृतियों में हर तरह के विश्वसनीय प्रतिमानों के समर्थक तत्व मिल जाएँ। अवश्य ही वैसे तत्वों को देखने-खोजने के लिए समीक्षक-विशेष को ज्यादा प्रबुद्ध और परिश्रमशील बनना पड़ेगा; उसे संगठित किन्तु अपरिपक्व पाँच या दसवर्षीय आन्दोलनों की नारेबाज़ी से ऊपर उठने की साधना भी करनी पड़ेगी। अन्ततः कोई प्रतिमान सुप्रतिष्ठित महत्त्ववाले दो-चार लेखकों पर लागू होकर ही अपने को प्रमाणित करता है। ●

१. यह आकस्मिक नहीं है कि कालिदास ने 'क्व चाल्पविद्या मतिः' कहकर अपनी नम्रता प्रकट की है और ग़ालिब ने 'हम कहाँ के दाना थे' लिखकर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा और सृजनशीलता

रमेशचन्द्र शाह

सर्जनात्मकता मात्र और भाषा के अन्तःसम्बन्धों का अध्ययन इसलिए भी आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है कि यह एक विलक्षण सम्बन्ध है। इस मानी में कि एक ओर बौद्धिक चिंतन—ज्ञान-विज्ञान के अनेकानेक क्षेत्रों में सक्रिय चिन्तनात्मक ऊर्जा—और भाषा के बीच के सम्बन्ध, तथा दूसरी ओर इससे निचले स्तरों पर मात्र समसामयिक जीवन-प्रवाह और भाषा के बीच के सम्बन्धों से यह सर्जनात्मक सम्बन्ध एक भिन्न धरातल पर घटित होता है। निश्चय ही उपरोक्त दोनों सम्बन्धों से यह सम्बन्ध नितान्त अप्रभावित नहीं रह सकता। तो भी इस प्रभाव-ग्रहण में यांत्रिक निरीहता नहीं होती। पचाने और रूपान्तरित करने की विकलता ही उसकी असल प्रेरणा है।

यह विकलता आज पहले की अपेक्षा कई गुनी बढ़ गई है। कारण, एक ओर तो सामान्य जीवन और अनुभव की प्रक्रियाओं पर उक्त बौद्धिकीकरण की प्रक्रियाएँ हावी हो रही हैं—उनके जीवित सन्दर्भों को खा रही हैं—प्रत्यक्ष और निकट-संवेद्य को परोक्ष व गुणातीत अमूर्तनों में बदलती जा रही हैं; तो दूसरी ओर वे बौद्धिक विश्लेषण की प्रक्रियाएँ स्वयं अपने-आपमें एक मूल्यनिरपेक्ष और मूल्यद्रोही जिज्ञासा की सर्वग्रासी आक्रामकता से प्रेरित होने को बाध्य हैं।

प्रत्येक ज्ञान-विज्ञान का क्षेत्र अपने लिए एक विशेषीकृत भाषा बना लेता है। धीरे-धीरे ये विशेषीकृत भाषिक अमूर्त्तन भाषा के दैनंदिन सामान्य प्रवाह में संक्रमित होने लगते हैं और उसकी व्यंजनाओं को प्रभावित करने लगते हैं। प्रारंभ में यह प्रभाव भाषा की व्यंजकता को बढ़ाता प्रतीत होता है क्योंकि वह रूपकात्मक अभिव्यक्ति को प्रोत्साहित करता है। क्रमशः ये रूपक अपनी चमक खोकर सामान्य सरलीकरणों में स्खलित हो जाते हैं और वस्तु (अनुभव भी) तथा व्यक्ति के बीच की सीधी प्रतिक्रियाओं को विस्थापित करने लगते हैं। ज्यों-ज्यों विश्लेषण के औज़ारों के रूप में प्रयुक्त होते-होते शब्द एक यांत्रिक अनुशासन में ढलते जाते हैं त्यों-त्यों वे अमूर्त बौद्धिक धारणाओं के रूप में वस्तुओं से, उनकी सगुण वस्तुमत्ता से, और उनसे संघर्षित सीधी विचारणा से विविक्त होते-होते एक परोक्ष नियामकता और पूर्वनिर्दिष्ट आचरण अख्तियार कर लेते हैं। गोचर वस्तुओं के संवेदन तक इन परोक्ष विश्लेषणसिद्ध सूत्रों से निर्दिष्ट और संचालित होने लगते हैं—यहां तक कि वह सीधी और निजी संवेदनात्मक विचार-प्रक्रियाएँ ही इन अमूर्त परिभाषाओं और बौद्धिक सूत्रों में जकड़ती-जकड़ती लुप्त होने लगती हैं। इस प्रकार एक ओर तो आदमी की चेतना लगातार इस यांत्रिक निरीहता से ग्रस्त होती जाती है और दूसरी ओर उसका विवेक स्वयं इस दुश्चक्र से उबरने की चेष्टा करने की बजाय उसकी रफ्तार बढ़ाता चला जाता है। अमूर्तनों की यह अव्यक्त तानाशाही भाषा में निहित—सदियों से संगृहीत होते चले आए मानवीय 'अर्थ' और अनुभव को अवहेलित करती है : उनको उनके समूचे सन्दर्भ से काटकर अपने संकीर्ण अनुशासन और प्रयोजन के अनुरूप चलने को बाध्य करती है। चूंकि ज्ञान की प्राप्ति आदमी का सबसे बड़ा पुरुषार्थ है—अहंभावना को सबसे अधिक पुष्ट करने वाला; अतः जीवन-जगत् को विश्लेषित और व्याख्यायित करने तथा उसे अपने मस्तिष्क से संचालित करने की सामर्थ्य जिन तर्क-प्रक्रियाओं से हासिल होती है, उनके प्रति आग्रह होना स्वाभाविक है। किन्तु यह आग्रह अपने स्वभाव से ही अन्य आग्रहों और निष्ठाओं को भीतर से खोखला देता है। बौद्धिक जिजीविषा की गति अप्रतिहत और स्वतःचालित होती है : वह सब-कुछ को अस्थिर कर देती है।

सर्जनात्मकता इस स्थितिहीन गत्वरता का—यांत्रिक निरीहता का—प्रतिकार करती है। यहाँ पर एक प्रश्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उठता है। कहा जाता है कि जब तक आदमी की यह बौद्धिक जिजीविषा सृष्टि और जीवन के केन्द्र में नहीं पैठी थी—सब-कुछ को विश्लेषित और व्याख्यायित करने की क्षमता और महत्त्वाकांक्षा से युक्त नहीं हुई थी, तब तक सब-कुछ ठीक ही था। बुद्धि को केन्द्रीय नियामकता प्राप्त हो जाने के फल-स्वरूप ही यह अराजकता—मूल्यों की, उद्देश्यों की—उत्पन्न हुई है। किन्तु सर्जनात्मक कल्पना के बारे में भी ज़माने से यही दावा किया जाता रहा है कि उसका भी स्वभाव सृष्टि और जीवन के केन्द्र में पैठकर वहाँ से सारी वस्तुओं को नियंत्रित और विन्यस्त करने का होता है। तो प्रश्न यह उठता है कि यदि बौद्धिक जिजीविषा का स्वभाव भी उसी केन्द्रीय शक्ति और अधिकार की ओर उन्मुख होता है तो इस पर कैसे और क्यों अंकुश लगाया जा सकता है? यदि जो सर्जनात्मकता का धर्म है, वही विश्लेषणात्मक बुद्धि का भी धर्म है तो इसमें नाजायज़ क्या है? क्या इससे उल्टा यही निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि, बुद्धि की भी महत्त्वाकांक्षा अन्ततः सर्जनात्मक ही है। बुद्धि अस्पष्टता और अराजकता को सहन नहीं करती, वह नियम और सूत्रों की खोज के द्वारा उसे व्यवस्थित करती है। तो क्या सर्जनात्मक वृत्ति भी उसी बुनियादी बेचैनी से प्रेरित नहीं होती—जो अव्यक्त है, उसे व्यक्त करने की? यदि ऐसा नहीं है तो यूनिटी, संगति और सौष्ठव की चर्चा उसके सन्दर्भ में क्यों की जाती है! वहाँ भी नियम हैं; भले ही उन्हें इतनी आसानी से सूत्रबद्ध न किया जा सकता हो।

पहले के युगों में शास्त्रकार और रचनाकार के बीच में इतनी दूरी नहीं थी। दोनों एक-दूसरे की भाषा समझते थे। शास्त्र रचना की समग्रता को स्वीकारता था और उसके प्रति नम्र और यथासंभव पर्युत्सुक भी रहता था। बल्कि शास्त्रकार रचनाकार की उपलब्धियों का—उनके जरिए भाषा में विकसित क्षमताओं का भरपूर उपयोग भी करता था। आज वह स्थिति नहीं रही। रचनाकार तब भी अधिक उदार है। वह शास्त्र से जूझने की, उसका उपयोग करने की आवश्यकता को स्वीकार करता है। मगर शास्त्रकार अपने समय की—बल्कि किसी भी समय की—गंभीरतम सर्जनात्मकता से लगभग असम्पृक्त ही दिखाई देता है। पहले बौद्धिक जिजीविषा और संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं के बीच ऐसा तीव्र विभाजन नहीं था। इसीलिए भाषा की समग्र मानवीयता के खण्डित होने का खतरा भी उस तरह नहीं था। आज विज्ञान की तरह रचना में भी ध्रुवीकरण की स्थिति है और यह सर्वथा स्वाभाविक घटना है। विडम्बना यह है कि बुद्धि की केन्द्रीय शक्तिमत्ता अभी हाल की चीज़ होने पर भी बौद्धिक में अधिक आत्मविश्वास है और सर्जनात्मकता की केन्द्रीयता का विश्वास काफ़ी पुरातन होने पर भी आज का सर्जक अत्यधिक संशयात्मा है। विज्ञान और सर्जनात्मक साहित्य दोनों ही क्षेत्रों में उच्चतम स्तरों पर जो काम हो रहा है, वह दोनों में समान रूप से दुरूह और दीक्षागम्य होता जा रहा है। यह स्थिति स्वाभाविक और सार्थक है। यह बराबरी की टक्कर है। दोनों का ध्येय साधनों की पवित्रता को पूरी तरह क़ायम रखते हुए अपने 'स्वधर्म' में प्रतिष्ठित रहना है। विज्ञान का स्वधर्म है निश्चित अर्थ और प्रयोजन वाले औज़ारों का प्रयोग करते हुए सत्य को अधिकाधिक एकाग्रता के साथ अनावरित करते जाना। और सर्जनात्मक साहित्य का भी ध्येय वही है। अन्तर—और महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि सर्जनात्मक साहित्यकार के लिए वह 'प्रिसीज़न' आवश्यक नहीं जो कि वैज्ञानिक विचारक को काम देता है। बल्कि, कहना चाहिए कि उससे भिन्न और विपरीत प्रकार का 'प्रिसीज़न' ही उसे इष्ट होता है। वैज्ञानिक उसी भाषा का आग्रह रखेगा जो मानवीय संदर्भों से अधिकाधिक निर्लिप्त हो: जो ज्यादा से ज्यादा निर्गुण, धारणात्मक और गणितीय हो। जबकि कवि और कथाकार को ठीक ऐसी ही भाषा से सबसे ज्यादा परहेज़ होगा। यदि वह ज़रूरत पड़ने पर उस भाषा का उपयोग भी करेगा तो इस तरह, और ऐसी भाषा की संगति में करेगा कि उसकी मानवीय सम्पन्नता वापस आ जाय या उसकी विपन्नता ही अपने समूचे विद्रूप में कौंध-कौंध जाय।

सर्जक भाषा को एक ऐसे प्रवाह के रूप में अनुभव करता है जो एक साथ अतीत, वर्तमान और भविष्य है। भाषा की जड़ों का चिन्तन और विवेक उसके रचना-कर्म से अभिन्न है। क्योंकि मानवीय इतिहास में 'अर्थ' के लिए किये गए संघर्ष की, समग्र मानवीय अनुभव की स्मृति उन्हीं जड़ों में निहित होती है। इस यथार्थ को सबसे ज्यादा कवि पहचानता है और बार-बार लोप होते जाते पूर्वजों के उस 'संचित पुण्य' के उद्धार की चिन्ता भी उसी को सबसे ज्यादा होती है। नितान्त समकालीन और नितांत आदिम मानसिकताओं को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह अपने भाषिक संवेदन के चुम्बकीय बल से संयुक्त करके एक नई अर्थवत्ता, नया विन्यास पैदा कर सकता है और इस प्रकार भाषा पर निरन्तर पड़ रहे उन दबावों (बौद्धिकीकरण और अमानवीकरण) का सार्थक और अत्यावश्यक प्रतिकार संभव होता है जिनके कारण भाषा की प्रवृत्ति अधिकाधिक अमूर्त और परोक्ष होती जाती है और शब्द अनुभव की नवजात सक्रियता (स्फूर्ति) को सुरक्षित और वहन करने की बजाय उसका मार्ग ही अवरुद्ध करने लगते हैं—उसके स्थानापन्न बन बैठते हैं।

इसी कारण अपनी भाषा के साथ साहित्यकार का रिश्ता अधिकाधिक सचेतन हो गया है। कहानीकार और उपन्यासकार को भी इस संघर्ष में कवि का हाथ बँटाना ज़रूरी हो गया है। आज डेढ़ सौ साल पहले जो 'ज्ञान' चेतना की सतह से नीचे—रहस्य और विस्मय की वस्तु था—जिसमें झाँकने और डुबकी लगाने का श्रेय कभी-कभार केवल कवियों और दार्शनिकों को (समग्र दृष्टि वालों को) मिलता था, उसे आज मनोविज्ञान, नृतत्त्व, उच्च भौतिकी आदि शास्त्रों ने खींचकर चेतना की सतह पर ला दिया है और उसे नाम दे-देकर, भाषा में लाकर आदमी के लिए अति-परिचय की चीज़ बना दिया है। चूँकि सामान्यतः आदमी की प्रवृत्ति भाषा के प्रति महज़ कामचलाऊ और विवेकशून्य होती है, अतः उसकी भाषा में ये शब्द आ तो बड़ी आसानी से जाते हैं मगर वह इनके उपयोग के विषय में सचेत नहीं रह पाता। वह उनकी पृष्ठभूमि और प्रक्रिया से अनजान केवल उनके परिणमित साँचे-ढले रूप का ही व्यवहार कर सकता है। वे उसके अनुभव का अंग नहीं बनते, न उसकी सामान्य जीवनानुभूति के अवयवों से कोई जीवन्त सम्बन्ध स्थापित कर पाते हैं। कुल मिलाकर परिणाम यही निकलता है कि 'ज्ञान' अधिकाधिक अर्जित, अवैयक्तिक, अनुभव-रिक्त और अमूर्त होता जाता है और उसी अनुपात में अनुत्तरदायी भी। दूसरी ओर एक विशिष्ट शास्त्र की अनुशासित शब्दावली में प्रशिक्षित विशेषज्ञ की स्थिति भी इस माने में एक औसत शिक्षित जन की स्थिति से बेहतर नहीं होती, क्योंकि उसकी भी प्रवृत्ति उसी नियंत्रित संसार के चश्मे में से सब-कुछ को देखने के दुराग्रह की होती है। अनुभव की शक्ति और वृत्ति ही धीरे-धीरे शिक्षार्जित अमूर्तनों के दक्ष व्यवहार की सामर्थ्य से विस्थापित होती चली जाती है। मानवीय संवेदन और अनुभूति के विपरीत इस प्रकार के निर्वैयक्तिक विचार की प्रवृत्ति आक्रामक और हावी हो जाने की है। इस प्रकार की अनुसंधित्सा में एक अहंकार होता है शब्दों को अपने पीछे चलाने का, उन्हें एक पवित्रतावादी, साम्राज्यवादी, वर्ण-व्यवस्था देने का, और उनके जरिए दूसरों को भी (परम्परा-प्राप्त अर्थों वाले शब्दों को भी) अपने ढब में ढालने का। अंशज्ञान की इस अधिनायकवादी महत्त्वाकांक्षा पर समग्रता का कोई अंकुश नहीं रहता: दूसरों की विशिष्टता का स्वीकार या चेतना भी यहाँ नहीं होती; केवल अपने ही विशेषीकरण में दूसरी विशिष्टताओं को सरल कर लेने या धुला देने की ज़िद होती है। खण्ड और समग्र का, सत्य और तथ्य का यथार्थग्रह और सौन्दर्याग्रह का तनाव सर्जनात्मक कर्म में इस प्रकार के अतिचार और एकाधिपत्य को असंभव बना देता है। किन्तु अपने तथाकथित शुद्धतावादी अनुशासन में 'सत्य' में यह नम्रता नहीं होती।

आज हालत यह है कि मानवीय अर्थ और प्रयोजन के लिए, अभिव्यक्ति के साधनों की पवित्रता और गरिमा के लिए कवि या साहित्यकार की ओर कोई नहीं उन्मुख होता। क्योंकि अर्थ, प्रयोजन और गरिमा तो वहीं मानी जाती है, जहाँ तत्कथित 'वैज्ञानिक दृष्टि' हो। और कवि या कथाकार में वैज्ञानिक दृष्टि भी हो सकती है, ऐसा विश्वास किसी को क्यों होने लगा! सभ्यता के इतिहास में, या उससे भी पहले से मनुष्य की भाषा में उसकी सर्जनात्मक प्रतिभा द्वारा जो भी, जितना भी मानवीय अर्थ और प्रयोजन संगृहीत होता आया था, उसे शास्त्रों ने, ज्ञान-विज्ञान की इस अभूतपूर्व बाढ़ ने अपने तथाकथित वैज्ञानिक प्रयोजनों से न केवल आच्छादित और आतंकित कर दिया है, बल्कि उसे अपने ढंग और ढब में ढालने की कोशिश भी की है। यह स्थिति घुसपैठ की है, समायोजन की नहीं। इसके फलस्वरूप भाषा में एक अभूतपूर्व विघटन और भ्रंश की प्रक्रिया चल पड़ी है। शब्द अपना अर्थ खो रहे हैं और उनका संचित पुण्य लगातार विकृत हो रहा है। कवि-कर्म अधिकाधिक दुरूह होता जा रहा है। सत्य को अनावरित करना चाहने वाले शास्त्र के उच्चतम शिखरों के समानान्तर ही मानवीय सत्य को उद्घाटित करना चाहने वाले कवि का कर्म भी—आत्मरक्षा के बुनियादी तर्क से—दुर्गम-दीक्षागम्य होता जा रहा है। ऐसी स्थिति में कथा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार—प्रतिभा का कार्य भी गुणात्मक ढंग से परिवर्तित होता गया है। स्टेण्ढल ने उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही जो खतरे की घण्टी बजा दी थी कि आने वाले समय में कवि का स्थान उपन्यासकार ही ले लेगा। इस चेतावनी में निहित यथार्थ से इनकार नहीं किया जा सकता। इसमें डींग ही नहीं, दायित्व की चिन्ता भी है। कवि का स्थान उससे छीनकर नहीं, बल्कि उसके विशेष दायित्व को स्वीकार करके ही प्राप्त हो सकता है। वह विशेष दायित्व क्या है?···जीवन के ही नहीं, बल्कि भाषा के भी प्रवाह और स्रोतों को भी अक्षुण्ण रखने की गहरी चिन्ता···केवलमात्र भाषा का दक्ष उपयोग कर लेने की ही नहीं, बल्कि उसकी संवेदनशीलता और जीवित स्मृति-परम्परा को सारी विकृतियों और भ्रष्ट सरलीकरणों से बचाकर नहीं, बल्कि उनके बीचोबीच से अक्षत और अनाहत निकाल लाने और कायम रखने की चिन्ता···। अतीत में—मनुष्य जाति की समग्र-सम्पूर्ण स्मृति में—अर्जित मानवीय अर्थ और तत्त्व से भाषा की यह खतरनाक वंचना, और नितान्त समकालीनता से बलात्कृत भाषा की बढ़ती जाती परोक्षता (जिसमें सजीव मानवीय उपस्थिति के प्रत्यक्ष तथ्य की अवहेलना निहित है)—कहना न होगा कि—सर्जनात्मकता मात्र के लिए सबसे बड़ा खतरा है। क्योंकि यह प्रवृत्ति सर्जनात्मकता के बुनियादी स्रोतों को ही सुखा देने वाली है। अब यह कोई नहीं कह सकता कि इस विपत्ति, इस विघटन का सर्जनात्मक प्रतिकार करनेवाली रचना में उपन्यास-कथाकारों ने कवियों की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। यह इसीसे स्पष्ट है कि अनेक ऐसे उपन्यासकार, अनेक ऐसे उपन्यासकार व कथाकार हैं जिनकी रचना का स्वभाव हमें स्पष्ट प्रतीति देता है कि यदि वे आज न होकर दो-तीन सौ वर्ष पूर्व लिखते होते तो गद्य में नहीं, बल्कि पद्य में कार्य करते। मसलन जेम्स ज्वाइस, वर्जीनिया वुल्फ़, ही जैसे। यह एक तथ्य है कि भाषा में निहित और विकसित 'सुकृत' को विकृत होने से बचाने के लिए समस्त संसार की सर्जनात्मकता 'एकजुट' हुई है चाहे वे कवि हों, चाहे उपन्यासकार। कई बार तो उपन्यासकार ने उपन्यास के अन्दर ही कविता के अस्त्र से वास्तविकता के व्यूह को अन्तःप्रविष्ट करने की कोशिश—और कामयाब कोशिश की है। उसने ऐसे स्थलों पर शब्द की सामान्य क्षमता को अपर्याप्त पाकर उसे कविता के चरम तापमान पर सक्रिय करने की विवशता अनुभव की है। ज़ाहिर है कि भाषा पर पड़ रहे अतिरिक्त दबावों को काटकर शुद्ध अभिव्यंजना तक पहुँचने के लिए संवेदना में भी अतिरिक्त ताप और ऊर्जा का होना ज़रूरी हो जाता है ताकि 'कथ्य' बिना किसी 'डिस्टॉर्शन' के अपनी समग्रता और शुद्धता में संप्रेषित हो सके। पास्तरनाक का 'डाक्टर ज़िवागो' भी इस दृष्टि से एक विशिष्ट उदाहरण है जिसमें न केवल उक्त प्रकार से कविता का उपयोग है बल्कि उपन्यास के अन्त में कथानायक की कविताओं को देने की कल्पना भी अत्यन्त सार्थक प्रतीत होती है। ये कविताएँ उस चरित्र की मानसिक-आध्यात्मिक विकास-यात्रा के महत्त्वपूर्ण सोपानों का ही नहीं, बल्कि उपन्यास के मार्मिकतम स्थलों का—उसके केन्द्रबिन्दुओं का सच्चा अभिलेख और सूक्ष्म 'ग्राफ़' है। वर्जीनिया वुल्फ़ के 'द लाइटहाउस' के विन्यास को ही लीजिए। उसमें रचनेवाली संवेदना का गहनतम संकेन्द्रण और प्रज्वलन-विन्दु वहाँ आता है जहाँ न कोई चरित्र है, न चेतना-प्रवाह, न घटना, न कथोपकथन, न नाटक, न उस तरह का जीवन। वहाँ है एक खाली घर··· मानवीय अनुपस्थिति का पुंजीभूत प्रतीक···जिसमें से जीवन का हर चिह्न, हर स्वर, सहसा मिट गया है···रंगों और ध्वनियों और लालसा-जिज्ञासा के अन्तहीन उद्वेगों से भरा हुआ संसार जैसे सहसा एक इन्द्रजाल की तरह अन्तर्धान हो जाता है और सूने रंगमंच पर सहसा सभ्यता के पूर्व और पश्चात् का चिरादिम महामौन छा जाता है···देखते-देखते यह मौन एक चरम तीव्र नाटक बन जाता है—पुरुषहीन प्रकृति का, आदिम तत्त्वों का महारास···ऋतुओं का ताण्डव जिसके कन्ट्रास्ट में दूर कहीं नेपथ्य में आभासित मानवीय जीवन और मृत्यु दोनों अयथार्थ, धुँधले और अर्थहीन हो जाते हैं। कहानी पर कविता का यह आकस्मिक, अप्रत्याशित आक्रमण—सम्पूर्ण विस्थापन—सहसा चरित्र और कथा-स्थिति को—पूरे यथार्थ को—इस तरह विद्युन्मय कर देता है कि रचने वाली मनीषा को आक्रान्त करने वाला युगचेतना का घटाटोप—अनभिव्यक्ति का आतंक—सहसा चिर जाता है और एक जीवनव्यापी विकलता एकबारगी अपने समूचे सन्दर्भ के साथ कौंध जाती है। अनात्म को चीर देती आत्म-साक्षात्कार की यह विह्वल तड़प 'सर्जनात्मक शब्द' की निखालिस ठोस विजय है: सार्वजनिक और अमानवीकृत सत्याभासों से दूषित युग की वाचालता पर। ऐसा मैं समझता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। वर्जीनिया वुल्फ़ और जेम्स ज्वाइस के उपन्यासों में हमें आधुनिक मनोविज्ञान की उपलब्धियों का भी कविता-संभव उपयोग मिलता है। भाषा के इस प्रकार के प्रयोग का औचित्य थोड़ा विचार करने पर ही स्पष्ट हो जायगा। मनोविश्लेषण-शास्त्र ने युगांतरकारी तथ्यों की खोज की; और उन खोजों के सूत्रबद्ध होकर भाषा में चालू हो जाने के बाद हर कोई उनकी घड़ल्ले से चर्चा भी करने लगा। किन्तु विडम्बना यह है कि परोक्ष को प्रत्यक्ष करने वाला—सार्वजनिक ज्ञान बनाने वाला—शास्त्र व्यक्ति की संवेदना और ज्ञानात्मक चेतना को और अधिक प्रगाढ़ और संकेन्द्रित करने की बजाय उसे विघटित करने लगता है। परोक्ष चेतना की सतह का विषय बनकर और भी अधिक परोक्ष हो जाता है। भाषा और ज्यादा सतही होने लगती है। किन्तु यह आदमी की बौद्धिक विजय तो है ही; अतः जीवनानुभूति पर, विचार-प्रक्रियाओं पर और भाषा के व्यक्तित्व पर उसका दबाव पड़े बिना कैसे रहेगा?

यहीं पर साहित्यकार-सर्जक की असली कसौटी सामने आती है। यह उसके स्वधर्म का तकाज़ा है कि वह उस सार्वजनिक और सुलभ—क्योंकि सतहीकृत—हो गए ज्ञान को फिर से उसके स्रोत तक—अर्थात् अपनी संवेदना के केन्द्रीय क्षेत्र में ले जाए और इस प्रकार उसे उसकी सही जगह पर संदर्भित करे, ताकि उसके अनिष्ट संक्रमण से—अमूर्त, व्यक्ति-संवेदनानिरपेक्ष भाषा की उस परोक्ष तानाशाही से—असली भाषा की स्वतन्त्र ऊर्जा, चेतना का अंतःसलिल प्रवाह सुरक्षित रह सके या कम-से-कम अपने प्रत्यासन्न खतरों के प्रति सतर्क-जागरूक ही बना रहे। साथ-ही-साथ मनुष्य के आत्मज्ञान में जो वृद्धि इस आविष्कार से हुई है, वह वास्तव में उसे अनुभूत हो और उसका सही उपयोग करने का विवेक उसमें जाग्रत हो, यह चिन्ता भी रचनाकार को अपनी तरह से होती है। भाषा के कुल जीवन में उस शास्त्रप्रसूत भाषा की सही जगह इसी तरह रचनाकार के मौलिक कर्म द्वारा ही निर्धारित होती है। एक ओर विवेकहीन भीड़, जिसके लिए शब्दचिंतन का स्थानापन्न,—मात्र एक नशा और बुनियादी चिन्ताओं से बचाने का आसान नुस्खा है; और दूसरी ओर संकीर्ण परिभाषाओं से घिरा शास्त्रज्ञ, जिसके लिए भाषा मनुष्य और मनुष्य तथा मनुष्य और सृष्टि के बीच के सम्बन्धों की जीवित-सनातन स्मृति-परम्परा न होकर मात्र उनकी व्याख्या के लिए गढ़े हुए कुछ सूत्रों का समुच्चय भ है! और जिसकी कल्पना-शक्ति अमूमन सामान्य एवं भोथरी हुआ करती है! ···इन दोनों के बीच खड़ा रचनाकार भाष के संतुलन और स्वास्थ्य को, उसके जीवन्त प्रवाह को कायम रखने के लिए संघर्षरत रहता है। कौन कह सकता है कि इस संघर्ष में जेम्स ज्वाइस या क़ाफ़्का ने टी० एस० एलियट या रिल्के की अपेक्षा कम सार्थक भूमिका निबाही है!

क़ाफ़्का ने समसामयिक जीवन और अभिव्यक्ति की इस अराजकता और अमानवीकरण को एकदम उसके स्रोत पर पकड़ने और 'क्रिस्टलाइज़' करने के लिए भाषा के भी केन्द्र में काम करने वाले उस तत्त्व का आशय लिया है जिसे हम 'मिथ' कह सकते हैं। जेम्स ज्वाइस की तरह भाषा में ही तोड़-फोड़ मचाकर एक पूर्ववर्त्ती सभ्यता की केन्द्रीय मिथ (ओडेसी) के पैटर्न में नितान्त समसामयिक चेतना के विखराव को ढालकर नहीं, बल्कि एक सर्वथा नवीन और युगीन वास्तविकताओं के भीतर से उपलब्ध और साक्षात्कृत मिथ का आविष्कार करके। उसने मिथ और पैरेबल के सरलतम स्ट्रक्चर में समसामयिक यथार्थ को पुनःसृजित और प्रत्यक्ष किया है: उस परोक्ष तानाशाही के घटाटोप धुंधलके को चीरने का प्रयत्न किया है जो मानवीय सार्थकता के प्रश्न को—मानवीय चेतना मात्र को—अप्रासंगिक और व्यर्थ किए दे रही है। दूसरी ओर टामस मान ने भी जर्मन विद्वत्ता और जर्मन सर्जनात्मक प्रतिभा की अन्तर्राष्ट्रीय रुझान के अनुरूप ही आधुनिकतम शास्त्रों की भाषा से अपनी संवेदना को और फिर इस प्रकार लैस अपनी मनीषा से समसामयिक यथार्थ और समसामयिक चेतना की अन्तहीन जटिलताओं को अन्तःप्रविष्ट करने का ज़बर्दस्त उद्यम अपने उपन्यासों में किया है। उसकी भाषा का भारी-भरकम विन्यास युग के इस जटिल अम्बार को एक गहरे आत्म-विद्रूप से उभारता है और उसके तल में झाँकने का—आदिम और सभ्य मानसिकता के इस तरह घुटकर गड्डमड्ड हो गए तत्त्वों को पुनःसंयोजित करके मानवीय सार्थकता के सनातन प्रश्न से जूझने का प्रयत्न करता है। अतिबौद्धिकता के अस्त्र से ही चेतना के इस व्यापक बौद्धिकीकरण का सर्जनात्मक प्रतिकार करता है। यूरोपीय संदर्भ से भी आगे जाकर अन्तर्राष्ट्रीय संदर्भों में इस प्रकार मानवीय यथार्थ की जड़ों में पैठने का यह अतिजागरूक संघर्ष कितना दूरगामी महत्त्व रखता है, इसका विवेक हमें—हिन्दी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कथाकार को खास तौर पर होना ही चाहिए।

इस प्रकार आज के सर्जनात्मक लेखन की एक बुनियादी समस्या यह भी है कि रचना के केन्द्र में ही तोड़-फोड़ मचाने वाली इस अनवरत और दुर्निवार्य घुसपैठ का सर्जनात्मक प्रतिकार कैसे किया जाय? इसके लिए दो रास्ते कथाकार-प्रतिभा ने निकाले हैं। भाषा की अर्थवत्ता को—महज़ अर्थ-वत्ता का—अनुभव-मात्र ही आज जितना दूभर हो गया है उतना कभी नहीं हुआ था। रचनाकार के सम्मुख एक समस्या तो स्वयं अपने-आप में भाषा के उस एकाग्र अनुभव को—सच्चे और खरे भाषिक संवेदन को—उपलब्ध करने की होती है और दूसरी समस्या यह प्रबन्ध करने की भी, कि इस अनुभूतिप्रवण प्रिसीज़न की भाषा का वैसा ही तात्कालिक, तीव्र और सुनिश्चित आघात उसी उत्कटता के साथ पाठक के मानस पर भी अंकित हो। इसी स्थिति के तर्क से कथाकारों ने एक ओर तो कविता के स्तर पर कविता के उच्च दाब और तापमान पर शब्द की शक्ति और सक्रियता को रियलाइज़ करने की आवश्यकता अनुभव की है और दूसरी ओर उस अत्याधुनिक बौद्धिकता के अवगाहन की—ज्ञानविज्ञानों के तांत्रिक अनुशासनों के भीतर पैठने की—उनके द्वारा भाषा में संक्रमित अमूर्तनों की असलियत को आर-पार देखने की; ताकि समसामयिक चेतना में उनकी व्याप्ति और प्रभाव-शालिता को पूरी तरह, यथार्थतः आँका जा सके और इस प्रकार अतिशय बौद्धिकता और अतिशय संवेदना के, अतीत और वर्तमान के, सभ्य मानसिकता और आदिम मानसिकता के, काल और इतिहास के उस निरन्तर गतिमान् और अस्थिर—किन्तु परमावश्यक सन्तुलन की चेतना को क़ायम रखा जा सके, जिसके बिना जीवनानुभूति संभव नहीं, और जो न केवल मनुष्य की रचनात्मक जिजीविषा के, बल्कि स्वयं बौद्धिक जिजीविषा के भी नैरन्तर्य और स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए एक बुनियादी पूर्वप्रतिज्ञा है।

आधुनिक हिन्दी कहानी को हिन्दी कविता के विकास के समानान्तर बहुत कम समय में विकास-यात्रा के अनेक सोपानों से गुज़रना पड़ा है। पहले की मंज़िलों पर विकास जितना स्पष्ट और निश्चित दीखता है, उतना आज नहीं दीखता। भाषा और जीवनानुभूति के बीच का अंतराल जो इस विकास के कई चरणों पर क्रमशः कम होता दिखाई देता है, आज जैसे अचानक फिर से बढ़ने लगा है। एक व्यापक अधैर्य और संभ्रम की स्थिति आज की कथा-रचना में मौजूद है। एक कारण तो कम-से-कम यही प्रतीत होता है कि कथाकार अपने अनुभव की जटिलता से नहीं, बल्कि उसके बौद्धिकीकरण से पीड़ित हैं। पीड़ित इसलिए हैं कि वे स्वयं उसका आग्रह रखते जान पड़ते हैं। उनकी भाषा उस बौद्धिकी-करण की भाषा को काटती नहीं, बल्कि उससे निरीह ढंग से परिचालित होती प्रतीत होती है। सूत्र के ढंग से स्थिति की परिभाषा करें तो कहना होगा कि अनुभव का बौद्धिकीकरण और उसके समूचे तौर-तेवर तो मौजूद हैं, मगर स्वयं उस बौद्धिकीकरण का सचेत अनुभव और उसका रचनात्मक प्रतिकार करनेवाला विवेक और भाषा क्षीण है। निश्चय ही कुछ खास मनःस्थितियों के चित्रण में कथाकार अधिक अन्तराभिमुख, अधिक बारीक संवेदनक्षम भाषा को अर्जित कर सके हैं जिसे देखकर वास्तव में भाषा की बढ़ी हुई क्षमता का विश्वास होता है जैसे उदाहरण के लिए—

"सुबह उठा तो अफ़सोस सोई बाँह की तरह मेरे साथ उठा। मैंने अपने को झाड़ा, जैसे कुत्ता झाड़ता है। पर्दा हटाया। खिड़की का एक पाट खोला। दिन जड़ पदार्थ की तरह खड़ा था। लगा जो कुछ हुआ नकली-सा था। दरअसल मैं वहीं था, जहाँ से शुरू हुआ था। कोरा। सब-कुछ आगे था। नहीं, न आगे, न पीछे। वहीं।"

कुछ सेल्फ़-कांशस ट्रिक्स के बावजूद यह भाषा उस एकाग्र आत्म-निरीक्षण के क्षण की खास क्वालिटी को पकड़ने और प्रेषित करने में कामयाब हुई है। किन्तु यही कथाकार जब अपनी एक दूसरी कहानी में इस प्रकार की भाषा का इस्तेमाल करता है···"तीनों औरतें हाथों में रस के गिलास लिए साथ-साथ बैठी थीं। जिन्दगी की ऊब की तरह जो इंतजार करते हैं कि कब यह पागल खेल खतम हो और लोग उन्हें अपने-अपने घर ले जायँ।" ···तब हम शंकित हो जाते हैं। यह 'जिन्दगी की ऊब' हममें 'सोई बाँह' की तरह कोई विशिष्ट अनुभव नहीं जगाती। हममें कोई प्रतिक्रिया नहीं उठाती। हमें आशंका और सही आशंका होती है कि ये शब्द, यह फ्रेज़ एक चालू सिक्के की तरह महज़ सुविधा के तर्क से उठा लिया गया है। यह 'सृजित' शब्द (अर्थात् सार्थक शब्द) नहीं है, महज़ एक आयातित, बौद्धिकीकरण की सुविधा में से इस्तेमाल कर लिया गया शब्द—बल्कि पूरा वाक्य ही है। इसी तरह महेन्द्र भल्ला की एक दूसरी कहानी 'शेर' मैंने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ समय पूर्व पढ़ी थी। उसकी भाषा का पूरा विन्यास मुझे शुरू से आखिर तक कृत्रिम और अतिरंजित लगा था। ऐसी हालत में कहानी की मूल प्रेरणा ही संदिग्ध लगने लगती है। जिस अनुभव को अन्तःप्रविष्ट न किया जा सके उसे उसकी बुद्धिजन्य भाषा के सतही विन्यास के द्वारा कैसे 'रचना' में बदला जाता है, यह समझ में नहीं आता।

चमकदार और चुस्त-चालू मुहावरों का यह आकर्षण आज की कविता की तरह आज की कहानी में भी अन्धाधुन्ध मचा रहा है। अनुभूति की प्रामाणिकता का प्रश्न इस तरह आसानी से ओझल हो जाता है। इस तरह भाषा का संवेदन भोथरा पड़ता है और कथाकार चेतन रूप से न सही, अनजाने ही उन शक्तियों से समझौता कर लेता है जो उसकी भाषा को भाषा नहीं रहने देना चाहती—उसे अपने प्रयोजनों के अबाध प्रचार के लिए कुन्द और सपाट कर लेना चाहती है। महज़ चलन में आ जाने से, महज़ बौद्धिकता की मुहर लग जाने से भाषा रचनाकार की भाषा नहीं बन जाती। भाषा कोई बने-बनाए अर्थसंकेतों का राजपथ नहीं है जिस पर बेहिचक चल दिया जाय। न रचनाकार का 'अर्थ' ही कोई ऐसा दिव्य, अविकारी तत्त्व है जिसके और सारे अर्थों से सर्वथा विच्छेद्य, विलक्षण और अछूता रहने की गारण्टी दी हुई हो, जिस पर भाषा की सामान्य विकारग्रस्तता का कोई असर ही न हो सके। प्रत्येक सार्थक रचना अपनी भाषा को नए सिरे से तलाश करती है। पर्याप्त और अनुरूप भाषा के लिए यह संघर्ष रचना के अपने आत्म-संघर्ष के ही समतुल्य है। वह उससे अलग एक गौण वस्तु नहीं। रचनाकार का अनुभव अपनी नवजात सक्रियता में पाठक को—और स्वयं रचनाकार को भी तभी महसूस होगा जब उसकी भाषा में भी वही नवजात-ता महसूस हो। भाषा भी उतनी ही सक्रिय और स्फूर्त होनी चाहिए। यह तभी हो सकता है जब अभिव्यक्ति की छटपटाहट में रचनाकार बार-बार उसी अनिश्चय और अपर्याप्तता के अहसास से गुजरे जिससे भाषा की अत्यन्त अविकसित अवस्थाओं में मनुष्य गुज़रा होगा। जबकि 'वाक्' की 'शक्ति' के रूप में अनुभूति कल्पना नहीं, बल्कि वास्तविकता थी। तभी रचनाकार का अनुभव और मर्म अपने अनुरूप और अपने टक्कर की भाषा को जन्म दे सकेगा। तभी वह भाषा के गहरे संस्कारों और सतही संस्कारों के बीच की कशमकश में से अपना मार्ग निकाल सकेगा और बौद्धिकीकरण को अन्तःप्रमाणीकरण से काट सकेगा। भाष व्यक्तिगत अनुभूति का वस्तुगत प्रमाण बनती है रचनाका के लिए; लेकिन तभी, जब उसके साथ संघर्ष किया जाय—उसे हर बार नए सिरे से खोजा जाय। सुविधा का तर्क रचन का तर्क कभी नहीं हो सकता। जब कोई कथाकार लिखत है··· "उस कार्टून के नीचे अजब साम्य से कोई-न-कोई चेहर खड़ा रहता है; वह सोचती है हम किसी विराट अव्यवस्थ के कार्टून के नीचे खड़े हैं···पर एक नीला आसमान है जं यहाँ से दिखाई देता है, भीड़ की गूँजों का एक संगीत है जं वह सुनती है और···और वह सोचती है, अभी इस जगह उसे कल भी आना है, कल-परसों और दिनों के एक लम्बे क्रम में ···वह पारदर्शक शीशे के पार देखती हैं। लोग रिसेप्शनिस्ट के चारों तरफ घिरे होते हैं। रोज़ की तरह और कई औ रोज़ों के लिए···" तो ये शब्द और वाक्य हमारे मस्तिष्क की ऊपरी झिल्ली पर ही रेंगते रह जाते हैं···हमें कोई अनुभव नहीं कराते। क्योंकि उनमें व्यक्ति या परिवेश किसी क जीवित स्पन्दन न होकर महज़ बौद्धिकीकरण है। 'विराट अव्यवस्था' और 'कार्टून', और 'भीड़' और 'संगीत' औ 'दिनों का लम्बा क्रम'···ये सब सार्वजनिक अनुभव की क्षीण प्रतिध्वनियाँ हैं—अधिक-से-अधिक अनुभव की दूराकृत व्याख्या हैं। ये अतिपरिचित मुहावरे हममें कोई नई अर्थगूंज पैदा नहीं करते। इनमें वही यांत्रिक निरीहता है; वही भाष में बढ़ती जाती अमूर्त और परोक्ष की तानाशाही का सर्ज नात्मक प्रतिकार करने की बजाय उसका शिकार हो जाने की विवशता···।

प्रसाद, प्रेमचन्द, अज्ञेय, जैनेन्द्र, रघुवीरसहाय, निर्मल वर्मा, मुक्तिबोध जैसे कथाकारों के हाथों मँजते-मँजते जो भाषा आज के कथाकार को प्राप्त है, वह इन सारे व्यक्तित्व के एकाग्र प्रयत्नों के फलस्वरूप पहले की अपेक्षा काफी दक्ष और लचीली (अनेक प्रयोजनों और दबावों को वहन करने में सक्षम) हो गई है। मितकथन और क्षिप्र प्रभावांकन आज पहले की अपेक्षा अधिक आसान है। प्रसाद की 'तितली' से जब हम इन्द्रसेन की डायरी पढ़ते हैं—

"मनुष्य का हृदय जब शीतकाल की उस नदी के समान हो जाता है जिसमें कुछ जल बरफ़ की कठोरता धारण कर लेता है, तब उसके गहन तल में प्रवेश करने का कोई उपाय नहीं। ऊपर-ऊपर भले ही वह पार की जा सकती है। आ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रवंचनाओं की बरफ़ की मोटी चादर मेरे हृदय पर ओढ़ा दी गई है। मेरे भीतर का तरल जल बेकार हो गया है। किसी की प्यास नहीं बुझा सकता। कितनी विवशता है!"

···तब इन वाक्यों के मार्मिक आशय से भरपूर संवेदित होने के बावजूद हम इनकी शिथिल विलम्बित लय के प्रति अधैर्य और असन्तोष से भर उठते हैं। प्रसाद के समकालीन पाठक के लिए यही स्वाभाविक लय थी। किन्तु हम परवर्तियों के लिए वैसी सहज-प्रतिक्रिया संभव नहीं क्योंकि तब से भाषा में परिवर्तन आ गया है। अब हमें उसी सत्य को, उसी कथ्य को उसी शक्ति से अनुभव कर सकने के लिए अधिक दक्ष और मितव्ययी भाषा,—शब्दों का अधिक क्षिप्र संयोजन—चाहिए। प्रसाद की भाषा में जो दोष नहीं था वह आज की भाषा में हमें दोषवत् ही प्रतीत होगा। उपरोक्त वाक्यों को पढ़ते हुए हम स्वयं की कल्पना करते हुए पाते हैं कि यही पात्र यही बात आज लिखे किसी उपन्यास में कहता तो उसकी भाषा कैसी होती! यह तो हम अनुभव कर ही लेते हैं कि प्रसाद की भाषा प्रसाद की बात को—उस चरित्र के उस विशिष्ट 'क्षण' की मर्मानुभूति को बहुत खूबी और बारीकी से प्रेषित करती है। दूसरे शब्दों में, प्रसाद का कथाकार अपनी बात कहने के लिए किसी प्रचलित शास्त्रीय या चालू मुहावरे या कवि-सुलभ भावुकता का आसान तरीका नहीं अपनाता; बल्कि अनुभव के अनुरूप और समरूप भाषा की एकाग्र शोध करता है। जो प्रतीक उन्होंने उस क्षण चुना, वह आज कई जगह व्यवहृत होते-होते भले सामान्य और अतिपरिचित हो गया हो; मगर उस वक्त वह सुलभ नहीं था। उसे खोजा गया था, अनुभव के समानान्तर सिरजा गया था। अतः वह नवजात था। और ऐतिहासिक दृष्टि-सम्पन्न संवेदनशील पाठक आज भी उस 'नवजात-ता' का कायल हो सकता है। किन्तु अब कोई उस भाषा का, उस प्रतीक का वैसा उपयोग करेगा तो वह न विस्मित कर सकता है, न आश्वस्त। वह स्रष्टा और रचयिता न होकर केवल अनुकर्ता होगा।

चूंकि हम उस भाषा में लिखने-पढ़ने के आदी हैं जो प्रसाद और अज्ञेय और जैनेन्द्र के हाथों से गुजर चुकी है··· उनके आत्मदान से समृद्ध हो चुकी है, अतः प्रसाद की उक्त पंक्तियों की भाषा हमें अपर्याप्तता का—बल्कि अतिकथन का अहसास कराती है। हम कुछ और सूक्ष्म की, कुछ और स्पन्दनशील की, कुछ और गतिमयता की अपेक्षा करने लगते हैं। हमें निर्मल वर्मा की याद आती है। मायादर्पण की 'तरन' की···

"उस पल उसे कुछ भी नहीं महसूस हुआ। ···बरसों पहले की एक धुंधली-सी अनुभूति कहीं भीतर धीमे से उमड़ आई है। लगता है जैसे वह टब के पानी में अपनी नंगी देह पसारे लेटी है। बीच में कुछ भी नहीं है, कोई घटना नहीं घटी है। जो बीता है, जो कुछ भी घटा-बढ़ा है, वह सब पानी के ऊपर है···

—सो गई तरन? बुआ ने पूछा।

इस बार तरन स्वयं निश्चय नहीं कर सकी कि वह नींद के इस तरफ़ है या उस तरफ़···पानी के ऊपर छायाएँ तिरती हैं, किन्तु उसके नीचे कितना ढेर-सा मौन बिखरा है!···"

आज की कहानी की भाषा में प्रभावांकन की सूक्ष्मता बढ़ी है। मितकथन का आग्रह भी है। भाषा में लचीलापन भी पहले की अपेक्षा अधिक होना चाहिए। फिर क्या कारण है कि भाषा की इस बढ़ी हुई क्षमता का कलात्मक उपयोग उतना नहीं हो पा रहा है। विषय और टेकनीक के इतने वैविध्य के बावजूद उतनी भी सार्थक संवेदना, जीवन की उतनी भी आलोचना कहानी के अन्दर एकाग्र नहीं हो पाती जितनी कि पहले की श्रेष्ठ कथा-रचनाओं में हो जाया करती थी। क्या यह रचनात्मक प्रतिभा का ह्रास है? या केवल एक अनिवार्य संक्रमणकालीन स्थिति, जिसमें फिलहाल कलात्मक साधना की एकाग्रता संभव नहीं, और प्रतिभा का विकेन्द्रित बिखराव लाज़िमी हो गया है।

एक और बात···। पहले की कथाकार-प्रतिभाओं की भाषा की रेंज जितनी बड़ी थी, उसे देखते हुए तुलनात्मक दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि यह रेंज आज के कथाकारों में कम होती गई है। प्रसाद के कथाकार की प्रतिभा भाषा के जितने बड़े व्यास में काम करती है, अज्ञेय की तो शायद उतनी ही पहुँच हो भी; किन्तु निर्मल वर्मा की भाषा का व्यास अपेक्षाकृत बहुत कम है। परवर्ती कथाकारों में यह और भी कम होता गया है। कारण चाहे जो भी हो, पर यह स्थिति चिन्तनीय है क्योंकि इसके चलते आज की भाषा में एक अजीब, अस्वस्तिकर एकरसता और घुटन पैदा हो रही है। क्या हम बुद्धि का काम संवेदना से, संवेदना का काम एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुखार्जित बौद्धिकता किंवा भावुकता से लेने के आदी पड़ते जा रहे हैं ? प्रसाद की एक प्रसिद्ध कहानी मेरे सामने है। उसमें मैं पढ़ता हूँ—

"कुछ भी नहीं फिरोजा ! हमारी धार्मिक भावनाएँ बँटी हुई हैं; सामाजिक जीवन दंभ से और राजनीतिक क्षेत्र कलह और स्वार्थ से जकड़ा हुआ है। शक्तियाँ हैं, पर उनका कोई केन्द्र नहीं ! किस पर अभिमान हो, किसके लिए प्राण दूं।"

और इसके कुछ ही आगे···

"फिरोजा गाने लगी। उसके गीत की ध्वनि थी—'मैं जलती हुई दीपशिखा हूँ और तुम हृदयरंजन प्रभात हो। जब तक देखती नहीं, जला करती हूँ और जब देखती हूँ तभी मेरे अस्तित्व का अन्त हो जाता है मेरे प्रियतम !'···संध्या की अंधेरी झाड़ियों में गीत की गुंजार घूमने लगी।"

एक ही कहानी में से उठा लिये गए प्रसाद की भाषा के ये दो उदाहरण हैं। ये दो अभिव्यक्तियाँ हैं दो बिलकुल भिन्न प्रयोजनों से संयोजित। और प्रत्येक अपने अभीष्ट निर्वाह के लिए कितना सक्षम और तत्पर ! स्पष्टता और पूर्णता की जो आत्म-विश्वस्त मुद्रा पहले उद्धरण में है, वही दूसरे में। जबकि एक-दूसरे से दोनों कितने भिन्न और असम्बद्ध हैं। प्रसाद में यह सामर्थ्य थी एक ओर संवेदना की, राग की स्वतः सम्पूर्ण सृष्टि निर्मित कर सकने की—भाषा को एकदम गीत के-से लाघव से समस्त स्थूल प्रयोजनों से ऊपर उठा देने की; और दूसरी ओर उसे घनी बौद्धिक विकलता और आलोचनात्मक ऊर्जा से संयुक्त करके जीवन की जटिल समस्याओं के बीचोबीच स्थापित कर देने की···। भाषा की यह नम्यता, कथ्य के साथ उसकी यह एकाग्र समायोजन-शीलता स्पृहणीय हो उठती है। निविड़ रागात्मकता से लेकर घोर बुद्धिवादी यथार्थनिष्ठा तक प्रसाद की भाषा की गति है।···'शक्तियाँ हैं पर उनका कोई केन्द्र नहीं'···आज की भाषा-दृष्टि से यह कथन सामान्य—क्योंकि अतिपरिचित प्रतीत होता है। किन्तु जिस वक्त इसे लिखा गया, उस वक्त यह एक नितान्त मौलिक उन्मेष था निस्सन्देह। तत्कालीन परिवेश की यह उत्कट आलोचना एक उच्चकोटि की मनीषा के बिना संभव नहीं थी। आज इसे पढ़ते हुए हमें यीट्स की उक्ति स्मरण आती है—'थिंग्ज़ फाल एपार्ट, द सेण्टर कैन नाट होल्ड'···। प्रसाद की भाषा अपने समय के चालू मुहावरों, शास्त्रीय व्याख्याओं तथा सतही आन्दोलनों के संक्रामक से सर्वथा मुक्त है। न वह किसी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा से आतंकित है। एक विशिष्ट सांस्कृतिक परम्परा और धार्मिक दृष्टि का गौरव उन्हें है। पर यह ऐसा गौरव है जो अपनी ही आत्मतुष्ट अहम्मन्यता की धज्जियाँ उड़ा दे सकता है: प्रखर और निर्मम व्यंग्य द्वारा। हिन्दू धर्म में दीक्षित होने की इच्छुक अंग्रेज़ लड़की शैला को अपनी संस्कृति पर धुआँधार प्रवचन दिलाकर प्रसाद एक झटके से—उसी साँस में बाबा रामनाथ के उत्साह की शल्य क्रिया कर डालते हैं—"बाबा रामनाथ धार्मिक जनता के उस विभाग के प्रतिनिधि थे जो संसार के महत्त्वपूर्ण कर्मों पर अपनी ही सत्ता, अपना ही दायित्वपूर्ण अधिकार मानती है और संसार को अपना आभारी समझती है। उनका दृढ़ विश्वास था कि विश्व के अन्धकार में आर्यों ने ही अपनी ज्ञान-ज्वाला प्रज्वलित की थी। वह अपनी सफलता पर मन ही मन बहुत प्रसन्न थे।"

लेख के प्रारम्भ में अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ में भाषा-दृष्टि की कुछ समस्याओं का विवेचन हुआ है। ऐसा नहीं लगता कि उनके प्रति पर्याप्त जागरूकता इस पीढ़ी के रचनाकारों में है। एतद्देशीय सन्दर्भ में भी भाषा के जिस व्यापक भ्रंश और सतहीकरण की प्रक्रिया धीरे-धीरे ज़ोर पकड़ रही है, उसके प्रति गहरी चिन्ता का भाव भी हमारी रचनाओं में लक्षित नहीं हो रहा। इसका एक कारण यह भी है कि हमारे रचनाकारों में अपनी भाषा की परम्परा का, उसकी सांस्कृतिक जड़ों का वैसा चिन्तन-मंथन नहीं है जैसा कि अमूमन दूसरे देशों के साहित्यकारों में स्पष्ट महसूस होता है। न उसके प्रति वैसी गहरी रागात्मक सम्बन्ध-चेतना ही। पिछली पीढ़ियों में यह जागरूकता, यह संसक्ति मेरे खयाल से कुछ अधिक थी। यह भी एक कारण है कि समसामयिक जीवन और विचार के प्रति भी हमारी सर्जनात्मक प्रतिक्रियाएँ अक्सर इतनी अनिश्चित, अनेकाग्र, उथली और अतिरंजित हो उठती हैं। भाषा-दृष्टि की वे मूलभूत चिन्ताएँ ही हमारी नहीं जो साहित्यिक रचना की आधारशिला हैं; जो रचना के नैरन्तर्य को, सर्जनात्मकता की परम्परा को जिलाए रखने की पूर्व-प्रतिज्ञा हैं। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिलकुल वही

(रघुवीरसहाय की कविताएँ पढ़कर)

प्रभात कुमार त्रिपाठी

फिर से एक बार
शुरू करने की इच्छा होती है
और अकचका कर गिनने लगता हूँ
कतार में कितने पेड़ हैं
किस जगह पर मुड़ती है गली
और बढ़ती ही चली जाती है नदी की तरफ
एक उदास लड़की की आँखों में
एक डबडबाता फूल है
और सुनो—कितना धीमे-धीमे गा रहा है वक्त
तुम्हारे बचपन का वह तुतला-तुतला गीत !
पेड़ों की छतनार छाँह और खुरदरी चट्टान
और निरभ्र आकाश और···
कहाँ चली गई है तमाम सड़कें ?
अभी, इस जगह पर क्या हुआ है अचानक ?
नींद के आखिरी सिरे पर
यह कौन-सी आग है ?
कि जागने की—फिर से एक बार—
जागने की इच्छा होती है;

नहीं !
मैं अब कोई भी चेहरा देखना नहीं चाहता
आँखों को कोई दूसरा काम दो
एक दूसरा नाम दो
बकवास से बड़ा और भद्दा—एक दूसरा नाम
एक अश्लील गाली दो मेरे लिए
और मैं इस कायर-अँधेरे से चिपटा हुआ
इसी तरह भुनभुनाता रहूँ;
सुनो,
यह सब, गलत है—गलत है—ग़लत है
कहते हुए भी
मैं अपने बिस्तर पर से उठकर नहीं जाऊँगा
कई दिन हुए इस बात को
जबकि रात को भी आँखों में,—
दहकता था तुम्हारा आमंत्रण
दौड़ने—लगातार दौड़ने के वे दिन
किस कदर धुँधले स्मरण हो गये हैं
अब अचानक कुछ होने पर भी
सोता हुआ सोचता रहता हूँ
कि क्यों फिर एक आरंभ हो
नया आरंभ, नया दंभ, नयी कायरता
रहने दो, इस पुरानी चुप्पी के बिस्तर पर
इसी तरह पड़े रहने दो
बीच-बीच में इस तरह तुम्हारा करवट बदलना
किस कदर गैर-दुनियादार-बात है
ताज्जुब है कि तुम्हारा हथियार-हीन चेहरा
सिर्फ़ एक नदी, एक पेड़, एक लड़की
और एक खुरदुरी चट्टान की याद में
तमतमाने लगता है
और तुम नींद-भरी आँखों से टटोलने लगते हो
जागरण के मरे हुए दिन
कविता कीमियागिरी नहीं है जादू नहीं है
इंद्रजाल नहीं है कविता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अकाल है अकाल, मरी हुई, दरकी हुई ज़मीन
बंजर; खामोश वीरान
उदासी और खुशी से अलग
एक नामहीन विशेषणहीन क्रियाहीन क्रिया है कविता
और इसके सहारे···?
नहीं ! मैं तुम्हें निहत्था नहीं जाने दूंगा
लड़ाई के मैदान में;

आखिर तुम कैसे शुरू करोगे ?
मरण के इस रेगिस्तानी उत्सव में
कहीं भी नहीं है उस छतनार पेड़ की छाँह
वह थरथराती हुई पागल बाँह
और आँखों से पिघलकर बहता हुआ
वह ऊष्म संगीत
कहीं भी नहीं है
नदियाँ सोखने वाले इस मरुस्थल में
मत फेंको अपने आबदार शब्द
क्योंकि कुछ भी नहीं है
जिसे शुरू किया जा सकता है—दुबारा
जिया जा सकता है
सिर्फ़ वही, सिर्फ़ वही
शरारती पुकारों की आड़ में षड्यंत्र है षड्यंत्र
लोकतंत्र है खालिस लोकतंत्र
खाने, पीने और मुटाने का मंत्र
लेटे रहने, पड़े रहने सपने चाटते रहने की
बेशुमार सुविधाओं की सेज है
कुर्सी है—मेज है—घर है—दफ्तर है
रुको, कहाँ जा रहे हो ?
ठंडे दिल से सोचने के बाद
आज़ादी से सोता है आदमी
नींद के आस-पास टहलने वाली आग से कहो
कि चुप रहे
अच्छी लगती है आँच और चुप्पी
लेकिन सुलगना और जलना और राख होना
फालतू बात है—एक आदिम फालतू बात है
फिर से शुरू करना—मरना ही तो है
युद्ध के इस रूमानी नाम को चिपका कर
तुम जिसे खुश करने निकले हो
वह तुम्हें वोट नहीं देगा
पूछो, तोंद वाले सेठजी से पूछो
कि राष्ट्रपति के चुनाव के दिन
अनाज के, सोने के, चाँदी के, रूई के
बाज़ार-भाव क्या थे ?
वे तुम्हें ज़रूर बताएँगे
कि साइत अच्छी नहीं है
किसी लंबी यात्रा पर निकलने की
पड़ोस के रसोईघर में सूखा पड़ा है
और चंबल की घाटियाँ हो गई हैं गलियाँ
किसी भी वक्त—किसी का भी खून हो सकता है
कहते हैं समझदार लोग और अखबार
मेरे यार !
वोट के लालच से बेहतर है
कोट सिलवा लो
आग तुम्हें इसी तरह चूतिया बनायेगी
कोट में ढके रहोगे
तो कभी-न-कभी बुझ जायेगी
और शुरू करने की इच्छा
नहीं !
फिर से एक बार—कुछ नहीं होगा
या फिर वही होगा—बिलकुल वही !
बिऽऽलऽऽकुऽऽल वऽऽहीऽऽऽ

●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधुनिक त्रासदी : बलिदान और क्रान्ति

रमेश कुंतल मेघ

ईसा से तीन-चार शताब्दियों पहले यूनान में ईस्किलस, सोफोक्लीज़, यूरिपाइडीज़ की त्रासदियों का महायुग था जब 'भय' के सहकार में, महाकाव्ययुगीन 'लालसा' (पैशन) के स्थान पर, 'करुणा' की प्रतिष्ठा हुई थी। भारत में भी भरत, वात्स्यायन, कौटिल्य, चरक और मनु आदि का सांस्कृतिक रिनैसाँ वाला युग जब आया तब युद्ध के भयानक अनुभवों और प्रेम के विलासी अनुभवों के साथ बौद्ध करुणा की भी समावेश होता गया। इस तरह करुणा की लहर के साथ ही विश्व में कई बार मानवता की एकता के युग पुष्पित हुए हैं। बुद्ध और ईसा के विश्वव्यापी प्रभाव मानवीय करुणा द्वारा ही समाज और संस्कृतियों में फैले हैं। अतः करुणा के विराट् माध्यम से खुद विश्व-इतिहास संस्कारित हुआ है। इस मानवीय करुणा के लिए ही कार्लमार्क्स का दर्शन क्रान्ति का आधुनिक माध्यम प्रयुक्त करता है। अतः क्रान्ति और करुणा की एकता कला और जीवन की सनातन एकता भी है। आज भरत के आनन्द-वादी 'रूपक' और अरस्तू की संत्रासवादी 'त्रासदी', दोनों ही हमारे लिए प्रामाणिक एवं प्रासंगिक नहीं रहीं। आज हमारी आधुनिक त्रासदी फूहड़ (एब्सर्ड) हो रही है। इसके ऊपर विडम्बना यह है कि संस्कृति के ललित कलाओं वाले सूक्ष्म रूपों को हम सामाजिक यथार्थता तथा दैनंदिन त्रासदी से अभी तक विच्छिन्न किये हुए हैं। इसलिए केन्द्रीय सवाल यह है कि हम सौंदर्यबोधशास्त्र को दैनिक तथा दैनंदिन त्रासदियों से कैसे सम्बन्धित कर दें। शताब्दियों से हमने त्रासदी की परंपरागत दुर्भाग्यपूर्ण संरचना का, तथा नाटक का जो सौभाग्यपूर्ण आकृतिबंध कायम किया है उसमें निजी और सामाजिक जीवन के मामूली दुःखभोग तथा दैनिक त्रासदी का निषेध हुआ है; प्रत्युत उन्हें असल में त्रासद तक नहीं माना गया। हमारे भारतीय जीवन में 'कर्मसिद्धान्त' ने तीन पीढ़ियों तक का (पूर्वजन्म, इहजन्म और आगामी जन्म) बर्बाद तथा निकम्मा कर दिया; 'सौभाग्यवादी दृष्टि' ने मानवतावाद की भ्रान्ति फैलाई तो 'मायावादी दृष्टिकोण' ने जगत् को मिथ्या बना डाला। अतः भारतीय जीवन में परम्परागत त्रासद रूप तक नहीं उभर सके क्योंकि हमने अठारहवीं शताब्दी तक इतिहास का यथार्थता-बोध ही नहीं विकसित किया। अतः ऐतिहासिक अनिष्ट अथवा बुराई से हमारा सामना 'भ्रान्ति', अथवा 'माया', अथवा 'पाप', अथवा 'राक्षस' के अन्यथाकृत रूपों में हुआ। हम यह स्वीकार ही नहीं कर सके कि इतिहास के कर्म-चक्र में केवल सौभाग्योन्मुख नियति ही नहीं; बल्कि बराबर से टकराने वाले अनिष्ट या अशुभ के विजयी एवं पराक्रमी तथ्य भी हैं। ऐतिहासिक बुराई या अनिष्ट भी इतिहास में अपूरणीय और अपरिहार्य हैं। अतः आनंदवाद और आत्मवाद के विश्वदृष्टिकोणों को अपनाकर परम्परागत भारतीय बौद्धिक चिंतन में अनुभवातीत अनिष्ट को बिलकुल अस्वीकार किया गया। अतः रसानंदवाद की प्रतिष्ठा हुई और, दुःखपूर्ण करुणा के सत्य का जघन्य निषेध! 'अपाय'-रूपी छोटी बाधाओं का अतिक्रमण करता हुआ भारतीय इतिहासदर्शन—लघु-लघु परिवर्तनों को झुठलाता हुआ—अंततः **संत-सफलता में** आकर अचल-अटल हो जाता है। काल के अक्ष में इसका एक सुनिश्चित प्रवाह होता है जो महान् परिवर्तनों तथा अशुभ घटनाओं को वर्जित करता हुआ अंततः 'फलागम' में आत्यंतिक उपचार पाता है। अतः भरत के बाद का त्रासद अनुभव भयानक युद्ध की पूर्ण त्रासदी घटने ही नहीं देता। वह प्रचंड युद्ध के समतोल में विलासैश्वर्यपूर्ण रोमांटिक प्रेम (शृंगार) को प्रधान बना देता है। अतः रसानंदवाद की ऐस्थेटिक्स भारतीय इतिहास में **बलिदान एवं मृत्यु**, दोनों को वर्जित करती है। यहाँ इति-हास में हमेशा उद्धार होता है किन्तु यह उद्धार हमेशा कर्म-सिद्धान्त की सौभाग्यवादी दिशा में होता है : या अलौकिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवतार अथवा वैयक्तिक पुण्य वरदान से। अतः हमारी त्रासदी और क्रान्ति की सभी महान् घटनाएँ हज़ारों साल वाले भारतीय इतिहास के फलक से पोंछकर मिटा दी गईं। समाज की क्रूरताएँ और सामंतों के नृशंस अत्याचार, आततायियों की बर्बरताएँ और वर्गों के पाखंड प्रमाणित करने के लिये कला में त्रासदी का हाशिया खुलना अनिवार्य था। किन्तु भारतीय संदर्भ में वह 'कलियुग' बनकर एक रूढ़ि बन गया। फलतः वास्तविक त्रासद प्रामाणिकता को तो मिथकीय काल में फैला दिया गया, किन्तु यूतोपियाई 'सतयुग' (रामराज्य) को आरोपित ऐतिहासिक प्रारब्ध बना दिया गया। अतः हमारी उस आनंदवादी एवं आत्मवादी जीवन-दृष्टि ने हमें चिरंतन त्रासद अनुभव के ही अयोग्य बना डाला क्योंकि रसानंदात्मवाद ने मानवतावाद की अद्वैतवादी भ्रान्ति फैला दी। हमारे दीर्घ मध्यकाल में इतिहासदर्शन के अन्तर्गत सांस्कृतिक-जीवन की यही विडंबना रही है। और आज जब हम शताब्दियों से आच्छादित तथा संचित ऐतिहासिक अशुभ, सामाजिक अत्याचार, सामंतीय क्रूरता और पूँजीवादी उत्पीड़न के आमने-सामने नंगधड़ंग आ खड़े हुए हैं; जब हमारे वैयक्तिक 'मोक्ष' के भ्रम टूट गये हैं; जब वर्णव्यवस्था की विषमताओं ने सामाजिक न्याय की भावना को नहीं उभरने दिया है; जब उच्चवर्गीय (सामंत, साहूकार, पूँजीपति, पुरोहित) समाज का करुणा-स्रोत सूख गया है; तब हमें एक आधुनिक एवं अंतर्राष्ट्रीय विश्व में बेरहमी से फेंक दिया गया है। आधुनिक समाज की **'त्रासदी'** और अंतर्राष्ट्रीय विश्व की **'क्रान्ति'** के महान्दोलनों के बीच बूढ़ा भारत डावाँडोल हो रहा है। आधुनिक एवं शापित हम भरत-पुत्रों के संसार से आनन्द विलीन हो चुका है और आधुनिक समाज की **त्रासदी**, तथा आधुनिक संस्कृति की **फूहड़ता** हमें किंकर्त्तव्य-विमूढ़ कर रही है! तथापि कई आधुनिक एवं रसीले रसवादी आचार्य और छबीले मानवतावादी नेता क्रमशः आधुनिक फूहड़ता और अमानवीय अत्याचारों के अस्तित्व को आज भी नामंजूर करते हैं!!

अगर भारतीय सांस्कृतिक पैटर्न में 'त्रासदी' के रूपों तथा दैनंदिन त्रासदियों, दोनों को अस्वीकृत एवं वर्जित किया गया तो पश्चिम में भी परम्परागत त्रासदी रूपों को स्वीकार करके दैनिक त्रासदियों को नामंजूर किया गया। वहाँ की संस्कृति में बाक़ायदा जो संभ्रम फैला उससे फूहड़तावोध के एक प्रमुख आधुनिक रूप का जन्म हुआ। इसकी नींव अस्तित्ववादी दर्शन है। इसके अलावा पश्चिमी त्रासदी में नायक की **गति** की उसके समापन (मृत्यु) में ही इतिश्री मान ली गई जबकि असली त्रासदी तथा ज्यादा महत्त्वपूर्ण तो वह 'गति' है जो कि नायक के माध्यम से संचरणशील होती है। यही अतिक्रांत (दूसरी) गति सामाजिक क्रूरताओं का वास्तविक दुनिया में सामना करती है। अतः यही दूसरी गति पहली गति की त्रासद प्रामाणिकता बनती है। इस तरह कला की और असली दुनिया की तुलना पर परम्परागत त्रासदी (या 'रूपक') का आग्रह नहीं रहा है। ज्योर्ज्यो लुकाक्श ने इस तुलना को 'झटिति' (Shock) कहा और इसे ही 'विरेचन-दशा' माना :—अपोलोनियन विरेचन-दशा!

इसी विन्दु से **रेमण्ड विलियम्स** भी शुरुआत करते हैं।[1]

रेमण्ड विलियम्स की मौलिक कोशिशें दो रही हैं—(क) साहित्यिक एवं दैनिक अनुभवों के बीच सेतु, तथा (ख) परम्परा एवं आधुनिक जागरूकता के बीच सेतु की तलाश और रचना। अतः उन्होंने (ग) परम्परागत त्रासद रूपों का आधुनिक रूपों से संबंधन, एवं (घ) कला में तथा जीवन में त्रासद का संबंधन किया। इस सौंदर्यवास्तविक क्रान्ति द्वारा ही उन्होंने सौंदर्यबोध शास्त्र को दैनिक अथवा दैनंदिन त्रासदियों की समस्या से संबद्ध कर दिया।

अनेक प्रकार के मानवतावादों से प्रयाण करते हुए रेमंड विलियम्स मार्क्सवादी दर्शन में अधिष्ठित **क्रान्तिकारी मानवतावाद** का नज़रिया अख्तियार करते हैं। वे अपनी 'आधुनिक त्रासदी' को 'क्रान्ति' से प्रतिबद्ध करने का प्रोग्राम पेश करते हैं। वे 'त्रासद' हताशा तथा 'फूहड़तावादी' **विरोध** दोनों को सांस्कृतिक संभ्रम की उपज मानते हैं। अतः वे 'त्रासदी' और 'क्रान्ति' का सवाल उठाते हैं—क्रान्ति के द्वारा पूर्ण उद्धार!

क्रान्तिकारी मानवतावादी दृष्टिकोण से वे बताते हैं कि चारों ओर फैली आधुनिक अव्यवस्था गहरी है, और त्रासद है। अतः अव्यवस्था की फूहड़तावादी (अस्तित्ववादी) संतुष्टि के रूप में केवलमात्र **विद्रोह** तो अधिकाधिक भ्रांति फैलाता है। क्रान्ति इस अव्यवस्था की फूहड़तावादी संतुष्टि नहीं है

1. "The Modern Tragedy": Chatto & Windus London [1966]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकती क्योंकि वह इसी गहरी एवं त्रासद अव्यवस्था के बीच-से जो उभरती है। क्रान्ति केवल आह्लाद भी नहीं हो सकती। यह त्रासद भी है क्योंकि अव्यवस्थित एवं भ्रान्तानक पर्यावरण में कठोरताएँ, क्रूरताएँ और कठिनाइयाँ भी होती हैं। अतः क्रान्ति में भी वेदनाभोग (सफ़रिंग) अनिवार्य है। यह क्रान्ति ही त्रासदी को आधुनिक बनाती है तथा दैनिक त्रासदियों से जुड़कर उन्हें स्वीकार करती है। क्रान्ति ही जीवन और मृत्यु के असली सवालों को त्रासद धारणाओं में प्रविष्ट करा सकती है। अतः क्रान्ति ही संपूर्ण उद्धार (Total redemption) करती है। इस क्रान्तिकारी तथ्य को पुनः दुहरा दिया जाय: आज सौन्दर्यबोधशास्त्र को दैनिक अथवा दैनंदिन त्रासदियों से संबंधित होना चाहिए। अतः आधुनिक (क्रान्तिकारी) त्रासदी में करुणा का उन्नयन 'बलिदान' (Sacrifice) तथा भय का उन्नयन 'क्रान्ति' (Revolution) के नाटकीय संवेगों में होता है। यह दूसरा प्रवर्तक सूत्र है। इसलिए हमारे युग की आधुनिक त्रासदी को, दैनिक जीवन की त्रासदियों से जुड़कर, प्रमुखरूपेण क्रान्ति के अनुभव का भी समावेश करना चाहिए। इस प्रकार आधुनिक त्रासदी केवल अकेले त्रासद नायक या एक सद्वंशी चतुर्धीर की गाथा न होकर समष्टि रूप मामूली इंसान की सामूहिक एवं क्रान्तिकारी त्रासदी है। इस तरह रेमंड विलियम्स एक वैचारिक तथा वास्तविक ज्वालामुखी-प्रश्न को सुलगा देते हैं जो मानवीय इतिहास में अभी तक लापता-सा रहा था।

समारंभ वेदनाभोग (सफ़रिंग) से हो सकता है।

पहले तो यह तय कर लें कि साहित्य में अंकित कला-संभूत वेदनाभोग के मुकाबले में निजी तथा सामाजिक जीवन के मात्र वेदनाभोग का परित्याग अब कतई नहीं हो सकता। छठे दशक के कहानीकारों ने 'अनुभूति की सच्चाई' का जो आधार बनाया था उसका काफी अंश इस 'मात्र' वेदनाबोध को उभारता था। यह वेदनाभोग समाज तथा जीवन में अनिष्ट या बुराई के तथ्य को अपरिहार्य एवं असंशोधनीय मानकर चला था। तब उस पात्र के वेदनाभोग हमें अपील करते थे क्योंकि वे अनिवार्य थे। अतः छठे दशक की कहानी और कविता अनिवार्य वेदनाभोग को लेकर उभरी जबकि पूर्ववर्ती कथाचेतना में वेदनाभोग अनावश्यक, या आकस्मिक, अथवा वर्जनीय भी था। छठे दशक के कथाकारों ने विशेष रूप से वेदनाभोग का उत्स ढूंढ़ निकाला। उन्होंने 'संबंधता' (रिलेशनशिप) में इसे पाया। उन्होंने अनुभव किया कि किसी भी व्यवस्था तथा कानून में जब गलत संबंधता स्थापित होगी तब हमेशा और अनिवार्यतः हताशा और वेदनाभोग होगा। अतः छठे दशक में मोहन राकेश ('जानवर और जानवर', 'एक और ज़िन्दगी'), राजेन्द्र यादव ('टूटना'), कमलेश्वर ('खोई हुई दिशाएँ'), मार्कण्डेय ('हंसा जाई अकेला') आदि ने विशेष रूप से इसका अन्वेषण करके इसे ही एकांगी रूप से 'आधुनिकताबोध' की संज्ञा दे डाली। इनके बाद के कहानीकार निर्मल वर्मा, दूधनाथ सिंह, ज्ञानरंजन, काशीनाथ सिंह ने अनिवार्य वेदनाभोग से बढ़कर 'त्रासद जागरूकता' को प्राप्त किया। निर्मल ने 'लंदन की एक रात' और 'कुत्ते की मौत' में, दूधनाथसिंह ने 'आइसबर्ग' में, राजकमल चौधरी ने 'दाम्पत्य' में इसे गहराई से महसूस किया। किन्तु मात्र वेदनाभोग से त्रासद जागरूकता की ओर संवर्धित होने वाली इस सांस्कृतिक चेतना को इन्हीं अकथा-लेखकों ने 'अभिशप्तनियति' की धारणा के द्वारा पीछे फेंक दिया। इन लेखकों ने संबंधों को पीछे फेंककर केवल तनावों को स्वीकार किया। तनावों को लेने के कारण इनकी कहानी की त्रासदी में कर्म गायब होता गया; मानवीय संयोजन धुँधले होते गए तथा केवल अकेलापन शेष रह गया। अतः केवल वेदनाभोग से केवल अकेलापन! बस इस तरह विशिष्ट परिस्थितियों को निर्विकल्प मान लेने पर उनके लिए नियति या 'अभिशप्त नियति' का पर्याय लाना पड़ा। इसके बाद अभिशप्त नियति का यह मुखौटा उलटकर वेदनाभोग को पंगु बनाने लगता है। अतः व्यक्ति भी विलीन हो जाता है और यह मुखौटा नैतिकता तथा सामाजिकता, दोनों का विरोधी हो जाता है। इस हाशिये पर न तो वेदनाबोध प्रबुद्ध रह पाता है; और न ही सामाजिक अन्याय के प्रति जागरूकता चौकस रहती है। फलतः क्रान्ति की माँग कुंठित हो जाती है। नवलेखन के विचारकों—विशेषतः विमलवर्मा, हर्ष, चन्द्रभूषण तिवारी, हृषीकेश, माहेश्वर, कंचनकुमार, सुरेन्द्र चौधरी आदि—ने समकालीन लेखक के इस खतरे को पहचानकर यह स्पष्ट किया कि मानवीय अनुभव विशिष्ट हैं, ऐतिहासिक हैं, विलक्षण हैं। प्रत्युतः वे वैश्वक, शाश्वत और अनिर्वचनीय नहीं हैं। नवलेखन ने प्रतिबद्धता के सवाल से शुरुआत करते हुए बताया कि इतिहास के त्रासद तथ्यों से कोई भी केवल समय के अंदर उद्धार नहीं कर सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैयक्तिक समय-खंड के परे भी वेदना और व्यथा चलती रहती है। यही मानवीय प्रारब्ध है। नवलेखन में मात्र वेदना-भोग और अभिशप्त नियति की दशा **'व्यर्थताबोध'** के नाम से अभिहित हुई। अतः अद्यतन समय में त्रासद जागरूकता और **क्रान्तिजन्मा उद्धार** में आकर **'नव'-आधुनिकताबोध'** अपना उन्मेष प्राप्त करता है।

वेदनाभोग अनिवार्य है। वेदनाभोग की अनिवार्यता ही क्रान्ति की स्वतंत्रता से जुड़ती है। अतः वेदनाभोग से बचने के लिए क्रन्ति से नहीं बचा जा सकता। वेदनाभोग से उद्धार का रास्ता क्रान्ति है। अतः **क्रान्ति की त्रासदी** भी हमें स्वीकार करना है क्योंकि वेदनाभोग भी अनिवार्य है। किन्तु कई ऐसे त्रासद तथ्य हैं जिन्हें इतिहास में घटने से रोका भी जा सकता है: महज कई लावारिस, असंबद्ध त्रासद तथ्य। अगर हमारे समाज का पुनर्निर्माण समाजवादी दिशा में शुरू हो गया होता तो हम भूख, गरीबी, अज्ञान, शोषण, अत्याचार के कई त्रासद तथ्यों को बचा सकते थे; हमारा समाज क्रूरता और पाशविकता की पूंजीवादी यंत्रणा से बच सकता था; हमारे जन की चेतना का क्रान्तिकरण और समाज का आधुनिकीकरण सामूहिक उद्धार द्वारा हो सकता था! अतः अनिवार्य वेदनाभोग हमारा उद्धार कर सकता था और निर्दोष वेदनाभोग से हम बच सकते थे। लेकिन पूंजीवादी व्यवस्था के आपाधापी आगमन के साथ-साथ हमारी संस्कृति में भी जो सुनियोजित संभ्रांतियां फैलीं उनसे वेदना-भोग के अंतर भी धुंधले पड़ गये और दोनों प्रकार के वेदना-भोग केवल 'फूहड़ता' के अनुभव में तिरोभूत होते गए। यह हमारी दर्दनाक सांस्कृतिक त्रासदी है: 'त्रासदी' का संबंधन 'फूहड़ता' से हो गया और निराली क्रान्ति की 'केवल जलती मशाल' से वह आलोकित नहीं हो सकी। अतः हमारे मूल्यों में, व्यक्तित्व में, वेदनाभोग में, राष्ट्रीय जीवन में अंधी यंत्रणा तो रही किन्तु उसमें अनिवार्यता और परिहार्यता को छाँटने का प्रकाश नहीं फैला और उसमें से त्रासद जागरूकता का आविर्भाव नहीं हुआ। अंधेर है कि हम अपनी दैनिक त्रासदियों तथा त्रासद अनुभवों में क्रान्ति के अनिवार्य अनुभव को नहीं शामिल कर सके! हमारे सामने क्रान्ति एकपक्षीय आतंक और संत्रास, अत्याचार और बर्बरता के रूप में ही पेश की गई, जबकि क्रान्ति अनिवार्य है और क्रान्ति का अनुभव भी एक आह्लादकारी त्रासदी है। अपनी त्रासदी को क्रान्तिकारी अर्थों से गर्भित करना ही हमारा 'भारतीयकरण' है।[1]

पंजाब के शहरों में दास-युगीन गुलामों की तरह हाँके जाते हुए गन्दे-गरीब-निरीह-दुबले बिहारी-उत्तरप्रदेशी भैये-मजदूरों के झुंड के झुंड; अहमदाबाद में सांप्रदायिक दंगे की आग में बूढ़े से लेकर दुधमुँहे बच्चे तक झोंका गया एक निरपराध मुसलमान-परिवार; नौकरी पाने के लिए अफ़सर के साथ सोकर आई शिक्षित युवती; झूठे इल्जाम से बरी होने के लिए पत्नी का मंगलसूत्र बेचकर रिश्वत देने वाला बेकार नौजवान; किसी गलत युद्ध या दुर्घटना में मर गया वयोवृद्ध पिता का इकलौता जवान बेटा आदि हमारी दैनिक त्रासदी की मिसालें हैं जिनमें निरपराध यंत्रणाभोग है। ये मनुष्य के त्रासद अस्तित्व की साखी हैं और मनुष्य के अस्तित्व की भी स्थायी बुराइयाँ हैं! मनुष्य के त्रासद अस्तित्व की बुराइयां

१. ध्यातव्य हरिदत्त शर्मा का उद्धरण: "स्वामी विवेकानंद ने कहा था कि···भारत का उत्थान भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठ तत्त्वों और समाजवाद के अपनाने से होगा।···नेताजी सुभाषचन्द्र बोस प्रभृति नेताओं ने इस भावना को आगे बढ़ाया, किन्तु इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि मार्ग में कपट-मुनियों ने इस देश की दीन-हीन जनता को ठग लिया और उनकी मंजिल बड़ी कर दी। निर्धन जनता के जागरूक तत्त्व अब इस तथ्य को पहचान रहे हैं और संघर्ष का शंखनाद कर रहे हैं। यह भी सही है कि इनमें से कुछ लेनिन, माओ-त्से तुंग, चे गुवेरा के दिशा-निर्देशों के अनुसार सशस्त्र क्रान्तिकारी संघर्ष की राह पर चलने लगे हैं। इसे देखकर कुछ लोग यह चिल्लपों मचाते हैं कि ये विदेशों से क्यों प्रेरणा ले रहे हैं! ···जब वे सब भारत के इस विशाल जनसमूह के दुःख-दर्द को समेटने में असफल हो गये तो इन्हें जो रास्ता सूझता है, उसी पर चल रहे हैं।···ये साफ-साफ देख रहे हैं कि देश के स्वार्थी तत्त्व आज भी इनके नाम पर विदेशों से ऋण और सहायता लेकर गुलछर्रे उड़ा रहे हैं।···इसलिए अपनी सब तरह की लूट के विरुद्ध ये वीर-भाव से उठने के लिए आतुर हैं और उन सबसे हाथ मिला लेना चाहते हैं जो विदेशों में उन्हीं के वर्ग के हैं। उनका कहना है कि जब सामन्तवादी और पूँजीवादी तत्त्व विदेशी सामन्तवादियों और पूँजीवादियों से मिलकर अपनी ताकत बढ़ा रहे हैं तो हम भी क्यों न विदेशी श्रमजीवी जनता की ओर हाथ बढ़ाएँ?···उनका यह राष्ट्रवाद साम्राज्यवाद का विरोधी है और उस अन्तर्राष्ट्रीयवाद का मित्र है जो सारी वसुधा को सुखी और निरामय देखना चाहता है।"—'भारतीयकरण का मुहाना है श्रमजीवी जनता' शीर्षक लेख।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्दय इतिहास-गाथा हैं। अतः इन पर इतिहास के रंगमंच पर ही विजय पाई जा सकती है—इतिहास से परे अतिक्रमण करके नहीं। इतिहास का अधिनायक मनुष्य है। अतः मनुष्य ही अपने मानवीय अस्तित्व के ऐतिहासिक अशुभ को जीत सकता है। इसके लिए इतिहास किसी भी काव्यात्मक न्याय को स्वीकार नहीं करता। रेमंड विलियम्स इस विजय को व्यक्ति की **आत्म-मुक्ति** तथा समष्टि का समग्र या **संयुज-उद्धार** (Total redemption) घोषित करते हैं। त्रासद अस्तित्व के मूल से ही त्रासद जागरूकता का उन्मेष मनुष्य के वेदनाभोग को आत्म-मुक्ति (सेल्फ़-लिबरेशन) में रूपांतरित करता है। विशिष्ट और वास्तविक ऐतिहासिक परिस्थिति को अगर आत्मलक्षी ढंग से निर्विकल्प भाग्य का पर्याय न बनाया जाए, तो वह एक लंबी क्रांति की भूमिका बनती है। इस लम्बी क्रांति में संघर्ष प्रबलतर होते हैं और आवश्यक वेदनाभोग भी भीषणतर होते जाते हैं। इस दीर्घ क्रांति में मनुष्य का आत्मनिर्वासन भी होता है (जैसा कि कई समाजवादी देशों में भी घट रहा है) किन्तु लंबी क्रांति का मार्ग इतिहास है और इतिहास की त्रासद गति ही आत्म-उद्धार का स्रोत बन सकती है। अतः यही गति अन्ततोगत्वा समाधान (नियताप्ति) तथा व्यवस्था के साँचे उपलब्ध करती है। एक गहरी एवं त्रासद अव्यवस्था के अन्तराल से ही क्रांति का अवश्यंभावी क्रियान्वयन होता है।

क्रांति के अनुभवों से गुज़रने पर मनुष्य की **मानवीय** दशा (ह्यूमन कंडीशन) में नया अनुभव होता है। यह नया अनुभव प्राणपीड़क तथा महिमामंडित, दोनों ही एक साथ होता है। एक मनुष्य का जीवन-कर्म एवं चेतना के आयत्तीकरण के सिलसिले में जब स्वयं ही शनैः-शनैः **क्रांतिकारी स्थिति** (रिवोल्यूशनरी सिचुएशन) में उलझता या अंतर्लिप्त होता चला जाता है तब वह **बाह्य परिस्थितियों** (आब्जेक्टिव सर्कमस्टान्सेज़) के भौतिक पारिश्रमिक की आकांक्षा नहीं करता। यहाँ से त्याग एवं बलिदान की नैतिकता का सूत्रपात होता है। यहीं से दैनिक त्रासदी के क्रांति द्वारा उद्धार की शुरुआत होती है।

"एक मुद्दत से मनुष्य स्वयं को आत्मनिर्वासन से मुक्त करने के लिए कला और संस्कृति को माध्यम बनाता आ रहा है। आठ या उससे ज्यादा घंटों के दौरान, जब वह अपनी मेहनत बेचता है, तब वह रोज़ मरता है। बाद में अपनी आत्मिक क्रियाविधियों द्वारा ही वह पुनर्जीवन पाता है। लेकिन इस उपचार में भी उसी रोग के कीटाणु मौजूद हैं।...समाज के सुपरिगठन में ही ऐसी फ़रमानी होती है कि कलाकार की तदाकृत तालीम हो जाये। विद्रोही इसकी व्यवस्था से दबा दिये जाते हैं और केवल विरली प्रतिभाएँ ही अपनी निजी कृतियाँ रच पाती हैं। बाकी तो बेशर्म भाड़े के टट्टू हो जाते हैं या कुचल दिये जाते हैं। अतः कलात्मक 'स्वतंत्रता' के एक स्कूल का जन्म होता है।...इस तरह निरर्थक व्यथा और भदेस मनोरंजन ही मानवीय चिंता के सुविधापूर्ण एवं सुरक्षामय निकासपुटक बन जाते हैं।...अतः 'स्वतंत्रता' शब्द की आड़ में पलायनवादी अवधारणा छिप जाया करती है।"[1]

हमारे समाज में जिस ढंग का गड्डमड्ड, बड़े बुर्जुओं और बड़े ज़मींदारों तथा इज़ारेदारियों के गठजोड़ वाला जो आर्थिक नींवाँधार कायम हुआ है वह मानवीय चेतना तथा संवेदना के विकास की जड़ें खोदने का अपना काम पहले से ही पूरा करता आ रहा है। अतः **नये मनुष्य** की रचना के लिए हमें **नये आर्थिक नींवाँधार** की आवश्यकता है। इस व्यवस्था में सामान्य मनुष्य और साधारण जन को अब आगे बढ़ने की कोई संभावना नहीं है। अतः मानवीय चेतना की उन्नति भी असंभव है। क **मंसिद्धान्त** (शूद्रों और शोषितों को मृत्यु के बाद पुरस्कार) एक झूठे विश्वास को शताब्दियों से फैलाता आ रहा है कि जो सुफल भोग कर रहे हैं और ऐश्वर्य से पूर्ण हैं वे पुण्यात्मा या अच्छे मनुष्य हैं (शोषक, आततायी और कपटी नहीं)। इसी के साथ **'हमारी संस्कृति'** अर्थात् **वर्ण-व्यवस्था** और **वर्गविभाजन** को एक साथ अंगीकार करने वाली भारतीय संस्कृति के नाम पर यह मानवतावादी भ्रांति फैलायी जाती है कि स्वतंत्रता एवं समतावाला समाज यहाँ है जिसमें कोई भी राष्ट्रपति हो सकता है क्योंकि हरेक ईमानदारी से **आत्म-निर्मित इंसान** है। राष्ट्र की औसत चेतना अभी भी इन सफेद झूठों का शिकार है जिसको चारों ओर सत्ता और व्यवस्था की टट्टी घेरे हुए है। "इसलिए यह बहुत ज़रूरी है कि सामूहिक मनुष्य को संघटित करने के औज़ार सही ढंग से चुने जाएँ। बुनियादी तौर पर यह औज़ार **नैतिक चरित्र** वाला हो किन्तु उसे **भौतिक प्रोत्साहन**

१ चे गुएवारा : 'Socialism and Man', pp. 12, 13, 17.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के सही उपयोग की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।··· **संपूर्ण रूप** से समाज को ही एक महाकाय स्कूल में तब्दील कर देना चाहिए।"[1] और यही प्रक्रिया क्रांति है जो **संपूर्ण उद्धार** कर सकती है। जब ऐतिहासिक बुराइयों को नैतिक चरित्र से जुदा कर दिया जाता है, जब ऐतिहासिक बुराइयों को दबाने में लिजलिजें मानवतावाद के कारण लापरवाही बरती जाती है, तब मानवतावाद की ऐसी सर्वव्यापी महामाया फैल जाती है जो सारे अत्याचारों, अन्यायों, अपराधों, अधोपतनों के प्रति मानवीय स्नायु-चक्रों को ही कुंठित कर डालती है। **केवल नवसमृद्ध** (न्यूरिच), इस व्यवस्था में नवतुष्ट रहते हैं और केवल **नवरुष्ट** (युवा पीढ़ी) इस व्यवस्था में नवफूहड़ होते जाते हैं। हमारे घपलेवाले पूंजीवादी समाज का कोषाणु अकेली जिन्स (कमोडिटी) है। अतः उत्पादन के संगठन में इसके प्रभाव (मुनाफों की लूट, आर्थिक तबाही का प्रसार, अवमानवीयकरण) संचित होकर **मानसिक फान्तासी** में ढल जाते हैं। और; चेतना में भी इसके प्रभाव (आत्म-निर्वासन, आत्म-विनाश, आत्म-पराजय, पाशविकीकरण) संचित होकर **अकेलेपन** में अपने गुल खिलाते हैं। अतः मार्क्स के शब्दों में—"समाज में एक ऐसे क्षेत्र का निर्माण होना चाहिए जो **परंपरागत** प्रतिष्ठा का दावा न करके केवल **मानवीय** प्रतिष्ठा का दावा करे: ···एक ऐसा क्षेत्र जो समाज के अन्य क्षेत्रों से अपना विमोचन किये बगैर स्वयं अपना उद्धार नहीं कर सकता। अतः वह उन सभी क्षेत्रों का उद्धार किये बगैर स्वयं अपना उद्धार नहीं कर सकता। इस तरह यह मानवता की संयुज् या **'संपूर्ण हानि'** है और इसका उद्धार भी **'मानवता के संयुज् उद्धार'** द्वारा ही हो सकता है।"[2] सो, मनुष्य की **आत्म-विमुक्ति** (Self-liberation), क्रान्ति द्वारा, मानवता के **समग्र उद्धार** से गुंथी है। इस रिश्ते में इतिहास की आवश्यकता है और यह रिश्ता अनिर्वचनीय, अन्तहीन तथा अनायास के कुहासों से धुल गया है।

आधुनिक त्रासदी दैनिक त्रासदी तथा परम्परागत त्रासद रूपों का जेस्टाल्ट है। इसमें **'भय'** के संपूर्ण महाभाव अर्थात् **'क्रान्ति'** को स्वीकार किया गया है। अतः क्रान्ति में केवल भय ही नहीं, बल्कि, 'एक चमकीला निडर-सा आह्लाद' भी जुड़ा है। अतः क्रान्ति के नाटकीय एवं सामूहिक संवेग में **व्यथा** एवं **आह्लाद** का सामंजस्य है; इसका रंगमंच स्वयं इतिहास है तथा इसका अभिनेता वर्गसमाज है।

जिस तरह 'भय' का 'क्रान्ति' के महाभाव में रूपकल्प हुआ है उसी तरह 'करुणा' का **'बलिदान'** (सेक्रिफाइस) के महाभाव में कायाकल्प।

इस तरह सौंदर्यबोधशास्त्र और दैनिक-दैनंदिन जीवन, इन दोनों की संयुज् त्रासदी में क्रांति (भय) और बलिदान (करुणा) के महाकर्मी भाव केन्द्र में प्रतिष्ठित हो गये हैं। और **नव आधुनिकता-बोध** की हमारी सिद्धि यही द्वंद्वात्मक एकता है।

'बलिदान' के महाभाव के अंतर्गत त्याग, उत्सर्ग, अर्पण के साथ-साथ आत्म-नाश, आत्म-त्याग, आत्म-आग्रह भी शामिल हैं। इसके निषेधी हाशिये में ही आत्म-हत्या और अकेलापन आकर जुड़ता है। रेमंड विलियम्स **ज़िन्दगी के स्थायी या शाश्वत अंतर्विरोध** के रूप में जीवन-मरण के ध्रुवांत को निवेदित करते हैं।

बलिदान का चरमोत्कर्ष मृत्यु है; मृत्यु के बाद का उत्तर जीवन और इतिहास है। मृत्यु ज़िन्दगी के अन्तर्विरोध को निर्मल, स्वच्छ और निर्विकल्प स्पष्टता प्रदान कर देती है। क्रांति तथा क्रांतिकारी स्वभावों वाले मनुष्यों के लिये बलिदान एक **त्रासद पुनरुज्जीवन** है। परंपरागत त्रासदियों में नायक के विनाश के साथ कर्म का अंत हो जाता है। आधुनिक त्रासदी में नायक **आत्म-नाश** करता है। अतः नायक की गति से ज्यादा महत्त्वपूर्ण नायक के माध्यम से आलोड़ित गति है। बलिदान लंबी क्रांति का एक उद्धारक संदर्शन है जो इतिहास के त्रासद तथ्य के उद्धार की प्रक्रिया को एक व्यक्ति के जीवन-खंड से आगे ले जाता है। अतः बलिदान सुदीर्घ क्रांति से जुड़ा है और एक त्रासद पुनरुज्जीव है। भारत के क्रांतिकारी आंदोलन में भगतसिंह, चन्द्रशेखर आज़ाद, राजगुरु, अशफ़ाकउल्ला खाँ आदि ने जो बलिदान किये वे क्रांति की मशाल को तेज़ करने के लिए और राष्ट्र के संयुज् उद्धार के लिये थे। आधुनिक भारत में श्रीकाकुलम्, मुसहरी, डेबरा-गोपीवल्लभपुर में कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों ने बलिदानों की जो परंपरा कायम की है वह राष्ट्रीय उद्धार का संघर्ष है। उसे मायावाद से ढँकने की अनंत कोशिशें हो रही हैं। शहीद

१. चे गुएवारा : वही, पृ० ७।
२. रेमंड विलियम्स द्वारा उद्धृत, 'माडर्न ट्रेजेडी', (१९६६) पृष्ठ सं० ७५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भगतसिंह की तरह क्या हम क्रांतिकारी निर्मला पंचदी कृष्णमूर्ति नामक युवा नारी को गद्दार बता सकते हैं जो किसान-विमुक्ति की एक मुठभेड़ में अपने क्रांतिकारी पति के खेत रहने के बाद स्वयं हाथ में रायफल लेकर क्रांति द्वारा आत्म-उद्धार प्राप्त करती है और मारी जाती है ? क्या हम उन विद्रोही नक्सलपंथी किसानों और युवकों को डाकू, समाजविरोधी, हत्यारे मानेंगे जिन्हें राष्ट्रीय पुलिस पकड़ने के बाद जंगल में ले जाकर गोलियों से भून देती है। और मुठभेड़ में उनके मारे जाने की सरकारी विज्ञप्ति प्रकाशित करती है ? चाहे भगतसिंह हों या निर्मला कृष्णमूर्ति, दोनों को ही हर प्रकार की व्यवस्था हत्यारे, लुटेरे, कायर और गुमराह कहती आई है।

बलिदान अथवा सुखभोग—इन दो रूपों में जीवन की धारणा प्रस्फुटित होती है। बलिदान वह त्रासद प्रामाणिकता है जो बाहरी समाज की साक्षात् क्रूरताओं में साबित हो जाती है। अंततोगत्वा केवल बलिदान ही त्रासद पुनरुज्जीवन और आह्लादक आत्मोद्धार है। बलिदान में आत्म-नाश होने के बावजूद आत्महत्या की नपुंसकता, और मृत्यु का अस्तित्ववादी व्यर्थता-बोध नहीं है। आत्मोत्सर्ग वाला बलिदान आत्म-हत्या के विरुद्ध है। अतः जीवन की धारणा में हम बलिदान को बहिष्कृत नहीं कर सकते। व्यवस्था के सुखभोग अथवा सत्ता के आतंक में बलिदान को कायरता, गद्दारी, हत्या आदि की संज्ञा देना अहिंसावादी संतों और अध्यात्मवादी शासकों का ही कौशल है। जब केवल कर्मसिद्धांत अथवा दैवी सौभाग्य एवं सद्वंश के द्वारा ही उद्धार का विकल्पहीन सामाजिक दर्शन फैलाया जाएगा, जब नरकभोगी जीवन को भी ईश्वरअंशी रूप में स्थापित किया जाएगा, तब अनिवार्यतः बलिदान को बहिष्कृत किया जाएगा तथा क्रांति को बहशीपन और अराजकता बताया ही जाएगा। अतः बलिदान और क्रांति—एक खतरनाक जंगली और अमानवीय दशाएँ बता दी जाती हैं।

बलिदान की सार्थकता त्रासद पुनरुज्जीवन तथा आह्लादक आत्मोद्धार है। यह मानव जाति की करुणा का समन्वित महाभाव है। बलिदान का महाभाव इस पूंजीवादी समाज और एस्टैब्लिशमैंट की समग्र अस्वीकृति है। अतः यह संपूर्ण विद्रोह और निरन्तर वेदनाभोग की स्थिति है। फलतः परित्याग और आत्म-त्याग, विद्रोह और क्रांति, निराशा और आह्लाद के द्वंद्वों में से गुज़रने वाले आधुनिक मनुष्य का असली आधुनिक बोध यही है। इसके प्रतिवाद में आत्महत्या तथा मृत्यु का संत्रास भी हमारे बौद्धिक एवं सांस्कृतिक अनुभवों में रोपा जाता रहा। अतः हम इस बिंदु से जीवन के शाश्वत अन्तर्विरोध के पार्श्ववर्ती लेखक के अन्य अंतर्विरोधों को ले सकते हैं ताकि रचनाधर्म और मानवीय कर्म के परस्पर काटते साक्ष्य खुल सकें।

केवल समझने-बूझने के लिए हम दशकों के अवैज्ञानिक बँटवारे को चुन सकते हैं क्योंकि भारतीय गणतंत्र की स्थापना (१९५०) के आसपास के दसवर्षीय किशोरों में से सन् साठ तक नवलेखक; और सन् साठ के आसपास के दसवर्षीय किशोरों में से युवा लेखक हो गये हैं। इससे पहले सन् चालीस के आसपास के किशोर पचास तक आकर आधुनिक लेखक हुए थे। इसके समानांतर पाँचवें दशक में दर्द के क्षयी रोमांसवाद को और राष्ट्रीय सत्ता को क्रमशः प्रयोग और स्वतंत्रता का प्रतिपादक माना गया। छठे दशक में राज्याश्रय को लेखक की रचनात्मक स्वतंत्रता का शत्रु तथा अप्रतिबद्ध एवं उदारतावादी लेखकों को धुरीहीन घोषित किया गया। सातवें दशक में पूर्ववर्ती समकालीन या नये लेखकों में से अधिकांश सुविधाजीवी तथा वेतनभोगी तथा सेठ राज्य-आश्रित होते गए और शनैः-शनैः सुरक्षा-कवचों को पहनकर वैचारिक युद्ध करने के बजाय शक्तिशाली सरकार के प्रति तटस्थ और साहित्यिक व्यापार के प्रति सह-अस्तित्ववादी होते गये। इस दौरान देश में विदेशी इजारेदार पूंजी और भारतीय इजारेदार पूंजी का आक्रांतक विकास, एवं उसका गठबंधन बड़े ग्रामीण ज़मींदारों से हुआ। अतः लेखक, रचना और मूल्य—सभी 'जिन्स' बनकर अकेले बिके और कीमतों के उतार-चढ़ावों के साथ बिके। सो, इस दौर के नवतुष्टों और नवरुष्टों ने, नेताओं और सेठों ने, लेखकों और आचार्यों ने खुल्लमखुल्ला लूट-पाट की, क्रूरतापूर्वक खरीद-बिक्री के निकृष्ट व्यापार चलाये (विष्णुचन्द्र शर्मा) तथा असामाजिक मूल्यहीनता तथा फूहड़ता का, अमानवीय अकेलेपन तथा अजनबीपन का प्रोपेगंडा किया। अतः इस सांस्कृतिक और सामाजिक टोली में चुक जाने के बाद वाली मोहभंग की स्थिति में 'व्यर्थताबोध' फैला (सिद्धेश)। सातवें दशक में राष्ट्रोन्मादी युद्ध और दिशाहीन आर्थिक रचना से अनिश्चयता, अधोगति और गत्यवरोध की अंधी निराशा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फैली। इस चरण में जीवन और रचनात्मकता की प्रकृत्-मैत्री के पूर्णतः भंग हो जाने पर ही वैसी त्रिधर्मी निराशा फैली, आधुनिकीकरण में समसामयिक नवीनता विलुप्त हुई और सांस्कृतिक जीवन में डायोनीसियन उन्मादों का स्वेच्छाचारी अनुप्रवेश हुआ। अतः देह की राजनीति, साहित्य की बिक्री, सेक्स की तांत्रिक क्रांति की विसंगतियाँ आदि स्थाया हो गईं। अवसरवाद और सुविधाबाज़ी ही व्यावहारिक लक्ष्य बने। अतएव इस (सातवें) दशक के युवा लेखकों एवं नवल लेखन में सर्वांगीण निषेधों एवं अस्वीकृतियों के रूप में प्रतिक्रिया हुई और इस विद्रोही प्रतिक्रिया में सकारात्मकता का पहला **रौद्र बोध** भी जागा। अतः सातवें दशक के पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध में भी चेतना के स्तर बदल गये। इस ताज़े युवा एवं नवल लेखन में एक ओर 'नवलेखनवादी' आत्मघाती आक्रोश के बजाय आक्रामक आक्रोश और विद्रोही अस्वीकृति है (विमल वर्मा, शलभ श्रीराम सिंह); दूसरी ओर देश के निर्माण तथा सामाजिक सहकार से **निष्कासन-बोध** है (नंदकिशोर तिवारी); तीसरी ओर खरीद-बिक्री वाले निकृष्ट व्यापार में विकल्पहीनता एवं अपराजेय विवशता की छटपटाहट-तिलमिलाहट है (सकलदीप सिंह, गंगाप्रसाद विमल, निर्भय मल्लिक, जगदीश चतुर्वेदी); चौथी ओर शत्रु को पूरी तरह न पहचानने के कारण, आक्रोश के आंतरिकीकरण का अभाव है (सौमित्र मोहन, लीलाधर जगूड़ी, राजकमल चौधरी, अचल राजपूत, रमेश बक्षी, शरद, विश्वंभरनाथ उपाध्याय की स्थापना) और पाँचवीं ओर शोषणयंत्र को तोड़नेवालों का प्रतिबद्ध साथ है (कंचनकुमार, रमेश गौड़, धूमिल, श्री हर्ष, कुमार विकल, रणजीत, कुमारेंद्र पारसनाथ)। पक्षधर और अराजकतावादी लेखकों की इन टोलियों ने सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' और गजानन माधव मुक्तिबोध, रांगेय राघव और राजकमल चौधरी, सूर्यप्रताप सिंह तथा सतीश चौबे और केशनीप्रसाद चौरसिया के प्राणोत्सर्ग और आत्मोसर्ग को, वेदनाभोग और विद्रोह को, ईमानदारी और स्वाधीनता को, आत्मनिर्वासन और आत्मविमुक्ति को पुंजीभूत रूप में अपनी अस्मिता भी माना। यह स्वयं में एक महत्तम अंगीकार है! अगर यह अंगीकार भी दिखावा नहीं है, तो यह 'त्रासद पुनरुज्जीवन' की स्वीकृति भी है। इसलिए साफ तौर पर अब चन्द मसायल उभरते हैं: (क) देश में पूंजीवादी शोषण की लूट, कलाकृति तथा लेखक दोनों के जिन्स होकर अकेले हो जाने की प्रक्रिया की विद्रूपता-विसंगति-व्यर्थता आदि से वास्तविक आतंक और संत्रास जन्मे हैं जिनको 'नये सन्दर्भ' कह सकते हैं। इन सन्दर्भों में भारतीय तरुण बौद्धिकों में समानांतर बिखराव और परस्पर-विरोधी साक्ष्यों का 'भटकाव' अर्थात् 'विकेंद्रित विद्रोह' (धुरीहीन नहीं) की असली-नकली, सच्ची-झूठी, सही-गलत भंगिमाएँ तथा पीड़ाएँ मौजूद हैं; (ख) सामाजिक क्रूरता से उत्पन्न निष्करुण व्यक्तित्व, और जिन्स बन जाने से निकृष्ट व्यापार की सौदेबाज़ी तथा अकेलेपन का नंगा, बनैला अंधा आतंक दृष्टिहीन विद्रोह को अंधे अवसरवाद में बदल रहा है। फलस्वरूप दारुण यातना और मानसिक करुणा के बीच भी निष्करुणा, लूट-पाट तथा खरीद-बिक्री के बाज़ार में मूल्यहीनता तथा सम्बन्धहीनता का फैलाव हुआ। फलतः हमारी आधुनिक 'त्रासदी' की समस्या क्रान्ति से न जुड़कर 'संक्रान्ति' से जुड़ गई है। सातवें दशक के आखिरी सालों के बाद से तो सामाजिक अन्यायों की क्रूरता तथा आर्थिक जीवन में लूट-खसोट एक अनचाहे आतंक के अनुभव के बजाय 'जीवित संस्कार' ही बन गये हैं। अतः इस बदली हुई मानसिक दुनिया के केन्द्र में चुभा हुआ युवा बौद्धिक अब कामू या काफ्का को नहीं देखता, बल्कि किसी साहित्य अकादमी के तपःपुंगव और और महान सौदागर लेखक अथवा बेरोज़गार विद्रोही, डटीले रमेश गौड़ को देखता है। अतः तत्काल के इस अनिश्चयता-परक वातावरण में इतिहास एक प्रेतस्वप्न तथा **मर्यादा** एक पालतू कुत्ते का पट्टा लगती है। अतः सुसंस्कृत, सुकोमलकांत, शालीन एवं शास्त्रीय भाषा से भी विद्रोह करके ये लेखक अक्खड़-अखबारी-आक्रामक-असंस्कारी भाषा की वह एस्थेटिक्स बूझ रहे हैं जो नाराज़गी और गाली की, ऊब और चीख की, बेहूदगी और बकवास की भी अभिव्यक्ति कर सके। और अभी-अभी ये नये-नवेले व्यावसायिक पत्रिकाओं से अलग होकर मुख्यतः छोटी पत्रिकाओं के मंच से सही लेखन और सच्चे लेखकों की तलाश कर रहे हैं। इतनी बड़ी व्यवस्था से टकराने के लिये विकेंद्रित विद्रोह, अंधा अवसरवाद तथा नकली अस्वीकृति से ओतप्रोत अधिकांश पत्रिकाएँ क्या करेंगी? कमलेश्वर इन्हें व्यक्तित्वहीन पत्रिकाएँ कहते हैं और बताते हैं कि इनका लगभग एक स्वर है व्यर्थता का। इन पत्रिकाओं में अंधी अवसरवादिता का सुविधावादी ढोंग है जो **समय की अनिवार्य आवश्यकता** का अंग नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समय की अनिवार्य आवश्यकता है संत्रास और यंत्रणा के कारणों की पहचान ![1] इस तरह सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना में बड़ी जल्दी-जल्दी बड़े बारीक और बेहद विविध परिवर्तन हो रहे हैं जिनमें तात्कालिकता की स्फूर्ति के गुण तथा अनिष्ट, दोनों का सामंजस्य है। ये परिवर्तन अब खुलकर और नंगे होकर हो रहे हैं। ये परिवर्तन मनुष्य तथा लेखक के कई गौण तथा अज्ञात अंतर्विरोधों को उद्घाटित कर रहे हैं। अतः उनके लिए 'तनाव', 'घुनावट', 'खिंचाव' के बजाय 'आक्रामकता', 'विवशता', 'जीवित संस्कार', 'नंगा साक्षात्कार' जैसे लट्ठधारी पारिभाषिक आइटे हैं! हम उनका स्वागत करते हैं!

तथापि मनुष्य का प्रथमूल अंतर्विरोध तो कर्म से कटाव और अंतर्मुखी अकेलेपन के आतंक के बीच है। इसी तरह रचना-संसार का प्रमुख अंतर्विरोध व्यापार (बाज़ार) और कला (सांस्कृतिक मूल्य) के बीच है। ये दो केन्द्रीय अंतर्विरोध हैं जो हमारी संस्कृति, समाज तथा लेखकों के मुखौटे, नकाब, भंगिमाएँ आदि उघाड़ रहे हैं। फलस्वरूप हम एक भयानक यथार्थ और निर्भय सत्य के आमने-सामने आते जा रहे हैं जिससे हमारी 'त्रासदी'[1] संक्रांति को धकेलती हुई क्रांति की ओर बढ़ रही है।

हमारी त्रासदी में बाज़ार और कलाकृति के बीच का अन्तर्विरोध ज्यादा खुला है। अन्तर्विरोध का द्वन्द्वात्मक चरित्र ही यह है कि वह दोनों पक्षों की एकता एवं संघर्ष की गति से खिले-खुले। अतः बिकाऊ माल की मंडी की तरह संस्कृति भी एक बाज़ार बनी जहाँ कृतियाँ और लेखक 'अकेली जिन्स' की तरह सिज़दे कर रहे हैं। इस बाज़ार में एक ओर व्यावसायिक पत्रिकाएँ आईं जिन्होंने उन अनेक आधुनिक एवं प्रतिबद्ध लेखकों को समेट लिया जो पहले अप्रतिबद्धता को धुरीहीनता और साहूकारों के आश्रय को परतंत्रता बताते थे। फिर एस्टेब्लिशमेंट ने अपनी न्यूनतम शर्तों पर आचार्यों और रचनाकारों को खोंसकर सम्मानित किया। फिर सरकार ने भी खरीद-बिक्री के कई तिलिस्मी दरवाज़े खोले। अतः मूलक्रिया ऐसी घटी कि क्लासिकल बौद्धिकों की तरह आधुनिक एवं नये लेखक भी दुमछल्ले संस्थान-स्थापक हो गए। किन्तु अपने पुराने स्वतंत्रोपासक, आधुनिक और प्रतिरोधी बिंब की छाया को कायम रखने के लिए ये एक ओर फार्मूलेबाज़ लेखन के अन्तर्गत देह की राजनीति को अपनाते गए तो दूसरी ओर सेठ-सरकार-आचार्य का विरोध-विद्रोह न करके तटस्थता एवं उदारतावादी अवसरवाद के शिकारी-खिलाड़ी होते गए। अतः वे सुविधाजीवी और वेतनभोगी लेखक और मनीषी बन गए। उन्होंने व्यापार की कई ट्रिकें और तुर्पचालें सिद्धहस्त कीं। अनुवादक, टेक्स्टबुक लेखक, शिक्षाबोर्ड में पुस्तकें स्वीकृत कराने वाले दलाल, दूतावासों से काम दिलाने वाले परोपकारी लेखक आदि बनकर उन्होंने ऐश्वर्यपूर्ण सुविधाओं तथा प्रेतलेखकों को साथ-साथ अवतरित किया। इसके लिए उन्होंने कई सुरक्षा-कवच पहने जो उन्हें सफल व्यापारी और कीमती नेता बना दें; उन्होंने अपने दंभाडंबरों को सतर्कता से ढँका। इस तरह उन्होंने **दोहरे एवं दोगले व्यक्तित्व** का विन्यास कराया।

अनेक होनहार, बेकार प्रतिभाशाली लेखक भी इस जाल में कुदरतन फँसे और उन्हें भी अवसरवादी तथा अभिनयवादी बनना पड़ा। अनेक घाघ सप्तमहारथियों ने इन अल्हड़ अभिमन्युओं को भी **मुखौटे** और **नकाब** के लेखक-कर्म सिखा दिए। निष्कासित और निर्वासित ताज़े नये लेखकों ने पर्दे की आड़ में सिफारिश-चुगली-चापलूसी-रिश्वत-तिकड़म का पचनोली चक्रव्यूह समझ लिया। अतः इनमें भी बहुत-से नक्काल, बहुत-से मीडियाकर और बहुत-से नकाबपोश आकर शामिल हो गए। अगर वे दोहरे हाथ मारने वाले फार्मूलेबाज़ कलाकार थे तो ये नवरुष्ट चुटकुलेबाज़ भी हुए। तो, इनके विद्रोह की दिशाहीनता और विकेन्द्रीयता की निचली परिणति यह चुटकुलेबाज़ी हुई। इसकी पूरक होकर 'न'-कार की कई अभिनय-मुद्राएँ और भंगिमाएँ भी निरूपित हुईं। विकेंद्रित-दृष्टिविहीन विद्रोह के उद्घोषक सुरेन्द्र चोपड़ा, रमेश बक्षी, निर्भय मल्लिक, और सिदवादी मुद्राराक्षस बने। इस जटिलता के समानान्तर अर्थात् सुविधाजीवी तथा मोटे वेतनभोगी लेखकों के मुकाबले **वेदनाभोगी** लेखकों ने मशालें जलाईं। विष्णुचन्द्र शर्मा, धर्मेन्द्र गुप्त, शैलेश मटियानी, ब्रजकुमार पांडेय, अचल राजपूत, रमेश गौड़, कंचनकुमार, रामेश्वरदत्त मानव, अलखनारायण, शरद आदि की यह परस्परविसंवादी मंडली हमारे नयेपन की शानदार उपलब्धि है। इनके प्रमुख लेखन की तुलना में विकेन्द्रित विद्रोह की

१. दे० 'छोटी पत्रिकाएँ—बड़ी पत्रिकाएँ : कागज़ के इन घरों से निकलकर' "शताब्दी", जनवरी-मई १९६९, पृ० १६९, १७०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रिज्या वाले लेखन का निम्न बुर्जुआवादी चरित्र अर्थात् सांस्कृतिक बचकानापन उजागर हो जाता है। यह कंट्रास्ट यह भी दर्शा देता है कि अभिशप्त नियति के **मुखौटे** अन्त तक आते-आते—व्यर्थ और गलत होते-होते—अवसरवादी **नकाबों** में रूपांतरित हो गये। किन्तु यही मोहभंग, अब आकर, आंदोलनकारी सिद्ध हुआ।

नये बौद्धिक और लेखक दृष्टिहीन तथा विकेन्द्रित विद्रोह की आवश्यकता को स्वीकार करने लगे। पूर्ववर्ती अस्वीकृतियों और आत्मप्रेम से निस्संदेह यह अगला कदम है। इन्होंने विद्रोह की चेतना को एक **मंच** भी दिया। अतः इनमें अकेलेपन के नंगे और बनैले आतंक से छूटने का संकल्प सुगबुगाया। अकेलेपन का विकल्प तो **संगठन** है। और संगठन तभी संभव है जब हमारे आक्रोश-विद्रोह-आक्रामकता का लक्ष्य अर्थात् 'शत्रु' मालूम हो। जब 'रावण' का पता चल जाएगा तभी, (बकौल मुक्तिबोध के—) हमारी युवापीढ़ी 'रावण के घर पानी भरने से इन्कार' करेगी। अतः विद्रोही संगठन का स्वरूप **मंच** को '**मोर्चे**' में रूपांतरित करने से ही उभरेगा। हमने **ऐतिहासिक** बुराइयों या अनिष्टों की चर्चा की थी और उन्हें यंत्रणा एवं वेदना के भोग की आवश्यकता से जोड़ा था ताकि क्रांति (इस यंत्रणाभोग से) उद्धार कर दे। अब हम वर्तमान की **संगठित** बुराइयों या अनिष्टों के तथ्य को स्वीकार करते हैं। अतः संगठित बुराई के लिए **संगठित आंदोलन** के सिवा कोई दूसरा रास्ता नहीं है। अतः हमारे सामने असली चुनौती है सांस्कृतिक आयाम का राजनीतिककरण करने की। हमारे विद्रोही लेखन का स्वर उत्तरोत्तर राजनैतिक होता जा रहा है—अब इस सत्य को अस्वीकार करने का पाखंड नहीं चलेगा। अतः इस 'विकेन्द्रित विद्रोह' का भारतीय सांस्कृतिक जीवन के इतिहास में पहली बार ध्रुवीकरण होने वाला है। अतएव निष्कासन और निर्वासन, व्यर्थता और विवशता, विसंगति और विकल्पहीनता की अधुनातन दशाओं के बीच से तीर की तरह चीरता हुआ विकेन्द्रित विद्रोह के ध्रुवीकरण, तथा सांस्कृतिक आयाम के राजनीतिककरण का समारंभ हो रहा है। 'आटोमेटिक तथा अन्धे होनेवाले इस साहित्यिक विद्रोह' की नियतियात्रा सांस्कृतिक क्रांति है बशर्ते फूहड़ता की महामाया छँटती रहे।

पूर्ववर्ती आधुनिक तथा नये लेखकों (की पीढ़ी) के बारे में कहा जाता है कि सुविधा और सुरक्षा, स्नावरी और सौदागरी ने उनके शरीर तथा व्यक्तित्व दोनों को दोहरा बना दिया था। आज नवल और युवा लेखकों को भी बेकारी और लाचारी का शिकार होकर अवसरवादी तथा अभिनयवादी चरित्र संस्कारित करना पड़ गया है। वे व्यापार करने के लिए सुरक्षा-कवच लगाते थे तो हम उसे अभिनय करने के लिए लगाते हैं। युद्ध के लिए दोनों ने इसका इस्तेमाल नहीं किया। अतः 'मंच' मोर्चा नहीं बना। अतः प्रतिरोध में आने के लिए नेतिकरणों की कतार लगाई गई (अस्वीकृति, अनास्था, अनागरिक, अकथ, अकच, असंतुष्ट आदि); फिर आत्महत्या, आत्मप्रेम, व्यर्थता, मृत्युबोध या सेक्स-क्रांति की कोई भी सुविधाजनक बेईमान पोशाक पहनी गई; फिर भाषा की लड़ाई में अघोरफंटई की गई और फिर विद्रोह को राजनीति से, सामाजिक क्रांति से, जोड़ने में हिजड़ापन दिखाया गया। इस तरह पुनः विकेन्द्रित विद्रोह भी परोक्ष ढंग से पूंजीवादी ढाँचे की सुरक्षा का कलात्मक विनोद बनकर चुक सकने के खतरे का सामना कर रहा है। जीवन को रचनात्मक बनाना, सच्चा बनाना, सही बनाना और सुखी बनाना ही 'सांस्कृतिकीकरण' है। यही कला का धर्म है। यही लेखन-कर्म है। यही राजनीति-धर्म है। अतः **सांस्कृतिकीकरण** और **राजनैतिकीकरण** की सहवर्ती प्रक्रिया ही **'नवयुवाधुनिक' लेखन** का रचना-धर्म है। अतः हमारी सामाजिक-सांस्कृतिक त्रासदी क्रांति से सम्बद्ध होने को आतुर है। अगर शोषणयंत्र के नौकरशाहों और आततायी श्रीमंतों की स्थापना यही है कि विद्रोह करना लेखकों और जनता का काम नहीं, बल्कि कम्युनिस्टों का काम है; अगर सामाजिक परिवर्तन और गरीबों के उद्धार की बातें करना बागियों और डाकुओं का काम है; अगर सांस्कृतिक क्रांति और कृषक-क्रांति को आंदोलित करना केवल नक्सलवादियों का राष्ट्रद्रोह है; अगर समाजवाद का आह्वान करना अपराधी प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी की कम्युनिस्ट-तानाशाही वाली चाल है, तो नवल और युवा लेखक को अपने 'विद्रोह' को भी सभ्य, सुविधाजीवी और सुरक्षापूर्ण पोशाक पहनानी होगी। पूर्ववर्ती महान् बुजुर्गों और आत्मनिर्वासित प्राज्ञ आधुनिकों के मुखौटे इसी गुस्ताख मंडली ने नोंच फेंके हैं। अब तो इसके भी अभिशप्त नियति के झूठे **मुखौटों** तथा चुटकुलेबाज अवसरवादी **नकाबों** को खींचकर उछाल फेंकने के लिए इनके बीच से ही नये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बौद्धिक और लेखक तैयार होंगे।[1] हुजूर, इसे हम आंतरिक अंतर्विरोध कहते हैं! केवल व्यवहार और अभ्यास की कसौटी ही दृष्टिहीन विद्रोह और ढुलमुल अवसरवाद को समाप्त करके सही विद्रोह और सही दिशा दे सकती है।

सामाजिक चेतना का परिवर्तन और सांस्कृतिक चेतना का नवोन्मेष हमेशा नये अनुभवों से होकर गुज़रने में होता है। नये अनुभवों का अवसर ज्यादातर सामाजिक एवं राजनैतिक आंदोलन प्रदान करते हैं। परिवेश की आम जागरूकता का सृजन पर ज़बर्दस्त प्रभाव पड़ता है। मिसाल के तौर पर बँगला और हिन्दी के 'आधुनिक' नाटककार मोशाय उत्पलदत्त और होनहार मोहन राकेश को ले सकते हैं। उत्पलदत्त में सांस्कृतिकीकरण और राजनैतिकीकरण का सहवर्तन है, जबकि मोहन राकेश में उनके बीच खाई है। उत्पलदत्त के 'कल्लोल' और राकेश के 'आधे-अधूरे' की तुलना राजनैतिकीकरण के अधूरेपन को खोल देती है। इसी तरह पहाड़ी संथालों पर लिखे गए उत्पलदत्त के 'तीर' नाटक और पहाड़ी अंचल में निवेशित मोहन राकेश के 'आषाढ़ का एक दिन' शीर्षक नाटक में सांस्कृतिकीकरण के आयामों में ज़मीन-आसमान की दूरी दृष्टिगोचर हो जाती है। उत्पलदत्त का 'तीर' सांस्कृतिक दर्पण में क्रांतिकारी पुनरुज्जीवन को उभारता है। मोहन राकेश का 'आषाढ़ का एक दिन' ग्राम-कवि कालिदास, काश्मीर-प्रशासक कालिदास और अजनबी-अकेले-आधुनिक कलाकार कालिदास को उभारता है। राज्य-सत्ता के सम्मान और प्रभुता के बीच भी कालिदास का आत्मविघटन होता गया और उसके कलाकार की रचनात्मक स्वाधीनता समाप्त हो गई। अतः वह आत्म-मुक्ति के लिए प्रयत्न करता है। इस नाटक में मोहन राकेश के दशक में उभरती हुई इतिहास की विडंबना एवं 'आधुनिक' कलाकार-मनुष्य के अपरिचय-अजनबीपन-अकेलेपन की वेदना-पीड़ा के आयामों का उद्घाटित किया गया है। किन्तु यहाँ भी सुविधाजीवी और अवसरवादी कालिदास के रूप में तत्कालीन लेखकों की समझौतावादी उज्जयिनी झिलमिलाती है। 'बलिदान' और 'संत्रास' की आधुनिक नाटकीय अनुभूति की तीव्र छटपटाहट तो जयशंकर प्रसाद में देखने को मिलती है जब वे अपने सुखान्तिकी-नाटकों—'स्कंदगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी'—में प्राणोत्सर्ग की दुःखवादी करुणा और अत्याचारों-नृशंसताओं के आतंक को क्रमशः बौद्ध-दर्शन और ऐतिहासिक नियति के साँचों में ढालने की कोशिश तो करते हैं किन्तु करुणा की वरुणा-धारा उनके आनंदवादी जीवन-दर्शन को बहाती जाती है। 'आत्मजयी' (कुँवरनारायण) और 'एक कठ विषपायी' (दुष्यंतकुमार) में 'त्रासद जग-रूकता' तेजोद्दीप हो उठी है। 'अंधा युग' में त्रासद फूहड़ता उद्घाटित होती है और यह निर्भय सत्य की वास्तविकता को झेलता है। अतः आधुनिक लेखन की एकबारगी सामूहिक ट्रायल करके उसे अराजकतावादी अग्निकांड को सुपुर्द कर देना अंधे विद्रोह की आत्महत्या होगी। हमें तो उनके अंत-र्विरोधों को निर्ममता से नंगा करना ही होगा। हमवतन, बस आखिरी खुली बेलौस चुनौती शेष रह जाती है!

अब तक 'नवलेखन', 'नवल लेखक', 'युवा लेखक', 'युवा आन्दोलन', 'युवा पीढ़ी', 'युवा चिंतन', 'छात्र पीढ़ी' आदि की सत्ता तो कुबूल कर ली गई है। किन्तु 'नया मनुष्य' कैसा है? कोन है? कहाँ है?—इस समस्या को क्यों छोड़ा गया? नये इंसान के बिना नवलेखन और युवा चिंतन कैसे होगा? छोटी पत्रिकाएँ तो नये इंसान नहीं बनाएँगी!

१. इस प्रसंग में विष्णुचन्द्र शर्मा के 'समाज कुछ वस्तुओं के बदले कुछ वस्तुओं को खरीदने का बाज़ार है—और खरीद-बिक्री निकृष्टतम कार्य है' शीर्षक लेख की ये जरूरी पंक्तियाँ पठ-नीय हैं: "सुविधा लेखक के अन्तर्विरोधों को नंगा कर देती है। हिन्दी के ये जंगलगे व्यक्तित्व अपने अन्तर्विरोधों में आज नंगे हो चुके हैं।...हिन्दी में ज्यादातर व्यक्ति कवच लगाकर विरोध में खड़े होते हैं और कवच-सुरक्षा की पहली पंक्ति में ही व्यापार का रूप ले लेता है। वह युद्ध का कवच न होकर व्यापार का दाँव बन जाता है। यानी, चित भी मेरी, पट भी मेरी।...पंक्ति एक ही है—अज्ञेय से होती हुई नामवरसिंह तक। यह दोहरे व्यक्तित्व की पंक्ति है।...सौदे की दौड़ में देह की राजनीति करने वालों की पंक्ति है, यानी खुद सौदागरों की पंक्ति है।...मन का टूटा हुआ आदमी हर किसी के पास जाता है। खिसियाकर जाता है, दब्बू बनकर जाता है, रिरियाता हुआ जाता है। और यही हिन्दी के अद्वितीय व्यक्तियों की नियति है। वे एक अद्वितीय पंक्ति हैं रिरियाती हुई।...हमारा विरोधी मानसिक संस्कारों का बनिया है और वही आर्थिक क्षेत्र का सुविधाजीवी साम्राज्य-वादी है। किसी भी स्तर पर मानसिक संस्कारों के बनियों से हम दबाव और तनाव झेलकर जी रहे हैं। यह विश्वास मन में है कि उसे एक दिन वियतनाम-युद्ध में ही नहीं, अपने देश में चल रहे आंतरिक युद्ध में भी घुटने टेकने पड़ेंगे।"—'नीलपत्र'—२, संपादक—के० विक्रम, पृ० १५-१८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनमें प्रकाशित पर्याप्त 'नवलेखन' भी तो मुखौटों-नकाबों-भंगिमाओं वाला है ! नये मनुष्य के बिना नवलतर या युवा लेखक कैसा ? नवलेखन और युवाचिंतन कैसा ? यद्यपि यह एक अलग दार्शनिक-सांस्कृतिक-राजनैतिक महाप्रश्न है; किन्तु यह दैनिक समस्या भी है।

ज़ाहिर है कि हमारा नया इंसान कल्कि-अवतार नहीं होगा। वह अर्द्धदैवी मानव, अतिमानव या लघु मानव भी नहीं होगा। वह हम-जैसा ही साधारण किन्तु विशिष्ट होगा। उसके आविर्भाव की प्रक्रिया दैनिक जीवन की त्रासदियों के अनुभव से उपजी त्रासद जागरूकता होगी; अकेलेपन के संत्रास और आतंक के भोग उपजा उसके कारण की पहचान होगी; अभ्यास और व्यवहार के बीच फूटा सही-गलत का विवेक होगा; सामाजिक व्यवस्था के अंतर्विरोधों से विस्फोटित क्रान्ति की आवश्यकता और दिशा की संभावनाओं का प्रयोग होगा। परिवर्तन की आवश्यकता का तीव्र अनुभव करने वाले और वर्तमान की यथास्थिति को अस्वीकार करने वाले इंसानों तथा बौद्धिकों में ही—यह बोध तथा कर्म जागेगा कि पूंजीवादी शोषणतंत्र और व्यक्तिवादी आत्मनिर्वासन को चकनाचूर किये बिना कुछ भी नया नहीं उपजेगा। अतः नया इंसान उन्हीं के बीच से, और उन्हीं में, प्रादुर्भूत होगा जो अपनी त्रासदी को भोग रहे हैं, त्रासद भोग को चेतना में रूपांतरित कर रहे हैं और नई चेतना को सामाजिक सहभाग की शक्ति के माध्यम से क्रांतिकारी चेतना में बदल रहे हैं। अतः क्रांतिकारी चेतना आत्मनिर्वासित मनुष्य को जागरूक बनायेगी। वह यांत्रिक पूंजीवादी व्यवस्था की गुलामी से विद्रोह करेगा। विद्रोह ही क्रमशः मंच, मोर्चा, संगठन, आन्दोलन की सीढ़ियाँ चढ़ता हुआ क्रांति बनेगा। क्रांतिकारी इंसान ही नया इंसान होगा। आधुनिक व्यवस्था एक विश्व-व्यवस्था का अंग है। क्रांतिकारी इंसानों के नमूने के रूप में चेगुएवारा, होचीमिन्ह, सार्त्र, रसेल, अजितानारायणन्, निर्मला कृष्णामूर्ति, कानूसेन्याल हमारे सामने हैं। अतः नये इंसान सचेतन होकर स्वयं इतिहास का निर्माण करेंगे और तभी हमारा समग्र उद्धार होगा—क्रान्ति द्वारा ! एक नये इंसान के नमूने के आते ही पूरी व्यवस्था में उथल-पुथल मच जाती है। आत्मत्यागी गांधी भी अपने समय का नमूना था। आज हमारी व्यवस्था में लोहिया, मार्क्स, चे, नक्सलपंथी के नमूने हैं। इनके अनुप्रवेश से हमारी त्रासदी के हाशियों के 'सन्दर्भ' भी नये हो गये हैं। इनके प्रभाव से बूढ़े और किशोर बौद्धिक या लेखक या इन्सान आत्म-विमुक्त होकर नवल और युवा हुए हैं : पुनरुज्जीवित और पुनर्नवा ! !

अभी तक हमने अपने सामाजिक यथार्थ में उस नये मनुष्य की रेखाकृति खींच ली है। वह नया इंसान पहले-पहल तो सुविधाजीवी और लम्बोदर वेतनभोगी नहीं होगा; अर्थात् वह परिश्रमी होगा। वह अवसरवादी नहीं होगा अर्थात् पक्ष-धर और सुदृढ़ होगा। वह सुरक्षा के ढोंगी कवचों में व्यापार नहीं करेगा अर्थात् वह त्यागी और जोखिम झेलने वाला होगा। वह वेदना तथा यन्त्रणा को ईमानदारी तथा निर्भीकता से व्यक्त करेगा अर्थात् वह विद्रोही एवं आक्रामक होगा। वह पूंजीवादी शोषणतन्त्र को तहस-नहस करने का आह्वान करेगा अर्थात् वह वर्गविहीन समाज में स्वतन्त्रता की आकांक्षा रखता होगा। वह मोहभंग, व्यर्थता, विसंगति, विद्रूपता, विकल्प-हीनता की यन्त्रणा के भटकाव का अनुभव कर चुका है अर्थात् वह सृजनात्मकता और मानवीय सार्थकता चाहेगा। वह सत्ता और व्यवस्था से अभिशप्त है अर्थात् वह स्वतन्त्र नहीं है और स्वतन्त्रता का कामी है। इस बिन्दु तक वह आक्रामक विद्रोह को स्वीकार कर चुका है तथा पूंजीवादी व्यवस्था की यांत्रिकता और शोषण-उत्पीड़न में स्वयं को गुलाम पा रहा है। उसकी इस गुलामी में अवमानवीयकरण, पाशविकीकरण, असामाजिकीकरण और निष्कासन-निर्वासन भी हैं, अर्थात् इस बिन्दु पर वह एक अकेला विद्रोही है और ऐकल-गुलाम आदमी ! यहाँ तक यथार्थता की क्रूर-करुण स्थिति है।

इस भारतीय इंसान की गुलामी में पूंजीवादी व्यवस्था, श्रीमंतों-पूंजीपतियों-सामंतों की सत्ता, समाज में खरीद-बिक्री की निकृष्टतम अमानवीय संबंधता तथा संगठित बुराइयों की रूढ़िता का योग है। ये सभी संगठित हैं। अतः इनका मुकाबला भी संगठन से ही हो सकता है। अतः व्यक्तिवादियों के उस मिथक का हम बहिष्कार करते हैं जो प्रत्येक संगठन को व्यक्ति का शत्रु घोषित करता है। यह रोमांटिक अराजकतावाद है जो पूंजीवादी व्यवस्था या किसी भी व्यवस्था को अस्वीकार करता है, जो मनुष्य को असंगठित करके अर्थात् अकेला छोड़कर एक नंगे, बनैले आतंक द्वारा उसका वध करता है। यह अराजकतावाद ही संत्रास और शोषण के कारणों की पहचान से इन्कार करता है और विद्रोह को विकेन्द्रित बनाकर अन्धा विद्रोह तथा प्रतिबद्धता को नकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर अंधी अवसरवादिता के नकली मुखौटे और झूठ नकाब ओढ़ाता है। यही रोमांटिक अराजकतावाद नवल और युवा लेखन पर हावी होकर विकेंद्रित विद्रोह का न तो ध्रुवीकरण होने दे रहा है और न ही उसको क्रांतिकारी राजनैतिक आदोलनों से संबद्ध कर रहा है। अतः इस विकेंद्रित विद्रोह के ध्रुवीकरण के दौर में ही हम क्रांति से प्रतिबद्ध होकर संगठित हो सकते हैं। अतः हमें संगठित क्रांति की ओर अग्रसर होना है। जीवन के सांस्कृतिकीकरण और संस्कृति के राजनैतिकीकरण के माध्यम से !

दूसरा आगामी बिंदु कर्म का है। एक मनुष्य का लेखक-कर्म उसका सम्पूर्ण कर्म नहीं है। उसके बहुविध जीविका-कर्म हैं, नाना सामाजिक कर्म हैं; विविध वैयक्तिक कर्म हैं। उनमें ही उसका लेखक-कर्म शामिल है, जो स्वयं में विशिष्ट अधूरा और एकांगी है। अतः अन्य सहकारी कर्म उसके लेखन-कर्म को व्यापक तथा विश्वसनीय बनाते हैं। ये विविध कर्म ही उसे अनेक सांस्कृतिक विकल्प देते हैं, विसंगति के कारण स्पष्ट करते हैं तथा सौंदर्यमुखी रचना के कानेपन और गूंगेपन की पूर्ति करते हैं। ये कर्म ही उसके असमर्थ आक्रोश को सार्थक संस्कार देते हैं। ये बहुविध कर्म ही उसके संदेहवाद को समाप्त करके उसे उन वर्गों से जोड़ते हैं जो उसकी तरह इस व्यवस्था को तोड़ने का वर्ग-संघर्ष कर रहे हैं। अतः वह जब तक इतनी स्थायी यंत्रणा नहीं संचित कर लेता कि उद्धार-विवशता हो जाए तब तक वह व्यर्थताबोधक आक्रोश में अकेले आतंकित होता रहेगा और जनता-संगठनों के साथ आंदोलन में शरीक नहीं हो सकेगा। अतः हमें आन्दोलन को स्वीकार करना है। संपूर्ण उद्धार के नये विकल्पों में से एक को चुनने की अनिवार्यता हमारे समय की आवश्यकता है। हमारे देश में किसान-विद्रोह के आंदोलन हैं, स्वतन्त्र व्यापार के आंदोलन हैं, हिंदू राष्ट्रवाद के आंदोलन हैं, समाजवादी उद्धार के आंदोलन हैं, इत्यादि। हमें इनमें से किसी एक से कटिबद्ध होकर जुड़ना है ताकि हमारी त्रासदी की दिशा क्रांति की ओर उन्मुख हो, ताकि हमें वेदनाभोग की यंत्रणा के साथ-साथ अपने निजी त्याग एवं उत्सर्ग का, दृढ़ता और ईमानदारी का, आक्रामक साहस और सांस्कृतिक मौलिकता का आह्लाद भी तो मिले ! अतः एक लम्बी क्रान्ति के लिए जब नवयुवा लेखक कटिबद्ध एवं प्रतिबद्ध एवं संगठित होकर अपने लेखनकर्म को सम्पूर्ण सामाजिक-सांस्कृतिक कर्म से संयुक्त कर देंगे तभी 'नया इंसान' आविर्भूत होगा और नया लेखन-युगार्चितन सही और सच्चा, सार्थक और मौलिक, रचनात्मक और परिवर्तनकारी होगा।

इस तरह हमारी आधुनिक त्रासदी दैनिक त्रासदियों तथा ऐतिहासिक त्रासद रूपों का मेल है जिसमें क्रान्ति ने भय को, तथा बलिदान ने करुणा को महाभाव में रूपांतरित कर दिया है और जिसमें क्रान्ति के द्वारा ही सम्पूर्ण उद्धार का असली विकल्प है, और जिसका नेता एक मामूली, ईमानदार, प्रतिबद्ध, निर्भीक 'नया मनुष्य' है। यह मनुष्य भरत के 'चतुर्वीर नेता' या अरस्तू के 'त्रासद कुलीन' से बिल्कुल भिन्न है। यह 'क्रान्तिकारी' मनुष्य है !

अतः हमारी वैशम्पायन गाथा है : आधुनिक त्रासदी को बलिदान (करुणा) और क्रान्ति (भय एवं आह्लाद) से पुनरुज्जीवित होने दो ! !

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एब्सर्डिटी : संप्रत्ययात्मक विश्लेषण

देवकीनन्दन द्विवेदी

अबौद्धिक चिंतन अतिबौद्धिकता की स्वाभाविक परिणति है। और सार्वभौमिक, शाश्वत, निरपेक्ष एवं निर्वैयक्तिक मूल्यों की उद्भावना मूल्यहीनता की पूर्व भूमिका मात्र है। दोनों का सम्बन्ध हेगेल के वाद और विवाद की तरह है। मेरा उद्देश्य न तो इनमें से किसी का समर्थन करना है, न इनका संवाद प्रस्तुत करना। ये तीनों विकल्प समान रूप से दोषपूर्ण हैं। इनके पीछे यह मान्यता काम करती है कि मूल्य या तो शाश्वत और निरपेक्ष हैं या हैं ही नहीं, ज्ञान या तो सम्यक् है या है ही नहीं, या तो सब-कुछ निश्चित है या सब-कुछ अनिश्चित है, या तो सब-कुछ प्रामाणिक और तर्कसंगत है या कुछ भी प्रामाणिक नहीं। ऐसे सभी सिद्धान्त 'ज्ञान', 'प्रामाणिकता', 'मूल्य', 'औचित्य' और उनसे सम्बन्धित अन्य शब्दों के वास्तविक प्रयोगों को न समझने के कारण हैं। एब्सर्डिटी के समर्थक और विरोधी दोनों की भूलें एक-सी हैं।

एब्सर्डिटी का सबसे बड़ा प्रमाण मृत्यु को माना गया है। जहाँ सब-कुछ अनिश्चित है, एक अपवाद है, और वह है मृत्यु। मृत्यु सभी व्याख्याओं, तर्कों और मूल्यों की इति है। न उससे बचा जा सकता है, न उसे झुठलाया जा सकता है, न उसका अतिक्रमण ही संभव है। मृत्यु ही वह ध्रुव सत्य है जो सभी सत्यों का नकार है। जगत् और जीवन तथा उनके तथ्य और मूल्य स्वयं अपने निषेध हैं। इस निषेध का प्रथम अनुभव मृत्यु-बोध है। यह तथ्य कि मेरी मृत्यु निश्चित है, सभी अनुभवों को अर्थहीन बना देता है। कोई भी नैतिक मूल्य, कोई भी प्रयास मृत्यु के सम्मुख उचित नहीं माना जा सकता। स्वर्ग, ईश्वर एवं अमरत्व मृत्यु-बोध के त्रास से बचने के काल्पनिक विकल्प मात्र हैं। जीवन सारहीन और निरर्थक है। इस जगत् में अथवा इसके बाहर भी इसे अर्थ देने की कोई सम्भावना नहीं। मृत्यु अनिवार्य एवं अन्तिम सत्य है।

एब्सर्डिटी का एक और प्रमाण वस्तुओं की रहस्यमयता और अज्ञेयता है। मनुष्य सभी वस्तुओं की व्याख्या करना चाहता है। वह सब-कुछ जानना चाहता है। किन्तु यह इच्छा कभी संतुष्ट नहीं होती। विज्ञान भी केवल तथ्यों को हमारे समक्ष रख देता है, उनकी व्याख्या नहीं करता। हम वस्तुओं को पूर्णतया जानना चाहते हैं किन्तु वे सदैव हमारी पकड़ से निकल जाती हैं। हम स्पष्टता चाहते हैं किन्तु वे मूलतः अस्पष्ट हैं। हमारी जानने की इच्छा और जगत् की अबौद्धिकता में अनिवार्य द्वन्द्व है। यह द्वन्द्व ही एब्सर्ड है। संक्षेप में, न हम किसी वस्तु को पूर्णतया जान सकते हैं, न किसी घटना की व्याख्या कर सकते हैं, न किसी मूल्य का औचित्य सिद्ध कर सकते हैं। सभी वस्तुएँ, सभी अनुभव विरोधग्रस्त हैं। किसी को भी प्रमाणित करना संभव नहीं। इस दिशा में किये गये सारे मानव-प्रयास निरर्थक हैं। कोई भी क्रिया सार्थक नहीं।

एब्सर्डिटी की इस एब्सर्ड धारणा ने हमारे समय को बहुत अधिक प्रभावित किया है। फ्रेंच दर्शन और साहित्य, (जिनमें इस धारणा का जन्म हुआ) ने दूसरे देशों के विचारकों को भी प्रभावित किया। युद्ध, औद्योगीकरण, बेकारी एवं आर्थिक परिवर्तनों ने इस धारणा के विकास में विशेष सहयोग दिया। किन्तु यह धारणा ज्ञान, मूल्य एवं औचित्य के स्वरूप को न समझने के कारण है। मैं यह नहीं कहना चाहता, जैसा इस विचार के विरोध में प्रायः कहा जाता है, कि जगत् में तार्किक एवं नैतिक व्यवस्था है, अथवा सभी घटनाएँ तर्कसंगत, उचित एवं सार्थक हैं। मेरा उद्देश्य केवल 'ज्ञान', 'मूल्य' एवं 'औचित्य' के प्रयोग पर प्रकाश डालना है। कई महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों ने इन शब्दों से सम्बन्धित संप्रत्ययों का दुरुपयोग किया है। इस संप्रत्ययों का स्वरूप समझने के लिए आवश्यक है कि उनको व्यक्त करने वाले शब्दों और वाक्यों की तार्किक शक्ति का वर्णनात्मक विश्लेषण किया जाए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एब्सर्डिटी के समर्थक भी एक सिद्धान्त लेकर चलते हैं, और उनका सिद्धान्त भाषा एवं तर्क का वैसे ही दुरुपयोग करता है जैसे उनके विरोधियों का।

पहले वस्तुओं के स्वरूप और तत्सम्बन्धी ज्ञान को लें। यहाँ प्रायः कई प्रश्नों को मिला दिया जाता है। यह बात सही है कि जगत् की सृष्टि एवं रचना सम्बन्धी सभी धार्मिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक सिद्धान्त सन्तोषजनक रूप से सिद्ध नहीं किये जा सके। ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं जो सभी तथ्यों की, बिना तोड़-मरोड़ के, व्याख्या कर सके। हम सभी तथ्यों को जान गये हों, ऐसा भी नहीं। किन्तु किसी वस्तु अथवा तथ्य को न जानना एक बात है, उसको अज्ञेय मानना इससे एकदम भिन्न है। मान लीजिए 'क' ज्ञेय वस्तु है। मैं 'क' को नहीं जानता, किन्तु दूसरे इसे जानते हैं। तब मेरे भी जानने की संभावना है। अथवा दूसरे भी नहीं जानते। फिर भी उसके जानने का अर्थ, प्रक्रिया और साधन, कम-से-कम सैद्धान्तिक रूप में, ज्ञात हैं। इतना भी न होने पर जानने की सम्भावना रह सकती है। यह स्थिति, ऊपर दिये हुए किसी भी अर्थ में, एक कमी की द्योतक है किन्तु नैराश्य की नहीं। यदि मैं 'क' को नहीं जानता तो उसके लिए प्रयास करता हूँ। यदि वह मेरा विषय नहीं है तो दूसरे ऐसा कर सकते हैं। यदि उसका सम्बन्ध किसी ज्ञात विषय से नहीं तो उस दिशा में नये प्रयास किये जा सकते हैं। यदि अभी नहीं तो भावी पीढ़ियाँ इस काम को अपना सकती हैं। इस प्रकार 'क' के ज्ञान की सम्भावना बनी रहती है। इस तरह ज्ञान का क्या अर्थ है यह प्रसंग-विशेष पर निर्भर करता है। सभी प्रसंगों में ज्ञान का एक ही अर्थ नहीं है। अतः ज्ञान की परिभाषा किसी विशेष प्रयोजन के लिए ही दी जा सकती है। ऐसी परिभाषा सम्भव ही नहीं जो सभी अर्थों को व्यक्त करती हो। सन्दर्भों से ही यह भी ज्ञात होता है कि किस रूप में कोई वस्तु ज्ञात है, अथवा उसको जानने का क्या अर्थ होगा। उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति को जानना, किसी स्थान को जानना, किसी वस्तु को जानना, किसी घटना को जानना, किसी सूत्र को जानना, किसी विषय को जानना इत्यादि। इन सभी में जानने का न तो एक अर्थ है, न एक स्वरूप, न एक प्रमाण। मैं राम को जानता हूँ या नहीं, यह इस बात पर निर्भर करता है कि किस सन्दर्भ में यह प्रश्न पूछा जा रहा है। हर सन्दर्भ में जानने का भिन्न अर्थ है, और उसे प्रमाणित करने की पृथक् विधि। मैं गणित के किसी सूत्र को जानता हूँ या नहीं, यह इस बात पर निर्भर करता है कि मैं उसे सिद्ध कर सकता हूँ और उसके अनुसार अन्य प्रश्नों को हल कर सकता हूँ या नहीं। मैं किसी स्थान को जानता हूँ या नहीं, इसका एक सन्दर्भ में यही अर्थ हो सकता है कि मैंने उस स्थान का नाम सुना है या नहीं। एक दूसरे सन्दर्भ में उस स्थान की स्थिति बताना आवश्यक हो सकता है। तीसरे सन्दर्भ में उस स्थान तक जाने वाला रास्ता ही प्रश्न का उद्देश्य हो सकता है। इसी तरह ज्ञान की निश्चिति भी सन्दर्भ पर निर्भर है। निश्चिति भी सन्दर्भ के साथ भिन्नार्थक हो जाती है। यही बात प्रमाणों के लिए लागू होती है। प्रत्येक ज्ञान के साथ 'कैसे' का प्रश्न उठाया जा सकता है, किन्तु उस 'कैसे' का उत्तर सन्दर्भ के अनुसार भिन्न-भिन्न होगा। अतः 'ज्ञान', 'निश्चिति' और 'प्रमाण' तीनों का अर्थ उनके प्रयोग-सन्दर्भों से जुड़ा हुआ है। एक विशेष सन्दर्भ में ही, किसी वस्तु, किसी व्यक्ति अथवा तथ्य को जानने, न जानने, निश्चित अथवा अनिश्चित होने, और प्रामाणिक अथवा अप्रामाणिक होने की बात हो सकती है। अन्यथा 'ज्ञान', 'निश्चिति' और 'प्रमाण' का कोई अर्थ नहीं रह जाता। सन्दर्भों से अलग न ज्ञान है न अज्ञान, न निश्चिति और न अनिश्चिति, न प्रामाणिकता है न अप्रामाणिकता।

एब्सर्डिटी का समर्थक यह कह सकता है कि वस्तुओं के जानने की सम्भावना ही नहीं है। और यह सम्भावना तार्किक है। यह दो तरह से हो सकता है। एक तो वस्तु अथवा जगत् का स्वरूप ही ऐसा है कि उसका सत्य, निश्चित या प्रामाणिक ज्ञान असंभव है। दूसरे मानवीय बुद्धि की रचना ही ऐसी है कि वह सत्य जानने में असमर्थ है। दोनों विकल्प सिद्धान्तों पर आधारित हैं। वे वस्तु-स्थिति का वर्णन नहीं करते बल्कि उसकी व्याख्या पूर्व-मान्यताओं द्वारा करते हैं। इसी तरह प्रमाण और निश्चिति दो भागों में रखे जा सकते हैं—तार्किक और तथ्यात्मक। वस्तुओं, घटनाओं, व्यक्तियों अथवा तथ्यों को व्यक्त करने वाले वाक्यों में प्रमाण और निश्चिति तार्किक नहीं होते। इसका यह अर्थ नहीं कि प्रमाण और निश्चिति का तार्किक रूप सभी सन्दर्भों का मानदंड है। वस्तुओं, घटनाओं, व्यक्तियों और तथ्यों को व्यक्त करने वाले वाक्यों की अपनी पृथक् तार्किक शक्ति है। एक कोटि के तार्किक रूप को भिन्न प्रकार की कोटि पर लागू करना कोटि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोष है। इस अर्थ में जो जगत् अथवा सत्ता मात्र को ज्ञात (या ज्ञेय) अथवा अज्ञात (या अज्ञेय) मानते हैं उनका विचार कोटि-दोष से युक्त है।

स्पष्ट है कि 'निश्चिति' का प्रयोग उन सन्दर्भों में भी होता है जहाँ 'तार्किक निश्चिति' का प्रयोग नहीं होता या नहीं हो सकता। यदि 'निश्चिति' का एक मात्र अर्थ 'तार्किक निश्चिति' है, तो मृत्यु भी निश्चित नहीं है। मृत्यु की अनिवार्यता केवल पिछले अनुभव पर आधारित है। किन्तु पिछला अनुभव कितना ही लम्बा और अपवादरहित हो तार्किक निश्चिति का आधार नहीं हो सकता। मृत्यु तथ्यात्मक अनिवार्यता है। पर 'तथ्यात्मक-अनिवार्यता' का प्रयोग केवल मृत्यु के लिए ही नहीं होता। हम प्रायः कहते हैं: "यह निश्चित है', 'ऐसा होना अनिवार्य है', 'मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ', 'ऐसा न होना असम्भव है', आदि। इनमें से सभी, और ऐसे अन्य सभी, वाक्यांश सार्थक हैं। उन्हें प्रमाणित करने की निश्चित किन्तु विशेष विधियाँ हैं। उनके विषय में विवाद होते हैं (या हो सकते हैं) और उनके निर्णय के विशेष आयाम हैं।

एक मिथ्या धारणा का निवारण आवश्यक है। जो कुछ अभी कहा गया उसका यह अर्थ नहीं कि जीवन अथवा तथ्यात्मक जगत् में सब-कुछ निश्चित है। यह पुनः एक सिद्धान्त होगा, उतना ही गलत और भ्रामक जितना यह कि सब-कुछ अनिश्चित है। 'मैं निश्चित रूप से नहीं जानता', 'मैं निश्चित रूप से नहीं कह सकता', 'मैं निश्चित नहीं हूँ', 'यह असम्भव है', 'ऐसा हो ही नहीं सकता', 'निश्चित नहीं है' आदि वाक्यांश सार्थक रूप से प्रयुक्त होते हैं। विशेष परिस्थितियों को देखकर ही यह कहा जा सकता है कि उनसे सम्बन्धित तथ्य निश्चित हैं या अनिश्चित, और ये परिस्थितियाँ अलग-अलग व्यक्तियों और समूहों के लिए भिन्न-भिन्न रूपों में प्रस्तुत होती हैं। एक व्यक्ति या समूह के लिए जो निश्चित या अनिवार्य है, वह दूसरे व्यक्ति अथवा समूह के लिए अनिश्चित हो सकता है। 'क' के लिए नौकरी पाना निश्चित है, 'ख' के लिए अनिश्चित। 'अ' की सफलता निश्चित है 'ब' की अनिश्चित। किन्तु 'ब' का विवाह निश्चित है, 'अ' का अनिश्चित। तात्पर्य यह है कि 'निश्चित' और 'अनिश्चित' विशेष सन्दर्भों में सार्थक हैं। परिस्थितियों और सन्दर्भों से अलग उनका कोई अर्थ नहीं। जीवन न निश्चित है और न अनिश्चित। यही नहीं मृत्यु के लिए भी 'निश्चित' का सन्दर्भहीन प्रयोग या तो निरर्थक है, या सैद्धान्तिक संस्तुति है, या फिर संवेगात्मक। सार्थक रूप में 'प' की मृत्यु निश्चित है' तभी कहा जा सकता है जब वह बीमार हो, या किसी दुर्घटना में पड़ा हो, या अन्य कोई ऐसी ही बात हो। जब वह भला-चंगा हो तो यही वाक्य निरर्थक होगा। बिना प्रासंगिक उपयुक्तता के मृत्यु भी न निश्चित है, न अनिश्चित। निस्सन्देह ऐसी स्थितियाँ आती हैं जो अनिश्चित हैं। किन्तु यह कहना कि सब-कुछ अनिश्चित है 'अनिश्चित' शब्द को अर्थहीन बना देता है। दूसरे शब्दों में 'निश्चित' और 'अनिश्चित' का प्रयोग वाक्यों अथवा वाक्-कार्यों के लिये होता है, पूरी भाषा के लिए नहीं।

एब्सर्डिटी के पक्ष में सबसे बड़ा तर्क मूल्यों के विश्लेषण पर आधारित है। कहा जाता है सारे प्रयास, सारी क्रियाएँ व्यर्थ हैं, सिसिफस के पत्थर ढकेलने की तरह। सभी स्थितियाँ अर्थहीन हैं। कुछ भी मूल्यवान अथवा सार्थक नहीं। किसी मूल्य का औचित्य सिद्ध ही नहीं किया जा सकता। सभी आदर्श भ्रामक हैं। मेरा उद्देश्य यह सिद्ध करना नहीं है कि सब-कुछ मूल्यवान या सार्थक है। या कि जीवन की कोई स्थिति असंगत, अर्थहीन नहीं। सारे आदर्श सिद्ध किए जा सकते हैं, यह भी हठधर्मिता ही है। यह कहना कि संसार और सांसारिक जीवन अर्थहीन हैं, किन्तु उनके परे मूल्यों अथवा साध्यों का राज्य है, एक भ्रामक सिद्धान्त का समर्थन मात्र है। मेरा उद्देश्य यह दिखाना है कि ये सभी सिद्धान्त का मूल्यांकन एवं औचित्य की मिथ्या धारणाओं पर आधारित हैं।

कोई भी वस्तु, क्रिया या अनुभव अपने-आपमें, अर्थात् प्राकृतिक तथ्य के रूप में, मूल्यवान या सार्थक नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं कि ये सब अपने-आप में मूल्यवान हो सकते थे, किन्तु हैं नहीं। यह असमर्थता तार्किक है। यह किसी वस्तु, अनुभव अथवा क्रिया का दोष नहीं है। वास्तव में इस कथन का कोई अर्थ ही नहीं कि कोई वस्तु अपने-आप में मूल्यवान है या नहीं। 'अपने-आप' का अर्थ यहाँ पर प्राकृतिक तथ्य के रूप में है, साध्य के नहीं। साध्य के अर्थ में वस्तुएँ अपने-आप में सार्थक हो सकती हैं।

एक दूसरे रूप में यह बात एब्सर्डिटी के समर्थक भी मानते हैं। उनके अनुसार भी जगत् अपने-आप में एब्सर्ड नहीं है। जगत् की एब्सर्डिटी उसके देखे जाने में है। वह अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आप में न सार्थक है, न निरर्थक। निरर्थकता अथवा विसंगति (एब्सर्डिटी) की उत्पत्ति तब होती है जब हम जगत् को मानवीय सम्बन्धों में जानना चाहें। 'मानवीय सम्बन्धों' से उनका अर्थ जगत् के ज्ञान और मूल्यों के औचित्य से है। मैं जिस बात पर जोर दे रहा हूँ वह भिन्न है। कोई भी विषय मूल्यांकन के सन्दर्भ में ही सार्थक या निरर्थक हो सकता है। मूल्यांकन से स्वतन्त्र होकर यह न सार्थक है न निरर्थक। मूल्यांकन ही उसे सार्थकता देता है, या निरर्थक सिद्ध करता है। इसे न समझने के कारण ही मूल्यों के सम्बन्ध में भ्रामक सिद्धान्त दिये गये हैं।

जगत् की सभी बातें निश्चित नहीं हैं। उनसे सम्बन्धित हमारा ज्ञान भी अधूरा है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि जगत् निरर्थक है। बहुत से तथ्यों को हम निश्चित रूप से जानते हैं और उनके सम्बन्ध में हमारा ज्ञान पूर्ण है। यह कहना कि जब तक कोई व्यक्ति सभी तथ्यों को नहीं जानता वह एक भी तथ्य नहीं जानता, स्पष्ट रूप से गलत है। और सम्पूर्ण तथ्यों के ज्ञान का अर्थ भी क्या है? इन व्याख्याओं में यह मान लिया गया है कि जगत् या कोई विशेष वस्तु तभी सार्थक या मूल्यवान हो सकती है जब उसका कोई निश्चित और सार्वकालिक पैटर्न हो। या फिर वह वस्तु अनिवार्य और शाश्वत हो। दूसरे शब्दों में यदि जगत् का निश्चित और नियमित रूप होता, उसके सभी तथ्यों का पूर्ण ज्ञान होता और सभी वस्तुएँ नपी-तुली होतीं, तो जगत् सार्थक होता।

इसके दो अर्थ हो सकते हैं। एक यह कि वस्तुओं के अन्य गुणों की तरह सार्थकता अथवा मूल्य भी एक गुण है। और यह गुण वस्तुओं का रचना-संगठन है। दूसरे यह कि सार्थकता वस्तुओं का प्राकृतिक गुण नहीं है, किन्तु वह उनके रचना-संगठन पर आश्रित है। पहला अर्थ स्पष्टतः गलत है। सार्थकता वस्तु अथवा अनुभव का प्राकृतिक गुण नहीं है, अन्यथा इस सम्बन्ध में तार्किक अथवा मूल्यात्मक विवाद की समस्या ही न उठती। मूल्यात्मक शब्दों और प्राकृतिक गुणों के लिये प्रयुक्त शब्दों के प्रयोगों एवं उद्देश्यों में महान अन्तर है। यद्यपि दोनों में व्याकरणात्मक साम्य है किन्तु उनकी कार्य-शक्तियाँ भिन्न हैं। दूसरा अर्थ इन दोषों से मुक्त है। इसके अनुसार मूल्य वस्तुओं के प्राकृतिक गुण नहीं हैं, अपितु प्राकृतिक गुणों पर निर्भर हैं, किसी वस्तु का मूल्य उसका रचना-संगठन नहीं है किन्तु उस पर निर्भर है। यदि यह विचार मान लिया जाय तो इससे केवल यह सिद्ध होता है कि किसी वस्तु का मूल्य उसके विशेष गुणों पर निर्भर है। यह फिर भी सिद्ध करने को रह जाता है कि यह विशेष गुण वस्तु का रचना-संगठन है। रचना-संगठन को मूल्य अथवा सार्थकता का आधार मानना और अन्य गुणों की अवहेलना करना एक विशेष सिद्धान्त का प्रतिपादन मात्र है। "किन गुणों को सार्थक माना जाय?" यह एक खुला प्रश्न है। विभिन्न व्यक्ति और समुदाय इसके अपने विशेष उत्तर देते हैं। मूल्यांकन के सारे सन्दर्भों से हटकर मूल्यों के विषय में कोई सिद्धान्त देना गलत है।[1] और मूल्यांकन व्यक्तियों, समुदायों और उनकी परम्परा, दृष्टिकोण, विश्वास तथा प्रतिबद्धता पर। ऐसा कोई गुण नहीं है जो सभी स्थितियों में, सभी व्यक्तियों के लिए, सार्थकता और मूल्य का आधार हो। यदि वस्तुएँ एक ही साँचे के अनुसार बनी हों तो वे अनिवार्यतः सार्थक होंगी, यह नहीं कहा जा सकता। या यह केवल एक मूल्य-दृष्टि है। एक साँचे और निश्चित पैटर्न पर बनी वस्तु निरर्थक तथा मूल्यहीन हो सकती है। या कम-से-कम उसके विषय में दो व्यक्ति अथवा दो समुदाय अलग-अलग दृष्टिकोण बना सकते हैं। एक उसे सार्थक मानता है, दूसरा निरर्थक। यदि पैटर्न ही मूल्य और सार्थकता का आधार है, तो सिसिफस का पत्थर ऊपर ले जाने का कार्य निस्सन्देह सार्थक है। मूल्य अथवा सार्थकता न तो मूल्यांकन से स्वतन्त्र तथ्य है, न प्राकृतिक गुण। और न इसका सम्बन्ध किसी विशेष गुण से है। मूल्यांकन व्यक्ति, अनुभव, वस्तु, स्थिति और कार्यों का होता है, किन्तु उनकी किस विशेषता अथवा गुण को मूल्य माना जाय यह मूल्यांकन पर निर्भर करता है। वही गुण विभिन्न स्थितियों में सार्थक और निरर्थक दोनों हो सकता है।

यह कहा जा सकता है कि इन बातों से एब्सर्डिटी का समर्थन ही होता है। मूल्य वस्तु पर नहीं, मूल्यांकन पर निर्भर है, और मूल्यांकन व्यक्ति करता है। वह जगत् की व्याख्या प्राकृतिक या तार्किक कोटियों से नहीं, मानवीय कोटियों, आवश्यकताओं, उद्देश्यों से करता है। किन्तु इन कोटियों से व्याख्या करने के सारे प्रयत्न असफल हो जाते हैं। वास्तविकता का व्यवहार शत्रुतापूर्ण है। और तथाकथित मूल्यों का औचित्य किसी तरह सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतः

१. किस गुण के कारण किसी वस्तु को सार्थक अथवा मूल्यवान माना जाय यह मूल्यांकन पर निर्भर करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन करने पर सभी स्थितियां और गुण निर्मूल्य हो जाते हैं। यही एब्सर्डिटी है।

यह उत्तर औचित्य का रूप न समझने के कारण है। प्रायः तर्क दो प्रकार के होते हैं : आगमनात्मक और निगमनात्मक। आगमन अनुभव पर आधारित होता है। जब समीक्ष्य विषय के व्यवहार में समरूपता होती है, तो उसके आधार पर किसी सिद्धान्त की निष्पत्ति होती है। मूल्यांकन में यह पद्धति अनुपयोगी है। कोई व्यवहार, कार्य, अनुभव या वस्तु एक विशेष रूप में है अथवा मानी गई है, इससे यह नहीं सिद्ध होता कि उसका उस रूप में मूल्यांकन उचित है। 'है' से 'होना चाहिए' की निष्पत्ति नहीं हो सकती। किन्तु निगमन भी यहाँ विशेष उपयोगी नहीं। निगमन में निष्कर्ष एक अथवा अधिक आधार-वाक्यों से निकलता है। निगमन में दो बातों पर ध्यान रखना आवश्यक है। एक यह कि निष्कर्ष आधार-वाक्यों से निकलता है या नहीं। दूसरे यह कि निष्कर्ष सत्य है या नहीं। निगमन प्रामाणिक होते हुए भी अर्थ अथवा सिद्धान्त की दृष्टि से गलत हो सकता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि आधार-वाक्य भी सत्य हो। और मूल्यांकन में विवाद आधार-वाक्यों पर ही है। अतः मूल्यांकन में निगमन तार्किक दृष्टि से प्रामाणिक होते हुए भी मूल्यों की दृष्टि से विवादास्पद हो सकता है। आगमन और निगमन के अतिरिक्त तर्क की और कोई विधा नहीं, इसलिए मूल्यों का औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह निष्कर्ष मूल्यात्मक वाक्यों के तार्किक विश्लेषण से भी सिद्ध होता है। मूल्यात्मक वाक्य तथ्यात्मक नहीं हैं। वे न सत्य होते हैं, न असत्य। अतः उन पर व्याघात का नियम भी लागू नहीं होता। इस प्रकार मूल्य या तो संवेगात्मक उद्गार हैं, या फिर वैयक्तिक पसन्द।

किन्तु यह विश्लेषण कई महत्त्वपूर्ण तथ्यों की उपेक्षा करता है। मूल्यात्मक वाक्य तथ्यात्मक वाक्यों से भी सम्बन्धित होते हैं। इन तथ्यात्मक वाक्यों के पक्ष में आगमन और निगमन का प्रयोग होता है और किया जा सकता है। पुनः बहुत से मूल्यात्मक निष्कर्ष निगमन विधि से सिद्ध किये जाते हैं, या किये जा सकते हैं। उनमें केवल यह दिखाना रहता है कि अमुक निष्कर्ष इस नियम के अनुरूप है। जैसे : क, ख है। अतः ख उचित है। ऐसी सभी स्थितियों में केवल यह दिखाना रहता है कि निष्कर्ष स्वीकृत मूल्यों अथवा विधियों के अनुरूप हैं। कठिनाई केवल वहाँ पड़ती है जहाँ आधार-वाक्य के रूप में कोई स्वीकृत मूल्य या विधि नहीं है। इस स्थिति में निर्णय वैयक्तिक या सामूहिक—के द्वारा आधार-वाक्यों का सृजन होता है। किन्तु ये निर्णय मनमाने नहीं होते। मूल्यात्मक प्रमाणों के द्वारा उनका समर्थन आवश्यक है। मूल्यात्मक प्रमाण और तर्क व्यक्ति अथवा समूह की संस्कृति और परम्पराओं के आधार पर दिये जाते हैं। संस्कृति और परम्परा में निहित जीवन-दृष्टि ही मूल्यांकन का आधार है। और यही जीवन-दृष्टि मूल्यों की सर्वोच्च अदालत है। किन्तु निर्णय के द्वारा जीवन-दृष्टि में भी परिवर्तन किया जा सकता है। इस स्थिति में मूल्यांकन का आधार एक भिन्न जीवन-दृष्टि है, जो स्वयं निर्णय और प्रतिबद्धता पर निर्भर है। इसके परे जाकर औचित्य की माँग करना निरर्थक है। औचित्य एक विशेष जीवन-दृष्टि में ही सार्थक है। उसके बाहर उसका कोई अर्थ नहीं। किसी भी मूल्य के 'अन्तिम प्रमाण' या 'पूर्ण औचित्य' का कोई अर्थ नहीं। किसी खेल के नियम उस खेल के संदर्भ में ही प्रमाणित या अप्रमाणित हैं। वैसे ही किसी मूल्य का औचित्य किसी जीवन-विधा या जीवन-दृष्टि के अन्तर्गत हीं उठाया जा सकता है। तथ्यमूलक प्रमाण की तरह औचित्य भी सीमित है। हम जहाँ तक चाहें संशय नहीं कर सकते, न औचित्य का संदर्भहीन प्रश्न उठा सकते हैं। प्रमाण और औचित्य दोनों का प्रश्न एक निश्चित सन्दर्भ में ही उठाया जा सकता है, और वह संदर्भ ही उनके स्वरूप का निर्धारण करता है। विशेष और निश्चित सन्दर्भों से बाहर प्रमाण या औचित्य का प्रश्न उठाना भाषा और तर्क का दुरुपयोग करना है।

इसका यह अर्थ नहीं कि 'एब्सर्ड', 'असंगत', 'निरर्थक' या 'निरुद्देश्य' का प्रयोग ही नहीं होना चाहिए। मेरा उद्देश्य केवल यह दिखाना है कि इनका प्रयोग निश्चित सन्दर्भों एवं स्थितियों से जुड़ा हुआ है। उसी में कोई चीज़ सार्थक या निरर्थक, सुसंगत या असंगत सोद्देश्य या निरुद्देश्य है। और इनमें से किसी शब्द का प्रयोग अकेले नहीं हो सकता। 'निरर्थक' 'असंगत' और 'निरुद्देश्य' का प्रयोग 'सार्थक' 'सुसंगत' और 'सोद्देश्य' की अपेक्षा रखता है। निरर्थक स्थिति तभी हो सकती है जब उसी सन्दर्भ में सार्थकता संभव हो। केवल सार्थकता या केवल निरर्थकता की बात करना निरर्थक है। पुनः एब्सर्ड और उसके समानार्थक शब्द

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्णनात्मक न होकर मूल्यात्मक हैं। उनका प्रयोग किसी स्थिति की आलोचना के लिए होता है। इनसे हमारी पसन्द और संवेगों की भी अभिव्यक्ति होती है। और यह व्यक्ति की रुचि और दृष्टिकोण पर निर्भर है कि क्या निरर्थक है, क्या सार्थक।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि किसी व्यक्ति या समाज के जीवन में कुछ निरर्थक स्थितियाँ इतने प्रभावपूर्ण ढंग से आएँ कि वह सभी स्थितियों को निरर्थक समझने लगे। उसे सारी क्रियाएँ अर्थहीन लगें। इस प्रकार एब्सर्डिटी स्वयं एक जीवन-दृष्टि बन जाती है। पिछले कुछ दशकों में यह बात बहुत बड़े पैमाने पर घटित हुई है। किन्तु विसंगति (एब्सर्डिटी) तात्त्विक या तार्किक विधा नहीं है। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओसिप मेंदलस्तम की पाँच कविताएँ

कमलेश

उन्नीसवीं सदी के आखिरी बरसों में रूस के प्रमुख कवियों पर फ्रांसीसी प्रतीकवाद का काफी असर था। रूसी प्रतीकवादियों ने अपनी कविता में अतिरिक्त सांकेतिकता, रहस्यात्मक अस्पष्टता और संगीत की लय लाने की कोशिश की। पत्रिका **अपोलोन** (१९१०-१९१७) के इर्द-गिर्द एकत्रित कवि उपर्युक्त प्रवृत्तियों से असंतुष्ट थे। उनका आन्दोलन भविष्यवादियों के पहले आया और अल्पकालिक होते हुए भी ज्यादा प्रतिभाशाली कवियों को आकर्षित कर सका। यह आन्दोलन रूसी कविता के इतिहास में **परिपूर्णतावाद (एक्मेइज्म)** के नाम से प्रसिद्ध है। इस आन्दोलन के कवियों ने अपने लिए सचमुच बहुत ऊँचे आदर्श रखे थे। निकोलाई गुमिल्योव (१८८६-१९२१), अन्ना आःमातोवा (१८८८-१९६८), और ऑसिप मैंडलशाम [१८९२-१९४२ (?)] आदि नेतृस्थानिक कवियों ने कविता में सुरुप सुस्पष्टता, पैने रूपांकन और पदार्थों के घनत्व पर ज़ोर दिया। इनके कृतित्व में रूसी कविता सचमुच एक परिपूर्णता पर पहुँची।

एक यहूदी परिवार में १८९२ (या १८९१?) में जनमे मैंडलशाम आयु में अलेक्ज़ेंदर ब्लाक से कोई १०-११ साल छोटे और जार्ज एसेनिन, ब्लादिमीर मायकोव्स्की, अन्ना आःमातोवा, बोरिस पास्तरनाक और मारिना स्चेतायेवा के लगभग समवयस्क थे। एक ही पीढ़ी में श्रेष्ठतम कोटि के इतने कवियों की एक साथ उपस्थिति ने रूसी कविता को उस शिखर पर पहुँचा दिया जहाँ रूसी उपन्यास पहले पहुँच चुका था। इनमें से हर कवि का अपना व्यक्तित्व था, भाषा का अपना रंग और काव्य-जगत् में ज़माने के साथ मेल बैठाने का अपना ढंग। शासक जमात की क्या कृपा, क्या कुदृष्टि इनमें से किसी को भी अपनी काव्य-धारणाओं से या जीवनदृष्टि से बहुत विचलित नहीं कर सकी। अपनी रुचि के अनुसार कोई आलोचक या काव्य-पाठक मैंडलशाम को आधुनिक रूसी का सर्वश्रेष्ठ कवि मानता है तो कोई ब्लाक को, आःमोतोवा को, पास्तरनाक या मायकोव्स्की को वह स्थान देता है। इनमें से हरएक की सर्वश्रेष्ठता के कुछ-न-कुछ वकील मिल जाएँगे।

ऑसिप मैंडलशाम कविताएँ और किंचित् समीक्षाएं लिखने के अलावा पत्रकारिता से अपनी आजीविका चलाते थे। उनके गद्य-संग्रह में उन दिनों अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट संगठन के किसी सम्मेलन में भाग लेने के लिए फ्रांस से मास्को आये तब तरुण औपनिवेशी नेता हो-ची मिन्ह की भेंट-वार्ता भी संगृहीत है। पास्तरनाक के घर में स्तालीन पर एक मज़ाकिया कविता पढ़ने के बाद, किसी उपस्थित लेखक की शिकायत पर मैंडलशाम गिरफ्तार कर लिए गये। पास्तरनाक के स्तालीन से व्यक्तिगत अनुरोध करने पर उन्हें फिलहाल छोड़ा गया। १९३४ में वे साइबेरिया से निष्कासित कर दिये गए। कुछ श्रोतों के अनुसार १९३८ में, पर अन्य श्रोतों के अनुसार १९४२ में उनकी मृत्यु हुई। **कविताएँ, कामेन, त्रिस्तिया, मिसर की छाप**—ये चार कविता-संग्रह उनके जीवन-काल में छपे थे। अपने देश में एक अरसे तक प्रतिबन्धित रहने के बाद, मैंडलशाम की कविताओं का प्रकाशन और उनका अध्ययन अब फिर से शुरू हो रहा है।

इलिया एहरेनबुर्ग ने अपने संस्मरणों में मैंडलशाम के बारे में लिखा है—"वह ठिगना और नाज़ुकबदन आदमी था। उसे नगर-दुर्ग के निकट अपनी चीत्कार से रात को भेदते हुए मुरगे का बिम्ब बहुत प्रिय था—कोमल मन्द्र स्वर में अपनी गम्भीर कविताएँ पढ़ते हुए वह खुद कम उम्र मुरगे-सा लगता था।"

परिपूर्णतावादी क्लासिकी यूनानी संस्कृति के प्रति काफी आकृष्ट थे। यूनानी पुरोगाथा के अलावा वैयक्तिक जीवन के बिम्ब भी उनकी कविता में मिलेंगे। पर सभी परिपूर्णतावादियों में, और मैंडलशाम की कविता में भी, समकालीन रूसी ज़िन्दगी से बहुत ही गहरा लगाव अन्तःप्रसूत बहता रहता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। कविता को धरती पर उतारने और प्राथमिक, मूल उत्सों को कविता का विषय बनाने के प्रयत्न में परिपूर्णतावादियों ने कविता के मुहावरे को जन-मुहावरे के समतुल्य ला दिया। खुद मैंडलशाम ने पास्तरनाक की कविता पर लिखते हुए कविता की भाषा को धार्मिक गरिमा से मुक्त (सेकुलराइज़ेशन) करने पर ज़ोर दिया था—कविता की दुनिया में हमेशा युद्ध छिड़ा रहता है। सामाजिक विमूढ़ता के दौर में ही शान्ति या लामबंदी हुई रहती है। प्रमुख धातुएँ सेनापतियों की तरह एक-दूसरे के विरुद्ध हथियार ले खड़ी हो जाती हैं। शब्दों की धातुओं की लड़ाई अंधकार में, एक-दूसरे की खाद्य-सामग्री और धरती से मिलने वाली प्राणवत्ता की छीन-झपट करते हुए चलती रहती है।··· जो भी अपनी कविता में किसी विदेशी बोली की ध्वनियों और चित्रों के मोह में पड़ जाता है वह केवल भाषा का शील भंग करता है।···रूसी कविता की नियति···संस्कृतीकरण या यूनानीकरण में नहीं, काव्य-भाषा के सुसंगत धार्मिक-गरिमा-मुक्तीकरण में है।" हिन्दी कविता के लिए इन शब्दों की प्रासंगिकता स्पष्ट है।

मैंडलशाम की कविताओं के ये अनुवाद रोज़ स्टाइरान और ओल्गा कारलिस्ले द्वारा किये गए अंग्रेज़ी अनुवादों पर आधारित हैं। ये अनुवाद पहले-पहल पेरिस रिव्यू के अंक २६ में छपे थे। अंग्रेज़ी अनुवाद में मूल छन्दों का ख़याल नहीं रखा गया है। इस तरह हिन्दी अनुवाद मूल लय से और भी दूर चले गये होंगे। इस असमर्थता के कारण ज्यादा अच्छा यही लगा कि रूप और कथ्य को पूर्णतः समरूप मानते हुए भी, कथ्य के प्रति ही पूर्णतः वफादार रहा जाय। रूसी भाषा और कविता की जानकारी के अभाव के बावजूद ये अनुवाद पहले एक आभार-स्वीकृति और शिल्प के अभ्यास के रूप में किये गए थे। इस अनुवादक से अधिक क्षमतावान एक भी हिन्दी कवि का ध्यान मूल कविताओं की ओर गया तो यहाँ इन अनुवादों का प्रकाशन सार्थक हो जाएगा। तब शायद कविता-जैसे अनुवाद भी हों।

हमने अनेक विदेशी कवियों को साथ-साथ पढ़ा था, इस याद में ये अनुवाद फिलहाल अमरीका-प्रवासी मित्र कृपाशंकर कश्यप को समर्पित हैं।

एक—

आओ जाति-भाइयो, मनायें स्वतंत्रता का
संध्याकाल
धुँधला पड़ रहा विवेक, और भी दूरस्थ हो
रहा महान साल
झुटपुटे के उबलते जल पर पड़ जाते हैं
घने जंगल से बड़े-बड़े जाल
तुम्हारे उदय के दिन रुक चुके हैं, ओ सूर्य,
न्याय करो, जन का

अबाबीलें हमने युद्धवाहिनियों के साथ बाँध
दी हैं
दिन अदृश्य है, पूरी देह अविकल
गाती, फड़फड़ाती, जीवंत रहती है...
धुँधलके से आच्छादित जालों के बीच
सूर्य निस्तेज पड़ चुका है और पृथ्वी बह रही
है जहाज-सी

जिनके भी दिल है वे जानते हैं, ओ समय,
तुम्हारी नाव डूब रही है

फिर भी हम चलन-चक्की घुमाकर देखें
बेढंगी, घिरघिर्राती, भारी
हल-सी समुद्र को दो फाँकों में जोतती
हमें यह याद आएगा लीथि[1] के जम जाने पर
—ज़िन्दगी हमारे लिए दस स्वर्गों के बराबर थी।

[१९१८, त्रिस्तिया से]

१. लीथि—यूनानी पुरोगाथा का वह समुद्र जिसका जल पीने से आदमी अतीत की बातें सम्पूर्णतः भूल जाते थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो—

बहनों—वज़न और नाज़ुकपन—तुम्हारे चिह्न
कितने यकसाँ हैं
मधुमक्खियाँ और बर्रे चूसती हैं रस उदास
गुलाब का
एक आदमी मरता है, गर्म हुई रेती ठंडी पड़
जाती है
और काली पालकी पर लदा बीते दिन का
सूरज चला जाता है

आह ! दुखी छत्ता और नाज़ुक पाश
चट्टान उठाना ज्यादा हल्का है तुम्हारा नाम
दुहराने से
मेरी सिर्फ एक ज़िम्मेवारी शेष है इस धरती
पर—एक सुनहरी ज़िम्मेवारी
—समय की दासता किस तरह निभायी जाय

हवा पीता हूँ, काले जल की तरह अशांत
समय हल से जुता चला जाता है, और गुलाब
धरती था
एक मंथर भँवर में फँसे उदास नाज़ुक गुलाब
गुलाब—वज़न और नाज़ुकपन—गुँथे हुए दुहरी
मालाओं में

[१९२०, त्रिस्तिया से]

तीन

मेरी आगे बढ़ी अंजुलि से ले लो
थोड़ी शहद और थोड़ी सी धूप
प्रसन्नता के लिए थोड़ी सी
प्रास्पेरीन की मधुमक्खियों ने हमसे अनुनय
किया

खुली नहीं नाव जो घाट से खोएगी कैसे
समूर में छोड़ी छाया सुनी जाएगी कैसे
ज़िन्दगी के घने जंगल में कोई भी कैसे
भय के संकेतों का कौन पता पाएगा

रुआँमय छोटी मधुमक्खियों की तरह चुभते
चुम्बन केवल हमारे पास अवशेष
छत्ते को छोड़ चुकी मधुमक्खियाँ
डँसती जातीं, मरते

रात की पारभासक झाड़ी में वे उड़ती हैं सर सर
उनका जन्म देश : टैगेटा के दुर्गमनीय भासी वन
उनका भोज्य : तिपतिया, पुदीना और समय

मेरी वन्य भेंट लो, प्रसन्नता के लिए
मृत मधुमक्खियों का बना यह हार
जिन मधुमक्खियों का शहद
धूप में रूपान्तरित हुआ

[१९२०, त्रिस्तिया से]

चार—

मैं भूल चुका हूँ शब्द जो मैं कहना चाहता था
अपने अंधे, कटे हुए डैने फड़फड़ाते अबाबील
वापस आती है
छाया-महल में, पारदर्शी मित्रों के पास
विस्मृति के देश में गाया जा रहा है एक
निशा-गान

चिड़िये गाते नहीं गीत, न शाश्वत कली
खिलती है
रात के घोड़ों की अयाल दृष्टि से ओझल हो
जाती है
सूखी नदी पर एक रिक्त नाव बहती है
और झींगुरों के बीच शब्द खो जाता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिर धीरे-धीरे वह उदित होता है, एक तनोवे
की तरह, एक मन्दिर की तरह
और पागल एंटीगोन होने का नाट्य करता है
या मरते हुए अबाबील की तरह मेरे पाँवों पर
गिर पड़ता है
एक नरकलोक की कोमलता के साथ, हरी
टहनी की तरह

आह ! उन सजीव, देखती, अँगुलियों का पुनः
स्मृति में उतरना
पहली पहचानें, उनका मूर्तिमान सुख
मुझे डर है शाश्वत दासियों के रोते रहने का
कुहासे का, गूँज का, रिक्ति का

हमारी नश्वर शक्ति है अनुराग और ज्ञान
आदमियों की अँगुलियों से एक सम आवाज़
निकलती है
लेकिन मैं भूल चुका हूँ शब्द जो मैं कहना
चाहता था
और शरीरविहीन विचार छायादेश में लौट
आता है

और छाया बोलती रहती है लेकिन उसका
अर्थ गलत है
वह अभी भी अबाबील है, चुलबुली, एंटीगोन है
और मेरे ओठों पर काले बर्फ की तरह
जलती है
नरकलोक की गूँज की स्मृति

[१९२९, त्रिस्तिया से]

पाँच—

रात में अँधेरी सड़कों पर, भागते बनखोर-
घोड़ों के बीच
काली धुरी वाली स्लेज पर मैं जा रहा हूँगा
आल्डर की फूलों लदी एक टहनी के लिए
स्लेज की टोपी पर खिच आ रही बर्फ के लिए
घूमते पहियों की, चारों ओर, अन्तहीन खर-
खराहट के लिए

याद में घुमड़ती है पांगर की लट, और जैसे
गलती से
चल गयी गोली के बारूद का धुआँ
छोड़ जाता है ज़ुबान पर चींटियों-सा तेजाबी,
हल्का तीखापन
मेरे ओठों पर पड़ जाती है कहरुवे-सी सूखी
परत

इन क्षणों में हवा भी लगती है भूरी
दृष्टि का छोर पहन लेता है
मृदुता का और सेव-सी गुलाबी त्वचा के
मेरे सारे अनुभवों का परिधान

स्लेजों में जुते घोड़े भागते, खुरचते रहते हैं बर्फ,
उनके छोड़े दृश्य पट पर
आसमान की तीखी किरणें चमकती हैं
सड़क पर टापें प्यानों के अवरुद्ध परदों की
तरह बजती हैं

रोशनी केवल तारों के कँटीले असत्य से आती है
ज़िन्दगी बहती रहती है स्लेज की टोपी पर
खिच आ रही बर्फ की तरह, और
कोई नहीं सुनने को—रात में अँधेरी सड़कों पर
भागते बनखोर-घोड़ों के बीच...

[१९२५, कविताएँ से]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिवर्तित नैतिक मूल्य और साहित्यकार की स्थिति

यशदेव शल्य

इस विषय का चुनाव लिखने के लिए मैंने मुख्यतः इस कारण किया है क्योंकि 'नैतिक मूल्यों में परिवर्तन' की इधर बहुत चर्चा है और, मेरे विचार में, यह चर्चा करने वाले अधिकांशतः स्पष्ट नहीं हैं कि इसका क्या अर्थ है। बिना समझे पदों और वाक्यों का प्रयोग बहुधा हम करते हैं, और यह प्रयोग करते-करते इन पदों और वाक्यों को कोई अर्थ देने लगते हैं जोकि वास्तव में उनका अर्थ नहीं होता। इसमें भी कोई दोष नहीं है यदि किसी प्रकार यह अर्थ सम्यक् रूप ले लेवे, किन्तु अधिकांशतः ऐसे प्रयोग सम्यक् रूप ले नहीं पाते हैं, जबतक कि कोई विचारक सचेष्टतः इस असम्यकता का निरास नहीं करता। यहाँ यद्यपि मैं इस असम्यकता के निरास का प्रयत्न करूँगा, किन्तु मैं वह विचारक होने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं ले सकता, क्योंकि वह उत्तरदायित्व बहुत बड़ा है और उसके लिए मेरे में न उतनी योग्यता है और न इस महत् कार्य के लिए यह अवसर ही उपयुक्त है।

नैतिक मूल्यों में क्या परिवर्तन हुआ है, यह देखने के लिए यह देखना आवश्यक है कि 'नैतिक मूल्यों में परिवर्तन' का क्या अर्थ है, इस परिवर्तन के स्वरूप को समझने के लिए यह देखना आवश्यक है कि नैतिक मूल्य क्या होते हैं जिनमें कि यह परिवर्तन घटित होता है। यह सब देखना इसलिये आवश्यक है, क्योंकि इनमें कोई भी प्रश्न स्वतः स्पष्ट नहीं है। किन्तु यहाँ हम नैतिक मूल्यों के स्वरूप पर भी पर्याप्त विस्तार से विचार नहीं कर सकते, क्योंकि इस एक प्रश्न पर बहुत संक्षिप्त विचार के लिए भी एक काफी बड़े लेख की आवश्यकता है।[1]

१. इस प्रश्न पर हमने 'ज्ञान और सत्' पुस्तक के अंतिम अध्याय 'मानव-प्रतिमा' में तथा 'संस्कृति : मानव-कर्तृत्व की व्याख्या' पुस्तक के 'नैतिक मूल्य' अध्याय में विचार किया है।

नैतिक मूल्य-विषय किस प्रकार के होते हैं? किसी के साथ विश्वासघात न करना एक नैतिक मूल्य है। किन्तु मेरे साहित्यिक बन्धु इस पर थोड़ा चिढ़ेंगे, क्योंकि यह बहुत असाहित्यिक—अकविजनोचित—उदाहरण उन्हें लगेगा। वे जिस उदाहरण को पसन्द करेंगे वह होगा—"परायी पत्नी को आँख मारना अनुचित है।" अब, वे कहेंगे कि, "यह अनुचित था, किन्तु अब अनुचित नहीं है। यह देश और काल की बात है कि यह अनुचित है या नहीं। पति-पत्नी-सम्बन्धों की वह धारणा ही अब नहीं रही तब इनकी अनुषंगी आबद्धताओं (कॉमिट्मेंट्स) की वह धारणा भी कैसे हो सकती है? इस समय हम स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की दकियानूसी धारणाओं से मुक्त हो चुके हैं, अब हम किसी प्रदत्त ढाँचे में नहीं ढलते, हम इनसे परे हैं, अ-तन्त्र, अद्वितीय क्षण, अतन्त्रता में ढकेल दिये गए हुए," आदि। इस प्रकार, स्पष्ट है कि पति-पत्नी सम्बन्धों को लेकर नैतिक मूल्यों में परिवर्तन हो गया है (यद्यपि यह परिवर्तन पति-पत्नी सम्बन्धों को लेकर ही नहीं है। किन्तु पति-पत्नी सम्बन्धों को लेकर, और इसी प्रकार अन्य नैतिक मूल्यों को लेकर, परिवर्तन तो देश से देश में, दशाब्द से दशाब्द में, और वास्तव में गाँव से गाँव में, होते मिलते हैं। ऐसी अवस्था में अब कौन-सी बात हो गयी है जिसको लेकर इतना कुहराम मचा हुआ है, जिसको लेकर उपन्यास लिखे जा रहे हैं, कहानियाँ लिखी जा रही हैं, और यहाँ तक कि कविताएँ भी लिखी जा रही हैं? क्या रोज़ पोशाकों के फैशनों में परिवर्तन नहीं होता? और क्या हमेशा से चीनी, भारतीय और बर्मी की पोशाकें अलग-अलग नहीं रही हैं? तब 'पोशाकों में परिवर्तन और साहित्यकार की स्थिति' को लेकर निबन्ध क्यों नहीं लिखवाए जाते और कॉफ़ी हाउसों में बहस-मुबाहिसा कर साहित्यकार अपने-आपको उस सीमा तक धन्य क्यों नहीं मानते जिस सीमा तक नैतिक मूल्यों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिवर्तन के प्रश्न पर विवाद करके मानते हैं ?

इसके दो कारण हैं : एक तो यह कि "नैतिक मूल्यों के परिवर्तन" में एक दूसरा पक्ष भी है जो इससे अधिक महत्त्व-पूर्ण है और जो वास्तव में घटित हुआ है, किन्तु जिसकी ओर सामान्यतः ध्यान नहीं जाता। यह परिवर्तन है स्वयं नैतिकता के मूल्य होने में ही अनास्था उत्पन्न होना—जो कि पीछे पति-पत्नी सम्बन्धों विषयक उदाहरण में वास्तव में अन्तर्हित है। किन्तु सामान्य प्रकार का परिवर्तन भी कुछ गम्भीर समस्याएँ उत्पन्न करता है। ये गम्भीर समस्याएँ नैतिक निर्णयों की विषय-निष्ठता विषयक हैं। यदि नैतिक निर्णयों सम्बन्धी भेद पोशाकों में भेद के अनुरूप हों, जैसा कि हमारी उपरोक्त तुलना में अभिप्रेत है, तब नैतिक विषय-निष्ठता का कोई अर्थ नहीं रह जाता, क्योंकि कोई यह नहीं मानता कि पोशाक के फैशन का, और इसी प्रकार अन्य किसी फ़ैशन का भी, कोई विषय-निष्ठ आधार होता है। किन्तु जब हम यह कहते हैं "अमुक-अमुक कार्य उचित नहीं है" तब हम यह मानकर चलते हैं कि इस निर्णय का कोई विषय-निष्ठ आधार है। किन्तु बहुत लोग यह नहीं मानते, वे नैतिकता का आधार संस्कारों को मानते हैं; इस प्रकार उनके अनुसार यह परिवर्तन फैशनों में परिवर्तन से मूलतः भिन्न नहीं है। किंतु जैसा कि स्पष्ट है, यह विमर्श एक-दूसरे स्तर का है, यह नैतिक मूल्यों में परिवर्तन के तथ्य का कथन न होकर नैतिक मूल्यों के, और इनमें परिवर्तन के, स्वरूप-विषयक है। यहाँ यह तो स्वीकार कर ही लिया गया है कि यदि हम आज कहते हैं कि "कार्य 'क' उचित है" तो कल इस मान्यता में परिवर्तन भी हो सकता है और हम 'क' को अनुचित मान सकते हैं—उदाहरणतः ईसाई धर्म में बहु-पत्नीत्व को अनुचित माना जाता है जबकि मुसलमानों में इसे अनुचित नहीं माना जाता। पुनः, पहले वृद्ध पुरुष के बालिका तक से विवाह को अनुचित नहीं माना जाता था अब इसे अनुचित माना जाता है, पहले माता-पिता की आज्ञा मानना धर्म समझा जाता था और आज इसे प्रतिक्रियावाद का सूचक माना जाता है—किन्तु यहाँ एक और कथन भी है जो किया जा रहा है और जो अधिक आधारभूत है। यह कथन यह है कि इनमें कोई निर्णय निरपेक्षतः उचित या अनुचित नहीं है, ये केवल सापेक्षतः उचित या अनुचित हैं। अर्थात् वृद्ध का बालिका से विवाह उचित भी है और अनुचित भी, इसका औचित्य-अनौचित्य तत्कालीन सामाजिक धारणाओं से निर्धारित होता है।

यह दूसरे स्तर का कथन अधिक गम्भीर है और इसी कारण यह विवाद गम्भीर और रोचक होता है। केवल कठिनाई यह है कि प्रश्न की कठिनाइयों को पूरी तरह से हृदयंगम नहीं किया जाता। सर्वप्रथम, यदि यह मान भी लिया जाय कि नैतिक निर्णय सापेक्ष होते हैं तब भी यह स्वतःसिद्ध नहीं है कि ये फैशनों के समान होते हैं, इसलिए यह विचारणीय होता है कि यह सापेक्षता किस प्रकार की है; दूसरे, नैतिक निर्णयों की विशिष्ट सापेक्षता अर्थापतित क्या करती है—उदाहरणतः "'क' लाल है" निर्णय 'क' में लाल रंग की विद्यमानता का विधान करता है, किन्तु 'क' का लाल दिखाई देना सूर्य की किरणों, प्रकाशित वस्तु तथा देखने वाले की आँखों तीनों के विशिष्ट सम्बन्ध का सापेक्ष होता है। शायद इससे भी अधिक सापेक्ष—किसी भाषा में सब रंगों के लिए शब्द नहीं हैं और प्रत्येक दो भाषाओं में अनामित रंग भिन्न-भिन्न हैं। ये भेद आदिम जातियों की और भारोपीय भाषाओं के अध्ययनों से विशेष प्रखरता के साथ सम्मुख आए हैं। यद्यपि इन तथ्यों का पता गत डेढ़ शताब्दी की खोजों से चला किन्तु इसकी अवधारणा कोई नयी चीज नहीं है। जैनों के स्याद्वाद में इस ज्ञानात्मक सापेक्षता की स्पष्ट अवधारणा मिलती है। किन्तु इस सापेक्षतावाद को कोई फैशनों के समान रुचि-भिन्नता नहीं कह सकता। अब, इस सापेक्षतावाद को थोड़ा गहराई से देखा जाय तो "'क' लाल है" विषयक प्रत्यक्ष तथा निर्णय दोनों सापेक्ष होने पर भी अन्ततः निरपेक्ष ही हैं, क्योंकि इनके आधार सापेक्ष नहीं हैं, अर्थात् तत्तद् स्थिति-विशेष में कोई इससे भिन्न निर्णय नहीं हो सकता। इस प्रकार नैतिक निर्णयों को 'सापेक्ष' कहने मात्र से कुछ पता नहीं चलता कि क्या कहना अभिप्रेत है, यह बताना आवश्यक है कि यह सापेक्षता किस प्रकार की है।

इस पर आपत्ति की जा सकती है कि, यह तो सही है कि सापेक्षताएँ विभिन्न प्रकार की हैं, किन्तु नैतिक सापेक्षता रुचि-मूलक ही है। उपरोक्त उदाहरण को ही लें : "पर-स्त्री अथवा पर-पुरुष से सम्बन्ध अनुचित है" यह विधान रुचि-सापेक्ष है। इसकी अन्य किसी प्रकार की सापेक्षता दिखाई नहीं देती। इसकी दूसरी सापेक्षता सामाजिक आचरण की सुविधा हो सकती है, किन्तु यह पुनः अन्ततः रुचि-सापेक्षता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही है, क्योंकि यदि स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की धारणाएँ बदल जाएँ तब तत्सम्बन्धी सामाजिक सुविधा का स्वरूप भी बदल जाएगा।

किन्तु यह सही नहीं है; किसी कर्म को 'अनुचित' कहने में इससे बहुत अधिक और भिन्न तत्त्व भी सन्निहित हैं। ये भिन्न तत्त्व ही नैतिक निर्णयों के आधार हैं। इन भिन्न तत्त्वों को प्रकट करने के लिए हम कुछ दूसरे उदाहरण लेंगे—साहित्यिकों की खीझ के बावजूद। ये हैं—'असत्य बोलना, चोरी करना आदि अनुचित है, दूसरों के भूखे मरते होने पर हलवा खाना अनुचित है, कृतघ्नता अनुचित है" आदि। अब, इनमें 'उचित-अनुचित' का क्या अर्थ है? यह कहा जा सकता है कि इनके अनौचित्य का आधार सामाजिक उपयोगिता है। किन्तु यह भी सही नहीं है, यद्यपि यह कथन इस सापेक्षता को रुचि-सापेक्षता से पृथक् कर देता है। यद्यपि यह सही है कि इन उदाहरणों में सामाजिक उपयोगिता भी सम्मिलित है, किन्तु सामाजिक उपयोगिता इनके नैतिक अवगुण होने के लिए आधार नहीं है। ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनमें सामाजिक उपयोगिता की हानि होने पर भी उन्हें नैतिक गुण माना जाता रहा है। उदाहरणतः राजपूतों में जौहर-प्रथा, जैनों की अहिंसा, बौद्धों का संन्यासवाद सामाजिक रूप से अनुपयोगी थे, किन्तु इन्हें न केवल वे नैतिक गुण ही मानते थे बल्कि कोई भी अन्य इन्हें अन्य कुछ नहीं कह सकता। इसके अतिरिक्त, यदि सामाजिक उपयोगिता नैतिकता का आधार हो तब, किसी कर्म-विशेष के सम्बन्ध में यह दिखा देना मात्र कि वह व्यापक सामाजिक स्वार्थों के लिए हानिकर नहीं है, उसे अनैतिक नहीं रहने देगा। उदाहरणतः, यदि 'क' 'ख' के प्रति उपकारी है किन्तु 'ख' उसे पीछे गाली देता है तब, यदि 'क' को कभी इस बात का पता नहीं चलता, तो इसे कृतघ्नता और अतएव अनैतिकता, नहीं कहा जा सकेगा। किन्तु स्पष्टतः हम इसे कृतघ्नता ही कहते हैं।

किन्तु मान लें कि उपरोक्त सब उदाहरणों में यह दिखाया जा सकता है कि इसका आधार सामाजिक उपयोगिता ही है, तब किसी के चुनौती देने पर कि, 'सामाजिक स्वार्थ मेरे स्वार्थों के अनुषंगी होकर ही प्रतिष्ठा पा सकते हैं, मेरे स्वार्थ सामाजिक स्वार्थों के अनुषंगी नहीं हो सकते" किसी के पास क्या उत्तर होगा? यदि इसका यह उत्तर दिया जाय, जोकि एकमात्र सही उत्तर प्रतीत होता है, कि सामाजिक स्वार्थ वैयक्तिक स्वार्थों से महत्तर हैं, तब इस उत्तर का आधार सामाजिक उपयोगितामूलक नहीं हो सकता, क्योंकि यह सन्देह स्वयं सामाजिक उपयोगिता के सम्बन्ध में है और इसका निरास उस कसौटी के प्रतिपादन से ही सम्भव है जो सामाजिक उपयोगिता की महत्तरता को स्थापित करती है। यद्यपि कम्यूनिस्टों की सारी अपीलें इस धारणा पर प्रतिष्ठित होती हैं कि सामाजिक स्वार्थ वैयक्तिक स्वार्थों से महत्तर हैं, किन्तु तब भी वे नैतिकता का आधार सामाजिक उपयोगिता को ही मानते हैं, क्योंकि वे इस प्रश्न की गहराई तक जाते ही नहीं कि इस महत्तरता का क्या आधार है? इस महत्तरता का आधार यह बोध है कि आत्म-त्याग वरेण्य है, यह उत्कृष्ट गुण है। इस प्रकार सामाजिक स्वार्थ की महत्तरता इस बात में नहीं है कि इसमें अधिक का लाभ है और अधिक अल्प पर अपने स्वार्थों का आरोपण कर सकते हैं, बल्कि यह है कि 'क' का उत्कर्ष 'क' के अपनी सीमा को उत्तीर्ण करने में उपलब्ध होता है।

किन्तु "अपनी सीमा को उत्तीर्ण करने में उत्कर्ष है" इसका क्या औचित्य है? इसके उत्तर के दो पक्ष हैं: प्रथम यह कि इसके उत्तर की माँग का कोई अर्थ नहीं है, यह अयुक्त प्रश्न है, क्योंकि यह ऐसा ही प्रश्न है जैसा यह प्रश्न कि "प्रत्यक्ष यहाँ मेज़ के होने का प्रमाण है, इसका क्या प्रमाण है?" और दूसरा यह कि यह उत्तीर्णन और उत्कर्ष दोनों एक ही स्थिति की दो संज्ञाएँ हैं और इसे हम अनुभव में देखते हैं। इस उत्कर्षानुभव के औचित्य की माँग नहीं की जा सकती, इसके स्वरूप-निरूपण की माँग ही की जा सकती है।

नैतिकता का आधार सामाजिक उपयोगिता को मानने के बजाय सामाजिक उपयोगिता की प्राथमिकता का आधार नैतिकता को स्वीकार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक रूढ़ियाँ नैतिकता की प्रतिमान नहीं हो सकतीं, ये नैतिक चेतना की अभिव्यक्ति की माध्यम होती हैं। इसीलिए ये नैतिक चेतना की प्रतिबन्धक नहीं हो सकतीं, यद्यपि इनका प्रतिबन्ध स्वीकार करना सुविधाजनक होता है और इसीलिए इसे यथासम्भव स्वीकार करना चाहिए। किन्तु प्रबुद्ध नैतिक चेतना द्वारा इनका अतिक्रमण करना सदैव उचित है—यह अतिक्रमण स्वयं सामाजिक रूढ़ियों को नये आयाम देता है। किन्तु यह अतिक्रमण नैतिक चेतना, अथवा व्यापकतर मूल्य-बोध, द्वारा ही वरेण्य हो सकता है, चंचलता द्वारा नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदाहरणतः जैनेन्द्र के त्यागपत्र की नायिका यौन-सम्बन्ध विषयक सामाजिक रूढ़ियों को स्वीकार नहीं करती किन्तु उसके आचरण को अनैतिक नहीं कहा जा सकता। वास्तव में उत्कृष्ट साहित्य रूढ़ नैतिकता को चुनौती देकर नैतिकता के यथार्थ स्वरूप का उद्घाटन करता है।

किन्तु त्याग-पत्र के हमारे उदाहरण पर आपत्ति की जा सकती है, क्योंकि यह एक प्रतिनिधि उदाहरण नहीं है। इसलिए कुछ अन्य उदाहरण देखना उपयुक्त होगा। हम एक उदाहरण शोलोखोव के उपन्यास 'डॉन फ्लोज़ होम' से लेंगे और दूसरा एक आत्म-कथा 'माई लाइफ़' से। 'डॉन फ्लोज़ होम' में ग्रेगोर तथा अक्सीनिया के प्रेम को तथा 'माई लाइफ़' में आइसा डोरा डंकन द्वारा वर्णित अपने प्रेम-सम्बन्धों को क्या कहा जाय ?—नैतिक या अनैतिक ? ये दोनों उदाहरण रूढ़-नैतिकता के स्पष्टतः विपरीत हैं और मृणाल के यौन-सम्बन्धों के समान निर्लिप्त करुणा से उत्पन्न भी नहीं हैं। तब इनको क्या कहा जाय ?

जैसाकि इन दो उदाहरणों को देखने मात्र से स्पष्ट है, ये दोनों भी एक-दूसरे से बहुत भिन्न स्तर पर हैं—ग्रेगोर और अक्सीनिया का प्रेम शुद्ध मांसल प्रेम है जबकि डंकन के प्रेम-सम्बन्ध अत्यन्त ज़टिल आध्यात्मिक, बौद्धिक तथा कलात्मक अनुभूतियों की अभिव्यक्तियों के माध्यम हैं। इस प्रकार डंकन के प्रेम-सम्बन्धों को भी एक दूसरे प्रकार से रूढ़ नैतिकता का अतिक्रमण कहा जा सकता है। किन्तु ग्रेगोर-अक्सीनिया के, हीर-राँझा के, सोहनी-महीवाल के प्रेम को क्या कहा जा सकता है ?

यह बहुत बड़ा प्रश्न है, यहाँ इसका संक्षिप्त उत्तर मैं यह देना चाहूँगा कि सब प्रेम नैतिक है, यदि वह प्रेम है तो, समाज केवल उसकी विहितता-अविहितता का निर्धारण करता है, उसके औचित्य-अनौचित्य का नहीं। इस बात को अपढ़ भी खूब अच्छी तरह जानता है। इसको उचित-अनुचित वे अन्य संबंध बनाते हैं जो इससे प्रभावित होते हैं—पति या पत्नी के प्रति वफ़ादारी तथा माता-पिता की भावनाओं का आदर, ये भी मूल्य हैं और परिणामतः दो मूल्य-स्थितियों के दावों का ध्यान रखना आवश्यक है, जोकि अत्यन्त प्रबुद्ध नैतिक चेतना की अपेक्षा करता है। इस प्रकार, ऐसे सम्बन्धों की नैतिकता का प्रमाण रूढ़ि नहीं अन्तःकरण-प्रवृत्ति ही हो सकता है। जहाँ उच्छृंखलता है, या कामातुरता है, वहाँ सम्बन्ध विहित होने पर भी अनैतिकता होगी। अपनी जोरू को पीटना विहित रहा है किन्तु इसे नैतिक कोई नहीं कह सकता, न कामातुर हो अपनी पत्नी में डूबे रहना नैतिक कहा जा सकता है। इसमें सामाजिक स्वीकृति है किन्तु अन्तःकरण प्रवृत्ति—उत्कर्षानुभव—का साक्ष्य नहीं है।

यहाँ 'उत्कर्षानुभव' शब्द का प्रयोग हमने लाघव के प्रयोजन से किया है, हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि इसमें मनुष्य 'मेज़ देखने' के समान कुछ अनुभव करता है, न 'उत्कर्ष' शब्द में निहित 'ऊपर उठने' की दैशिक कल्पना अभिप्रेत है। हम यहाँ 'आत्मोत्तीर्णता' के स्वरूप-निरूपण का प्रयत्न भी नहीं करेंगे।[1] यहाँ हम केवल इतना कहना चाहेंगे कि जिस प्रकार मनुष्य में विषय-विधान (आब्जेक्टीफिकेशन) की प्रवृत्ति है, उसी प्रकार उसमें औचित्य-विधान की भी प्रवृत्ति है। वह कुछ अवस्थाओं को 'उचित, उत्कृष्ट, शुभ' के रूप में ग्रहण करता है, जिस प्रकार वह कुछ अवस्थाओं को 'यह और ऐसी' के रूप में ग्रहण करता है। औचित्य-विधान का एक ही प्रकार नहीं है, यह सही है, किन्तु न तब विषय-विधान का ही कोई एक प्रकार है।[2]

किन्तु औचित्य-विधान के अनेक प्रकार होने का यह अर्थ नहीं है कि हमारे सब औचित्य-निर्णय बराबर सही होते हैं और उनमें कोई भ्रम की संभावना नहीं हो सकती—जैसे कि "नथिंग इज़ गुड आर बैड, थिंकिंग मेक्स इट सो" जैसी उक्तियों में कल्पित है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार विषय-विधान के प्रकारों में विभिन्नता का यह अर्थ नहीं है कि इनमें भ्रम और अयुक्त अवधारण नहीं होता। कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय में विमूढ़ता उसी प्रकार होती है जिस प्रकार सत्यासत्य के निर्णय में। इस प्रकार यह स्वीकार करने पर भी कि नैतिक मूल्यों में परिवर्तन होता है, यह स्वीकार करना आवश्यक नहीं है कि नैतिक निर्णयों में हम विभ्रमित नहीं होते।

नैतिक निर्णयों में ये भ्रम दो प्रकार के होते हैं—एक तो स्थिति-विशेष के नैतिक स्वरूप को नहीं समझ पाने के कारण, जैसे किसी मानसिक दुर्बलता के क्षण में हम किसी अनुचित कर्म को उचित मानने लगते हैं, और दूसरे जब हम

१. द्रष्टव्य—संस्कृति : मानव-कर्त्तृत्व की व्याख्या में 'नैतिक मूल्य' तथा 'धर्म का स्वरूप' अध्याय।
२. द्रष्टव्य—'ज्ञान और सत्'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानसिक दुर्बलताओं को ही मूल्य के पद पर प्रतिष्ठित कर देते हैं, जैसे आज बहुत से लोग यौन-नैतिकता को पिछड़ेपन का पर्याय मानते हैं और यौन-वृत्तिता को उचित और प्रगति का पर्याय मानते हैं। ये मूल्य-परिवर्तन नहीं हैं, मूल्य-विपर्यय हैं, अथवा कहें, मूल्य-बाध हैं।

किन्तु यौन-वृत्तिता, किसी का डाका मारने को उचित कहना, मूल्य-परिवर्तन-मूलक भी हो सकते हैं। जैसे, कम्यूनिस्ट जब यह कहते हैं कि सामाजिक न्याय की स्थिति लाने के लिए कुछ व्यक्तियों की हत्या, लूट-खसोट, अथवा सामान्य अव्यवस्था लाना भी उचित है तब वे नैतिक निर्णयों के लिए एक भिन्न आधार की वकालत कर रहे हैं, और जब ये आधार समाज में सामान्यतः स्वीकृत हो जाते हैं तब नैतिक मूल्यों में परिवर्तन की स्थिति उपलब्ध होती है।

इन आधारों में आज परिवर्तन हुए हैं। ऐसा नहीं है कि ऐसे परिवर्तन आज कोई पहली बार हुए हैं, बुद्ध ने ऐहिक ब्राह्मण-मूल्यों को चुनौती देकर ऐहिक को दुःखम कहा और इससे समाज के मूल्यों के आधारों में परिवर्तन घटित हुआ, तांत्रिकों के कुछ सम्प्रदायों ने यौन-सम्बन्ध को साधना का अनिवार्य अंग कहकर यौन-सम्बन्धों को नया अर्थ दिया, एक प्रकार से कृष्ण-भक्ति में पातिव्रत्य की धारणाओं को चुनौती है—कम-से-कम पातिव्रत्य को गौण स्थान तो है ही—गोपियाँ पतियों की चिन्ता नहीं करतीं, न सीता और मीरा को एक ही नैतिक धारणाओं के दो आदर्श उदाहरण कहा जा सकता है।

हमारे युग में नैतिक धारणाओं में जो परिवर्तन घटित हो रहे हैं उनका सूत्रपात यूरोप के पुनर्जागरण युग के साथ हुआ। यद्यपि 'पुनर्जागरण युग' को परिभाषित करना बहुत कठिन है, किन्तु तब भी इसकी विशेषताएँ तर्क-परायणता, ऐहिकता और मानववाद कही जा सकती हैं। उदाहरणतः विज्ञान को तर्क-परायणता और ऐहिकता का परिणाम कहा जा सकता है, प्रजातन्त्रवाद और साम्यवाद को मानववाद के दो रूप कहा जा सकता है, प्रत्यक्षवाद (पॉज़िटिविज़्म) को तर्क-परायणता और ऐहिकवाद का और अस्तित्ववाद को तर्क-परायणता और मानववाद का। किन्तु इसके बावजूद इस युग के सब विचार-आन्दोलनों का कोई एक सामान्य मान बताना कठिन है, सिवाय इस बात के कि इन सब आन्दोलनों में न्यूनाधिक मात्रा में ये तीनों तत्व मिलते हैं—कीर्केगार्ट और हाइडेगर के बावजूद।

किन्तु जब विचारधाराएँ ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनैतिक वस्तुस्थितियों में क्रियान्वित होती हैं तब एक बिलकुल ही भिन्न बात होती है। यदि तर्कमूलक ऐहिकता एक सर्वथा सही सिद्धान्त भी हो (यद्यपि सिद्धान्तों के इस प्रकार सही होने का कोई विशेष अर्थ नहीं है) तो भी यह एक जीवन-दर्शन के रूप में किस प्रकार के समाज और व्यक्ति को सम्भव कर सकता है, यह विचारणीय है। किन्तु यह केवल एक पक्ष है, दूसरा पक्ष यह है कि एक आध्यात्मिक दृष्टिकोण भी भयानक वस्तुस्थितियों को जन्म दे सकता है। निष्कर्ष यह कि कोई दृष्टिकोण अथवा सिद्धान्त ऐतिहासिक-सामाजिक वस्तुस्थितियों में अपनी तार्किक शुद्धता के साथ क्रियान्वित नहीं होता। यही पुनर्जागरण के उपरोक्त त्रिसूत्री आदर्श के साथ हुआ। यद्यपि मैं तो सोचता हूं कि नवजागरण युग कोई ऐसा आदर्श नहीं दे सका जो व्यक्ति या समाज के लिए एक पर्याप्त दर्शन कहा जा सके, किन्तु यहाँ मैं इस प्रसंग पर विचार नहीं करूँगा,[1] यहाँ मैं केवल इतना ही कहना चाहूँगा कि प्रजातन्त्रवाद-साम्यवाद ने एक ओर और यान्त्रिक विकास ने दूसरी ओर सामाजिक-राजनैतिक सम्बन्धों को न केवल बदल दिया है बल्कि इन्हें इतनी बृहत्ता भी दी है कि यह अपने-आप में एक बड़ी समस्या हो गयी है। इस पर यह कठिनाई है कि मनुष्य को पराकाष्ठा मान लेने से मनुष्य की अपनी गरिमा खण्डित हुई है। हम प्रायः अपने जीवन का, अपने होने का, अर्थ जानना चाहते हैं। यह प्रश्न मनुष्य को अपने से 'परे' देखने को बाध्य करता है। 'परे' कुछ नहीं दीखने पर उसे अर्थ के प्रति सन्देह होता है। और जीवन के अर्थ में सन्देह कैसी मनःस्थिति देता है, यह कल्पना करना कठिन नहीं है। यहाँ मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि जीवन का कोई अर्थ है, कि मनुष्य पराकाष्ठा नहीं है, यहाँ इस सबकी चर्चा करने के लिए अवसर नहीं है, यहाँ मैं केवल इसके परिणामों की ओर संकेत कर रहा हूँ।

× × ×

ऊपर हमने नैतिक मूल्यों में परिवर्तन विषयक सर्वथा

१. इस प्रसंग पर विचार के लिए द्रष्टव्य—संस्कृतिः मानव-कर्त्तृत्व की व्याख्या में 'प्राकृतिक विज्ञान' अध्याय तथा बिन्दु त्रैमासिक के जनवरी १९७० अंक में मेरा लेख 'भारतीय संस्कृतिः जीवित या मृत?' लेख।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामान्य चर्चा के पश्चात् वर्तमान युग की मूल्य-दिशा की सामान्य चर्चा की। यहाँ हमारी अपनी विशेष परिस्थिति के सम्बन्ध में कुछ शब्द कहना समीचीन होगा। इसके लिए हम एक उद्धरण से आरम्भ करेंगे :

"समसामयिक मनःस्थिति पर विचार करने के साथ-साथ जो तीन-चार बातें स्पष्ट रूप से सामने आती हैं वे यह हैं कि पिछले बीस वर्षों में यदि किसी चीज़ का विकास तेज़ी से हुआ है तो वह हमारे सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक जीवन की विसंगतियाँ हैं। हमारे सामने जो नैतिक मूल्य आज से बीस वर्ष पहले थे वे एकदम झूठे पड़े हुए-से दिखते हैं। जो वैध या अवैध की दृष्टि थी वह चुकी हुई लगती है। नित्य-प्रति वैध को अवैध के रूप में बदलते हुए हम देखते हैं और उनके साथ सह-अस्तित्व स्थापित करके शान्त हो जाते हैं। 'फेयर प्राइस शाप' आज से दो महीने पहले के अवैध मूल्य और काले बाज़ार को वैध की सील-मुहर लगाकर प्रस्तुत करने की एक अनवरत प्रक्रिया है जो 'अनफेयर' को पनपाती रहती है।"

नैतिक मूल्यों में परिवर्तन की पृष्ठभूमि का यह अच्छा चित्रण है। किन्तु यह स्वयं नैतिक मूल्यों में परिवर्तन का निरूपण नहीं है। यह उस मनःस्थिति का द्योतक है जिसमें सामान्यतः हम रह रहे हैं। यह आज एक सर्वस्वीकृत-सी बात हो गयी है कि कल के मूल्य आज नहीं रहे, कल की मूल्य-दृष्टि आज चुक गयी है। वास्तव में मूल्यों की, और सम्पूर्ण मानवीय वस्तुस्थिति की यह विशेषता है कि इसके सम्बन्ध में दृष्टि इसमें परिवर्तन घटित कर देती है। यदि मैं कहता हूँ कि पुरानी मूल्य-दृष्टि बदल गयी है—चुक गयी है—तो वह मेरे लिए पहले से चुक गयी रहती है, यदि अधिक लोग यह कहने लगते हैं तो वह अधिकांशतः चुक जाती है। किन्तु क्यों यह चुकती, या क्यों यह चुके, इसका कोई औचित्य दिखाई नहीं देता। जैसा कि श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा ने ही आगे कहा है, "यह एक विसंगति की स्थिति है किन्तु इस विसंगति का बोध या इसकी जागरूकता ही इस अवरुद्धता से निष्कृति पाने का मार्ग है।" (वहीं) आलोचना के इसी अंक में मैंने इसी बात को 'लेखक की पराजय' लेख में और भी प्रखरता के साथ कहा है।

किन्तु यहाँ जो मुख्त बात ध्यान देने की है वह यह कि जबकि यह स्पष्ट है कि "पिछले नैतिक मूल्य आज झूठे पड़ गए हैं," यह कोई नहीं बता सकता कि नए नैतिक मूल्य क्या हैं। 'मूल्य-परिवर्तन' का अर्थ तो यह है कि आज पहले से भिन्न मूल्य हैं, किन्तु यदि आज कोई मूल्य ही नहीं हों तो इसे 'मूल्य-परिवर्तन' की स्थिति नहीं कहा जा सकता। हम यह देखते हैं कि "नित्य-प्रति वैध अवैध में बदल रहा है" अर्थात्, प्रधानमन्त्री, मुख्यमन्त्री और इनके छुटभैयों के चपरासी तक विस्तृत शृंखला अवैध कर्म-रत है, किन्तु यह कोई मूल्य-मूलक परिवर्तन की स्थिति नहीं है, न यह पुराने नैतिक मूल्यों के आज झूठे पड़ने से ही कोई सम्बन्ध रखती है, यह समाज में व्यापक भ्रष्टाचार की स्थिति है। यह स्थिति मूल्य के स्तर पर आक्रोश की कारण हो सकती है और मनोवैज्ञानिक स्तर पर भ्रष्टाचारी होने की। दुर्भाग्यवश आज हमें दूसरा स्तर ही उपलब्ध है। एक बार मैंने अपनी कक्षा में दर्शन के एम० ए० फाइनल के विद्यार्थियों से पूछा कि वे दर्शन का अध्ययन क्यों कर रही हैं? (कक्षा में एक के सिवाय सब लड़कियाँ ही थीं) उन्होंने उत्तर दिया कि "पढ़ इसलिए रही हैं क्योंकि अभी विवाह नहीं हुए हैं और दर्शन इसलिए पढ़ रही हैं क्योंकि कुछ पता नहीं था कि क्या विषय लेना चाहिए," आदि। चर्चा आगे बढ़ी और धन के महत्त्व, भ्रष्टाचार आदि तक आई। सो, इन युवाओं में जागरूकता थी, किन्तु कैसी जागरूकता यह थी?

यह कोई नयी बात नहीं है कि समाज में धन का आदर है। पंचतन्त्र में बहुत श्लोक हैं जिनमें समाज में धन का यह महत्त्व बताया गया है—यस्यार्थाः तस्य मित्राणि, यस्यार्थाः तस्य बान्धवः, यस्यार्थाः सः पुमान् लोके, यस्यार्थाः स च पण्डितः। किन्तु इसके बावजूद आज से पहले कोई युवक इस तथ्य को मूल्य के रूप में नहीं देखता था, आज का युवक इसे इस रूप में देखता है कि यह अनुसरणीय है, और अन्य कोई मूल्य नहीं है। जैसाकि मैंने ऊपर कहा, यह आक्रोश की स्थिति नहीं है, क्योंकि आक्रोश मूल्यहीनता के विरुद्ध मूल्य-बोध का होता है। दुर्भाग्यवश हमारा साहित्यिक भी आज मूल्य-हीनता से भिन्न स्थिति में नहीं है। जैसाकि श्री लक्ष्मीकांत वर्मा ने भी कहा, "यह पूरा साहित्य एक भीड़ का साहित्य है। इसका भावबोध एक भीड़ के वृत्त में फँसे मानस की अकुलाहट है।" मैंने यह बात लगभग बारह वर्ष पहले 'कल्पना' के एक अंक में नयी कविता के सम्बन्ध में लिखी थी और इधर आलोचना और माध्यम में लिख चुका हूँ। यह युवा साहित्यिक आक्रोश और विद्रोह आदि का दम्भ अवश्य करता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, किन्तु जो इसे कॉफ़ी हाउस, सिनेमा-हाउस, दफ्तर और घर में देखता है वह जानता है कि यह आक्रोश एक फैशन और लहज़ा मात्र है जबकि वह स्वयं उसी स्थिति में है—यद्यपि पिछड़ा हुआ। इसीलिए उसका आक्रोश मूल्य-हीनता में निष्पन्न होता है, इसके विरुद्ध आक्रोश में नहीं। इसलिए 'साठोत्तरी पीढ़ी' और 'युवा पीढ़ी' की जो आज मूर्ति-प्रतिष्ठा की जाती है उसके प्रति मेरी कोई सहानुभूति नहीं है।

इस प्रकार देखने पर 'परिवर्तित नैतिक मूल्य और साहित्यकार की स्थिति' के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि मूल्य परिवर्तित नहीं समाप्त हो रहे हैं और साहित्यकार उसमें योगदान कर रहा है। किन्तु उपरोक्त प्रश्न में यह उत्तर अभिप्रेत नहीं है। यहां प्रश्न में यह पूर्वकल्पित है कि पहले से भिन्न मूल्य-व्यवस्था उत्पन्न हो चुकी है या हो रही है। किन्तु यदि यह हो तब साहित्यकार की स्थिति के संबंध में कहने में कोई कठिनाई नहीं है—तब उसे इन मूल्यों को पुष्ट करना चाहिए और यदि युग की मूल्य-दृष्टि में दोष हो तब उसकी मनीषी-दृष्टि को यह देख सकने में सक्षम होना चाहिए तथा उसके साहित्य को यह दोष उसी प्रकार दिखाना चाहिए जिस प्रकार दर्पण चेहरे के दाग़ दिखा देता है। किन्तु मूल्य-हीनता की स्थिति में साहित्यिक का उत्तरदायित्व और भी बढ़ जाता है। उसे परिवर्तित स्थिति का 'मनोविश्लेषण' कर मनोविकार का निरास करना होता है और नये सिरे से मूल्य-बोध देना होता है। किन्तु इसके लिए यह स्वीकृति आवश्यक है कि मनुष्य मूल्य के बिना स्वस्थ नहीं रह सकता है। क्या आज का साहित्यिक यह स्वीकार करने को तैयार है? क्या इतना साहस है उसमें? क्योंकि यह स्वीकार करने का अर्थ होगा उसका पहले अपनी ही ताड़ना करना। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वक्रोक्ति सिद्धान्त : आधुनिक परिप्रेक्ष्य

विजेन्द्र नारायण सिंह

हर साहित्यिक आन्दोलन कविता नामक विधा को नये सिरे से परिभाषित कर जाता है। कोई भी परिभाषा अपने युग और समाज से निरपेक्ष नहीं होती। तब भी उस परिभाषा की कई व्याप्तियाँ ऐसी होती हैं जो युग से परे भी जाती हैं और उनका महत्त्व सार्वकालिक और सार्वजनीन होता है। ऐसा भी होता है कि एक साहित्यिक आन्दोलन में एक विशेष काव्य-तत्त्व या काव्य के एक खास पहलू पर ही अधिकतम बल पड़ता है। इससे पता चलता है कि वक्रोक्ति भी इसी प्रकार पुनर्परिभाषा का एक प्रयास थी। पुनर्परिभाषा का प्रयास किसी आचार्य को तब करने की ज़रूरत पड़ती है जब पुराने काव्य-सिद्धान्त आचार्य की कोई त्रुटि उसे साफ भासित होने लगती है और उससे काव्यबोध का कोई-न-कोई पक्ष अव्याख्यायित रह जाता है।

कुन्तक से सदियों पूर्व भर्तृहरि ने उस भाषा-वैज्ञानिक सिद्धान्त की असन्तोषप्रद प्रकृति को उभारकर रख दिया था जिसमें अलग-अलग शब्द और उसके कोशगत अर्थ पर निर्भरता थी। स्फोट-सिद्धान्त का प्रवर्त्तन कर उन्होंने इस बात की महत्ता पर बल दिया कि पूरी उक्ति को महत्त्वपूर्ण भाषा-तात्त्विक प्रतीक माना जाय। भर्तृहरि ने यह भी दिखाया था कि उक्ति का अर्थ सन्दर्भगत तथ्यों और संस्पर्शों पर अवलम्बित होता है और अलग-अलग शब्दार्थों के आधार पर वाक्यार्थ का ग्रहण दोषपूर्ण होता है। आनन्दवर्धन का ध्वनिमत भर्तृ-हरि पर पूर्ण अवलम्बित है। वाच्यार्थ से भिन्न अन्य अर्थ संकेतित करने की क्षमता—जिसे लक्षणा, व्यंजना आदि कहते हैं—कुन्तक ने नामभेद से अपने वक्रोक्ति-सिद्धान्त में समाहित किया है। प्रतीयमान उन्हें पूरी तरह स्वीकार्य है। अलंकार मूलतः भाषा के क्षेत्र में ध्वनि, शब्द, पद और वाक्य सभी को स्वीकार करता है; पर वक्रोक्ति केवल पूरी उक्ति को स्वीकार करती है। कुन्तक की स्थापना का तात्पर्य यह है कि शब्दों का अर्थ उनके साहचर्य में निखरता है। साहचर्य से निरपेक्ष होकर वे बेमानी होते हैं। अंग्रेज़ कवि-आलोचक पोप ने कुछ ऐसी ही बात कही थी जब वे कोशों पर झुंझलाते हुए कहते हैं कि वे शब्दों के साहचर्य में रहने पर अर्थ जानने में बाधक ही सिद्ध होते हैं। यही भर्तृहरि ने भी कहा था। इस दृष्टि से वक्रोक्ति-सिद्धान्त एक वैज्ञानिक प्रयास है।

संस्कृत काव्यशास्त्र के क्षेत्र में कुन्तक का आविर्भाव उत्तर अलंकार काल में होता है और वे सौन्दर्यशास्त्रीय आचार्य अथवा सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक न होकर काव्य के सूक्ष्म पर्यवेक्षक और साहित्यिक समीक्षा के परिष्कारक ही अधिक सिद्ध होते हैं। इस परवर्त्ती अवस्था में आगमन के कारण उनके समक्ष वैदुष्यपूर्ण परिभाषीकरण और ह्रासकालीन वर्गीकरण के अनेक आकर्षण रहे होंगे। लेकिन वक्रोक्ति-सिद्धान्त इन सबको भेदकर काव्यालोचन के कर्म की ओर सीधे उन्मुख होता है। ज्ञान के सम्पूर्ण निकाय में प्रवेश एवं विचक्षणता और विशुद्धीकरण की शक्ति के अर्जन के अपने आकर्षण हैं, लेकिन साहित्यिक आलोचना को नंदतिक सिद्धान्त से विच्छेद के बिन्दु को अंकित करते हुए सिद्धान्त और विनियोग के लिए एक सामान्य बोधगम्य आधार प्रस्तुत करना ही होगा। 'वक्रोक्तिजीवितम्' सौन्दर्यशास्त्र के सामान्य सिद्धान्त और साहित्यिक आलोचना के बिलगाव का अच्छा निदर्शन है। यदि हम भरत में रस-सिद्धान्त के आदि रूप को देखें, जिसमें संगीत, नृत्य, रंग, संकेत, अभिनय एवं शब्द-मीमांसा सबका व्यापक नंदतिक समाहार मिलता है, तब हमारी बात साफ हो जाती है।

अभिव्यंजना के विश्लेषण-क्रम में कुन्तक भामह में बीज रूप में प्राप्त वक्रोक्ति के विचार को विकसित करते हैं और उन सभी आचार्यों के मतों को व्यवस्था प्रदान करते हैं, जिन्होंने अलंकार को काव्य का अपरिहार्य तत्त्व बतलाया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकिन उनकी मीमांसा इस औपचारिक 'प्रतिज्ञा' से अधिक गहरांई में उतरती है। काव्य उनके लिए अलंकृत शब्दार्थ है और यह अलंकृति सामान्यतया रूढ़ अर्थ में प्रयुक्त अलंकार ही है। चूंकि यह अलंकार आवश्यक और सम्भव है इसलिए वे उन मतों का खण्डन करते हैं, जो अलंकार को अपरिहार्य तत्त्व मानते हैं। लेकिन उनकी मीमांसा की व्याप्ति इतनी ही नहीं है। वे अलंकार संज्ञा का प्रयोग सौन्दर्य के व्यापक विभावन के अर्थ में भी करते हैं और यह आलंकारिक अभिव्यंजना का ही बुनियादी सिद्धान्त नहीं, बल्कि काव्यात्मक अभिव्यंजना मात्र का आधार है। इसे ही उन्होंने वक्रोक्ति कहा है और रीति, गुण, रस एवं ध्वनि आदि सभी मतों का पुनरीक्षण और पुनर्मूल्यांकन वे इसी कोण से करते हैं। इस प्रकार वक्रोक्ति-सिद्धान्त संस्कृत काव्यशास्त्र की सभी परम्पराओं के नूतन संस्कार का सबसे प्रकांड प्रयास सिद्ध होता है। वक्रोक्ति-सिद्धान्त ने विद्रोह की अपेक्षा काव्यालोचन के सिद्धान्त में परिष्कार उपस्थित किया। इसने काव्य-विवेचन की पद्धति को अधिक पूर्ण और सुष्ठु बनाया।

ध्वनि-सिद्धान्त का निरूपण पूरी तरह काव्य के सन्दर्भ में हुआ है, लेकिन ध्वनि में आभ्यन्तरिक अनुकम्पन के अनुक्रम और वक्रोक्ति में अवतरण से अव्यवहित प्रासंगिकता के पृथक्करण का परीक्षण साहित्यिक आलोचना के प्रचलित व्यवहार के आधार पर होना चाहिए। ध्वनि कवि और सहृदय-सापेक्ष है, वे इसे सुनते हैं, लेकिन आलोचनात्मक परख का विकास श्रुत अथवा अश्रुत ध्वनियों के आश्रित नहीं बनाया जा सकता। लेकिन वक्रोक्ति का विकास अवतरण से ऊपर उठकर होता है, जहाँ कहीं वह है उसे हम विलग कर सकते हैं और तब समग्र रचना की विलक्षणता का आहरण पूरी स्वच्छन्दता से किया जा सकता है। यह तो स्पष्ट ही है कि काव्यात्मक अर्थ के क्षेत्र में ध्वनि एक विरल और मूल्यवान् तत्त्व है और आलोचना के वे औज़ार जो इसे पकड़ने में असमर्थ प्रमाणित होते हैं इतने स्थूल और अपरिष्कृत हैं कि उनके द्वारा सूक्ष्म विशिष्टताओं की परख सम्भव नहीं है। लेकिन इस बात से सहमत होना भी कठिन है कि काव्यात्मक अर्थ का क्षेत्र केवल ध्वनि तक ही सीमित है। काव्यात्मक अर्थ और जीवन में व्यवहृत होने वाले शब्दों के अर्थों की सम्बन्ध के इस सिद्धान्त के आधार पर कल्पना करना कठिन है।

कृष्णचैतन्य ने यह बतलाया है कि सापेक्षवाद की तरह ध्वनि का भी एक सामान्य सिद्धान्त है और एक विशेष सिद्धान्त है। सामान्य सिद्धान्त का उत्स भरत में ही मिलता है। लेकिन विशेष सिद्धान्त परिष्कार है, बड़ा ही चमत्कारी परिष्कार है, किन्तु इसके उपयोग की सीमाएँ जो आलोचक अनदेखी कर जाता है वह कितनी अच्छी कविताओं को घटिया कविता मानकर खारिज कर देता है। आनन्दवर्धन उस काव्य को अधम काव्य मानते हैं, जिसमें किंचित् भी व्यंजना नहीं हो। उनके अनुसार यह चित्रकाव्य है, चाहे वह शब्दचित्र हो अथवा अर्थचित्र हो। विश्वनाथ इसके काव्यत्व का ही निषेध करते हैं। यहाँ मॅलार्मे का स्मरण हो आना स्वाभाविक ही है, क्योंकि उसने इसी आधार पर पैरनैसियन कविता की तीव्र आलोचना की है। उसका आक्षेप यह है कि इसमें चक्षु-गोचरत्व से परे और कोई चीज नहीं है।

आनन्दवर्धन के आलोचकों ने इसीके खिलाफ विद्रोह किया। इस विद्रोह के और भी तात्त्विक कारण हैं। उन्होंने यह भी स्थापना प्रस्तुत की कि चित्रकाव्य रसानुभूति के उद्रेक में सक्षम नहीं है। किन्तु क्या चित्रकाव्य में ऐसी कोई अन्तर्भूत असमर्थता है? वक्रोक्ति-मत ने ध्वनि-सिद्धान्त की इस त्रुटि का परिहार किया। कुन्तक ने बतलाया है कि कवि का लक्ष्य सदा न तो कुछ व्यंजित करना होता और न रसोद्रेक ही। उसकी सिसृक्षा को किसी एक गाँठ से बाँधा नहीं जा सकता है। कहीं-कहीं कवि मात्र विच्छित्ति का ही सृजन करना चाहता है। काव्यात्मक अभिव्यंजना का विश्लेषण करते हुए उसने इसी आधार पर वक्रोक्ति की प्रतिष्ठा की। व्यंजना से रहित इस प्रकार की अभिव्यंजना का तिरस्कार ध्वनिवादियों ने किया था और उसे अधम काव्य कहा था।

कुन्तक से प्रेरणा ग्रहण कर रुय्यक ने इस काव्य-सिद्धान्त का बड़ा ही स्वच्छ विश्लेषण प्रस्तुत किया। इस प्रकार के प्रत्यय (concept) की कुंजी विच्छित्ति या चारुत्व है। रुय्यक ने लिखा है कि "वैचित्र्य नाम से कहा जाने वाला चारुत्व कभी भी शब्दोच्चारण या उसके अर्थप्रतीतिकर शब्द-व्यापार में नहीं देखा जाता। वह देखा जाता है उसमें जो उच्चारण और ज्ञान का विषय होता है। इसमें उच्चारण का विषय होता है शब्द और ज्ञान का विषय अर्थ। चारुत्व उन्हीं में दिखाई देता है।"[1] कुन्तक और रुय्यक की विच्छित्ति और चारुत्व

१. हिन्दी व्यक्तिविवेक (रुय्यक की टीका) : अनु० श्री रेवाप्रसाद द्विवेदी, पृ० २३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुतः वामन का 'सौंदर्य' ही है। कुन्तक ने चारुत्व को कवि-प्रतिभानिवर्तित्व बतलाया। तब प्रश्न उठता है कि ऐसा सामान्य चारुत्व क्या ध्वनि से रहित रहकर भी रसानुभूति नहीं जगा सकता है? यह ध्यान देने की बात है कि भारतीय काव्यशास्त्र में चारुत्व हृदय के सम्बद्ध माना गया है।

कुन्तक की विशेषता यह है कि वे काव्य की आत्मा के झमेले में नहीं पड़ते हैं। वे आत्मा या परम तत्त्व के रूप में किसी इतर वस्तु की खोज नहीं करते हैं। वे काव्य को छोड़कर रस अथवा ध्वनि की ओर आकृष्ट नहीं होते हैं। उनके आकर्षण का केन्द्र स्वयं रचना है। कलाओं के आस्वाद का परम रहस्य होने के कारण रस में आलोचकों को काव्य से विलग कर देने की बड़ी मोहक शक्ति है। रस की अलौकिकता अन्ततः शब्दों से ही निःसृत होती है। रस तो कई हैं, अनुभूति की इन विभिन्न स्थितियों से काव्य-रचना नहीं होती है। काव्यालोचन का वह सिद्धान्त, जो अनुभूति के दर्शन पर आधृत है, आलोचक के लिए नई कठिनाइयाँ उत्पन्न कर देता है। अतएव आलोचक की व्यावहारिक सुविधा का खयाल कर कुन्तक ने काव्य की आत्मा की खोज नहीं की और वे अनुभूतिवादी दर्शन से बचकर निकल गये। इसी कारण वक्रोक्ति को उन्होंने काव्य का 'जीवित' बतलाया।

रस का प्रतिमान काव्यास्वाद का प्रतिमान है। यह मूल्यांकन में बहुत सहायक नहीं हो सकता है। आस्वाद और मूल्यांकन एक ही चीज़ नहीं है। आस्वाद में हम कवि को विषय-वस्तु से तादात्म्य स्थापित करते हैं। रसास्वाद की एक विशेषता यह है कि उसमें प्रतिकूल वेदनीय के लिए कोई स्थान नहीं है। रसास्वाद का तादात्म्य पूर्णतः अनुकूल वेदनीय से ही होता है। मूल्यांकन में दो तत्त्व रहते हैं—परीक्षण और मूल्य-निर्धारण। ज्योंही हम परीक्षण में प्रवृत्त होते हैं त्यों ही अनुकूल और प्रतिकूल दोनों तत्त्वों के प्रति हम उन्मुख हो जाते हैं। रसास्वाद में तादात्म्य की मुद्रा रहती है, परीक्षण में तादात्म्य की। आस्वाद में हमारी संश्लेष की वृत्ति सजग रहती है और मूल्यांकन में विश्लेष की। अतएव मूल्यांकन की ओर उन्मुख होने वाले व्यक्ति को आस्वादेतर तत्त्वों को अधिक महत्त्व देना होगा। हालाँकि वह मूल्यांकन, जो आस्वाद से रहित होता है, चुलाये हुए जल (Distilled water) की तरह बेस्वाद होता है। रसवाद आस्वाद की एक प्रक्रियामात्र है। उसे मूल्यांकन का पूर्ण प्रतिमान नहीं बनाया जा सकता।

आलोचक के हाथ में जो औज़ार होता है वह है विश्लेषण का। रसानुभूति आस्वाद्य होती है, किन्तु उसका विश्लेषण शक्य नहीं है। रस-सिद्धान्त की सीमाओं को इसी सन्दर्भ में रेखांकित किया जा सकता है। अनुभूतियाँ कवि की होती हैं, किन्तु वह इन्हें भाषा के द्वारा सुरक्षित रखता है। भाषा अनुभूतियों को सुरक्षित रखने का आधान-पात्र (Repository) है। अनुभूतियाँ भाषा में हू-बहू नहीं उतरती हैं। किन्तु अनुभूतियों तक पहुँचने के लिए हमारे पास भाषा के सिवा और माध्यम ही क्या है? भाषा सन्दर्भ नहीं वरन् माध्यम है। किन्तु सन्दर्भ तक माध्यम के सिवा और किस चीज़ के सहारे पहुँचा जा सकता है? सन्दर्भ की प्रकृति और स्वरूप की आकृति (Physiogonomy) है भाषा। अनुभूति आलोचक के लिए भी गूँगे का गुड़ है। उस गुड़ का आस्वाद आलोचक भाषा के विश्लेषण द्वारा ही पा सकता है। इस कारण कविता का अन्तिम विश्लेषण भाषा का ही विश्लेषण सिद्ध होता है। इस कोण से देखने पर वक्रोक्ति-सिद्धान्त रस-सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक संगत समीक्षा-सिद्धान्त प्रमाणित होता है।

काव्यभाषा के प्रतिमान से अधिक तटस्थ आलोचना का दूसरा प्रतिमान कदाचित् सम्भव नहीं है। फिर कवि की अनुभूति तक पहुँचने के लिए भाषा के सिवा दूसरा क्या आधार हो सकता है? भाषा ही वह बैरोमीटर है, जिससे कवि की अनुभूति का दबाव मापा जा सकता है। कविता के संघटन में भाषा-प्रयोग की स्थिति केन्द्रीय है। अनुभूति के नाभिक (Nucleus) तक पहुँचने का निकटतम बिन्दु यही है। कॉलरिज ने जब कविता को शब्दों का उत्कृष्टतम क्रम बतलाया था, तब वे काव्य में भाषा-प्रयोग की इसी केन्द्रीय स्थिति की ओर इशारा कर रहे थे। कविता सबसे अच्छी भाषा है। इसी को कुन्तक ने वक्रोक्ति कहा है।

आचार्यों के सन्दर्भ में खास-खास शब्दों का चलन हो जाया करता है। कुन्तक के प्रसंग में वैचित्र्य और विच्छित्ति कुछ ऐसे ही शब्द हैं। 'वैचित्र्य' और 'विच्छित्ति' पर विमर्श के क्रम में हम कुछ विशिष्ट गुणों की टोह में रहते हैं; लेकिन असल विशिष्टता तो समग्र कविता में उभरती है, जिसके कारण अन्य किसी भी कविता से भिन्न उस कविता का पृथक् अस्तित्व होता है। बुरी कविताओं की पहचान यह है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनमें निजता नहीं होती। वे बेडौल और सामान्य जीवन की भागीदार होती हैं। उन्हें सही अर्थ में अस्तित्ववान् कहा ही नहीं जा सकता। उनमें से कोई भी कविता दूसरी का स्थानापन्न हो सकती है और शेष कविताओं के रहने न रहने से भी कुछ बनता-बिगड़ता नहीं है। कविताओं को निजता चाहिये ही और जहाँ यह 'स्व' की विशिष्टता नहीं होती है वहाँ वक्रत्व का अभाव समझना चाहिए। 'वैचित्र्य' से कुन्तक का यही तात्पर्य है।

उनकी काव्य-परिभाषा इसी तथ्य की ओर इशारा करती है। उनका कहना है कि व्यवस्थित शब्द और अर्थ वक्र-कवि-व्यापार से युक्त होने पर ही काव्यबन्ध होते हैं (१, ॥ ७ ॥)। यहाँ कुन्तक किसी विशिष्ट काव्यभाषा की अनुशंसा नहीं कर रहे हैं, वरन् आमफ़हम भाषा को ही वक्रत्व के स्तर पर ऊर्ध्वपातित होने की प्रक्रिया की ओर संकेत कर रहे हैं। काव्य मात्र अन्तःप्रजात काव्यसुलभ रीति के व्यवहार्य की अपेक्षा विभिन्न विशिष्ट भाषाओं को सम्बद्ध कर देनेवाली एक मूल भाषा (Key language) है। आमफ़हम भाषा की दुनिया में यह सैर, घिसे-पिटे शब्द-भंडार से अकस्मात् जीवंत शब्द उठाने की सतर्क दृष्टि; इनकी कुछ अप्रत्याशित प्रयोज्यता को दिखलाने के लिए इन्हें मुक्त कर देने की शक्ति, प्रत्यक्षतः गोचर क्षेत्र से रूप (form) का अनुसंधान आदि की क्षमता ही काव्य के जीवंत अवदान हैं। 'वक्रोक्ति जीवितम्' में पंडिताऊ भाषा की मीमांसा न होकर आमफ़हम भाषा को ही नवीन स्तर पर पहुँचाने को काव्यात्मक क्षमता का ही संधान मिलता है।

इसी दृष्टि से वक्रोक्ति रीति से भिन्न भूमि पर अवस्थित होती है। रीति की कल्पना में काव्यात्मक शब्दसमूह (Poetic Diction) की कोई न कोई धारणा अवश्य सन्निहित है। वक्रोक्ति काव्यांग की कोई विशेषता न होकर काव्यमात्र की विशेषता है। इसके द्वारा कवि आमफ़हम भाषा में गरिमा का संचार करता है और यही कवि-कर्म है। इस अर्थ में वक्रोक्ति और कवि-कर्म एक ही सिद्ध होते हैं। इस प्रकार यह सिद्धान्त आमफ़हम भाषा के प्रति निष्ठावान् है और इस पर वागाडम्बर का आरोप लगाना राक्षसी है। कुन्तक का तात्पर्य इतना ही है कि आमफ़हम भाषा में ग्राम्यत्व का तत्त्व रहता है। वक्रोक्ति ग्राम्यत्व का परिहार करती है और उसे उच्च काव्यात्मक परिष्कार प्रदान करती है। वक्रोक्ति यही उच्च काव्यात्मक परिष्कार है।

आमफ़हम भाषा का ही परिष्कार वक्रोक्ति-सिद्धान्त की आधारशिला है। वक्रोक्ति भाषा की विकसित फुनगी है एवं आमफ़हम भाषा की प्रकृति और उसकी प्राणवत्ता ही इस विकसनशील फुनगी को ऊपर उठाने को प्रेरित करती है। वक्रोक्ति परिष्कार है लेकिन इस परिष्कार की शक्ति बोल-चाल की भाषा में ही प्रसुप्त है। 'साहित्य मीमांसा' के रचयिता ने जब साहित्य का दूसरा नाम 'परिष्कार' प्रस्तावित किया था तब वह बात को गहराई में पकड़ रहा था। उसके इस सिद्धान्त के प्रति परवर्ती आचार्यों की अपेक्षा अच्छी बात नहीं हुई। आमफ़हम भाषा की स्वस्थ शिराओं में ही भाषिक ऊर्जा अभिव्यक्त होती है और वक्रोक्ति इसी ऊर्जा की ऊर्ध्वमुखी यात्रा है। कवि-कर्म इस ऊर्ध्वमुखी यात्रा की गति है तथा कविता स्वयं उस यात्रा का चरण-चिह्न। अभिनवगुप्त जब बन्ध, गुम्फ, भणिति, वक्रोक्ति और कविव्यापार को पर्याय बतलाते हैं, तब वे इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं।

वक्रोक्ति का जोर काव्य की जाति (प्रकार) और दृष्टांत पर उतना नहीं है जितना कि कविता के विलक्षण वक्रत्व पर। वक्रोक्तिवाद जब कवि-कर्म के सिद्धान्त को अधिक महत्त्व देता है, तब वह शिल्प के एकल महत्त्व पर जोर नहीं देता है वरन् समग्र रचनात्मक उपलब्धि की नव्यता को ही रेखांकित करता है। कारण यह कि शिल्प की समृद्धि विचारणा के लिए ही तो आहृत की जाती है। सिंह और सपूत की तरह शायर भी स्वीकृत मार्ग का परित्याग करता है। प्रत्येक सच्चे कवि को अपने युग की प्रवाही और सामान्य शैली में वक्रत्व का संचार करना चाहिए। प्रत्येक सच्चा कवि अपने ढंग से वक्रत्व का आहरण करता है। कुन्तक ने इसे ही 'वैचित्र्य' की संज्ञा दी है। वक्रत्व निकटवर्ती अतीत के साहित्य के सन्दर्भ में कवि की दृष्टि से नव्यता का समावेश ही है। छायावाद में पूर्ववर्ती साहित्य के संदर्भ में जो नवीनता है वही उसका वास्तविक वक्रत्व है।

वैचित्र्य को टुच्चा चमत्कार बतलाना उसकी गलत व्याख्या है। इसी प्रकार वैचित्र्य से तात्पर्य केवल शिल्पगत प्रवीणता नहीं है। संस्कृत की वैदुष्यपूर्ण कविता के उत्तर काल में ऐसी प्रवीणता का कोई अभाव नहीं था। वैचित्र्य कोई स्वायत्त (Autonomous) वस्तु नहीं है। यह वक्रोक्ति से नियन्त्रित अभिबोध है। यदि यह वैचित्र्य इतना साहसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो कि वक्रोक्ति आमफ़हम भाषा से उत्पन्न नव्यता से अत्यन्त दूर चली जाय, तब रचना केन्द्रापसारी हो जाती है और वक्रोक्ति का स्थान वागाडम्बर ले लेता है। किसी केन्द्रीय तत्त्व से निरपेक्ष नव्यता निष्फल विस्फोट करके रह जाती है। इस दृष्टि से प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रता का समीक्षात्मक प्रसंग अत्यन्त महत्त्व का है। कुन्तक रचना की समग्र ऊर्जा का कभी विस्मरण नहीं करते हैं।

अधिकांश प्राचीन काव्य-सम्प्रदाय तत्त्व-मीमांसा और दार्शनिक चिंतनाओं से निःसृत हुए हैं। साहित्यिक आलोचना के सौभाग्य से वक्रोक्ति-सिद्धान्त तत्त्व-मीमांसा के जंजाल से पूरी तरह मुक्त है। यह साहित्यिक आलोचना का विशुद्ध सिद्धान्त है। काव्य-प्रसंग में यह दो प्रकार के काव्यों का विरोध करता है—एक का पूरी वाग्मिता के साथ और दूसरे का निहितार्थ के द्वारा। प्रथम है, शरीर और अलंकार का विभाजन और कुन्तक का प्रहार यहाँ अलंकारवादियों पर है। उनका कहना है कि यदि शरीर ही अलंकार है तब आप अलंकृत किसे करेंगे ? कुन्तक वस्तुतः काव्य में तत्त्व और रूप की एकरूपता की बात कर रहे हैं। वक्रोक्ति कोई प्रयुक्त शिल्प नहीं है, बल्कि यह शब्द और अर्थ की संपृक्ति से निःसृत होती है। यह मौजूदा शब्द और अर्थ का अन्य प्रचलित और शक्तिवान् अर्थों से संपृक्ति है जिससे कि अनुभूति और भाषा की विद्यमान संरचना का वज़न मात्र ही शिल्प के छिछोरेपन, चपलता अथवा असारता के विरुद्ध सबसे अच्छा आश्वासन बन जाता है।

दूसरा है, काव्य-शरीर और आत्मा का पार्थक्य। कुन्तक काव्य की आत्मा का ज़िक्र ही नहीं करते हैं। रस को आवश्यकता से अधिक काव्य की आत्मा के रूप में घोषित किया गया है। कुछ लोगों ने यह गौरव ध्वनि को दिया है। आत्मा के प्रसंग में वक्रोक्ति-सिद्धान्त का मौन दो प्रकार की साम्प्रदायिकता का स्मरण दिलाता है। एक तो आर्नल्ड की वह आलोचनात्मक साम्प्रदायिकता है जहाँ वे आत्मा में विरचित कविता (Poetry composed in soul) और वैदग्ध्य से विरचित कविता (poetry composed in wit) की बात करते हैं। फिर दूसरी आध्यात्मिक साम्प्रदायिकता है, जिसमें कुछ लोग आत्मा में विश्वास करते हैं और कुछ लोग नहीं। ऐसी साम्प्रदायिकता प्राचीन काव्य के सन्दर्भ में भारत के प्राचीन काव्य-सिद्धान्तों से बहुत पृथक् नहीं है और सम्प्रदायों के उद्भव के उद्देश्य पर इससे अच्छा प्रकाश पड़ता है। तब भी एक आलोचक के लिए काव्य से छिटककर काव्य की आत्मा की ओर उन्मुख होना खतरनाक सम्भावनाओं से पूर्ण है।

आत्मा की खोज अतिसूक्ष्म खोज है और काव्यालोचन के प्रसंग में उसकी संगति ढूंढ़ना बहुत आसान नहीं है। कुन्तक इसीलिए जीवित का 'अनुसन्धान' करते हैं। आलोचक का कार्य काव्य के प्राणतत्त्व की परीक्षा करना है न कि आत्मा की खोज करना। काव्यालोचन के प्रसंग में उनके 'जीवित' की इस सार्थकता को क्षेमेन्द्र ने पकड़ा है। कुंतक से प्रेरणा ग्रहण कर 'जीवित' का उसने विवेचन-विश्लेषण किया है। उनका कहना है कि औचित्य 'काव्य की सुन्दर अनुभूति में चमत्कार उत्पन्न करने वाला रस का प्राण रूप' है। 'जीवित' का स्वरूप उन्होंने स्थिर एवं अविनश्वर (स्थिरमविनश्वर जीवितकाव्यस्य) बतलाया है।

क्षेमेन्द्र ने खुलासा करते हुए बतलाया है कि जिस प्रकार रसायनों से पुष्ट व्यक्ति का जीवन स्थिर होता है, उसी प्रकार काव्य के स्थायी अर्थात् नित्य जीवन की भी धारणा संगत है। प्रसंगात् यह जिज्ञासा संगत है कि जीवित का क्षेत्र क्या है ? यहाँ क्षेमेन्द्र ने प्रधान रूप के उपलब्ध होने योग्य स्थिति-स्थान को संकेतित करने के क्रम में पद, वाक्य, प्रबन्ध, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश आदि २८ स्थानों का उल्लेख किया है। लेकिन उनका कहना है कि इन पद आदि स्थानों में रहने वाला 'जीवित' काव्य के समस्त शरीर में व्याप्त होकर स्फुट रूप से प्रकट होता है जैसे समस्त शरीर में व्याप्त प्राण मर्म-स्थानों में स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है। अवश्य ही 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' से प्रेरणा ग्रहण कर जीवित का यह भाष्य उसकी व्याख्या में संगत माना जायगा। यद्यपि प्राण समस्त शरीर में व्याप्त रहता है, परन्तु उसकी स्पष्ट प्रतीति अंगुष्ठ मूलादि में होती है, इसी प्रकार वक्रोक्ति तो समस्त काव्य-शरीर में व्याप्त रहती है, परन्तु उसकी स्पष्ट प्रतीति पदादि काव्यांग में होती है। इस प्रकार 'जीवित' का यह संधान काव्यालोचन के प्रसंग में अत्यन्त संगत दिखाई पड़ता है।

अभिव्यंजना की प्रकृति क्या है ? इस क्षेत्र में भी वक्रोक्ति-सिद्धान्त ने महत्त्वपूर्ण विचारणा की अवतारणा की है। इस सिद्धान्त ने पहली बार 'साहित्य' को पद, वाक्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथवा तात्पर्य के व्याकरणिक साहचर्य से पूरी तरह मुक्त कर कवि-प्रतिभा अथवा कवि-व्यापार से व्युत्पन्न काव्यात्मक सम्बन्ध के रूप में निरूपित किया। इसी अर्थ में साहित्य शास्त्र अथवा साधारण बोलचाल की भाषा में नहीं होता है, बल्कि केवल काव्य में ही मिलता है। यह वाच्य अथवा वाचक का सामान्य संयोग नहीं है, बल्कि काव्य में यह विशिष्ट सम्बन्ध है और इस वैशिष्ट्य का निर्धारण काव्यशास्त्र की मुख्य समस्या है। वक्रोक्ति-सिद्धान्त इसलिए शब्द और अर्थ के परस्परस्पर्धित्व समभाव में काव्य की सिद्धि मानता है।

शब्द और अर्थ में किसी एक पर ज़ोर देना बेमानी है। इसी प्रकार एक को आभ्यन्तर और दूसरे को बाह्य बतलाना भी कोई मतलब नहीं रखता है। यहाँ तो 'विशेष' प्रकार के साहित्य से तात्पर्य है (किम् तु विशिष्टं एव साहित्यं अभिप्रेतम्) जिसके कारण आमफ़हम भाषा काव्य के रूप में मुकुलित हो जाती है। कुन्तक का कहना है कि वक्रकविव्यापार से युक्त होने पर यह वैशिष्ट्य काव्यबन्ध में उत्पन्न होकर तद्विदों के आह्लाद का कारण बनता है। इस प्रकार आमफ़हम भाषा में किसी अनन्य साधारण विच्छित्ति का संचार होता है। कुन्तक ने इसे ही वक्रत्व, भंगीभणिति अथवा वैचित्र्य कहा है। यह वक्रत्व कवि-प्रतिभा अथवा कवि-कर्म से निःसृत है। कुन्तक अभिव्यंजना का विश्लेषण और वर्गीकरण इसी कोण से करते हैं और इस प्रकार कवि की कल्पना-शक्ति की महिमा को बार-बार रेखांकित करते हैं। इसी हेतु वे अभिव्यंजना को एक ओर अखंड मानते हैं और उत्तम, मध्यम और अधम आदि—वर्गीकरणों का प्रत्याख्यान करते हैं। शब्द और अर्थ का साहित्य चाहे रूप की विशेषता हो अथवा तत्त्व की, चाहे वाच्य-वाचक काव्य-शरीर की, अथवा रसध्वनिरूपी आत्मा की, यह तो वक्रमार्ग है जो कवि-कर्म प्रजात है और यही 'विशेष' है।

कुन्तक की शिक्षा-दीक्षा अलंकार-सम्प्रदाय की थी किन्तु साहित्य का विश्लेषण उन्होंने व्यापक परिप्रेक्ष्य में किया। इसलिए वस्तु और भाषा के सम्बन्ध का उनका विश्लेषण उच्चतर धरातल पर प्रतिष्ठित हो सका है। उनका मुख्य प्रश्न कि काव्य को शास्त्र और आमफ़हम भाषा से कौन-सी चीज़ पृथक् करती है, एक व्यापक निहितार्थ को सँजोये है। उसे वक्रोक्ति अलंकार के साथ नत्थी कर देना सरासर अतिचार है।

यह लोंगिनुस है जिसने कहा था कि सबसे पहले हमें यह प्रश्न उठाना चाहिए कि उदात्त अथवा ऊर्जित की कला जैसी कोई वस्तु है भी या नहीं। प्रश्न यह है कि आज की आलोचना भाषा-शैली के विश्लेषण और उसी के द्वारा उसके अपेक्षया व्यापक पक्षों का संस्पर्श कर क्या संतोषप्रद वस्तुगतता (Objectivity) प्राप्त कर सकती है? वस्तुतः यह हमारे युग का मुख्य प्रश्न है। यदि साहित्य की सम्यक् आलोचना उसकी भाषा-शैली के द्वारा हो सकती है, तब हमें अच्छे और घटिया दोनों किस्म के कवियों की परीक्षा करनी होगी और उस भाषा के प्रतिमान की खोज करनी होगी जो सुदीर्घ अनुभव की प्रसूति होती है।

इस प्रसंग में इस सिद्धान्त पर एक विशेष आक्षेप यह किया गया है कि यह विशुद्ध व्याकरणिक विश्लेषण है। यह आक्षेप भी सुविचारित नहीं है। कुन्तक ने तो यह बतलाया है कि किस प्रकार वक्रोक्ति के संस्पर्श से व्याकरणिक कोटियां काव्यात्मक कोटियों में रूपान्तरित हो जाती हैं। व्याकरणिक कोटियों के काव्यात्मक कोटियों में रूपान्तरण को हम थोड़ा समझने की कोशिश करें। यहाँ शैली हमारी सहायता कर सकता है। उसने इस प्रसंग में लिखा है कि "कवि चिरंतन, असीम एवं अद्वैत का सहभागी होता है, उसकी काव्य-धारणाओं में देश, काल एवं संख्या को कोई महत्त्व नहीं होता। पुरुष-भेद एवं देश-भेद तथा कालगत अवस्थाओं को व्यंजित करने वाले व्याकरण-रूप, ये सभी उच्चतम काव्य के सन्दर्भ में, काव्यत्व का क्षय किये बिना परिवर्तनीय हैं।"[1]

व्याकरणिक विश्लेषण की एक सीमा यह बतलाई जाती है कि यह काव्य में वातावरण की उपेक्षा करता है और इसीलिए तुच्छ है। जो लोग यह आरोप लगाते हैं उनका तर्क यह है कि कविता वातावरण का वहन किसी अज्ञात किन्तु आधारभूत रूप से करती है और यह अर्थ का उपजात (By-product) है। उनके मत से यह व्याकरणिक विश्लेषण वातावरण की उपेक्षा के सिवा और क्या कर सकता है? ध्वनि और अर्थ एक-दूसरे का पूर्ण साक्षात्कार कर पूर्णता की प्राप्ति करते हैं। अर्थ सम्यक् ध्वनि की खोज करता है और ध्वनि भी तदनुकूल अर्थ को पाकर ही विराम पाती है। जब तक ध्वनि और अर्थ का यह ब्याह सम्पन्न नहीं होता, तब तक काव्य की सिद्धि नहीं होती है। इस प्रकार ध्वनि और

१. पश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, पृ० १७२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ परस्पर वस्तुगत प्रतिरूप सिद्ध होते हैं। अतः ध्वनि और अर्थ ही कविता के वातावरण का निर्माण करते हैं। वातावरण का अर्थ उपजात अवश्य है। लेकिन यह वातावरण काव्य का ध्वनि-वृत्त ही तो है। इस प्रकार शब्द-मीमांसा और व्याकरणिक कोटियों की व्याप्तियाँ गहराई तक गई हैं।

एम्पसन ने बड़ी अच्छी सूक्ति कही है। शब्द-मीमांसा का उपयोग करने वाला आलोचक उस वैज्ञानिक की तरह होता है, जो संसार के सन्दर्भ में नियतिवाद (Determinism) को प्रयुक्त करने की लालसा रखता है।[1] इसकी गुंजाइश तो है कि यह मीमांसा सब जगह संगत नहीं हो, जहाँ संगत भी हो वहाँ सब चीज़ों की व्याख्या नहीं कर सके; लेकिन एक आलोचक को अपनी कर्मशाला में इसे संगत मानकर चलने के सिवा और क्या उपाय है। कवि ने जिस सौन्दर्यानुभूति का साक्षात्कार किया उसी का प्रमाण तो कविता है। यह प्रमाण जितना अविकल होगा, कविता उतनी सशक्त और कालजयी होगी। यह प्रमाण जितना विकृत होगा, कविता उतनी तुच्छ होगी। कविता स्वयं मूल सौन्दर्यानुभूति नहीं है, वह सौन्दर्यानुभूति का प्रमाण है। लेकिन आलोचक के पास इस प्रमाण के द्वारा उस मूल सौन्दर्यानुभूति के पुनर्सृजन के सिवा और कोई रास्ता नहीं है। यह आलोचक का मुख्य कार्य है। तब आलोचक के सामने जो बचता है वह शब्द है। शब्दमीमांसा आलोचक की विवशता ही नहीं, वरन् उसकी एकमात्र विश्वसनीय पद्धति भी सिद्ध होती है।

कविता अत्यन्त संश्लिष्ट रचना है। समाज, धर्म, मनोविज्ञान, इतिहास, कवि की शिक्षा-दीक्षा और रचना करते समय उसकी तात्कालिक मनःस्थिति ये सब उसे प्रभावित करते हैं। किन्तु कवि के मन में गल-पचकर जिस सौन्दर्यानुभूति का जन्म होता है वह बाद में शब्द-शेष रहती है। इसलिए समीक्षक इन्हीं शब्दों की उँगली पकड़कर कवि के भावलोक तक पहुँचता है। यही सौन्दर्यानुभूति का पुनर्सृजन है, लेकिन पुनर्सृष्टि हू-ब-हू सृष्टि के समान नहीं होती है। कुछ छूट जाता है, कुछ जुड़ जाता है। यहाँ आलोचक के अपने संस्कार भी काम करने लग जाते हैं। इस तरह प्रत्येक प्रत्यावर्तन प्रस्थान का नया बिन्दु बन जाता है। यह पुनर्सृजन समान और सदृश तो है, लेकिन तद्रूप नहीं है। आलोचना में जिस सौन्दर्यानुभूति का निर्माण होता है, वह किंचित् भिन्न होती है। यही आलोचना रचना बन जाती है। अच्छी आलोचना जीवन के ताप से निःसृत होती है और स्वयं जीवन का प्रतिरूप बन जाती है। एक ही कवि-मन रचना और आलोचना दोनों में व्याप्त है। अन्तर केवल मात्रा का होता है।

लेकिन आलोचना मूल प्रकाश नहीं वरन् प्रत्यावर्तित प्रकाश है। जैसे चन्द्रमा की किरण सूर्य की रोशनी का प्रत्यावर्तन ही तो है, लेकिन प्रत्यावर्तन भी रचना ही है। चन्द्रमा सूर्य की रोशनी को अधिक शीतल, आह्लादक और ग्राह्य बनाकर प्रत्यावर्तित करता है। रोशनी वही है, किन्तु उसकी प्रकृति बदल जाती है। तो, समालोचक स्वयं अंधा होता है, लेकिन शब्द ही उसे ज्योति देते हैं। यह ज्योति स्वयं कविता है : जो समालोचक कविता से बाहर किसी ज्योति का आयात करता है, उससे समालोचक की अपनी मूर्खता चाहे जितनी घटती हो, कविता के सम्बन्ध में हमें कोई नई किरण नहीं मिलती है। कविता से बढ़कर दूसरा ज्योति-पुंज कुछ नहीं है। कविता की सबसे अच्छी आलोचना कविता में ही निहित है। पुराने वैयाकरणों ने शब्द को ब्रह्म कहा था और यह ब्रह्म अपनी लीला का रहस्य स्वयं खोलता है।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त ने व्याकरणिक कोटियों की तह में जाकर वातावरण की उपेक्षा नहीं की थी, इसका प्रमाण तो कवि-कर्म का सिद्धान्त है। रचना शब्दों का लस्टम-पस्टम जमघट नहीं है, बल्कि उसमें कवि के मन का ताप रहता है। यह तो व्यक्ति है जिससे छूटकर चिनगारियाँ रचना में समा जाती हैं और रचना को आकर्षक बनाये रहती हैं। शब्दों की घूर्णियाँ इन्हीं चिनगारियों के संस्पर्श से लहक उठती हैं। जब ये चिनगारियाँ बाद में नहीं रहती हैं, रचयिता का बीन सदा के लिए निस्पंद पड़ जाता है, तब भी शब्दों की वह्नि शमित नहीं होती है। इसी अर्थ में कोई भी रचयिता अपनी रचना से बड़ा नहीं होता है और जब रचना रचयिता से बड़ी है, तब हम शब्द की ओर लौट आते हैं। तब शब्द के सिवा हमारे पास बचता ही क्या है? इस प्रकार भाषा और शैली का विश्लेषण ही आलोचना का सबसे विश्वस्त प्रतिमान सिद्ध होता है।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त मूल्यांकन का एक संतुलित सिद्धान्त है। कुन्तक जब काव्यमार्ग को सुकुमार क्रमोदित बतलाते हैं,

१. Seven Types of Ambiguity : Paperback edition, p. 17

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तब उनका तात्पर्य यह है कि 'वक्रोक्तिजीवितम्' शिल्प अथवा जीवनदर्शन किसी एक पर बल देने के दोष से पूरी तरह मुक्त है। भाव और भाषा की परस्परस्पर्धा के सिद्धान्त को इसी कोण से देखने पर उसकी महिमा ठीक से हृदयंगम की जा सकती है। कुन्तक ने पुरानी वक्रोक्ति के क्षेत्र का बहुत विस्तार किया और उसमें उन सारी चीज़ों का समाहार प्रस्तुत किया जो कविता के संगठन में समाहित रहते हैं। इसी अर्थ में वक्रोक्ति ही कविता है।

आज के गद्य की भाषा प्रयोजन की भाषा है। वह बहुत-कुछ गणितीय प्रतीक की तरह व्यवहृत होने लगी है। और उसकी रागात्मक शक्ति क्षीण हो गई है। भाषागत पद पदार्थ के बोधक होते हैं। और ये भाषातीत अर्थ नहीं दे पाते। गद्य-कल्प से परे भाषातीत अर्थ देने की असीम संभावनाएँ हैं। इस-लिए वक्रोक्ति की आवश्यकता आज भी उतनी ही है। जब तक कविता जीवित है, तब तक वक्रोक्ति की हमें जरूरत रहेगी। किन्तु इस अनिवार्यता का अर्थ यह नहीं है कि यह काव्य की आत्मा है। हमें बहुत-सी ऐसी चीज़ों की ज़रूरत पड़ती है, जो आत्मा के गुण नहीं हैं। आत्मा ही सब-कुछ नहीं है और आत्मा ही महत्त्वपूर्ण है। यह शरीर के अतिरिक्त और कैसे सिद्ध होगा? वक्रोक्ति की यही सामयिक सार्थकता है? काव्य-भाषा के अनन्य साधारण स्वरूप को उजागर करने वाली चीज़ ही वक्रोक्ति है। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमूर्त ज्यामिति से बाहर

मलयज

विजय सोनी के अभी हाल में नयी दिल्ली की कोणार्क कला-वीथि में प्रदर्शित चित्रों को देखकर जो पहला अनुभव होता है वह यह कि आकृतिमूलक चित्रकार न होते हुए भी सोनी अमूर्तन के चित्रकार नहीं हैं। यह अनुभव सोनी की चित्र-रचना की मूल बनावट और स्वभाव को समझने में एक महत्त्वपूर्ण शुरुआत भी साबित हो सकती है। सोनी की चित्र-रचना के संदर्भ में अमूर्तन की चर्चा इसलिए और भी प्रासंगिक हो उठती है कि प्रायः अमूर्तन को आधुनिकता का पर्याय मानने का रुझान हमारे यहाँ काफी व्यापक हो चला है। यह सही है कि आधुनिक कला-रचना में अमूर्तन एक मूलभूत प्रतिज्ञा है, पर किसी केन्द्रवर्ती सर्जनात्मक तनाव के अभाव को आधुनिकता के चालू मुहावरों और 'क्लीशे' की ऊपरी तड़क-भड़क में छिपा देने में भी अमूर्तन बड़े काम का सिद्ध होता है। अमूर्तन दरअसल अनुभवों की विस्तार-प्रक्रिया की एक दृष्टि-युक्त दिशा है; पर जहाँ दृष्टि नहीं वहाँ यह अनुभवों की सभाओं को ही उजागर करता है। अमूर्तन का कला में प्रयोग एक शैली-विशेष को अपनाने का आग्रह मात्र नहीं है, वरन् यह रचनात्मक अनुभव की प्रकृति का भी निर्देश करता है। अतः जहाँ अमूर्तन को मात्र शैली के रूप में ग्रहण किया जाता है वहाँ इस बात की अधिक आशंका रहती है कि कहीं वह शीघ्र ही चालू मुहावरों के दलदल में फँसकर सम्पूर्ण कला-रचना को 'लिटरेरी' अथवा 'डिज़ाइन' के रूप में न बदल दे।

एक अमूर्तन उस प्रकार का भी होता है जिसमें कैन्वस पर रंग और रूपाकार एक अतीन्द्रिय सत्ता बन जाते हैं—अति सूक्ष्म, बौद्धिक संवेदनों द्वारा ही ग्राह्य—जैसे कि साहित्य में अर्थ से परे का नाद-सौन्दर्य—जो हमारे मन-पटल पर किसी 'कांक्रीट' अर्थ की चेतना अंकित नहीं करता, बस एक अरूप विचार अथवा बिम्ब का आभास देता है। ऐसा अमूर्तन एक स्तर पर प्रेक्षक/भावक को उसकी औसत भाव-विचार-संवेग-जटिल मानसिकता से निर्वासित कर उसे एक विरल और परिशुद्ध बौद्धिक संवेदन-लोक में ले जाता है जहाँ रंग सिर्फ रंग हैं और आकार सिर्फ आकार, और रचना इतनी निर्वैयक्तिक कि वह प्रेक्षक/भावक को इस बात की पूरी छूट दे देती है कि वह उसमें कोई सार्थक संयोजन तलाश कर ले। इस तलाश की कोशिश में हमेशा सफलता नहीं भी मिल सकती है और तब प्रेक्षक/भावक के लिए इस बात की छूट होती है कि वह ऐसी कला-रचना को महज़ बुद्धि-विलास की चीज़ मान ले।

दिल्ली में आये-दिन होती रहने वाली चित्र-प्रदर्शनियों को देखकर अमूर्तन के इन दोनों खतरों का स्वरूप कुछ अधिक स्पष्ट हो जाता है।

विजय सोनी अभी अमूर्तन की उस सीढ़ी पर हैं जहाँ वह उन्हें एक नये अनुभव-संसार में प्रवेश करने और उस अनुभव-संसार को रचना-संसार में रूपान्तरित करने को प्रेरित करती है, बस। क्योंकि सोनी के पास कहने को कुछ 'ठोस' है—हालाँकि उनके चित्र 'उस कुछ' के कहने की बनिस्बत 'उस कुछ' की खोज के दस्तावेज़ ज्यादा मालूम पड़ते हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सोनी अपने आत्मकथ्य की खोज रचना की बुनियादी शर्तों पर करना चाहते हैं। उनके चित्रों के पीछे कार्यरत एक बेहद उग्र बेचैनी का आभास मिलता है; उनके गहरे रंग अपने भीतर कोई सुलगती हुई शान्त आग छिपाये लगते हैं, उनकी रेखाकृतियाँ बार-बार जैसे एक ही विलम्बित लय के तीव्र खंडों को लपेटकर रखती हुई प्रतीत होती हैं। लेकिन इस आग और उग्र बेचैनी के बावजूद कहीं कोई एक सीमा-रेखा है जो सोनी को उनकी अनुभूति में निहित अराजकता के संसार से बचाये रखती है। उनके चित्रों की सफाई, रंग-स्पर्श से झलकने वाली कोमलता, आत्मीयता और अन्त-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रंगता, आकृतियों का सहज लयात्मक संतुलन उनकी कला के गंभीर आत्म-संयम का ही संकेत देते हैं।

सोनी अपने आत्मकथ्य की खोज के लिए 'बाहर' नहीं 'भीतर' की ओर देखते हैं। उनके चित्रों में स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप से दीख पड़ने वाले चिड़िया, मछली, चन्द्रमा और कुछ हद तक मानव-देहाकृतियों का सरोकार किसी बाह्य दृश्य-सत्ता से उतना नहीं जितना उनके अन्तर्मन में जन्म ले रहे रूपाकारों से होता है। सोनी के कुछ चित्रों में विशेष रूप से स्त्री-अंगों को लेकर पाये जाने वाले 'डिस्टार्शन' के पीछे यही तर्क काम करता है—वे वस्तुओं को वस्तुओं की तरह नहीं पकड़ते, बल्कि अपने अन्तर्मन की किन्हीं सजीव भाव-सत्ताओं की छायाओं की तरह पकड़ते हैं। इस प्रयास में सोनी किसी मानवीय सच्चाई को यथार्थ की शक्ल नहीं देते, वरन् उस मानवीय सच्चाई को अन्वेषित करने में अपनी उत्कट लालसा का गति-चित्र पेशा करते हैं। इसी से उनके चित्रों में एक प्रकार का गत्वर प्रवाह मिलता है। उनके रंग स्थिर कैनवस पर चिपके हुए नहीं लगते, बल्कि आँखों से गिरने वाले प्रकाश का अनुसरण कर इधर-उधर बेचैन डोलते नज़र आते हैं; उनकी रेखाओं का कैनवस के 'स्पेस' पर विभाजन एक संतुलन की सृष्टि भर नहीं करता, बल्कि एक संतुलित फ्रेम में किसी गतिशील अनुभवकेन्द्र की ओर खिसकता-बढ़ता लगता है। जहाँ उनके रंग गहरे और जमे हुए हैं वहाँ वे किसी शान्त विस्फोट की पूर्व-सूचना-से लगते हैं।

इस संदर्भ में सोनी के एक चित्र, जिसे मैं सुविधा के लिए 'लाल कैनवस' कहूँगा, का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। इस चित्र में रचना के कई स्तर हैं। एक स्तर पर गहरा लाल रंग है जो कहीं-कहीं इतना गहरा है कि कालिमा की हदों को छूने लगता है, मानो गाढ़ा रक्त भूरा-नीला पड़कर जम गया हो। यह लाल रंग समग्र रूप से इस चित्र का एक माहौल बनाता है—एक ऐसी पृष्ठभूमि का माहौल जिस पर कुछ नाटकीय 'घटित' होने वाला हो। दूसरा स्तर इस संभावना-गर्भित लाल पृष्ठभूमि को सहसा एक अत्यन्त गतिशील प्रवाह में विस्फोटित कर देता है : प्रकाश के कुछ धब्बे, मछली जैसे दिखने वाले कुछ रंग-रेखाकार, घने और तरल रंग-स्पेस : रंगों के सौर-मंडल में घूमते हुए आकार-पिंड : ये सब अपनी 'उपस्थिति' से एक ओर तो 'वस्तुओं' का भ्रम जगाकर 'स्पेस' पर लाल रंग के एकाधिकार को खत्म करते हैं, और दूसरी ओर लाल पृष्ठभूमि में निहित उस नाटकीय संभावना को सचमुच ही 'घटित' करते हैं। सोनी के इस चित्र की तुलना उनके एक दूसरे चित्र से की जा सकती है जिसे मैं यहाँ 'सफ़ेद कैन्वस' कहूँगा। इस चित्र के आधे निचले भाग में गहरे नीले रंगों से परस्पर गुँथी हुई, पर स्पष्टतः रंगरेखांकित, आकृतियाँ हैं, और प्रायः आधा-सा ऊपर का भाग सफेद रंग से पुता है। इसमें भी रचना के कई स्तर हैं। नीचे की गहरी नीली, कहीं-कहीं काली पड़ी हुई नीली, आकृतियाँ नियंत्रित गहन उद्वेग को व्यक्त करती हैं; और इस प्रभाव को उभारता है ऊपरी भाग का सफेद पटल नीचे वाले भाग के उद्वेग की गहनता को एक निर्मम तटस्थता प्रदान कर। इस चित्र में रचना के ये दोनों स्तर एक-दूसरे के पूरक हैं, पर एक-दूसरे से इंवाल्वड नहीं, जैसे कि वे लाल कैन्वस में हैं। लाल कैन्वस में चित्र-रचना के प्रत्येक अवयव और घटक जैसे एक-दूसरे को काट और बना रहे हैं, और इस प्रकार एक गतिशील प्रवाह की सृष्टि कर रहे हैं। सफेद कैन्वस में वैसी गति नहीं है, बल्कि एक गहराई है। उसकी नीली आकृतियाँ भावनाओं के गहरे सागर की चट्टानें लगती हैं, सख्त और निस्पंद। ऊपरी भाग की सफेदी एक कंट्रास्ट प्रस्तुत कर मानों इस गहराई और उस चट्टानी प्रभाव को पुष्ट करती है।

सोनी प्रेक्षक की कल्पना को उत्तेजित कर उसे अमूर्त प्रत्ययों अथवा खामखयालियों से बने किसी परिशुद्ध बौद्धिक लोक में निर्वासित नहीं करते, बल्कि चेतना के उस संधिस्थल की ओर ले जाते हैं जहाँ ऐन्द्रिकता का ताप और वेग एक-बारगी स्थूल प्रभावों की ओर मुड़ने के बजाय एक पारदर्शी मासूम सौन्दर्य में छनने लगता है। सोनी की आकृतियों के घुमाव और मोड़—जो प्रायः मानव-देहों के परस्पर गुंफित आकारों की शक्ल अख्तियार कर लेते हैं—स्पष्टतः उनकी उत्कट ऐंद्रिय चेतना का आभास तेदे हैं; उनके रंग गाढ़ी लालसा की चमक से चमकते और उसकी तरलता से फीके पड़ने लगते हैं। किन्तु यह ऐंद्रिय चेतना प्रबल होते हुए भी बहुत मुखर नहीं है। शायद सोनी के अन्तश्चेतन में अब भी एक भावुक सम्भ्रम बना हुआ है जिसे वे यथार्थ के सीधे साक्षात्कार के नाम पर तोड़ देना पसन्द नहीं करते। शायद यही कारण है कि सोनी के चित्रों की आकृतियाँ उद्दाम इच्छा से तनी मानव-देहाकृतियों के साथ-साथ कभी पक्षी के डैने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो कभी मछली और चाँद के सरल और मासूम आकारों जैसी भी लगने लगती हैं। आशय का यह दुहरापन सोनी की रचना-प्रेरणा के मूल में है। वे जीवन की दुर्दमनीय वासना को भोग की रंगीन लिप्सा से नहीं वरन् सौंदर्य-सृष्टि की अनिवार्य विह्वलता से भोगते हैं। इसीसे उनकी ऐन्द्रिकता गद्यात्मक न होकर पद्यात्मक है। उसमें एक गीत्यात्मक लय है जो उनके रंग और रेखा दोनों के ही इस्तेमाल में ज़ाहिर होती है।

जिस आन्तरिक तन्मयता और आग्रहशीलता से सोनी अपनी ऐन्द्रिकता को रूपायित करते हैं उससे यही लगता है कि उनकी ऐंद्रिकता अपने-आप में साध्य न होकर साधन है—एक अनवरत तलाश का माध्यम। उनका 'लाल कैन्वस' ऐन्द्रिकता की परिधि का अतिक्रमण कर सौंदर्य-रचना के एक ऐसे क्षेत्र में प्रवेश कर लेता है जहाँ कुछ और छू लेने, पा लेने की तड़प व्यक्त होती है। किन्तु सोनी की ऐन्द्रिकता का आधार बौद्धिक नहीं है, वह भावनात्मक ही है, पर इस भावनात्मकता में गर्मी और वेग होते हुए भी अनुभूति के रचना-विधान को तोड़-फोड़ देने वाला अंध आवेग नहीं है। बल्कि इसके विपरीत सोनी की ऐन्द्रिकता में एक ऐसी गूढ़ रहस्यमयता है जो कभी-कभी उनके चित्रों में एक अव्याख्यायित सौंदर्य का प्रभाव छोड़ जाती है। सोनी अपनी अनुभूतियों की इस रहस्यमयता को महसूस करते हैं, उसे विश्लेषित नहीं करते। इसी से उनके कुछ चित्रों में दीख पड़ने वाले चिड़िया, मछली तथा मानव-अंगों के आकार प्रतीक नहीं हैं—वे सोनी के अन्तर्जगत् को रूप देने वाले, या शायद यह कहना अधिक सही होगा कि उनके अन्तर्जगत् की ओर इंगित करने वाले आकार हैं, किसी सजग बौद्धिक आरोपण के परिणाम नहीं। लगता है सोनी की मुख्य समस्या मानव-इंस्टिंक्ट को पारदर्शी कला-रूपों में साक्षात्कृत करने—और इस तरह अपने को उपलब्ध करने—की है, उसे एक सजग बौद्धिक रचनात्मकता से संपृक्त कर किसी व्यापक अमूर्त अर्थ-संसार से जोड़ने की नहीं।

किन्तु सोनी की सौन्दर्य-चेतना एक 'इस्थीट' की सौंदर्य-चेतना नहीं है, न ही उनके चित्रों की 'वर्कशाप' किसी हाथी-दाँत की मीनार के भीतर है। उनके तनाव आज की समसामयिक चेतना से ही उपजे हैं, पर उनकी चिन्ता का रूप भौतिक की बनिस्बत नैतिक अधिक है—और यह चिन्ता है 'आज की चीख-पुकार में / एक बहुत कोमल तान / खो गयी है / उसे पाना···'[1] सोनी के संघर्ष का मूल और उनकी विशिष्टता भी यही है कि वे पहले तो जीवन के भौतिक और स्थूल के बजाय सूक्ष्म और नैतिक पक्ष को चुनते हैं, फिर इस सूक्ष्म और नैतिक को अमूर्त के बजाय मूर्त रूपाकारों में पाना चाहते हैं। सोनी की रचनात्मक ऊर्जा उनके कला-व्यक्तित्व के इस संघर्ष से ही उत्पन्न होती है। उनके चित्रों में पाई जाने वाली गतिशीलता का यही राज़ है जो अक्सर उनके चित्रों को एक पारदर्शिता प्रदान करती है: कैन्वस पर रंग की सतहें गहरी हो उठती हैं और गहराई सतह पर चमकने लगती है। इस गतिशीलता के रहते ही सोनी मूर्त की पकड़ में भी नहीं हैं और अमूर्त की भी नहीं। उनका कथ्य न ठोस और शरीरी है, न सूक्ष्म और वायवीय तरंगाकुल। उनमें स्थिरता और प्रवाह एक साथ है। इस मूल द्वन्द्व की चेतना जहाँ उनके चित्रों में तेज़ी से उभरती है वहाँ वे अत्यन्त सजीव लगते हैं; जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ द्वन्द्व से थकित चेतना का अवसाद एक भावुकता में बदल जाता है और सोनी अनायास 'लिरिकल' हो उठते हैं। सोनी का यह द्वन्द्व अभी उतार पर नहीं है, और शायद इसी कारण उनके साथ इस बात का खतरा फ़िलहाल नहीं है कि वे अपने-आपको दुहराने लगेंगे।

'दिनमान' में विजय सोनी की इस चित्र-प्रदर्शनी की समीक्षा करते हुए कहा गया था कि सोनी की इसी साल आयोजित उनकी पहले की दो चित्र-प्रदर्शनियों से परिचित प्रेक्षक को इस तीसरी प्रदर्शनी में कुछ नया अथवा विशिष्ट नहीं मिलेगा। मेरे विचार से यह धारणा जल्दबाज़ी का परिणाम है। विजय ने अपनी चित्र-रचना की शुरुआत पोलैण्ड में की थी और भारत में उनकी पहली प्रदर्शनी (जनवरी, १९६९) में उनके पोलैंड-काल के ही चित्र थे। वस्तुतः अपनी चित्र-रचना के इस दौर में सोनी के प्रयोग मुख्य रूप से रंग-प्रयोग हैं। उनमें नये-नये रंग-प्रभावों को आज़माने, उनकी प्रभावशीलता खोजने और उनके माध्यम से एक अनोखे दृश्य-संसार की रचना करने का प्रयास है। इसी से ये चित्र रंगों का उत्सव-सा मनाते लगते हैं। उनकी दूसरी प्रदर्शनी (मार्च, १९६९) के अधिकांश चित्रों की रचना हिन्दुस्तान में ही हुई, और इन चित्रों में आकार के प्रयोग हैं जो सोनी की

१. सोनी की चित्रप्रदर्शनी पर शमशेरबहादुर सिंह की एक अप्रकाशित कविता से।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभूतियों में नये रचनात्मक मोड़ की सूचना देते हैं। इनमें प्रयुक्त रंगों में पहले जैसी विविधता या चमक नहीं पाई जाती, बल्कि उनमें एक प्रकार का सादापन है। इन चित्रों में सोनी की चेतना माध्यम से अधिक आशय की अर्थवत्ता की तलाश करती है—अवश्य ही यह तलाश स्थूल आकारों के ज़रिये न होकर दिक् और रंग के संयोग से उत्पन्न अरूप आकारों के ज़रिये होती है—

रंगों का दुरूह जहान
दिशाओं को जाल में घेरकर (क्यों नहीं)
—अपनी अमूर्त ज्यामिति में—
साँसों को ठोस और मूर्तमान भी
कर ले जाएगा।

—सोनी की दूसरी प्रदर्शनी के उद्घाटन-स्वरूप रची गयी (और 'दिनमान' में प्रकाशित) अपनी कविता की इन पंक्तियों में शमशेर बहादुर सिंह ने साँसों को ठोस और मूर्तमान कर ले जाने की जिस सम्भावना की ओर संकेत किया है उसका वास्तविक रूप सोनी की इस तीसरी प्रदर्शनी (दिसम्बर १९६९) में ही देखने को मिला। पहले की दोनों प्रदर्शनियाँ प्रेक्षक के लिए तृप्तिदायक होकर भी कुछ अधूरा प्रभाव छोड़ती थीं। इस तीसरी प्रदर्शनी में लगता है जैसे सोनी की रंग-चेतना और आकार-चेतना संघटित होकर निखरी है, जैसे दो स्तरों पर चलने वाली प्रक्रियाएँ आपस में संपृक्त होकर एक नये प्रभाव-क्षेत्र की ओर उन्मुख हुई हैं। सोनी का 'लाल कैन्वस' इन दोनों प्रक्रियाओं के संघटन से जन्मी एक सशक्त कृति है जो सोनी के अब तक के कला-व्यक्तित्व की उपलब्धि है। इस प्रदर्शनी से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सोनी रंग और आकार सम्बन्धी अपनी एकायामी प्रयोगशीलता के दौर को पार कर एक बहुआयामी और पुष्ट सौंदर्य-रचना के क्षेत्र में प्रविष्ट हो चुके हैं और इस दिशा में उन्होंने कुछ उपलब्ध करना भी शुरू कर दिया है। उनके इन चित्रों में अधिक आत्मविश्वास और साहस है, उनकी रंग एवं आकार-चेतना गहन आशयों से उत्प्रेरित है और इन आशयों की अर्थवत्ता के प्रति कलाकार की निष्ठा है। आत्मविश्वास और निष्ठा की यह पहचान ही सोनी के इन चित्रों को उनके पूर्व-प्रदर्शित चित्रों से अलग कर देती है। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विजय सोनी की चित्र प्रदर्शनी पर

शमशेर बहादुर सिंह

जिस्म जहाँ घुलता है
  रंगों की कोमलता में खो जाने
Passion दुख और दर्द का
  और सुख का
  सुख की झाँकियों का
  जहाँ रोशनी और अँधेरे की
शतरंज बिछाता है :
जहाँ दूरियों में हम हैं
और नज़दीकियों में तुम
  और दोनों जहाँ मिलते हैं वह एक
  कैनवस है
  जिसे हम छू नहीं सकते
  क्योंकि उसे हम जी रहे हैं

यह एक माध्यम है
जिसे रंग मिल-मिल के पकड़ने के लिए
  खोये जा रहे हैं
यहाँ जो कुछ ठोस है
वह धड़क रहा है
और जहाँ धड़कन है वहाँ
  खामोशी है
    दम साधे हुए।
आज की चीख-पुकार में
  एक बहुत कोमल तान
  खो गयी है
  उसे पाना है

विजय सोनी
तुम डेन्मार्क जाओ
स्वेडन पोलैंड में
कोई नया रूप
जन्म ले रहा है
अनपहचाने शायद
उसकी परछाईं मैं यहाँ
पकड़ रहा हूँ
शिल्प-चक्र में।

शायद मुक्तिबोध[1] आज
यहीं खड़ा है।
वह ऊँचा व्यक्ति
जो हम सबसे पीछे है, और
हम सबको ऊपर से
देख रहा है।

हम पीछे मुड़कर न देखें।
सामने ही देखें।

शायद उसकी नज़र
आईना बने।
हम सबकी नज़र
उसका आईना बने।

और हम उसको देख
जो हमारा
आने वाला व्यक्ति है। □

१. इस प्रदर्शनी के कई चित्र मुक्तिबोध की कहानी 'क्लाड ईथरली' का अन्तर्दर्शन हैं। —श०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन

अप्रासंगिकता के कगार पर

विष्णु खरे

सुविधा के लिए यह कहना नजरअन्दाज़ कर दिया जाय कि सर्वेश्वरदयाल सक्सेना 'तार-सप्तक' के कवियों के बाद की उस सीढ़ी में गिने जाते हैं जिसमें श्रीकान्त वर्मा, रघुवीर सहाय, कुँवरनारायण, धर्मवीर भारती, विजयदेव नारायण साही, लक्ष्मीकांत वर्मा, केदारनाथ सिंह आदि शामिल हैं। नामों की इस तालिका से ही स्पष्ट हो जाएगा कि यह पीढ़ी-विभाजन सिर्फ समयगत है—यह नहीं कहा जा सकता कि ये तमाम लोग एक ही तरह की कविताएँ लिख रहे थे या लिख रहे हैं। इन नामों में से भारती और कुँवरनारायण ने शायद अपनी सीमाएँ पहचानकर कविताएँ लिखना (या कम-से-कम उन्हें प्रकाशित करवाना) करीब-करीब छोड़ रखा है—साही की भी कोई रचना एक अरसे से दीख नहीं पड़ी। लक्ष्मीकांत वर्मा का इस पीढ़ी में न्यूनाधिक वही स्थान है जो गिरिजाकुमार माथुर का है। केदारनाथ सिंह इस पीढ़ी के शमशेर हैं—सभी इस बात पर सहमत हैं कि "वे अच्छे कवि हैं लेकिन···" इस प्रकार इनमें से ले-देकर वही तीन पात बच रहते हैं जो लगातार लिख रहे हैं—श्रीकान्त वर्मा, रघुवीरसहाय और सर्वेश्वरदयाल सक्सेना।

किन्तु पिछले सात वर्षों में तीन संग्रह प्रकाशित करवाने के बाद भी क्या वजह है कि सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की आज वह तस्वीर नहीं उभरती जैसी—मैं तुलना नहीं कर रहा हूँ—श्रीकान्त वर्मा या धूमिल की है? मेरा यह अर्थ नहीं है कि मैं उनसे उनके किसी समसामयिक अथवा उनसे कनिष्ठ कवि की तरह की रचनाएँ चाहता हूँ। प्रत्येक पाठक यह चाहता है कि किसी भी कवि की रचनाएँ पढ़ने के बाद वह न केवल यह कह सके कि वे अच्छी कविताएँ हैं बल्कि यह भी कि वे दूसरे कवियों की रचनाओं से अलग अच्छी कविताएँ हैं। काव्य स्फीति के इस युग में सिर्फ 'अच्छी' कविताएँ लिखना ही काफी नहीं रह गया है—जिसके पास कुछ अपना कहने को नहीं रह गया है उसे अब कविता लिखने की ज़हमत नहीं उठाना चाहिए—'कॉमनप्लेस' तो सभी बढ़िया लिख रहे हैं।

सर्वेश्वर कवि-रूप में चर्चित न हुए हों ऐसी बात नहीं। जिस ज़माने में उनके प्रारम्भिक संग्रह प्रकाशित हुए थे ('काठ की घंटियाँ' की कविताएँ और 'बाँस का पुल'), उस समय उनकी कविता की सादगी ने ध्यान अवश्य आकृष्ट किया होगा और जीवन के छोटे-बड़े रागात्मक सम्बन्धों को अभिव्यक्ति देने की उनकी चेष्टा का स्वागत भी हुआ होगा। छायावाद और प्रगतिवाद की मारी हिन्दी कविता को प्रयोगवाद की अतियों से दूर रखने के प्रयास में नयी कविता वायवीय रूमानियत, विजयवादी मनोरथ तथा सनक से कतराती थी और रोज़मर्रा के जीवन और हल्के-फुल्के दर्शन में कुछ काव्यात्मकता खोजती थी। रूमानियत से पूरी मुक्ति तो कविता में सम्भव नहीं है किन्तु नयी कविता आज जितनी रूमानी दिखती है शायद दस बरस पहले उतनी न रही होगी। उस समय की कविता के लिए सर्वेश्वर में एक खास तरह की कुशलता तो थी ही, वात्स्यायन सरीखी प्रतिभा की देख-रेख में वह विकसित भी हुई। उन्होंने अपने प्रिय कवियों में सर्वेश्वर को स्वीकार किया और सर्वेश्वर को 'हिन्दी कविता के आगामी दस वर्षों के महत्वपूर्ण दो स्वरों' में (दूसरे रघुवीर सहाय थे) रखा। इस कथन में कोई व्यंग्यार्थ न देखा जाय—प्रत्येक बड़े कवि को अपने प्रिय कवि के विषय में कोई भी भविष्यवाणी करने तथा उसे प्रोत्साहन देने का अधिकार है। ज़रा सोचिए यदि एज्रा पाउण्ड एलियट को प्रोत्साहित न करता तो विश्व-कविता की क्या दशा होती।

प्रारम्भिक ख्याति तथा वात्स्यायन सरीखे हितैषी के

१. गर्म हवाएँ : सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली, मूल्य पाँच रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बावजूद भी यदि सर्वेश्वर की कविता हिन्दी काव्य की प्रमुख तथा प्रभविष्णु धारा में एक बलिष्ठ लहर नहीं बन पायी तो इसका कारण निस्संदेह उनकी कविता में ही प्राप्त होगा। स्वयं कवि भी कहीं-न-कहीं इस बात को पहचानता है कि उसमें कुछ कमी है और यह हीन भाव उससे सात वर्ष पहले ही कहलवा चुका है "मैं अनगढ़ कवि/धूल में उदास बैठा/सबकी शिल्प-चातुरी देखता हूँ" (**दस्तकारी की दूकान**) "किससे कहूँ—मेरा मस्तिष्क,/मेरा हृदय,/मेरा व्यक्तित्व,/अब दूसरे गढ़ते हैं—/अर्पित कर दिया है मैंने स्वयं को/अब दूसरों की गति को/यदि नहीं बहता मैं,/तट पर पड़ा हूँ मौन,/दोष इसमें किसका है ?" (**दर्द यह किससे कहूँ**) "मैं चलता हूँ/लेकिन रास्ते पर मेरे चरण-चिह्न नहीं छूटते,/मैं कोई लीक कोई परम्परा नहीं छोड़ता,/एक सूखा हुआ पत्ता हूँ···कभी-कभी लगता है/मेरा अस्तित्व ही मेरे लिए चुनौती है,/मैं प्रश्न-चिह्नों की बैसाखी लगाकर चल/रहा हूँ" (**कभी-कभी ऐसा लगता है**) "उपलब्धि के नाम पर/मेरे पास एक झोला है/जो खण्डित मूर्तियों से भरा है/···गहन व्यथा के क्षणों में/मैं अक्सर इन मूर्तियों से टकराता हूँ,/और स्वयं टूटता हूँ/बिलग हो जाता हूँ; /किसी जीर्ण शिवाले की तरह ढहता हूँ,/और अपने अस्तित्व की एक-एक ईंट गिरती देखता हूँ; /लोग आते हैं/अपने-अपने प्रयोजन से मुझे उठाते हैं/और मेरे इतिहास को कुचलते चले जाते हैं।" इन पंक्तियों के पीछे किसी असफलता के एहसास से अपनी जो रूमानी आत्मदया छिपी हुई है वह असंदिग्ध है। 'एक सूनी नाव' की दो रचनाओं में यह भी द्रष्टव्य है। "एक अदृश्य इमारत/मेरे ऊपर गिर पड़ी है/जो 'नहीं है' उसके बोझ से/मैं दब गया हूँ/एक अदृश्य नदी /मुझ पर फैल गयी है/जो 'नहीं होगा' उसकी धार में/मैं बह रहा हूँ/एक अदृश्य सड़क/मेरे नीचे से निकल गयी है/जो 'नहीं था' उसकी चपेट से/मैं कुचल गया हूँ" (**दुर्घटना**) एक अतीत शोधता हूँ मैं/वर्तमान को प्राणदान के लिए / लेकिन एक अनिश्चय ही बढ़ा हुआ पाता हूँ/···"अपने को दोहराते-दोहराते/अब मैं थक गया हूँ,/ताश के पत्तों की तरह/कब तक फेंटता रहूँ विश्वास,/और मक्खियों की तरह/उड़ाता रहूँ स्मृतियाँ,/या भिखारियों की तरह/गिनता रहूँ चन्द सिक्के,/गोया अधिक गिनने से/उनकी संख्या बढ़ जाएगी!"

सर्वेश्वर के प्रत्येक काव्य-संग्रह में एक कविता तो स्वयं पर होती ही है और वह उन्हें समझने में सहायक सिद्ध होती है। ऊपर दिए गए उद्धरणों के प्रकाश में उनके चर्चित संग्रह की अन्तिम कविता **'वसन्त के नाम एक खुला पत्र'** की यह पंक्तियाँ भी पठनीय हैं। "हर छापे में जुआड़ियों के खिसक जाने पर/गिरफ्तार होता/और बाद में दोस्तों से/चतुर न होने पर गालियाँ खाता"..."काम के नाम पर/उसने केवल तुम्हारे रंगे हुए/कपड़े सुखाये हैं"···"वह जिनके पीछे तबाह होता है/वही उसकी अनफलता को/नगाड़े की तरह बजाते हैं; /आज एक भी दोस्त उसका नहीं है/वह कोयलों की आवाज़ की नकल करता/वीरानों में घूमता रहता है/हर एक की गालियाँ और पत्थर सहता है।" रूमानियत के सबसे गहरे प्रमाण हैं व्यक्ति का अपने भोलेपन में न केवल विश्वास बल्कि उसे ही अपनी तमाम असफलताओं का कारण होने में अदम्य आस्था, अपनी 'भलाई' के प्रति आत्मरति, दुनिया की मक्कारी के आगे शहीद होने की मुद्रा और आत्मपीड़न। यह सब सर्वेश्वर की इस कविता में विद्यामान हैं और हालाँकि इस कविता में सर्वेश्वर का इरादा अपने इस रूप की हत्या कर देने का है किन्तु यह फिर एक रूमानी मुद्रा है।

यह रूमानियत एक दूसरे रूप में, जो सन्तोचित शौर्य-प्रदर्शन का है, इस संग्रह की प्रार्थना-कविताओं में उभरा है "नहीं नहीं प्रभु तुमसे/शक्ति नहीं मागूँगा", "यात्रा के साथी हों हर पल असफलताएँ/मुझ पर गिरती जाएँ मेरी ही सीमाएँ/सुखद दृश्य तेरे हों/भरे नयन मेरे हों", "अपनी दुर्बलता का/मुझको अभिमान रहे", तथा "वज्र गिराओ जब-जब तुम/मैं खड़ा रहूँ यदि सीना ताने,/नर्क-अग्नि में मुझे डाल दो/फिर भी जिऊँ स्वर्ग-सुख माने,/मेरे शौर्य और साहस को/करुणामय हों तो सराहिए।" बहुत संभव है कि इन पंक्तियों की प्रेरणा किसी दुःख में हो और वह दुःख वास्तव में बड़ा भी हो, किन्तु पारम्परीण शक्ति-प्रदर्शन की अपरिपक्व इच्छा ने दुःख की तिलमिलाहट को व्यक्त होने के पहले ही नष्ट कर दिया है और इसीलिए ये चारों कविताएँ न केवल उदासीन छोड़ती हैं बल्कि छद्म होने की प्रतीति भी देती हैं।

प्रत्येक रूमानी कवि की त्रासदी यह होती है कि वह सोचता है कि देने के लिए उसका कच्चा माल ही पर्याप्त है, क्योंकि वह 'भावना।ओं की शक्ति' आदि सरीखी चीज़ों में विश्वास रखता है। यह 'नाइव' आस्था उससे जिस तरह की कविताएँ लिखवाती है उसका उदाहरण है इस संग्रह की **'पत्नी**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की मृत्यु पर'। मृत्यु की भयावहता और उसके बाद का रीतापन असंदिग्ध है और एक संवेदनशील व्यक्ति पर नज़दीक से देखी गयी प्रत्येक मृत्यु एक शब्दातीत असर छोड़ती है। इस कविता के पीछे कवि की जो पीड़ा है उसकी असलियत तथा गहराई में मुझे ज़रा भी अविश्वास नहीं है। किन्तु कविता के साथ मुश्किल यह है कि केवल अनुभव की ईमानदारी ही इसमें सब-कुछ नहीं होती। कच्चे संवेग पर, वह कितनी ही प्रामाणिक तथा निकट क्यों न हो, कवि को एक निर्मम संयम देना होता है जिससे वह हिस्टीरिया या हड़बड़ी न होकर कलाकृति का रूप ले सके। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की इस कविता की पहली दो पंक्तियाँ इस उद्देश्य का सही निर्वाह नहीं करतीं—"बायें हाथ में ले / अपना कटा हुआ दाहिना हाथ" क्योंकि इनमें स्थिति के दुःख का नाटकीकरण ज्यादा है—कला के स्तर पर स्वीकार्य अभिव्यक्ति कम। रूमानी कवि की एक प्रिय युक्ति एक ही चीज़ को दुहराने की भी होती है इसलिए जब सर्वेश्वर तीसरे चरण में कहते हैं "एक हार की तरह/ मैं रेगिस्तान में खड़ा हूँ···गर्म हवायें सनसनाती हुई / मुझमें से गुज़र जाती हैं" तब तक तो ठीक रहता है, किन्तु जब अगले चरण में ही वह "चारों ओर हरहराती है बाढ़ / कमर तक पानी में / पीठ पर संदूक लादे खड़ा···मैं आदमी से नाव बनता जा रहा हूँ" कहते हैं तो इन दोनों के बीच कविता के विकास का तर्क बिठाना मुश्किल हो जाता है। कुछ और आगे जाकर "बायें हाथ में ले / अपना कटा हुआ दाहिना हाथ / फेंकता हूँ पत्थर इस सड़े-गले समाज पर" का न तो कोई स्थितिगत 'न्याय' है और न काव्यगत। अव्वल तो 'सड़ा-गला समाज' यह मुहावरा ही हिन्दी फ़िल्मों और आवारा, कुशवाहा सरीखे उपन्यासकारों ने एक सड़ा-गला 'क्लिशे' बना दिया है और एक जागरूक कवि से ऐसे शब्द-समूहों से बचने की उम्मीद की जाती थी, फिर कवि जिस दुःख में डूबा हुआ है उसमें 'समाज' का कहाँ तक हाथ रहा है इसका कोई अन्तःसाक्ष्य कविता में नहीं है। कविता की अन्तिम पाँच पंक्तियाँ 'एब्सर्ड' हैं—"बायें हाथ में ले / अपना कटा हुआ दाहिना हाथ/उठाता हूँ मैं इस शिलालेख में / जिस पर शाम बिना पैर धोये / आकर बैठ गई है।" स्मरण रहे कि इसकी पूर्वगामी पंक्ति में कवि स्वयं को 'शिलालेख' कह चुका है और बिना पैर धोये आई शाम भी उसी का प्रतीक है। गद्यार्थ होगा "बायें हाथ में ले अपना कटा हुआ दाहिना हाथ उठाता हूँ मैं अपने को जिस पर मैं स्वयं बैठा हुआ हूँ।" यह तो, खैर, अभी जानना बाकी है कि एक हाथ में अपना कटा हुआ दूसरा हाथ पकड़े हुए कोई चीज़ (शिलालेख सरीखी वज़नी वस्तु की बात तो दूर रही) कैसे उठायी जा सकती है।

हिन्दी का कवि चूँकि पाठक को सब-कुछ समझाने में विश्वास रखता है इसलिए अक्सर वह अपनी कविताओं में दो हिस्से रखता है—एक खुद के लिए और दूसरा भाष्य के लिए। **'सूखा'** की पहली उन्नीस पंक्तियाँ कमोबेश संतोषप्रद हैं, किन्तु उसके आगे 'सूखे' को कहीं 'सूखा' ही न समझ लिया जाय, इस पाठकवत्सल भय से सर्वेश्वर सारी स्थिति स्पष्ट करते हैं और कविता नष्ट। दरअसल सर्वेश्वर सादा कविताओं के सादा अर्थों के कवि हैं और उनके पास एक निश्चित दूरी तक जाने वाली दृष्टि है। वे स्थितियों और चीज़ों के द्वि-आयामीय अंकन के कवि हैं और जहाँ उनके संवेग पेचीदा हैं, जैसे कि 'एक आत्मीय की प्रतीक्षा' में, वे उन्हें कविता में समेटने में असफल होते हैं और एक फैन्टेसी का रूप देकर, जिस पर मुक्तिबोध का प्रभाव स्पष्ट है (हालाँकि विषय में वह मुक्तिबोध से उतनी ही दूर है जितने स्वयं सर्वेश्वर), उसे गतिविधियों के ब्योरे से भर देते हैं जो "अचानक दर-वाज़ा बन्द हो गया/और मैं उस हाथ को लिए/कमरे में गिर पड़ा / मेरे जोड़ फिर उखड़ गए" की हास्यास्पद अतिनाट-कीय गद्यात्मकता को प्राप्त होते हैं।

रूमानी कवि होना पाप नहीं है, खराब रूमानी कवि या खराब कवि होना भी पाप नहीं है, सिर्फ विवशता है। किन्तु फिर भी रूमानी कवियों पर वर्तमान राजनीतिक-सामाजिक दबावों ने असर तो डाला ही है और यह असर शायद सर्वेश्वर बहुत ज्यादा महसूस करते हैं क्योंकि संग्रह के आरम्भ में ही उनकी घोषणा है—"अब मैं कवि नहीं रहा/एक काला झंडा हूँ।" इसलिए यह अप्रत्याशित नहीं था कि उनके इस संग्रह में ऐसी कविताएँ हों जिन्हें आज की स्थितियों से कुछ लेना-देना हो। संग्रह की तीन ऐसी कविताएँ 'मरे दोस्तो!', 'मेरे दोस्त!' तथा 'मेरे देशवासियो!' को सम्बोधित हैं। 'धीरे-धीरे' का प्रारम्भ व्यक्तिगत 'नोट' पर होता है किन्तु अचा-नक 'देश' का ज़िक्र आता है। अभी पाठक संभल ही रहा था कि पुनः व्यक्तिगत पंक्तियाँ उसे गड़बड़ा देती हैं "धीरे धीरे/ अब मैं ईश्वर भी नहीं पाना चाहता,/धीरे-धीरे/अब मैं स्वर्ग भी नहीं जाना चाहता,/धीरे-धीरे/अब मुझे कुछ भी नहीं है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वीकार/चाहे वह घृणा हो चाहे प्यार।" दो समानान्तर धाराएँ दीखती हैं किन्तु उनका मेल कहीं भी नहीं होता। कविता की अन्तिम नौ पंक्तियाँ बाकी पंक्तियों में भाषा तथा शिल्प में इतनी भिन्न हैं कि बाद में चिपकाई गई लगती हैं। 'यह खिड़की' में भी यह द्वित्व उपस्थित है—"हवा को यदि आना हो तो आए/दरवाज़ा भड़भड़ाए, तोड़ जाए, / अन्यथा सींकचों पर सिर टिका/रोकर चली जाए/किसी असमर्थ की प्रतीक्षा से/बन्द कमरे की घुटन बेहतर है/जिसने खुद अपनी ज़बान काट ली हो/उससे नहीं बोलूँगा" के साथ "यह बन्द कमरा/सलामी मंच है/जहाँ मैं खड़ा हूँ—/पचास करोड़ आदमी खाली पेट बजाते/ठठरियाँ खड़खड़ाते/हर क्षण मेरे सामने से गुज़र जाते हैं" सरीखी पंक्तियाँ हैं। "नक्शे पर देश के/और आँखों में प्यार के/सीमान्त धुँधले पड़ते जा रहे हैं" तथा "असमर्थ देश/असमर्थ प्यार/दोनों को ही मेरा नमस्कार" से कवि के इरादे कुछ स्पष्ट होते हैं किन्तु महज़ इरादे कविता नहीं होते।

दो नेताओं पर लिखी गई कविताएँ इस बात की अच्छी मिसाल हैं कि नेताओं पर खराब कविताएँ कैसे लिखी जा सकती हैं। 'लोहिया के न रहने पर' शीर्षक स्वयं में स्पष्ट है। किसी भी कवि का किसी भी 'नेता' पर कविता लिखना कविता का और खुद का अवमूल्यन करना है। लिकन सरीखों की बात यदि छोड़ दें तो बड़े-से-बड़े राजनीतिज्ञ और नेता अपने कमज़ोर क्षणों में बहुत मामूली सिद्ध हुए हैं। फिर लोहिया भारत के प्रथम पंक्ति के नेताओं में तो निस्संदेह नहीं गिने जा सकते—भले ही हिन्दी साहित्यकारों को बर्दाश्त करने का दुर्लभ सद्गुण उनमें रहा हो। एक दायरे में उनकी उपलब्धियाँ बड़ी हैं किन्तु राजनीतिक मतभेद को व्यक्तिगत विवादों पर उतारने तथा वर्तमान संसदीय अनुशासनहीनता के बीज उन्हीं के बोए हुए हैं। इस बात में जाना बेकार है कि यदि वे जीवित होते तो क्या होते, किन्तु पिछले वर्ष 'हिन्दुस्तान टाइम्स' ने उनकी बरसी पर उन्हें 'द फ़िगर दैट द कॉफ़ी-हाउस गोअर्स मिस' कहकर स्मरण किया था। यहाँ स्पष्ट करना उचित होगा कि वैसे तो इस तरह की राजनीतिक चर्चा का समीक्षा में कोई स्थान नहीं होना चाहिए, किन्तु चूंकि जिस कविता की बात हो रही है वह एक नेता को लेकर लिखी गई है तो शायद यह उपचर्चा पूर्णरूपेण अप्रासंगिक नहीं है। व्यक्तियों पर लिखी जानेवाली प्रशंसात्मक या कहें 'भावुक' कविताओं के पीछे नियम यह है कि हो सकता है किसी महान् व्यक्ति पर कोई घटिया कविता लिखी जाए, किन्तु किसी द्वितीय दर्जे के महान् व्यक्ति पर प्रथम श्रेणी की कविता लिख पाना असंभव है। नेहरू पर कविता हो भी सकती है—मोरारजी या कामराज पर कविता की कल्पना दारुण है। इसलिए जब सर्वेश्वर "मैं साधारण···/(इसी शब्द से तो था/तुम्हें इतना प्यार)/कहता हूँ : ओ मेरे देशवासियो/एक चिनगारी और" तो यह स्पष्ट है कि ये पंक्तियाँ उनके हृदय में अंकित लोहिया के एक रूमानी तथा अतिरंजित चित्र से प्रेरित हैं और क्रान्ति के इस क्विग्ज़ोटनुमा आवाहन का सही पूर्वाभास हैं "एक चिनगारी और—/जो ख़ाक कर दे/दुर्नीत को, ढोंगी व्यवस्था को, कायर गति को/मूढ़ मति को,/जो मिटा दे दैन्य, शोक, व्याधि,/ओ मेरे देशवासियो/यही है उसकी समाधि" और "सुख-संपत्ति घर आवे, कष्ट मिटे तन का" से कुछ ही दूर हैं।

ऊपर कहा गया है कि महान् व्यक्ति पर घटिया कविता लिख पाना संभव है और वह 'पंचधातु' में स्पष्ट है, जो गांधी जी पर आधारित है। गांधीजी तथा वर्तमान 'नेताओं' के बीच इतनी बड़ी खाई है कि उस पर सिर्फ़ व्यंग्य लिखना ही संभव रह गया है क्योंकि वही आसान है। व्यंग्य एक सशक्त साहित्यिक विधा है किन्तु सर्वेश्वर के व्यंग्य का स्तर गांधीजी की लँगोटी के बिल्ले बनवाने और चप्पलों से ग़रीबों की चाँद गंजी करवाने का है। मुझे पूरा विश्वास है कि गांधी शताब्दी वर्ष होने के नाते पिछले वर्ष दिनकर सोनवलकर ने गांधीजी का सहारा लेकर अवश्य एकाध व्यंग्य लिखा होगा और वह कविता निस्संदेह सर्वेश्वर की इस कविता से बेहतर होगी। 'बुद्धिजीवी' तथा 'दूसरों के कपड़े पहनकर' 'पंचधातु' के समान ही व्यंग्य हैं और अपनी 'नाइविटी' में समान रूप से बचकानी हैं। इनमें जो व्यंग्य हरकतें हैं वे उसी निम्न-स्तर की हैं जिसकी प्रतिच्छवि बम्बइया फ़िल्मों के विदूषकों में तथा 'हवा महल' की 'बेग़म, सुनती हो' छाप हास्य-नाटिकाओं में उपलब्ध है—"ग़ौर से देखा मैंने, चश्मा नाक पर उन्होंने चिपका रखा था टेप से, / कानों के पीछे छः-छः इंच बढ़ी कमानियों पर / टँगा हुआ था चेस्टर, / जिसे दोनों हाथों में फाँस / बाँध रखा था उन्होंने कमर पर / नीचे टाँगें शायद नंगी थीं—बेपर्दा / जूतों पर बँधा हुआ था पान और ज़र्दा।"

चूंकि आज के कविता-संग्रहों की एक रूढ़ि "यातनाओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के सलीब और सलीबों का घेराव", "उजासों का पाखी और बेंगनी उदासी की बाँसुरी" तथा "तोड़ते हुए आयाम तथा अकेलेपन के व्यायाम" सरीखे शीर्षकवाले उपखंड हैं, इसलिए सर्वेश्वर के इस संग्रह के तीन खंड आश्चर्यान्वित नहीं करते, आश्चर्यान्वित करती है तीसरे खंड की पहली कविता जिसकी प्रथम पंक्ति ही पाठक की धड़कनें तेज़ कर देती है—"फिर वसंत ने मुझे डसा···" पहले दो चरणों में पाँच पंक्तियों का एक निजी छंद इस्तेमाल किया गया है किन्तु तीसरा चरण, जिसे पहले दो की परम्परा निबाहनी चाहिए थी, अचानक नौ पंक्तियों का हो उठता है और पढ़ने में गड़बड़ है। यह तो खैर शिल्पगत बात हुई। कविता में वसंत के डसने, अजगर, उसकी लपेट, साँसों के घुटने तथा ज़हर से खासा सिलसिला स्थापित हो गया है। अचानक अठारहवीं पंक्ति में कवि वसंत की आशीष माँगने लगता है और उतने ही अचानक एक नरकोकिल कवि के सिर पर बैठ अट्टहास कर उठता है। जहाँ तक मैं समझता हूँ अट्टहास या तो सिर्फ 'किया' जाता है या कोई 'अट्टहास कर उठता' है, 'अट्टहास कर हँसना' मेरे लिए नई बात है। चूंकि तुक मिलाना जीवन-मरण का प्रश्न है, इसलिए 'अट्टहास कर हँसा' ज़रूरी है। इसे यदि उपेक्षित कर भी दिया जाय तो यह जान पाना कठिन है कि यह तीन पंक्तियाँ कविता में किस तरह आवश्यक हैं, और फिर सिर पर बैठकर पक्षी ने जिस तरह अट्टहास किया है उससे चमगादड़ सरीखे किसी पक्षी का चित्र ज़्यादा उभरता है। 'अचानक' शब्द यहाँ यूँ ही नहीं है—इन पंक्तियों की हास्यास्पद विचित्रता को छिपाने के लिए उपयुक्त एक चतुर आवरण है।

सर्वेश्वर एक उपमा लेकर कविता प्रारंभ करते हैं किन्तु कुछ दूर निबाहकर अपनी उपमा का 'न्याय' भूल जाते हैं और इससे कविता में उलझाव पैदा होता है। स्त्री या स्त्री की आँखों को नदी कहकर उसके चेहरे पर अपने चुम्बन को जल-पाखी कहना दूर की कौड़ी न भी हो लेकिन इन दोनों के बीच "गालों पर दहकती / वह आग / कोपलों की अब कहाँ है ? पुराने पत्ते ओढ़कर धुआं सो गया है" लाकर वे एक उपमा को एक नितांत अलग रूपक से गड्ड-मड्ड करते हैं। 'प्रयोग-वाद + नयी कविता के एक निरीह रूपक को खींच-खींचकर मरणासन्न कर देने की हरकत 'शाम : एक किसान' में है जिसमें शाम का मानवीकरण किया गया है। अव्वल तो शीर्षक ही ग़लत है, जो इन प्रारंभिक पंक्तियों से स्पष्ट होगा—'आकाश का साफा बाँधकर / सूरज की चिलम खींचता / बैठा है पहाड़", जिसका साफ़ अर्थ है कि पहाड़ को किसान समझा गया है, शाम को नहीं। अब इस कविता का कुछ समीप से मुआयना किया जाय। पहाड़ को किसान माना जा सकता है, किन्तु समूचे आकाश को उसका साफा मानना मुश्किल है—बादल का टुकड़ा होता तो भी ग़नीमत थी। बहरहाल, यह किसान सूरज की चिलम खींच रहा है। पहाड़ के 'मुँह' से 'सूरज' तक चिलम के आकार की कौन-सी चीज़ है ? उसके 'हाथ' क्या हैं ? फिर, कश खींचने वाले जानते हैं कि ऐसा करते वक्त सिगरेट (या चिलम) का जलता हुआ हिस्सा लाल हो जाता है, साँस छोड़ते ही वह फिर धीमा पड़ जाता है। क्या शाम को सूरज इसी तरह बारी-बारी से जलता-बुझता हुआ डूबता है ? घुटनों के पास की नदी के लिए 'पड़ी हुई' इस्तेमाल करना अवास्तव है। फिर 'सुनते हो' की आवाज़ सुनते ही 'किसान' फौरन चिलम उलटा देता है, यानी सूरज एक छपाके या धमाके के साथ टूट गिरता है। अब यदि आप पूछें कि 'सुनते हो' में जो आदेश छिपा हुआ है उसका पालन 'किसान' ने 'उठकर' कैसे किया तो वह आपकी हठधर्मी नहीं तो और क्या है ? मानवीकरण का सबसे बड़ा खतरा यह है कि असमर्थ कवि उसके काम में आने वाले उभयनिष्ठ लक्षण तो तुरन्त इस्तेमाल करता है किन्तु जो 'टेढ़े' प्रश्न हैं उन्हें कालीन के नीचे कचरे की तरह छिपाने की कोशिश करता है। इस कविता की अंतिम दो पंक्तियाँ हमारे संभावित कुतूहल को बहलाने के लिए चिपकाई गई हैं। वहाँ उनकी कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि पहले जब स्पष्ट हो चुका है कि सूरज चिलम है तो चिलम के औंधी होने का अर्थ उसका डूबना ही होगा। ये पंक्तियाँ कविता को एक छद्म 'अंत' देने का प्रयास मात्र हैं, क्योंकि रूपक को अपने तर्कसंगत परिणाम पर पहुँचाना अचानक कवि के बूते के बाहर हो गया।

हर युग में कविता की एक प्रमुख प्रवृत्ति होती है और अधिकांश कवियों की शक्ति उसे अभिव्यक्त करने में जुटी होती है। मैं यहाँ यह नहीं कह रहा हूँ कि उस प्रमुख स्वर के अलावा कोई और काव्य-प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती। यह अस्तित्व हर जगह संभव है। संभव है कि यदि युग समाज तथा राजनीति से उपजने वाली कविता का हो तो कोई कवि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अच्छा कवि—ऐसा भी हो सकता है जो उस धारा से हटकर, बल्कि बिलकुल विपरीत, लिख रहा हो। शायद वह उस युग में न खोज निकाला जाए, किन्तु यदि उसमें वास्तव में कुछ है तो उसकी बारी अवश्य आएगी। किन्तु जहाँ यह सच है कि अलग-अलग प्रेरणाओं और दबावों में लिख रहे प्रमुख कवि एक स्तर पर समान होते हैं वहाँ यह भी सच है कि द्वितीय तथा अन्य वर्गों के कवियों को एक खास स्तर पर पहुँचने के बाद अपनी सीमाएँ पहचान लेनी चाहिए और उनके अनुसार अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को भी पुनरीक्षित करना चाहिए। एक संदिग्ध प्रथम श्रेणी की तलाश भी बनाम एक ईमानदार द्वितीय या तृतीय दर्जे का कवि होना ज़्यादा सार्थक है। सर्वेश्वर उन कवियों में से हैं जिन्हें प्रथम पंक्ति के बाद की पंक्तियों में से एक से ही संतोष करना होगा। उनके पास न तो श्रीकान्त वर्मा का विश्वद्रोही चिड़चिड़ापन है और न रघुवीरसहाय सरीखा संतुष्ट शिल्पलाघव, केदारनाथसिंह की 'प्रगीतात्मकता' भी उनमें नहीं है। नये लोगों में धूमिल, कमलेश, ऋतुदान, अशोक वाजपेयी आदि उन्हें मीलों पीछे छोड़ गए हैं। सर्वेश्वर की कविता की त्रासदी यह है कि उनके पास संवेग तो हैं किन्तु सर्जनात्मक दृष्टि की वह प्रखरता नहीं है जो उन्हें एक महत्त्वपूर्ण कवि बना सके। नतीजा यह कि प्रभावोत्पादकता के चक्कर में वे सामान्य शब्दों और मुहावरों का आश्रय लेते हैं। सामान्य शब्दों और मुहावरों से कविता नहीं हो सकती यह नहीं कहा जा रहा है, किन्तु उन्हें आप किस तरतीब में देखते हैं यह न केवल आपकी कविता की पहचान कराता है बल्कि आपके तरीके को भी प्रभावित करता है। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि यह कोई नहीं चाहेगा कि सर्वेश्वर, इसकी या उसकी राह चलें। मैं यही कह रहा हूँ कि उन्हें आवश्यकता एक सार्थक सर्वेश्वरदयाल सक्सेना बनने की है—अभी उनकी कविता से उनका कोई अर्थवान व्यक्तित्व नहीं उभरता। दस-पन्द्रह वर्षों से लगातार कविता लिखते रहने के बाद भी यदि यह स्थिति बनी रहती है तो समय आ गया है कि सर्वेश्वर अवास्तव तथा गढ़ी गई ख्याति के मोहजाल से छूटें और देखें कि किस तरह वे आश्चर्यजनक किन्तु दुःखद गति से, आज की कविता ही नहीं, कविता मात्र के लिए अप्रासंसिक होते जा रहे हैं और विस्मृति के उस क्रूर कगार पर खड़े हुए हैं जहाँ उन्हें केवल एक ही संतोष हो सकता है कि वे अकेले नहीं हैं। ●

अधुनातन का प्राध्यापकीकरण

विष्णु खरे

'अधुनातन' शब्द का अर्थ करना बहुत कठिन है, किन्तु यह 'समकालीन' से कहीं ज़्यादा सीमित अर्थवाला शब्द है। 'समकालीन' के विषय में तो कहा ही जा चुका है कि एक खास संदर्भ में होमर, शेक्सपियर और ह्विटमैन सरीखी प्रतिभाएँ 'समकालीन' हुआ करती हैं। किन्तु किसी भी काल के तीन या अधिक लेखकों को 'अधुनातन' तो नहीं कहा जा सकता। 'अधुनातन' से, मेरे कानों में जैसी ध्वनि पड़ती है, ज़्यादा-से-ज़्यादा पाँच-छः वर्षों में हुई चीज़ों की प्रतीति होती है। 'अधुना' का अर्थ 'आज' होता है और 'आज' का अर्थ मेरी समझ में बहुत सीमित है। इसलिए 'हिन्दी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियाँ' शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित तीन प्रसार-व्याख्यानों के इस संकलन के पहले व्याख्यान 'समकालीन जीवन-प्रक्रिया और अज्ञेय का कृतित्व' ने मुझे परेशान किया, क्योंकि यदि 'अधुनातन' की बात की जाने वाली है तो उससे बेचारे अज्ञेय का क्या लेना-देना हो सकता है—वे तो शायद अब समकालीन भी नहीं रहे। जो व्यक्ति हिन्दी साहित्य की 'अधुनातन' प्रवृत्तियों से किंचित् भी परिचित है उस पर यह स्पष्ट है कि आज के सन्दर्भ में वात्स्यायन एक धूमिल पूर्वज से ज़्यादा कुछ भी नहीं हैं। यह बात कि १९६९ में उनका कोई कविता-संग्रह 'प्रकाशित' हुआ जिसे एक समाचार साप्ताहिक ने तो वर्ष का सर्वश्रेष्ठ संग्रह तक घोषित किया—शायद पांडुलिपि या डमी पढ़कर—कोई अर्थ नहीं रखती, क्योंकि उनका निरन्तर लिखते रहना बच्चन, दिनकर, माथुर आदि के लिखते रहने की तरह एक बासी मज़ाक हो चुका है।

ज़ाहिर है कि तीन छोटे-छोटे व्याख्यानों में (जो मुद्रित पच्चीस पृष्ठ घेरते हैं) ज़्यादा विस्तार से बात कह पाना मुश्किल है—एक प्राध्यापक के लिए तो सज़ा के बराबर है। उस पर जब व्याख्याता ने अधुनातन की पिटारी में अज्ञेय से लेकर राजकमल चौधरी तक का कुनबा जोड़ना चाहा है तो कहना न होगा कि व्याख्यान कई सरलीकरणों, घिसे-पिटे सूत्रवाक्यों तथा अर्ध तथा तीन-चौथाई सत्यों से भरे पड़े होंगे। अव्वल तो साहित्य को क्या काम करना है यह उसे बाकायदा

१. हिन्दी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियाँ, रामस्वरूप चतुर्वेदी, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा, २ रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपनयन-संस्कार शैली में बता दिया गया है "···सबसे बड़ी बात यह कि मनुष्य को मनुष्य के खतरे से बचाना है। इस सबका उपाय एक ही है—मनुष्य, प्रकृति और यन्त्र के बीच उचित अनुपात विकसित करना। मनुष्य का मनुष्य, प्रकृति और यन्त्र से सही अनुपात में सम्बन्ध हो, यही काम्य है। मनुष्य न तो यन्त्र से क्षरित हो और न मनुष्य से। नये समाज और संसार की यह केन्द्रीय समस्या है। इसे सुलझाने में साहित्य का गुणात्मक योग होना चाहिए।" बेचारा साहित्य—बेचारा हिन्दी साहित्य—यदि कहीं होगा भी तो गुरुजी द्वारा दिए गए इस गृह-कार्य को न कर पाने के सुनिश्चित भय से काँप रहा होगा।

अज्ञेय के 'अद्वितीय अनुभव' सिद्धान्त पर कुछ चर्चा के बाद यह सूचना दी गई है "अपने समूचे उत्तरकालीन कृतित्व में लेखक का यत्न यही रहा है कि भारतीय परिस्थितियों में अस्तित्ववाद से कोई बड़ी और अच्छी संगत दृष्टि विकसित की जाय।" यदि वास्तव में अज्ञेय का यह यत्न रहा है तो यही कहा जा सकता है कि "हिन्दू परिस्थितियों के अनुकूल समाजवाद", "मुस्लिम परिस्थितियों के अनुकूल विधि-संहिता", "कैथलिक परिस्थितियों के अनुकूल परिवार-नियोजन" आदि के युग में "भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल तथा अस्तित्ववाद से कुछ बढ़कर" वाला नारा भी संभव है। इस सन्दर्भ में चतुर्वेदीजी ने किसी भारतीय जीवन-प्रियता की चर्चा की है। 'प्राप्ते सन्निहिते मरणे', 'मायावाद' तथा भाग्यवाद की आत्महंता परम्पराओं से हम अभी तक उबरे नहीं हैं—'इससे तो अच्छा था मैं मर जाता' जहाँ दिन में कई बार कहा जाता हो वहाँ भारतीय जीवन-प्रियता की बात क्रिमेटोरियम के बाहर संगीत-सम्मेलन के पोस्टर की तरह लगती है।

इसी व्याख्यान में 'निराला' और अज्ञेय को 'गहरे संवेदनात्मक स्तर' पर जोड़ने की शरारतभरी हरकत भी है। आगे भी मुक्तिबोध को भाषा-संस्कार के क्षेत्र में निराला से 'पिछड़ा हुआ' बताकर पुनः अज्ञेय को निराला के नज़दीक बताया गया है। रियायत के लिए कहा गया है कि 'नयी कविता की कई मूल प्रवृत्तियाँ निराला से ही शुरू होती हैं' किन्तु इसका ज्यादा खुलासा नहीं किया गया है। कारण स्पष्ट ही है। और यदि कोई कुछ कहे तो 'अधुनातन' शब्द का सहारा यहीं तो लिया जाएगा।

वात्स्यायन के काव्य-सिद्धान्त 'मौन' को पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न एक ऐसे उद्धरण से दिया गया है जिसका उससे दूर-दूर तक कोई सम्बन्ध नहीं है। अव्वल तो वह सिद्धान्त ही हिन्दी में सापेक्षतावाद सरीखा स्थान रखता है, उस पर चतुर्वेदीजी सरीखे 'वेल-मीनिंग' भक्त का उत्साहातिरेक। भाषा का निखार तथा मौन का तनाव दोनों इन पंक्तियों में हैं ऐसा बताते हैं :

तू काव्य :
सदा-वेष्टित यथार्थ
चिर-तनित
भारहीन, गुरु
अव्यय।
तू छलता है
पर हर छल में
तू और विशद अभ्रांत
अनूठा होता जाता है।

जनवरी १९६९ में, जब रामस्वरूप चतुर्वेदी ने यह भाषण दिए, इस तरह की पंक्तियों को काव्य-भाषा सम्बन्धी किसी भी प्रशंसात्मक वक्तव्य को सत्यापित करने का कलेजा सिवा हिन्दी के एक पहुँचे हुए प्राध्यापक को छोड़ किसका हो सकता था!

अज्ञेय से नयी कविता के सम्बन्धों पर थोड़ी सफ़ेदी पोतते हुए ('चाहे सहयोग से प्रेरित हो चाहे तनाव से') इस भाषण के अन्त में चतुर्वेदीजी पुनः एक क्लिशे की ओर द्रुतगति से आकृष्ट होते हैं—'पर नयी कविता के बाद के अधिकतर लेखकों के सामान्य, औसत जीवन के औसत अनुभवों को सार्थक ढंग से पकड़ने का जोखम नहीं उठाया। कविता, उपन्यास और अधिकतर कहानियों में उनकी दृष्टि महानगरों में चलने वाले पश्चिमी ढंग के तीखे, पर कृत्रिम और आधारहीन जीवन पर अधिक रही है। उनके अधिकतर वर्णन 'कैफ़े' और 'कैबरे' की छोटी-सी दुनिया में सीमित हैं। वे भूल जाते हैं कि आधुनिकता मूलतः और अनिवार्यतः भावबोध और दृष्टि का स्तर है, स्थूल विषय या कथानक का नहीं।" मैं किसी का पैरोकार नहीं, किन्तु जब स्वयं चतुर्वेदीजी यह स्वीकार करते हैं कि स्थूल विषय या कथानक आधुनिकता नहीं है तब वे 'कैफ़े' और 'कैबरे' सरीखे स्थूल विषयों की बात क्यों कर रहे हैं? सचाई यह है कि वास्तव में आधुनिक दृष्टि रखने वाला यदि 'कैफ़े' और 'कैबरे' सरीखी संकीर्ण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा 'पश्चिमी ढंग की' चीज़ों पर भी लिखेगा तो वह कलात्मक तथा अर्थवान होगा—क्योंकि सवाल मूलतः व्यक्ति की क्षमता का है। जहाँ तक 'पश्चिमी ढंग के कृत्रिम और आधारहीन' जीवन का सवाल है, हो सकता है उसे अभी सही-सही न पकड़ पाया गया हो, उसमें हिन्दी की एक उपलब्धि के लिए पर्याप्त कच्चा माल मौजूद है। पतनशील, नकली और खोखले समाजों पर लिखे गए क्लैसिक उपन्यासों की सूची मैं यहाँ नहीं देना चाहता। पता नहीं 'भारतीयता' के क्या अर्थ चतुर्वेदीजी के पास हैं। किन्तु मुझे ऐसा शक है कि दर्शन के क्षेत्र में अज्ञेय की तरह साहित्य के क्षेत्र में वे 'भारतीय स्थितियों के अनुकूल किसी बढ़िया चीज़' की तलाश में हैं। उसके बाद 'भारतीय' 'मानदण्डों' पर छलाँग लगाना कोई खास बड़ी कसरत नहीं है।

दूसरे भाषण में रघुवीरसहाय में अज्ञेय और मुक्तिबोध की क्षमताओं का संयोजन बताया गया है जो बेचारे इन तीनों कवियों का हिन्दी में पहला इकट्ठा अपमान है। फिर चूँकि प्राध्यापकीय दृष्टि स्थानीय प्रतिभाओं का हमेशा से खयाल रखती चली आई है; लक्ष्मीकान्त वर्मा, विपिन अग्रवाल, बालकृष्ण राव तथा श्रीराम वर्मा सरीखे कवियों की पंक्तियों का खुलकर उपयोग किया गया है। बालकृष्ण राव की कविता हमेशा अप्रासंगिक तथा निम्नस्तरीय रही है और लक्ष्मीकान्त वर्मा की कविता अपने तमाम शाब्दिक ताम-झाम में गिरिजाकुमार माथुर की ज़्यादा घटिया कविताओं के अत्यन्त करीब है। श्रीराम वर्मा और विपिन अग्रवाल की कविता को भी अभी किसी किस्म का सन्दर्भ बनाना मुश्किल है। इन कवियों के जितने उद्धरण लिए गए हैं, उससे कहीं अधिक सटीक तथा सक्षम पंक्तियाँ अन्य अनेक कवियों में आसानी से प्राप्य हैं। इन समस्त उद्धृत पंक्तियों में प्राध्यापकोचित सुविधा-दृष्टि मौजूद है और एक भी ऐसी नहीं है जो अधुनातन हिन्दी कविता के किसी भी महत्त्वपूर्ण पक्ष को उजागर कर सके।

ग़नीमत यही है कि कविता के लिए चतुर्वेदीजी ने सर्वाधिक स्थान सुरक्षित रखा, वरना उपन्यास, कहानियाँ, समालोचना आदि उन्होंने सूचीपत्र शैली में निबटाए हैं। उपन्यासों पर बातचीत का प्रारम्भ ही एक क्लिशे से होता है "हिन्दी का आधुनिक कथा-साहित्य नये-पुराने, स्वदेशी-विदेशी के तनाव में लिखा जा रहा है। एक ओर वह प्रेमचन्द से बँधा है, और दूसरी ओर जेम्स ज्वाएस के प्रति उन्मुख है। "जहाँ तक मुझे ज्ञात है हंस प्रकाशन और सरस्वती प्रेस को छोड़कर प्रेमचन्द से अब कुछ भी बँधा हुआ नहीं है। रही बात ज्वाएस की, तो हिन्दी में ऐसे कितने उपन्यास हैं जो उससे प्रभावित हैं? हद-से-हद कोशिश की गई है वर्जीनिया वुल्फ़ की 'स्ट्रीम ऑव कान्शसनेस' की निहायत अधकचरी नकल की। हिन्दी के व्यस्त साहित्यकारों से 'यूलिसीज़' के प्रारम्भिक बीस पेज पढ़वा लेना मुश्किल है। कहाँ है हिन्दी में 'पेल फ़ायर' सरीखा दृश्य और शिल्प का चमत्कार? हिन्दी अभी तक अपने 'अलेक्ज़ेन्ड्रिया क्वार्टेट', 'कैन्सर वार्ड' तथा 'हरज़ोग' की प्रतीक्षा कर रही है।

अंतिम व्याख्यान युवा-लेखन पर है तथा शीर्षक 'और युवा लेखन!' से ही स्पष्ट है कि चतुर्वेदीजी के मस्तिष्क में युवा लेखन की इस तरह की तस्वीर है, इस खंड में 'अकविता' तथा 'अकविता' आन्दोलन का बारंबार उल्लेख है जबकि दोनों ही दम तोड़ चुके हैं। चतुर्वेदीजी जैसे प्राध्यापकों के लिए 'अकविता' आन्दोलन एक वरदान सिद्ध हुआ है और 'अकविता' को उन जैसे प्राध्यापक जिन्होंने उसमें क्लासरूम-जोक्स, गोष्ठी-चुटकुलों तथा पांडित्यपूर्ण लेखों का एक नया क्षितिज देख लिया। हिन्दी कविता के 'स्कैण्डल' की तरह इसे 'समझना' और 'निन्दित करता' बड़ा आसान था, इसलिए इसके चर्चित होने में कोई कठिनाई नहीं हुई। मैं 'अकविता' सरीखी वस्तुओं का उतना ही विरोधी हूँ जितने चतुर्वेदीजी होंगे, किन्तु जिन सरलीकरणों का सहारा उन्होंने इस भाषण में लिया है वे बहुत कमज़ोर किस्म के हैं।

'आलोचना' के किसी सम्पादकीय को लेकर इसी भाषण के अन्तर्गत चतुर्वेदीजी ने डॉ० नामवरसिंह को चुनौती—शायद कई चुनौतियाँ—दी है जिसके इतिहास और सन्दर्भों में जाना व्यर्थ है। मैं चतुर्वेदीजी की बात को ही सही मान लेता किन्तु इस प्रकरण में जिस तरह से उन्होंने 'नई कहानी' द्वारा 'अकविता' के उपजने की बात तथा 'सचेतन कहानी' की अकविता से समानधर्मिता स्थापित की है, उसने मुझे भारतेन्दु द्वारा प्रचारित उन विद्वान वैज्ञानिक के करिश्मे का स्मरण दिलाया जिन्होंने पृथ्वी पर चन्द्र तथा सूर्य एक साथ (लगभग) उतार दिये थे। मुझे भय यही है कि उपरोक्त दोनों विषयों पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय के दो या अधिक निरीह शोध-छात्र कहीं अपना सब-कुछ नष्ट तो नहीं कर रहे!

इस अन्तिम भाषण से एक अन्तिम निष्कर्ष, जो अत्यन्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खतरनाक है, यह निकलता है कि 'युवा लेखन' शब्द को भी चतुर्वेदीजी सरीखे प्राध्यापक विशेष गुणधर्मों से सम्पन्न एक रूढ़ शब्द बना लेना चाहते हैं ताकि 'सनद रहे और वक्त-ज़रूरत काम आए'। वे इस शब्द को युवा लेखन में जो सर्वाधिक अप्रासंगिक, अपरूप तथा नकली है उसका पर्याय बना लेना चाहते हैं। वे भूल जाते हैं (या सायास भूलते हैं) कि युवा लेखकों में—कविता की ही बात की जाए—धूमिल, कमलेश, अशोक वाजपेयी, लीलाधर जगूड़ी, प्रयाग शुक्ल, विनोद शुक्ल, नीलाभ, मलयज (मैं श्रीकान्त वर्मा तथा रघुवीर सहाय को भी सम्मिलित करूँगा) आदि जिम्मेदार कवि सृजन-रत हैं जो चतुर्वेदीजी के किसीभी वर्गीकरण में न आते हुए एक ईमानदार, अर्थवान रचनाभूमि तैयार कर रहे हैं। अच्छा तो यही होता कि 'अधुनातन' का सही अर्थ समझकर चतुर्वेदीजी इन्हीं युवा लेखकों पर लिखते। लेकिन क्या लिखते ?

मध्यकालीन रसदर्शन और समकालीन सौंदर्यबोध

आनन्दप्रकाश दीक्षित

समसामयिक सन्दर्भ में अतीत की परीक्षा तत्पर-आलोचक-बुद्धि का धर्म है। साहित्य, कला या दर्शन के वैभव को ऐसे परीक्षणों की अपेक्षा रहती है ताकि न केवल उसे अपनी उपयोगिता प्रमाणित करने का ही अवसर मिले, अपितु यह भी कि वह नए चिन्तन की धार सहकर स्वयं भी नव्यता के आलोक का लाभ उठा सके। चिन्तन, दर्शन, कला या साहित्य को जो केवल निरपेक्ष मानकर चलते हैं, उनकी गहरे पैठ नहीं हो पाती, व्यक्ति-मानस और उसको ढालने, रूप सँवारने वाले तात्कालिक परिवेश तक नहीं जाती, अतः उनका ज्ञान अधूरा रहता है। इतिहास के पन्नों पर अंकित जीवन के सन्दर्भ में ही साहित्य, कला या दर्शन जीता है, अतः इतिहास के सन्दर्भ में ही उसकी परीक्षा भी होनी चाहिए। डा० रमेश-कुन्तल मेघ का प्रयत्न रस-दर्शन को इसी इतिहास की पीठिका पर रखकर देखना-परखना है। हिन्दी में हुए रसविचार के सन्दर्भ में उनका यह प्रयत्न वस्तुतः पहला है।

कुन्तल मेघ का चिन्तन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से प्रभावित होकर भी रसचिन्तन के इतिहास, उसके सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक और धार्मिक विकास से प्रभावित रूप को ध्यान में रखकर चला है अतएव व्यापक है। मेघ का प्रयत्न यह नहीं है कि वे भरत से लेकर आजतक की विवेचना के सन्दर्भ में रस-निष्पत्ति, रसास्वाद आदि के स्वरूप का पुनराख्यान करें, बल्कि उनका लक्ष्य यह है कि इन सारे प्रसंगों में प्रयुक्त चिन्ताधारा को तात्कालिक परिवेशगत चिन्ताधारा से जोड़ सकें और शब्द-माध्यम से भाषिक विकास की संगति बैठा सकें। उनका प्रयत्न 'आदर्शवादी रस-दर्शन को केन्द्र बनाकर उसे समकालीन सौन्दर्यबोध के यथार्थवादी वृत्त में बाँधने' का है।

मीमांसा, न्याय, सांख्य, तन्त्र और वेदान्त की भूमिकाओं से होता हुआ रस-दर्शन जिस प्रकार तत्कालीन जीवनानुभवों को ग्रहण करता चला है, उसी प्रकार उसने षड्दर्शनों से रूपकों, पारिभाषिकों एवं न्यायों को भी ग्रहण किया है। परिणामतः नौ शताब्दी की दीर्घावधि में लौकिक ज्ञान-प्रमाण से लेकर अलौकिक आनन्दानुभव तक की यात्रा पूरी हुई है जिसके अन्तर्गत आनेवाले विविध सौंदर्यदर्शन, तर्कपद्धति, कला-रचना की प्रक्रिया तथा सांस्कृतिक चिन्तन की चुनौतियों की डॉ० मेघ ने वैज्ञानिक तथा भौतिकवादी छानबीन की है। सहज ही इतिहास-भोग और आधुनिकताबोध के दबाव में आकर भौतिकवादी समाजशास्त्र के जिस दृष्टिकोण से रस-तत्त्व का अध्ययन किया गया है उससे एक 'बिलकुल नया और बेहद विवादपूर्ण विश्व उद्घाटित होता है।'

इतिहास के पन्ने इस बात का साफ़ प्रमाण उपस्थित करते हैं कि पात्र और नट के द्वैत से जूझते हुए, रचना-प्रक्रिया पर दृष्टि जमाए हुए आचार्यों की आरम्भिक निष्ठा 'ज्ञान' के प्रति ही थी, किन्तु भट्टनायक और उसके बाद वह 'अनुभव' की समस्या बनकर उपस्थित हुई है। भट्टनायक जिस संधि-स्थल पर खड़े हैं वहीं से परिवर्तन की भूमिका उपस्थित होती है और 'अनुभव' सम्बन्धी प्रश्नों के उभरने के साथ "नाट्य की देश-काल द्वन्द्वपरक 'चलचित्र' की इकाई के बजाय काव्य की नाट्यध्वनिपरक 'शब्द बिम्ब' की सूक्ष्म इकाई का अभिषेक हो उठता है। सौन्दर्यबोध दर्शन जब तक यथार्थवादी विचारधारा से अनुबद्ध रहता है तब तक वह 'प्रत्यक्ष' तथा

लेखक—डॉ० रमेश कुन्तल मेघ, प्रकाशक—राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली, मूल्य—सोलह रुपये, पृष्ठ—डिमाई ३६५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिणाम' के अनुशासन में बँधा है और 'स्वभाववादी' है। लेकिन जब वह अध्यात्मवादी धारा से अनुस्यूत होता है तब इस प्रत्यक्ष के बजाय 'दिव्यदृष्टि', जागृति के बजाय 'सुषुप्ति' एवं समाधि और तर्क के बजाय उन्मेष, कारण-कार्य के बजाय संकल्प का चमत्कार-मिरेकल आदि विशेषण सामने आने लगते हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इन प्रतीकात्मक अभिव्यंजनों को 'पलायनवाद के आदर्शीकृत रास्ते' मानकर चलता है, अतः डॉ० मेघ मध्यकालीन आनुष्ठानिक समाधि में सामरस्य प्राप्त करने की अपेक्षा इनकी छानबीन में प्रवृत्त होते हैं। परिणामतः वे कहते हैं : "इसीलिये रस नित्य होकर भी तत्समकाल में अनुभूत होता है, क्रमपूर्ण होकर भी असंलक्ष्यक्रम से ध्वनित होता है, चित्तवृत्यात्मक होकर भी चिदात्मक आनन्दरूप होता है। असल मामला तो यह है कि सौंदर्यबोधतत्त्व जैसे लौकिक भूमिवाले और इन्द्रियप्रत्यक्ष पर आश्रित विषय की यथार्थता को वे विचारक बहुत अधिक चाहकर भी नहीं मिटा सके। अतः यह अन्तर्विरोध बना रहा।" डॉ० मेघ के इस कथन की भूमिका तो काफ़ी पहले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ही रस की आनन्दरूपता और अलौकिकता के आगे प्रश्न-चिह्न लगाकर तैयार कर दी थी और ब्रह्मास्वाद की स्थिति से वे उसे मानस-भूमिका तक घसीट ले आए थे, किन्तु उनका विचार किसी वाद के अनुसरण के कारण नहीं बना था, डॉ० मेघ ने उसे वह भूमिका प्रदान की है। इस अलौकिकता के कारणों की खोज डॉ० मेघ फ़िलासफ़ीकल साइकोलाजी की सापेक्ष्य यथार्थता रहस्यपरक धर्म के ध्रुवान्तों के सन्दर्भ में करते हैं।

अपनी तर्कपद्धति से डॉ० मेघ इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "इस तरह भरत का ग्रामीण लोक प्रेक्षक पौराणिक साहित्य से सम्बद्ध होता चला गया, तथा भट्टनायक, अभिनवगुप्त, विश्वनाथ, पण्डितराज का शहरी सामाजिक या रसिक, या सहृदय, या प्रमातृ काव्यशास्त्र तथा कामशास्त्र की विलासलीला का दावेदार बना।—ऐसे सृजनात्मकबोध के अन्तर्गत निरंकुश सामन्तों-सम्राटों की तरह अभागा आश्रित कवि भी 'निरंकुश' होने की पदवी से फुसला दिया गया। बस, उसका लोकजीवन से आत्मपरायापन बढ़ता गया और वह राजसभाओं में कीर्ति तथा स्वर्णमुद्राओं का भूखा हो गया। राजसभाओं में कवि के बजाय सामन्त महत्त्वपूर्ण था। अतः सृजनप्रक्रिया के बजाय रस-निष्पत्ति की छानबीन हुई।" देखने में बात ऊपरी तौर पर बड़ी भली लगती है, किन्तु मेरी दृष्टि में तात्त्विक नहीं जान पड़ती। इसी तरह सन्दर्भ की चिन्ता करनी है तो भरत-कथित 'सुमनस्' कालिदास-कथित 'विदुषां' और 'कविः करोति काव्यानि रसं जानन्ति पण्डिताः' उक्ति के 'पण्डित' तथा भोज के 'सचेतस्' की संगति भी बैठानी चाहिए। स्वयं भरत ने भी 'सुमनस् प्रेक्षक' के कई लक्षण गिनाये हैं, वे क्या निरर्थक हैं और 'ग्रामीण लोक प्रेक्षक' का उनसे क्या सम्बन्ध है? इसके अतिरिक्त कवि की निरंकुशता में मेघ जिस सामन्त-सम्राट समाज की भूमिका को महत्त्व देते हैं और उसके कारण लेखक का लोकजीवन से बढ़ता हुआ आत्म-परायापन सिद्ध करते हैं, उसके सम्बन्ध में भी यह स्पष्ट होना चाहिए कि क्या विदेशों में भी जहाँ-कहीं सर्जन के सम्बन्ध में कलात्मक तथा आध्यात्मिक मूल्यों को महत्त्व मिला है, वहाँ भी इस बात का कोई लगाव सामन्त-सम्राटों की निरंकुशता और कवि की कलाप्रियता से है कि नहीं। ऐसा कोई सिद्धान्त हो सकता है तो उसकी सार्वत्रिक प्रामाणिकता भी सिद्ध होनी चाहिए। वस्तुतः निरंकुश तो उसे 'नियतिकृत-नियम-रहित' सिद्ध होनी चाहिए। वस्तुतः निरंकुश तो उसे 'नियतिकृत-नियम-रहित' सिद्ध करने के लिए कहा गया, किन्तु श्रेय और उपदेश की सिद्धि बराबर उसके काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया गया।

डॉ० मेघ का कथन है कि नवीं शती में अकस्मात् ही कुमारिल, शंकर और सरहपाद के क्रमशः ज्ञान, ब्रह्म और सहजसुख के अनुष्ठान से जो त्रयणुक क्रान्ति हुई उसका परिणाम १२वीं-१३वीं शती में 'योगी' और 'सिद्ध' तथा 'नाथ' और 'वीर' के आपसी पर्यवसान में दिखाई पड़ा। सामन्त और सुमंत्री का समीकरण टूटकर सामन्त और सिद्ध का नया अतिप्राकृतिक, अन्धविश्वासी, रहस्यात्मक समीकरण बना और "ईसवी सातवीं शती से १३वीं शती के बीच के मध्यकाल में लोक-व्यवहार भावना का धर्मभावना में, धर्मभावना का कामभावना में, कामभावना का रहस्यभावना में रूपायन होता गया। इन सबका केन्द्रीयकरण ईश्वररूप सम्राट् में हुआ जो पूर्ण तथा प्रभु माना गया। इसीलिए 'रीति' और 'रस' के द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध लोककला और लोकजीवन के क्षीण होते जाने और उनके स्थान पर प्रभु सामन्त वर्ग तथा सामन्तीय कला के प्रतिष्ठित होते जाने की भी कहानी का अनावरण करते हैं।" अतः, "इसके बाद मध्य-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युगीन विश्वदृष्टि की कोई भी आधुनिक सम्भावना नहीं बचती।" अतएव आज सबसे ज्वलन्त प्रश्न तो यह है कि क्या आज के पूंजीवादी अर्थतन्त्र में जकड़ा हुआ आत्मपरायीकृत कलाकार, बेकार, बुद्धिजीवी तथा गरीब सहृदय वैसा ही निर्द्वन्द्व मानसिक जगत् पा सकता है ? क्या आज भी अलंकार, गुण, रीति, रस, रसब्रह्म की उन्हीं अनुभूतियों से अनुप्राणित है जिनसे रमणीयता पर मन्त्रमुग्ध कुन्तल, या माघ, या पण्डितराज जगन्नाथ थे ? डा० मेघ की अन्तरात्मा कहती है 'नहीं'। और इस तरह वह आज के सौन्दर्यबोध को मध्यकालीन सौन्दर्यबोध से पृथक् करते हैं।

इतिहास-दर्शन के प्रयत्न में वे मानते हैं कि आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती भट्ट लोल्लट और श्री शंकुक को तथा परवर्ती अभिनवगुप्त और मम्मट आदि को सामन्तीय संस्कृति, युद्धलिप्त राज्य, तथा आतंकग्रस्त पर्वतग्रामों के बीच अपनी जीवन-लीलाएँ पूरी करनी पड़ी होंगी। सम्भवतः इसीलिये उनके रूपकों में कुम्हार का 'घट' और जुलाहे का 'पट' इतना नहीं आता जितना कि पर्वत और धूम, रजत और शुक्ता का भ्रम—।" और रस की आध्यात्मिक व्याख्या का कारण भी उनकी दृष्टि में यही है कि "युद्धलिप्त क्षेत्रीय राज्य में स्वामी और सेवक के बीच, ठाकुर और दास के बीच ब्रह्म और माया जैसे ही सम्बन्ध थे।" किन्तु ठाकुर और दास के जिस सम्बन्ध को लेकर वे ब्रह्म और माया की स्वीकृति का कारण सिद्ध करते हैं उनके सन्दर्भ में नाटकों में निराशा और करुणा के चित्रण को महत्त्व क्यों नहीं दिया गया, इसका रहस्य वे नहीं सुलझाते। इसी तरह एक ओर लोल्लट तथा शंकुक के विचारों में 'नट' की प्रमुखता का कारण यह मानते हैं कि 'सम्भवतः तत्कालीन सम्राट् भी नट की तरह भूमिकाएँ बदलते और आते-जाते थे' और 'कश्मीर में संस्कृत प्रणयी राजाओं के आश्रय में सामन्ती संस्कृति की छाया में' दार्शनिक कलाचार्यों को आग और अकाल से मुक्त बताते तथा लोकांचलों में नाट्य का खूब प्रचार बताते हैं और दूसरी ओर राजनीति की अपेक्षा धर्म का प्रभाव अत्यन्त व्यापी भी बताते चलते हैं। ऐसी स्थिति में राजाओं के आधार पर नटों का विवेचन करना कहाँ तक उचित है ?

डॉ० मेघ ने अपनी इस छानबीन के लिए पुस्तक को मुखबन्ध आदि प्रारम्भिक दो अध्यायों के अतिरिक्त दो खण्डों में विभाजित किया है और उनके अन्तर्गत क्रमशः अध्याय-भेद से 'सौन्दर्यबोधात्मकवृत्ति या रस-निष्पत्ति' और 'सौन्दर्यानुभव' या 'रसानुभूति' की विस्तृत चर्चा की है। प्रथम खण्ड के अन्तर्गत भरत और रस-सूत्र के व्याख्याताओं के विचारों का विवेचन पृथक्-पृथक् अध्यायों में किया गया है। समग्र पुस्तक में मीमांसा, न्याय, सांख्य, वेदान्त, शैव-दर्शन, स्वतःप्रामाण्य और परिणामवाद, अन्यथाख्याति और असत्कार्यवाद ही विवेचित नहीं है अपितु विटगेंस्टाइन और बर्ट्रेण्ड रसेल की गणितीय और तर्कशास्त्रीय पद्धति, हीगेल के द्वारा प्रतिपादित जगत् और निर्विकल्प सत्ता के द्वन्द्व-सिद्धान्त को भी तर्कना के लिए उपस्थित किया गया है। भारतीय दर्शनों का विवेचन भी केवल अभी तक किए गए विवेचन की पुनरावृत्ति के रूप में गृहीत नहीं है, गहराई में पैठकर सूत्रों को जोड़ने का उत्तरदायित्वपूर्ण प्रयत्न है। निश्चय ही इतने विस्तार और इन विषयों की पैठ के साथ रस-सिद्धान्त का विवेचन अभी तक न होने से पाठक को बौद्धिक व्यायाम का अनुभव होने लगता है और मेघ की जटिल भाषा और शब्दों का विलक्षण पारिभाषिकीकरण उसके आड़े आता है, किन्तु बिना इस व्यायाम के जिन गुत्थियों को मेघ सुलझाना चाहते हैं, उन्हें सुलझा पाना सहज-सम्भव नहीं था, अतएव इस पुस्तक के अध्ययन के लिए 'सामाजिक' को 'सहृदय' बनना पड़े तो उसे पीड़ित अनुभव नहीं करना चाहिए। हाँ, अंग्रेज़ी शब्दों का हिन्दी पारिभाषिकीकरण यत्र-तत्र विचलित कर सकता है।

डॉ० मेघ भरत के रस-सूत्र को पुरोहित-शैली से और अभिनेता के व्यापार को कर्मकाण्ड से जोड़ते हैं और रस-सूत्र में भाषिकीय सम्भावनाएँ खोजते हैं। उनकी दृष्टि में भरत का युग दर्शनों, संहिताओं, कोषों और काव्यों के संकलन का था, अतः विभावादि का संकलन सिद्धान्त उन्हें कर्मकाण्डीय पद्धति पर करना पड़ा। इसी कर्मकाण्ड की प्रधानता के कारण नाट्य में वर्णनात्मक मिथक और क्रियात्मक पद्धति का मेल हुआ है। और इसीलिये रस को प्रधानतया मिथक काव्यों और नाट्य-मण्डपों के लिए ही सुरक्षित रखा गया। डॉ० मेघ का यह भी कथन है कि विश्वकोषों के ज्ञान, लौकिक जीवन-दर्शन तथा सांस्कृतिक विस्तारवाद का काल होने के कारण "उनके युग में इहलोक-परलोक का प्रतिबिम्बात्मक सम्बन्ध भी माना जाता था, जहाँ मनुष्यों को नियति-नटी नचाती है। सम्भवतः इसी वजह से उन्होंने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने विवेचन में नाटककार को भुला दिया, अभिनेता को प्रधानता दी तथा प्रेक्षक को विनीत बनाया। विश्व-रंगस्थल की तरह रंगमंच भी रहस्य और नाट्ययज्ञ का केन्द्र बन गया। "भरत 'यज्ञ' और 'नाट्य' के अन्तर को जानते हैं। उन्हें यह तत्कालीनबोध हो गया था कि रसानुभव लौकिकता से विलक्षण है, यज्ञ से पृथक् है किन्तु लोकबहिर्भूत नहीं है। वे यह भी महसूस करने लगे थे कि रसानुभव लौकिक अनुभव तथा प्रत्यक्ष प्रमाण से भी विलक्षण है। किन्तु वे विलक्षणता की सीमाएँ नहीं पहचान सके हैं। केवल एक सीमा उन्हें मालूम है : रसानुभूति नाट्याश्रित है।"

भट्ट लोल्लट की व्याख्या में मेघ कहते हैं कि रसबोध के तीन स्तरों—१. लौकिक रस का अमूर्त मूल पात्रादि द्वारा अनुभव, २. नाट्यरस का नट द्वारा अनुभव, तथा ३. अनुसन्धानात्मक नटगत रस की सामाजिक द्वारा प्रतीति—के कारण ही "भट्ट लोल्लट ने भी अनुभव के तीन क्रम दिए हैं : लौकिक रस का यथातथा 'अनुभव', नाट्यरस की आशंसात्मक तथा असंपृक्त अनुभूति और नाट्य-रस के अभिव्यंजना-व्यापार का ज्ञान। इस तरह अन्ततोगत्वा भट्ट लोल्लट रसानुभव को प्रत्यक्ष प्रतीति या ज्ञान में परिणत करते हैं और इसे मात्र प्रत्यक्षीकरण के दायरे में बाँध देते हैं। वे प्रत्यक्ष ज्ञान को ही ज़बर्दस्त प्रमाण मानते हैं क्योंकि वह नट में अनुसन्धानात्मक रूप में, तथा सामाजिक में स्वतः प्रामाण्य रूप में साक्षात् उत्पन्न होता है। वे पूर्णतः निर्मल एवं जागृत अवस्था के कायल हैं। अतः नाट्यप्रत्यक्ष को वे माया-भ्रान्ति तथा स्वप्नभ्रम जैसी दशाओं से आज़ाद रखते हैं। अतः वे विपरीतख्याति द्वारा रसानुभव की त्रुटियों का निराकरण कर डालते हैं।" किन्तु मेघ के शब्दों में उनकी कमज़ोरी यह है कि "कार्यकारण शृंखला का कई धरातलों पर इस्तेमाल करने के कारण उनकी तार्किक संरचना में क्रम—सीक्वेंस—पर बेहद बल दिया गया है। अतः उन्होंने सभी स्तरों पर अलग-अलग त्रित्व तो निथार लिया है, किन्तु उनका समन्वय करने में, उन्हें अनुस्यूत करने में असफल रहे हैं। इसीलिए उनकी रसानुभव की व्याख्या लौकिक यथार्थता से भिन्न सौन्दर्यबोधात्मक विलक्षणता का लेखा-जोखा भी नहीं ले पाती। अनेक त्रिकोणों की वजह से उन्होंने ज्ञान की समस्या में कई नई-नई भूमियों की अभिनव तलाश की है। अतः अप्रत्याशित की यह प्राप्ति स्वभावतः 'चमत्कार' उत्पन्न करेगी। अतः भट्टलोल्लट ने त्रिपुटी—माता, मेय और मिति—के ही साथ प्रत्यक्षीकरण को स्वीकार किया है और यही उनके रसानुभव का 'चमत्कार' है जो अनेक त्रिकोणों से बुना हुआ है। अन्ततः सामाजिक में उद्बुद्ध ज्ञान का स्वयं-प्रकाश रूप ही उनका श्रेय रहा है।"

शंकुक की 'महत्तम उपलब्धि का राज़' मेघ इस बात में मानते हैं कि वह 'प्रमा' से आगे अपने 'संशय' को ले गये और यांत्रिक यथार्थता तथा कारणकार्यवाद की ज़ंजीरें ढीली करके उन्होंने कृत्रिम अनुकरण के अनुमान के द्वारा रंगमंच की 'भ्रान्ति' से बचने की कोशिश की। डा० मेघ ने नाट्यकला के माध्यम की इकाई को 'चल शब्दचित्र' की संज्ञा दी है जिसमें चित्र के अंतर्गत स्थानपरक—स्पैशियल—सभी दृश्य माध्यमों वाली कलाएँ, 'शब्द' के अन्तर्गत कालपरक—टैम्पोरल—सभी श्रव्य माध्यमों वाली कलाएँ एवं 'चल' के अन्तर्गत अंग-मुद्रा तथा घटना से सम्बन्धित कार्य—एक्शन—संयोजित हो जाते हैं। यही द्वन्द्वात्मक त्रित्व है और "इसीलिए नाट्य-माध्यम की इकाई में ज्ञान तथा भाव की, देश तथा काल की, श्रव्य तथा दृश्य की, चल तथा अचल की, सहक्रम तथा अनुक्रम की, चित्रकला तथा शब्दकलाओं की, प्रत्यक्ष तथा अनुमान की, अनुकरण तथा असक्रिय क्रियावृत्ति की द्वन्द्वात्मक ध्रुवांतता—डाइलेक्टिक पोलैरिटी—कायम है। इसी वजह से नाट्यरस व्यापार भी ज्ञान तथा भाव, द्वन्द्व तथा अनन्यता की विलक्षणता है। भट्टलोल्लट इस विलक्षणता को स्पष्ट नहीं कर पाये थे, किन्तु श्री शंकुक ने यह कार्य सम्पादित किया।" इतना ही नहीं शंकुक के द्वारा अनुक्रियमाण या अनुकरणात्मक स्थायीभाव को ही 'रस' कहने के पीछे भी एक रहस्य है और "इससे एक क्रान्तिकारी नतीजा निकलता है कि पहले रस का 'ज्ञान' और इसके बाद रस से 'भाव' होते हैं। यह अमूर्तीकरण—एब्सट्रेक्शन—तथा तत्त्वज्ञान—ओन्टोलाजी—का परिणाम है जिसके फलस्वरूप एक ओर तो रस से ही भाव की सत्ता प्रमाणित हुई है तथा दूसरी ओर रसभाव तथा रसज्ञान में अभेदकता की झलक दी गई गई है। चित्रतुरगन्याय के रूपक में श्री शंकुक ने नाट्यज्ञान के इसी द्वन्द्वात्मक चरित्र की सूक्ष्मता पकड़ने की चेष्टा की है। "किन्तु फिर भी शंकुक अनुभव-क्षेत्र में इसका विस्तार नहीं कर सके और संभवतः सामंतयुग की विवशता ने ही उन्हें उसे मानवतावादी धरातल पर ग्रहण करने से भी वंचित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रखा। "क्योंकि तब तो सामंतयुग का चरित्र ही बदल जाता।"

डॉ० मेघ भट्टनायक के प्रसंग में सत्-रज-तम की कल्पना को मध्ययुगीन मनोविज्ञानाभास कहकर उनके भ्रमापन—वैरीफिकेशन—की असंभाव्यता का निर्देश करते हैं और सांस्कृतिक तथा नैतिक मान्यताओं तथा संयम, नियम, दमन से इनका नाता जोड़ते हुए इन्हें अस्वीकार करते हैं। उनके शब्दों में "ये शरीर तथा स्नायुचक्र के कल्पित रचना-गठनों के मनोस्वरूप-निर्माण—साइको मारफेलॉजी—के प्रतिभास हैं।" साथ ही वे भावकत्व के प्रसंग में विचार करते हुए तर्क की कुछ ऐसी उलझन पैदा करते हैं कि भावकत्व और भोजकत्व के सन्दर्भ में रस के ही भावित रस तथा भुक्त रस नामक दो भेद मान लेते हैं, जबकि भट्टनायक के विवेचन में वे भावकत्व की स्थिति में बराबर स्थायीभाव का ही नाम लेते आए हैं। उनका विचार है कि "श्री शंकुक के अनुसार स्थायीभाव विभावादि लिंग के द्वारा अनुमित होते हैं, किन्तु भट्टनायक ने इन्हें विभावादि द्वारा भावित माना है। अतः रस भावित होता है।" अनुभूत अर्थ—फ़ैल्ट मीनिंग—को चिंतन, निरीक्षण, कार्य, वाणी एवं संवेगों अर्थात् मानवीय ज्ञातता के सभी रूपों में थोड़ा-बहुत हाज़िर मानते हुए वे भावकत्व को एक 'विलक्षण अभिज्ञान' कहते हैं और मानते हैं कि "भावकत्व व्यापार के चरण तक वे—भट्टनायक—भरतप्रणीत इस धारणा से बँधे रहे हैं कि रस ज्ञान है तथा चित्तवृत्तियाँ और विभावादि 'भाव' हैं। इस बुनियादी अन्तर को उन्होंने यहाँ अन्तररूपान्तरित करने की कोशिश तो की है, किन्तु इसका सन्तुलन नहीं किया है। इसी वजह से वे भावरूप स्थायीभाव को साधारणीकरण के अन्तर्गत नहीं लाए।"

अभिनवगुप्त से उन्हें शिकायत है कि अद्वैतवाद के कारण निर्विकल्पों, अमूर्त्तनों तथा अद्वैतों के प्रत्ययों में मायामुग्ध भारतीय सुपरिगठन में महत्तम क्रान्ति तो हुई किन्तु "फल-स्वरूप सौन्दर्यबोधानुभव श्रम, पदार्थ, जागृतचेतना, प्रत्यक्ष तथा ज्ञान की बहती गंगा से कटकर देश, काल तथा कर्म से निर्मुक्त होने वाली आध्यात्मिक अभिव्यंजनाओं के अनुरूप रूपायित होने लगा।···जो जगत् तथा इतिहास की अवहेलना करता है वह स्वयं अपनी निंदा करता है और सामाजिक सत्यों की मशालों को नहीं जला पाता। अद्वैतवाद ने देश एवं काल की सत्ता क्षीण करके भारत में जिस काले सामंतवाद की जड़ें मज़बूत कीं उसमें जगत्, जीवन तथा जन के प्रति प्रेम नहीं रहा, आर्थिक सक्रियता तथा सामाजिक परिवर्तन की संभावनाएँ कुचल गईं तथा उसमें मौलिकता तथा बौद्धिकता को माया और नास्तिकता घोषित किया गया।" और वे इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि "अतीत-वर्तमान-भविष्य, जीवात्मा-जगत्-परमात्मा, सृष्टि-स्थिति-संहार, परमशिव-पुरुष-प्रकृति आदि सभी त्रित्व चक्राकृत और तालयुक्त हैं। इसलिए इहलोक बनाम परलोक, शरीर बनाम आत्मा, ब्रह्म बनाम माया, प्रत्यक्ष बनाम विवर्त्त, जागृति बनाम समाधि, सुख बनाम आनन्द आदि के पार्थक्य की एक ऐसी सामंतवादी अंधविश्वासों वाली गहरी स्थायी खाई खुदी जो एक हज़ार वर्षों के बाद भी औद्योगीकरण में कटिबद्ध भारत के आधुनिकीकरण को मग्न करने के लिए दुर्धर्ष कर रही है। इस विश्व दृष्टिकोण का रहस्योद्घाटन करके ही हम आधुनिक ज्ञान, विज्ञान तथा सौन्दर्यबोध के औज़ारों का इस्तेमाल कर सकते हैं।"

लगता है यहाँ आकर डॉ० मेघ का वक्तव्य पूरा हो गया है, किन्तु वे भोज, मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज और मधुर रस के चिन्तकों की ओर बढ़ जाते हैं। रसेश्वर दर्शन, सिद्ध और योगी तथा शून्य के गणितीय और आध्यात्मिक रूप के निदर्शन में बहुत दूर तक डूबते चले जाते हैं। शून्य की चर्चा करते हुए उनका कथन है : "रसरूप ज्ञान का वेदान्ती आस्वाद भी गणितीय पहेलियों का रूपकात्मक रहस्यलोक है। यह निर्विकल्पों का लोक है। विश्वनाथ ने इस लोक को—भोज की तरह—चित्तवृत्तियों की खिदमतगारी से हटाकर चित्त के निर्विकल्प धाम में प्रतिष्ठित करने की पुरजोश कोशिश की है। अतः विश्वनाथ कृत रंग-रूप के प्रतीकीकरण में हम कुछ दार्शनिक समस्याओं के सामाजिक दर्पण भी स्वच्छ कर सकते हैं।"

भानुदत्त द्वारा स्वीकृत स्वाप्निक, मानोरथिक तथा औपनयिक एवं माया रस के वर्णन में मेघ 'अस्पष्टता और विभ्रान्ति का बवण्डर' मानते हुए भी एक विचित्र कल्पना करते हैं कि "भानुदत्त को स्वप्न में काव्यसृजन का—कालरिज की भाँति—अनुभव हुआ होगा, और वह सृजन में प्रतिभा के अलावा साहचर्यों की वशीभूतता को भी पहचान चुके होंगे।" और अकस्मात् ही अब तक भुलाये हुए भानुदत्त को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा० मेघ की ओर से एक आशंसा—काम्प्लीमेंट—मिल जाती है : "भानुदत्त मायारस एवं लौकिक रस का जो व्याख्यान करते हैं उसकी वजह तो यही मालूम पड़ती है कि वे इस नतीजे पर आ चुके हैं कि व्यावहारिक दृष्टि से न तो किसी को रसानुभव की अनुभूति ब्रह्मानन्द-सहोदर रूप होती है, और न ही किसी को संविद्विश्रान्ति होती है। वस्तुतः ये मात्र आदर्श प्रारूप—माडल—हैं। भानुदत्त ने इसी मोहभंग को प्रकट करने के लिए शायद रस के यथार्थवादी आयामों की अजनबी संभावनाओं को टटोला है, लेकिन अनुभवगम्य प्रखर सचाई को भी ज़रूर तपाया है।" भानुदत्त की छोटी-सी बात को बहुत महार्घ बना देने पर भी डॉ० मेघ रामचन्द्र-गुणचन्द्र की व्याख्याओं को 'घोर भौतिकता से पीड़ित' एक ऐसी निर्मिति मानते हैं "जिसमें यथार्थता के कलात्मक रूपान्तर का बोध अधूरा है।" गोस्वामियों और गौड़ीय वैष्णवों की धारणाओं को पूर्ण-आत्मपरायेपन की स्थिति और यौन के निर्विकल्प प्रतीक की उपलब्धि बताकर वह अन्ततः पण्डितराज पर आ जाते हैं। यहाँ आकर वे फिर शून्य, रहस्यानुभूति और मनोविज्ञान की चर्चा पण्डितराज की 'रमणीयता' को समझाने के लिए करने लगते हैं और उन्हें 'रीतिवाद के द्रष्टा तथा सौंदर्यबोध शास्त्र के औपचारिक प्रतिष्ठापक' कहकर उसके कारण का निर्देश इन शब्दों में करते हैं : "विश्वनाथ ने गुण, अलंकार, अदोषता आदि को रस के उपकरण नहीं बल्कि उत्कर्षाधायक माना था, पण्डितराज ने रस समेत उन्हें रमणीयता के उपकरण मान लिया।" उनकी धारणा है कि पण्डितराज के 'चमत्कार' की अत्याधुनिक व्याख्या संभव है—जिसका उन्होंने निर्देश किया भी है—और इस चमत्कार या काव्य के लोकोत्तर-आह्लाद में "वतुस्तः यथार्थता के रूपान्तरण की ज्ञानगोचरता तथा मानसिक प्रक्रिया की सहचेतन कार्यवाही का आयत्तीकरण हुआ है।" पण्डितराज की 'रमणीयता' की धारणा में कलात्मक सौंदर्य की व्याख्या को स्वीकार करते हुए मेघ ने उसे 'रमणी' के मध्यकालीन सेक्स-परक रूपक का आध्यात्मिकीकरण बताया है और कहा है : "रमणीयता की धारणाओं में कई सांस्कृतिक संदर्भात्मक इकाइयाँ मिलती हैं। इसमें आलंकारिकों का चारुत्व, अद्वैती शैवों का आनन्दवाद, वेदान्तियों की वेद्यान्तरस्पर्श शून्यता एवं सूफ़ियों का प्रतीकवाद उपनीत है। अतएव रमणीयता का क्षेत्र व्यंजना से बहुत व्यापक है, क्योंकि इसके अन्तर्गत व्यंग्यार्थ ही नहीं, चमत्कारत्व भी शामिल है। वस्तुतः वह नंदतिक सौंदर्यबोध है जिसमें सौंदर्य की आशंसा तथा चर्वणा दोनों ही शामिल हैं। यह 'ज्ञान' एवं 'भावना' के छोरों को मिलाती है। अतः यह बौद्धिक एवं संवेगात्मक, दोनों प्रकार का अनुभव है।" आदि। पण्डितराज की इस उपलब्धि की प्रशंसा में ही डॉ० मेघ उन्हें 'भारतीय सौंदर्यबोधशास्त्र के बामगार्टन' कहते हैं।

डॉ० मेघ का यह सारा प्रयत्न एक बहु-अधीत व्यक्ति का यथार्थ एवं सत्य की खोज में भटकने का प्रयत्न है; अनेक साहित्यिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक, सामाजिक, राजनैतिक भूमियों में संचरण का प्रमाण है और इस बात का सूचक भी है कि डॉ० मेघ के पास वह भेदक दृष्टि है जिससे वे सूक्ष्मतम स्तरों को उखाड़कर किसी बात की तह तक पहुँच सकते हैं। किन्तु जैसे इन तहों तक पहुँचना लेखक के लिए आसान नहीं है वैसे ही यह अंग्रेजी शब्दों से ठसाठस भरी हुई और वैज्ञानिक तथा गणितीय गुत्थियों, संकेतों और प्रतीकों में लिखी होने के कारण पाठक के लिए भी सहज-ग्राह्य नहीं रह जाती। रस की जटिलताओं को सरलता से हृदयंगम करने के अभ्यासी भी बौद्धिक-श्रम के बिना इसके मूल-तत्त्व को न पा सकेंगे। जो 'गंभीर' आलोचक इसे आधी एक रात में ही पढ़ जाने का दावा करते हैं, उनके प्रति इतना ही कहा जा सकता है कि 'मुखबन्ध' पढ़कर ही उनकी सारग्राहिणी प्रतिभा जागृत हो गई होगी। डॉ० मेघ की, या शायद इस पुस्तक के विवेचन की, यही मजबूरी है कि महत्त्वपूर्ण और मौलिक कथनों पर दुर्बोधता, विस्तृति और पुनरावृत्ति का ऐसा खोल चढ़ता चला गया है कि उन्हें कई बार डुबकी मारकर ही खोजा जा सकता है। इन त्रुटियों के बावजूद यह पुस्तक उनके ज्ञान के प्रति ही विश्वास नहीं दृढ़ करती, बल्कि उनकी विश्लेषण-क्षमता और नई व्याख्याओं में उनकी दक्षता के विश्वास को भी जन्म देती है। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'आधुनिकता के संदर्भ में एक सार्थक 'सोच''

विजय मोहन सिंह

'मैं वे और आप'[1] हमारी-आपकी कहानी नहीं है, वह पूरी तरह मि० निगम की कहानी है—'अजय की डायरी' वाले मि० निगम की कहानी। चूंकि निगम साहब का उद्देश्य न तो कहानी सुनाना है, न उपन्यास लिखना, बल्कि वे इसे अपने 'सूक्ष्म और ईमानदार पर्यवेक्षण' का 'दस्तावेज़' मानते हैं, इसलिए ज़रूरी है कि इस 'दस्तावेज़' का उसी रूप में विश्लेषण किया जाए।

मि० निगम का यह 'दस्तावेज़'—जो एक हद तक उनकी डायरी भी है (उन्हें इसे 'डायरी' कहने में आपत्ति नहीं है) व्याख्याओं, वक्तव्यों और सूत्रात्मक सिद्धान्तों से भरा हुआ है—क्योंकि वे खुद ज्यादा कुछ करते नहीं, केवल तटस्थ भाव से देखते और अंकित करते हैं—यह और बात है कि उनका देखना तथा अंकित करना—सब उनके अपने सन्दर्भ में ही है—अपनी अहमियत की रक्षा के लिए या अपने को 'जस्टीफाई' करने के लिए।

मि० निगम का अपनी इस 'भूमिका' के बारे में ख़याल है कि 'इस मामले में मैं अपने युग की योग्य सन्तान हूँ यानी आज के मनुष्य का प्रतिनिधि—उसकी चेतना को समूचेपन में ढोनेवाला।' यह बहुत बड़ा दावा है—यानी आज का मनुष्य अपने समूचेपन में मि० निगम है। लेकिन मि० निगम क्या हैं? इसे जानने के लिए मि० निगम को ज़रा नज़दीक से देखना पड़ेगा।

मि० निगम आज के मनुष्य का उसकी चेतना के समूचेपन के साथ प्रतिनिधित्व करने का दावा करते हैं और इस रूप में उनके सामने (आज के मनुष्य की) केवल दो ही समस्याएँ हैं: सौन्दर्य और औरत। बल्कि एक ही समस्या है: औरत का सौन्दर्य! अपने पूरे 'दस्तावेज़' में वे भाँति-भाँति की औरतों से टकराते हैं और उनके सौन्दर्य का 'सूक्ष्म पर्यवेक्षण' करते हैं। उनके लिए औरतें दुनिया की 'मरुभूमि में खूबसूरत नखलिस्तान है' और एक तरह से तरह-तरह की औरतों के बाहर मि० निगम की दुनिया ही नहीं है। वे चाहे ट्रेन में हों या सिनेमाघर में, 'संगोष्ठी' में हों या सड़क पर—कोई-न-कोई खूबसूरत औरत उनके सामने 'सूक्ष्म-पर्यवेक्षण' के लिए आ ही जाती है। या अगर यह भी न हो तो कोई अभिभावक आकर उन्हें सादर अपनी कन्या के 'सूक्ष्म-पर्यवेक्षण' के लिए अपने घर लिवा जाता है।

सिद्धान्ततः मि० निगम का कहना है कि 'मेरी दृष्टि में फिसलना और चढ़ना दोनों एक ही हैं यानी नीतितः समान हैं।' और यह भी कि 'चीज़ों के स्वभाव से झगड़ना मूर्खता है।' लेकिन वे बाकायदे चीज़ों की अच्छाई-बुराई को परखते हुए चलते हैं। वे मूलतः उस दुनिया के आदमी हैं जो परिवर्तन को देखकर कुढ़ता रहता है और उसकी अधिकांश शिकायतें इसी कुढ़न से पैदा होती हैं, मसलन उनका यह सोचना कि 'अपने देश के छात्रों की हालत यह है कि न वे अंग्रेज़ी ढंग से सीखना चाहते हैं न हिन्दी।' फिर 'फिसलना' और 'चढ़ना' दोनों एक कैसे हैं?

दरअसल निगम साहब के वक्तव्यों और उनके 'होने' में बहुत फर्क है और यह फर्क ज़ाहिरा तौर पर उपन्यास के अपने 'ढंग' को 'अन्कन्विंसिंग' बनाता रहता है।

इसकी यह वजह है कि जिस 'संवेदना' का प्रतिनिधि लेखक मि० निगम को बनाना चाहता है उसमें उसे खुद विश्वास नहीं है और यह अविश्वास इस हद तक है कि लेखक निगम को उस 'संवेदना' के साथ पूरी तरह खड़ा नहीं कर पाता। इस अविश्वास के कारण ही इस 'संवेदना' की जानकारी जहाँ अधूरी पड़ने लगती है वहाँ लेखक उसकी पूर्ति अपने द्वारा करता है।

फिर 'अजय की डायरी' का अगला अंश होने के कारण और लेखक का उससे (अजय से) गहरा जुड़ाव होने के कारण अजय हमेशा निगम के परिपार्श्व में रहता है—अपनी अनुपस्थिति में भी। निगम न केवल घटनाओं और चीज़ों को अजय की उपस्थिति में देखता है बल्कि उसके भीतर हमेशा अजय का एक हिस्सा मौजूद रहता है—क्योंकि लेखक का काम केवल निगम से नहीं चल सकता, उसके लिए अजय ज़रूरी है। सच्चाई यह है कि लेखक कभी इस धारणा से मुक्त नहीं होता कि सही अजय ही है और निगम उसकी रोशनी में अपनी छान-बीन करके वापस लौट आयेगा।

सच्चाई यह भी है कि निगम जिस दुनिया का होने का दम भरता है उस दुनिया का है नहीं—वह हमेशा दुहरेपन

१. मैं वे और आप: लेखक: देवराज; प्र० राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-६, मूल्य ५.००।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का शिकार बना रहता है। इसीलिए उसे कोई चीज़ बौद्धिक रूप से ख़राब या अच्छी लगती है और फिर वही चीज़ सहज रूप से अच्छी या ख़राब लगती है। यह सिलसिला अन्त तक चलता है—दीपिका और निर्मला के बीच चुनाव के मसले तक। निगम की आधुनिकता और बौद्धिकता उसके व्यक्तित्व का सहज अंग नहीं है, वह काफी हद तक आरोपित है। यही लेखक का उद्देश्य भी है। वह निगम के द्वारा जिन लोगों की जमात का प्रतिनिधित्व करना चाहता है वे ऐसे ही दुहरेपन में जीते हैं और कुल मिलाकर उनकी बौद्धिकता 'बुद्धि-विलास' से अधिक कुछ नहीं होती। अपनी खोल के भीतर वे प्यारे-प्यारे रूमानी बिम्बों, औरतों की हँसी, फूलों और मौसम पर मरनेवाले ही सिद्ध होते हैं! निर्मला और विमला की हँसी निगम को अच्छी लगती है और उसे देखकर 'दूर तक समतल पर फैली हुई सफेद बर्फ' का एहसास होता है पर बौद्धिक रूप से वे इसे नापसन्द करते हैं।

निगम साहब जिन मान्यताओं के ख़िलाफ हैं उनसे भी वे पूरी तरह मुक्त नहीं हैं और उन्हें लेकर वे बराबर एक 'अपराध बोध' में रहते हैं। इस रूप में उनका दृष्टिकोण एक नीतिवादी का है—अच्छाई-बुराई की रगड़ से गुज़रते हुए नीतिवादी का! मसलन निगम साहब का कहना है कि 'ज्यादातर फिलासफियाँ अस्वाभाविक और ज़रूरत से ज्यादा अमूर्त होती हैं।' उनकी यह बात उन्हीं के बारे में ज्यादा सच है। उनके जीने का तरीका चीज़ों को 'फिलॉसोफाई' करने का ही है—वे इस क्रम में जीते कम हैं 'फिलॉसोफाइज़' ज्यादा करते हैं। उनकी सारी दिनचर्या व्याख्याओं और वक्तव्यों से भरी हुई है जबकि उन व्याख्याओं तथा वक्तव्यों को जोड़ने वाली स्थितियों का खासा अभाव है। वे बहुत मामूली (पूरी तरह मामूली) स्थितियों पर लम्बी-चौड़ी व्याख्याएँ लादते चलते हैं और अकसर परस्पर विरोधी वक्तव्य देते रहते हैं। मसलन उनका प्रिय विषय औरत और प्रेम है—वे बौद्धिक हैं और औरतों तथा ज़िन्दगी के मामले में किसी तरह की भावुकता उन्हें पसन्द नहीं है—इसी सन्दर्भ में उनका अपने गहरे मित्र अजय से तीव्र विरोध भी है, लेकिन औरत उन्हें वही अच्छी लगती है जो शिष्ट हो, शालीन हो, मृदुभाषिणी हो तथा स्वच्छ दूधिया और फैली हुई बर्फ की तरह सफेद हँसी हँसती हो। वे केवल कहते भर हैं कि उन्हें 'बौद्धिक प्रखरता' वाली औरतें पसन्द हैं। यही हाल 'प्रेम' का भी है। उन्हें अपने 'प्रथम प्रेम'—सरोज प्रसंग का खयाल आता है तो वे कहते हैं कि 'मैं सरोज के बाह्य आकर्षण, रूप-रंग को प्यार करता था और जब वह आकर्षण खत्म हो गया···तो प्यार भी खत्म हो गया।' और वे अजय को समझाते हैं कि 'मेरे मित्र, तुम्हारी प्रेम की परिभाषा में एक बड़ी खामी है, वह सिर्फ शरीर के प्रति अनुभव किये जाने वाले आकर्षण को नहीं समझा सकती।'

लेकिन यह सब 'वक्तव्य' देने के बाद वे अपनी ही प्रेम की फिलॉसफी भूल जाते हैं 'लेकिन मैं नहीं समझता कि इस तरह की वासना को किसी मानने योग्य अर्थ में प्रेम का नाम दिया जा सकता है।'

इसी तरह निगमजी का तरीका यह है कि वे सूत्र देते हैं, फिर उस सूत्र की पुष्टि के लिए अपनी ज़िन्दगी की कोई घटना बयान करते हैं और इस तरह उनका 'दस्तावेज' आगे बढ़ता है। लेकिन अकसर होता यह है कि या तो उस सूत्र से उस घटना का बहुत सतही सम्बन्ध होता है या वह पूरी घटना ही सूत्र का विरोधाभास प्रतीत होती है: एक जगह वे 'प्रेम' में उत्पन्न 'बोरियत' के सम्बन्ध में एक सूत्र देते हैं 'अपनी निरन्तर विद्यमानता और करीब स्थिति से वह मानो आपके ध्यान देने और रस लेने की ताकतों को थका देता है और यह थकान एक अजीब-सी ऊब और बोरियत में परिवर्तित हो जाती है।···मुझे ऐसा अनुभव कम-से-कम दो बार हो चुका है और एक बार यहीं आगरे में···।' और इस सूत्र की पुष्टि के लिए निगमजी जो घटना बयान करते हैं उससे पता चलता है कि प्रेम में यह 'विरक्ति' 'निरन्तर सान्निध्य' के कारण नहीं बल्कि शुद्ध आर्थिक कारणों से उत्पन्न हुई थी, 'सर्वजीत से छुट्टी पाकर मैंने राहत की साँस ली। मैं सचमुच बहुत बोर हो गया था और इस बोरियत का एक खास कारण यह था कि मेरी जेब से पूरे आठ रुपये और रिक्शे का व्यय मिलाकर लगभग दस रुपये खर्च हो चुके थे।'

मि० निगम की इन विसंगतियों के बीच उपन्यास का उद्देश्य तथाकथित आधुनिकता—बल्कि तथाकथित 'आधुनिक' की बखिया उधेड़ना है। लेकिन यह फैसला पूरी तरह एकपक्षीय हो जायगा अगर निगम या निगम-जैसे लोगों के बारे में पूरी जानकारी न दी जाय। लेखक की ओर से पोल खोलने वाली यह कोशिश तब पूरी तरह साफ हो जाती है जब वह निगम की ओर से कहता है 'तेरी यह चाल, तौबा,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तौबा ! रेडियो-सीलोन की यह धुन मुझे बेहद पसन्द है। जी हाँ, रेडियो पर मैं अकसर सीलोन स्टेशन ही लगाता हूँ। यह गीत मुझे खास तौर पर पसन्द पड़ता है— वह जैसे मेरी संवेदना को उसकी स्थूल असलियत में आकार देता है।'

लेकिन निगम-जैसे लोग केवल सिनेमा की संवेदना में नहीं जीते—तमाम तल्खी और तेज़ी के बावजूद उनका खोखलापन जिस धरातल पर होता है उन्हें केवल 'संचित स्थितियों' के सहारे नहीं पकड़ा जा सकता। उनके लिए स्थितियों की कल्पना उन्हीं की दुनिया के भीतर से करनी होगी। नार्मल मेलर का 'अमेरिकन ड्रीम' या इलिया कज़ान का 'एरेंजमेंट' इस खोखलेपन को उसी आतंकपूर्ण नाटकीयता के साथ उपस्थित करता है। दरअसल 'खोखलापन' दिखाने की यह क्रिया उस 'इतमिनान' के साथ हो ही नहीं सकती जो 'इतमिनान' इस उपन्यास में शुरू से अन्त तक बना रहता है। इसके लिए शायद एक पागल सभ्यता के मस्तिष्क को पारदर्शी बनाने की ज़रूरत पड़ती है।

यहाँ एक बात और स्पष्ट हो जानी चाहिए कि इस 'इतमिनान' के बजाय उपन्यास में एक 'आतंकपूर्ण शीतलता' होती—कुछ उस तरह की जैसी कैमू के 'दी फाल' में है—तब भी उपन्यास इस खोखलेपन को 'आत्मालाप' की सीमा में ही ज्यादा सफलता से खोलकर रख सका होता।

निगम साहब के इस 'हैपी गोलकी' दृष्टिकोण के पीछे भी जटिल स्थितियाँ नहीं हैं बल्कि दो सपाट कारण हैं: सरोज का असफल प्रेम तथा मित्र सुरेन्द्र की असामयिक मृत्यु ('इन घटनाओं ने मुझे अपने अतीत से, यानी उस दुनिया से जिसमें मैं अब तक कुछ सरल-सीधी आस्थाओं के साथ जी रहा था, एकाएक विच्छिन्न कर दिया।') शायद कोई चरित्र इतने 'आसान आघातों' से नहीं बनता। यह एक सरलीकरण है। लेखक ने निगम को चरित्र-निर्माण के इतने सीधे कारणों से नहीं जोड़ा होता तो वह ज्यादा जानदार बन सका होता और उसका विरोध भी ज्यादा ताकत के साथ किया जा सकता था।

पूरा उपन्यास एक 'लगातार सोच' की प्रक्रिया में लिखा गया है—एक गम्भीर 'सोच' की प्रक्रिया में ! इस सोच के आधार पर ही उन्हें स्थितियों से जोड़ा गया है। हिन्दी में कम उपन्यास इतनी 'गम्भीर सोच' के साथ लिखे जाते हैं। साथ ही यह 'सोच' इतनी प्रासंगिक भी है कि एक समूची—पनपती हुई संस्कृति के सम्मुख कुछ अत्यन्त सार्थक प्रश्न खड़े कर सकी है।

उपन्यास में चीज़ों पर गौर करने का तरीका काफी विकसित है—खासतौर पर चेहरों और लोगों के स्वभावों का विश्लेषण लेखक बड़े विकसित गद्य में करता है जिसमें उनके ठीक-ठीक पकड़े जाने का पूरा बोध होता रहता है।

भावुकता के बावजूद

नित्यानन्द तिवारी

इधर कुछ दिनों में कई बड़े-बड़े उपन्यास लिखे और प्रकाशित कराये गये। ऐसा लगता है कि एक बड़े फलक पर जीवन की तमाम जटिलताओं को उसके सभी सन्दर्भों के विवरण के साथ रखकर देखने-समझने की आवश्यकता महसूस की गई। परिस्थितियों के उलझाव, मानसिक बनावट के अनेक स्तर और उसके कारण संघर्ष और आदमी के प्रयत्नों के अद्वितीय रूपों में से कुछ को चुनकर ज़िन्दगी की अपेक्षाकृत एक साफ तस्वीर पेश करते हुए औपन्यासिक कलारूप में अपने को व्यक्त करने के स्थान पर इन सबके साथ उलझते-जूझते हुए तात्कालिक और बड़े करीब से जीवन को झेलने का एहसास इन कृतियों में उभरता हुआ लगता है। यह एहसास औपन्यासिक बनावट और कलानुशासन को तोड़ देता है। उपन्यास का विकासक्रम मात्र गतिक्रम में परिवर्तित हो जाता है और प्रभावान्विति का अन्तिम बिन्दु पर संकेन्द्रण सारे परिस्थिति-संदर्भों और उसकी प्रक्रियाओं में बिखर जाता है। इसीलिए केवल अंतिम बिन्दु से लिया गया प्रभाव और उसके आधार पर दिया गया निर्णय सतह का फेन बटोरने से अधिक महत्त्व नहीं रखता—ऐसा मुझे लगता है। कृति को उसकी समग्रता में जाँचने का सवाल काफी दिनों से उठाया जाता रहा है, लेकिन उसके साथ-ही-साथ 'अंत गड़बड़ा गया' या 'अंत में उपन्यासकार सम्भाल नहीं पाया' इस तरह का वाक्य भी बराबर लिखा और सुनाया जाता रहा।

'जल टूटता हुआ'[1] पढ़ने के बाद मुझे भी ऐसा ही लगा

१. 'जल टूटता हुआ', रामदरश मिश्र, हिन्दी प्रचारक संस्थान वाराणसी, मूल्य १५ रु०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि उपन्यासकार ने यह क्या किया। अंत तो कोई प्रभाव नहीं छोड़ता। और फिर इस उपन्यास पर मैंने सोचना छोड़ दिया। यह सोचना—जो प्रभावान्विति के अंतिम बिन्दु पर संकेन्द्रण वाले संस्कार से अनुशासित था—छोड़ने के बाद उपन्यास फिर भीतर-ही-भीतर मुझे जकड़ने लगा। इसका अंत 'राज-पाट लौटाने' वाला जैसा है, सतीश का संघर्ष कभी न पराजित होने वाले नायक के पराक्रम जैसा है और बावजूद इन अप्रा-योगिक कलात्मक अनुशासनों के भी यह कृति क्यों और कहाँ से स्पर्श कर ले रही है। कभी-कभी इस तरह भी मैंने देखने की कोशिश की कि लेखक ने कहीं इन पुराने अनुशासनों का नया कलात्मक उपयोग तो नहीं किया है लेकिन इस कृति में जिस गंभीरता का निर्वाह किया गया है वह इस तरह से सोचने का रास्ता भी नहीं देता। गैर-ज़िम्मेदाराना मखौलपूर्ण अन्दाज़ और व्यंग्य की काट, जिसके सहारे पुराने का सक्षम कलात्मक उपयोग किया जा सकता है, इस लेखक का रास्ता नहीं है।

इस उपन्यास में सबसे अधिक प्रभविष्णु है दीनदयाल तिवारी का चेहरा जो अपनी सौम्य सहिष्णुता के साथ आदमी का खून पी लेने की गज़ब की ताकत रखता है और वह सबसे पहले याद आता है जिसके सहारे इस कृति की पाठ-प्रक्रिया फिर से शुरू की जा सकती है, क्योंकि एक बार पूरी पढ़ ली जाने के बाद कृति अपनी समग्रता में पढ़ने का दूसरा क्रम और दूसरा स्तर खोलती है। "दीनदयाल पान की दुकान पर खड़े-खड़े पान चुभला रहे हैं और उनका नौकर उनके लिए गोश्त खरीद रहा है···कसाई के हाथों में बकरा छटपटा रहा है, उसकी आँखें निकल आई हैं, फिर ठंडा हो जाता है। बहे हुए रक्त पर दो कुत्ते लड़ते-लड़ते एक-दूसरे पर चढ़ बैठते हैं। दीनदयाल पान की दुकान से पान खाता हुआ बड़े रस से यह सब देखता है फिर हँस पड़ता है।" (पृ० २९९) दीनदयाल की इस हँसी और रस में उस अमानवीय और क्रूर बर्बरता की भूमिका खुलती है जो सिर्फ संभावना के नाम पर आदमी के पास बची रह सकी है। आदमी को उसकी तमाम परतों के साथ पहचान लेने में उसकी बड़ी पैनी निगाह है और वह सबसे अधिक मार्मिक जगह और सर्वाधिक उपयुक्त अव-सर पर घात करने में माहिर है। वह इतना लचीला और क्रूर है कि उसे सिर्फ आधुनिक कहा जा सकता है। एक उदाहरण 'अरे जगदीश काका, मैं तो आपका उपकार कर रहा हूँ यह कर्ज़ बढ़ता ही जाएगा और आप कभी दे सकेंगे इसमें मुझे शक है। मेरी भी झंझट दूर हो जाएगी और आपकी भी, इसलिए मैंने सीधा उपाय सोचा है। कुर्कअमीन साहब काम होने दीजिए, जगदीश काका तो वर्षों से यही कह रहे हैं।' अमलेशजी, जो विद्वान् वक्ता, कवि और निहायत शरीफ आदमी हैं, भाषण देने लगते हैं—'रुको दीनदयाल, तुमने मुझे समझा क्या है! तुम्हारे जैसे कमासुत लोगों को चाहूँ तो रोज़ पैदा करूँ।···तुम्हारे जैसे होशियार लोग केवल दूसरों का थूक चाटने के लिए होशियार बनते हैं। हिम्मत हो तो आ जाओ किसी भी मैदान में—साहित्य पर बहस कर लो, हिसाब लगा लो, खेत नाप लो, गाँव और देश की राजनीति पर बातें कर लो, है हिम्मत? और भी न जाने क्या-क्या!' दीनदयाल उसी मीठे स्वर में अमृत झारते हुए बोले, 'जगदीश काका, आप नाहक मेरे ऊपर नाराज़ होते हैं। आखिर रुपया दिया है तो वसूली भी करनी ही होगी। मैंने आपकी बराबरी भला कब की, आप पंडित, कवि और मस्त व्यक्ति, मैं एक अदना-सा आदमी—खेती-बारी सँभालने में ही ज़िन्दगी बिताने वाला देहाती। खैर आपकी बात का क्या बुरा मानना?' दीनदयाल की पान चुभलाती हुई मुद्रा अमलेशजी को खा जाती है बड़े सौम्य और सहिष्णु भाव से। उसने किसको नहीं खाया! सारे गाँव को वह अपनी बेअसर खाल लिए पान की तरह चुभलाता रहता है। अमलेशजी की तरह लोग गाली देंगे, उत्तेजित होकर भाषण देंगे और वह रस लेकर सबको चुभलाता रहेगा। दीनदयाल एक ऐसा कोण बन जाता है जहाँ से सफलता-असफलता की परिभाषाएँ बदल जाती हैं, नैतिकता-अनैतिकता भोथरी हो जाती है, सम्बन्ध और आदमियत इस्तेमाल की चीज़ बन जाती हैं और जीवन परिस्थितियों का सिर्फ गड्डमड्ड। इस उपन्यास में बड़े पैमाने पर परिस्थितियों का गड्डमड्ड और उनमें घिसटते हुए जीवन का दुःख खुभा हुआ है। इन्हीं परिस्थि-तियों के जंगल में यह उपन्यास ले जाकर छोड़ता है (निश्चय ही अंत को ध्यान में न रखें तब) जहाँ एक के बाद दूसरी परिस्थितियाँ और परिस्थितियों के भीतर की परिस्थितियाँ और अधिक उलझती और जकड़ती चली जाती हैं। ग़रीबी, बीमारी, अशिक्षा, बेरोज़गारी, स्वार्थ की कमीनी हरकतें, राजनीति, पंचायत, चकबन्दी, छिनालपन और बहुत-सी बातों को जिन परिस्थितियों में से लेखक ने उभारने का प्रयत्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया है वह बड़े करीब से ज़िन्दगी का एहसास कराता है। और सबसे बड़ी बात यह एहसास ही है जहाँ से कृति का प्रभाव निर्मित होता है।

यह एहसास और प्रभाव-निर्मिति परिस्थितियों की अनेक वर्तुलाकार पर्तों के भीतर से उभरी हैं। सभी झेलते हैं, जाल रचते हैं, दाँव लगाते हैं। लगभग सभी जानते हैं कि कौन किस तरह की चाल खेल रहा है। कुछ भी ऐसा घटित नहीं होता जहाँ रहस्य और आश्चर्य किया जा सके, लेकिन बचाव की सारी सावधानी अपनाते हुए भी फँसते सभी हैं। रामकुमार, दीनदयाल, दौलतराय, महीपालसिंह, मास्टर सुग्गन, दलसिंगार कोई भी छूटा नहीं है। जानते हुए, सावधानी की तमाम कोशिशों के बावजूद फँस जाने वाली परिस्थितियों का स्वीकार ज़िन्दगी की वह मजबूरी है जिसे न झेलते बनता है न भागते और इस बिन्दु पर आकर लेखक को इन तमाम बातों का रचाव, इतना जटिल, इतना परिचित, इतना सीधा और इतना अद्वितीय बन जाता है जितना स्वयं जीवन। यहीं बिन्दु है जहाँ रामदरश मिश्र सफल होते हैं, हो सकते हैं। सबकी मजबूरी का फायदा सब उठाते हैं। सतीश, रामकुमार पंचायत का चुनाव लड़ने की योजना बनाते हैं, अपनी गोटी बैठाते हैं। मास्टर सुग्गन उनकी सहायता करने के लिए वचनबद्ध हैं लेकिन 'नहीं लड़िएगा तो मत लड़िएगा, बाबू महीपसिंह ने कहलाया था, कह दिया, मुझे क्या ?' 'दीनदयाल बात को यहीं अटकाकर चलता बना, वह जानता था कि यह अटकी हुई बात मास्टर सुग्गन के दिल में कँटिया की तरह अटक जाएगी जो न बाहर होगी न भीतर, वह इसी में तड़पेगा।' मास्टर सुग्गन जानते हैं सतीश अच्छे आदमी हैं, उनका साथ देना चाहिए, लेकिन दीनदयाल कँटिया अटका जाता है। महीपसिंह बोर्ड के मेम्बर हैं, मास्टर अगर उनका कहना नहीं मानता तो तराई में तबादला हो जाएगा। घर पर पत्नी है, जवान लड़की है, गरीबी है, अगर तराई में तबादला हो गया तो वह डूब जाएगा। वह निर्णय ले लेता है और दीनदयाल, महीपसिंह ज़बर्दस्ती उसके भीतर से उग आते हैं। वह सतीश के खिलाफ पंचायत के चुनाव में सरपंच के लिए खड़ा हो जाता है। वह सतीश का विरोध करना नहीं चाहता, चुनाव लड़ना नहीं चाहता, दीनदयाल और महीपसिंह का साथ देना नहीं चाहता। लेकिन तराई, जवान लड़की, गरीबी और तबादला। दीनदयाल और महीपसिंह कँटिया की तरह गड़े हैं और वह सब-कुछ करता है। सवाल ही नहीं है मन-मुताबिक चुनने और करने का। सारी विसंगति को अपने-आप ओढ़ना है, झेलना है। यह उपन्यास आदमी की ऐसी मजबूर परिस्थितियों से भरा हुआ है जिसे मैंने ऊपर परिस्थितियों का जंगल कहा है। बंसी, महाबीर दुबे, कुंजू, गीता पार्वती, बदमी सभी उस जंगल का त्रास झेलते हैं। जो सिर्फ तात्कालिक देना-पाना कर सकता है चलता रहता है। भावनाशून्य हो सकता है जीता रहता है और जिसकी यह काल-धारणा गड़बड़ा जाती है वह इस निरवधि तनाव में गीता की तरह बंजर और अनस्तित्व में बदल जाता है। इस उपन्यास में इस तरह के बंजर और झर जाते हुए लोगों की एक कतार खड़ी है लेखक जिसका बड़ा ही क्रूर और भयावह एहसास उपजा सका है। दीनदयाल चुनाव में हारकर भी जगह-जगह से उभरता और जीतता हुआ सतीश के पराक्रम, गीता, बदमी, कुंजू, बंसी, सलोना को उनकी वेदनाओं सहित पान की तरह रस से चुभलाता रहता है। इस उपन्यास में ज़िन्दगी की वास्तविकता इसी कोण पर फूटती है और अपनी गुंजलक में पाठक को लपेट लेती है।

इस ज़िंदगी के समानान्तर एक और ज़िन्दगी का एहसास लेखक के पास है जिसे वह उभरती और निर्मित होती हुई ज़िन्दगी मानता है। "गाँव टूट रहा है, मूल्य टूट रहे हैं, सत्य टूट रहा है, कोई किसी का नहीं, सब अकेले हैं। एक-दूसरे के तमाशाई, वही क्यों सबका ठीका लिए फिरे···गाँव टूट रहा है···मगर नहीं एक नया गाँव बन भी रहा है किसानों, मजूरों का। जगपतिया का खेत नहीं कटवा सके महीपसिंह। वह अकेला नहीं था उसके साथ अनेक हाथ उठ गए थे मरने-मारने को तैयार।" सतीश इस नये बनते गाँव और नई बनती ज़िन्दगी का ठीका ले लेता है। चोर, डाकू, बदमाश उसके सामने आते ही विनम्र हो जाते हैं, घिघियाने लगते हैं। महीपसिंह जैसे प्रभावशाली और दीनदयाल जैसे चालाक लोग सामने से कोई घात नहीं कर पाते। वह हरएक को अपने प्रताप से फटकार देता है, सत्य, न्याय और मनुष्यता की रक्षा के लिए कटिबद्ध है और तमाम चालों की संगठित शक्ति के सामने भी वह चुनाव में जीत जाता है। अभावों से चूर और नैतिक संवेदना से लबालब भरा यह प्रतापी नायक इस उपन्यास का सर्वाधिक भोथरा और निरर्थक प्राणी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुःख इस बात का है कि लेखक अपनी तमाम संवेदनात्मक क्षमता के साथ इसमें विश्वास करता है। सतीश की गरीबी भी भाई के आई० ए० एस० बन जाने से मिट जाती है और वह हर ओर से विजयी और सुखी नायक बन जाता है। यह भावुकता और गंभीरता इस लेखक की बड़ी भारी कमजोरी है जो उसकी तमाम लेखकीय क्षमताओं की धार को भोथरा और निस्तेज करके छोड़ती है। जगपतिया जो किसानों और मजदूरों की बनती हुई दुनिया का प्रतिनिधि है वह ऐतिहासिक संदर्भ में क्रांति की उभरती हुई ताकत का प्रतिफल न होकर वैयक्तिक और भावुक धरातल पर एक अकड़ू मुद्रा की तरह लगता है जिसकी आज कोई अहमियत नहीं है। शारदा और मास्टर का प्रेम-प्रसंग जो अनेक बाधाओं के रहते अंत में सफल भी हो जाता है जाने क्यों बहुत सारे पन्नों में फैला हुआ है। उस लिजलिजी भावुकता से तो पार्वती का छिनालपन कहीं बेहतर है। भावुकता और सघनता के बीच तटस्थता का बाँध रह-रहकर टूट जाता है और लेखक की प्रतिभा का जल टूट-टूटकर अलग-अलग परिस्थितियों में बहने लगता है।

उपन्यास अपने रंगों, दृश्यों और छवियों में आंचलिक है। मउगा, दलसिंगार, बनवारी, फेकूं, डलवा आंचलिक सरसता और अनोखापन पेश करते हैं। संदर्भ-वृत्तीय शब्दों और वाक्यों का प्रयोग काफी दूर तक सर्जनात्मक धरातल पर हो सका है। सुखद बात यह है कि लेखक आंचलिकता की सीमाओं से परिचित है और उसने उसका उपयोग किया है। जहाँ वह सफल हुआ है उसकी आंचलिकता बाधा नहीं बनी है बल्कि जीवन की तमाम जटिलताओं को संदर्भ-विशिष्ट विश्वसनीयता के साथ उजागर करती है।

अंचल-विशेष में उभरने वाली जीवन की रेखाओं के पर्यवेक्षण में बड़ी गहराई और विस्तार है जो सारे उपन्यास को दीनदयाल के चेहरे से पढ़ने की माँग पेश करते हैं जबकि लेखक सतीश के पराक्रम से इस कृति को पढ़वाना चाहता है। उपन्यास की परिस्थितियों और लेखकीय दृष्टिकोण के अलगाव का संकट मिश्रजी के लेखन की ट्रेजिडी है। जब तक लेखक सतीश और शारदा से अपने को नहीं तोड़ता तब तक उसकी कलात्मक क्षमताओं के पूरे उपयोग की हमें प्रतीक्षा करनी होगी। उस प्रतीक्षा का आश्वासन लेखक की शक्ति और जीवन की पहचान में ज़रूर मिल जाता है जिसकी उपेक्षा कर पाना संभव नहीं है। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विनिमय

विश्वविद्यालय और साहित्य-शिक्षा

कर्णसिंह चौहान

'विश्वविद्यालय में साहित्य-शिक्षा' पर आयोजित संवाद में भाग लेने वाले सभी प्राध्यापक हैं—ऐसे अध्यापक जो न केवल विश्वविद्यालयीय अध्यापन-प्रक्रिया से पूर्णतया सचेत रूप में परिचित हैं बल्कि उस प्रक्रिया को सही संदर्भों में रख-कर देख सकने में भी समर्थ हैं और इसीलिए उनसे अपेक्षा की जाती थी कि वे विश्वविद्यालयीय 'अन्तःपुर' के रहस्यों को ही उद्घाटित नहीं करेंगे अपितु साथ-साथ उसे समस्त संदर्भों से जोड़कर पाठक को सकर्मक दिशा प्रदान करने में योग देंगे। 'आलोचना' में ही प्रकाशित पीटर वाइस का एक कथन गूँजता है—"क्या मैं तीसरे शिविर की वह सुविधाजनक स्थिति छोड़ सकता हूँ जो हमेशा मेरे लिए पिछवाड़े का दरवाज़ा खुला रख आती है···" क्या अभी भी हम बुद्धि-जीवियों की ढुलमुल भूमिका में उतरते रहेंगे? क्या सच्ची बातें कहने का समय अभी भी नहीं आया है? कितना पहले मुक्तिबोध ने कहा था—

अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे
उठाने ही होंगे।
तोड़ने होंगे मठ और गढ़ सब।

हाँ! अब खामियाँ-भर गिनाना पर्याप्त नहीं है, इस या उस बात के दोषपूर्ण होने की ओर उँगली-भर उठाना काफी नहीं है, बात को निरामिष बनाकर कहने से नहीं चलेगा—तीसरे शिविर की सुविधाजनक स्थिति से बाहर आकर विश्वास के साथ कहना होगा कि "सच बात यह है।" सही बात को निःस्संकोच भाव से कहने के लिए आवश्यक हो गया है कि प्रस्तुत संवाद में कुछ जोड़ा जाय।

संवाद पर आएँ तो तीन बातें हैं जो विषय से और परस्पर एक-दूसरे से जुड़ी हैं। अन्य बातें अवान्तर हैं, गौण हैं या उन्हीं से, उन्हीं को लेकर हैं। वे हैं—(१) विश्वविद्यालयीय ढाँचा, (२) पाठ्य-क्रम, (३) अध्यापन।

'विश्वविद्यालय में साहित्य-शिक्षा' पर विचार करते हुए इन तीनों बातों से हमारा सामना होता है, जो एक-दूसरे के साथ इस घनिष्ठ रूप से जुड़ी हैं जिसे सामने लाने के लिए उस भयंकर विराट प्रक्रिया को समझना होगा जो इन तीनों को एक साथ जोड़ती है। यह आवश्यक इसलिए कि विश्व-विद्यालय की 'साहित्य-शिक्षा' एक ओर उस अध्यापक तबके से जुड़ी है जो विभागीय निर्वाचन-प्रक्रिया एवं प्रशासन प्रक्रिया से सम्बद्ध हैं, विभाग जो कि विश्वविद्यालयीय ढाँचे का अभिन्न अंग है, और विश्वविद्यालय सामाजिक व्यवस्था तथा उसकी नियामक शक्तियों के प्रतिफलन व हथियार हैं; तो दूसरी ओर उस पाठ्यक्रम से जिनमें यही सब व्यक्ति निर्णय समितियों में विद्यमान हैं; और तीसरी ओर उस अध्यापन-पद्धति से जो उस 'विशेष प्रकार' के पाठ्यक्रम को कुछ 'विशेष ढंग' से पढ़ाकर नियंताओं के सुनियोजित उद्देश्यों की पूर्ति करती है। और इसीलिए इस विषय से सम्बद्ध बातों को न तो अलग-अलग गिनाना भर काफी है, न उसका विच्छिन्न विश्लेषण बल्कि इस सुनियोजित चक्र को सामने खोलकर रखना ज़रूरी है जिससे कि बातें ग्राह्य बन सकें और दिशा दे सकें।

सबसे पहले जो चीज़ सामने आती है वह है—विश्व-विद्यालयीय ढाँचा। विश्वविद्यालय से सम्बन्धित किसी भी चीज़ पर विचार करते हुए या उनमें परिवर्तन की माँग प्रस्तुत करते हुए सबसे प्रथम और अनिवार्य टकराहट इसी से साथ होगी और निश्चित रूप से इसका गठन एवं नियंत्रण किसी भी ऐसे परिवर्तन को बरदाश्त नहीं कर सकता जो इसके मूलभूत स्वार्थों को चोट पहुँचाता हो। हम जानते हैं कि समाज (और उसमें भी उत्पादन-सम्बन्ध) आधार है

१. लेखक दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में एम० लिट० अंतिम वर्ष का छात्र है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधार के अनुरूप संस्थाएँ उभरती हैं तथा राजनैतिक, दार्शनिक, कलात्मक आदि विचार उभरते हैं जो 'अधिरचना' (सुपर-स्ट्रक्चर) हैं। और इस प्रकार संस्था होने के नाते विश्वविद्यालय 'अधिरचना' के अन्तर्गत आते हैं। हर समाज में एक शक्ति होती है (सामाजिक वर्ग या उसकी प्रतिनिधि) जो समाज को नियंत्रित करती है। यह नियंत्रण दो तरह से होता है—संस्थाओं और उनमें प्रदत्त विचारधारा द्वारा और राज्य तथा सरकार द्वारा। वस्तुतः राज्य एक माध्यम है जिसमें सामाजिक शक्ति संचित होती है और जो उसका संचालन विविध प्रकार से करता है, ज़ाहिर है कि विश्वविद्यालय भी एक साधन हैं। हमने जन-कल्याण के लिए संसदीय प्रणाली या प्रजातंत्र को चुना था और उससे अपेक्षा की थी कि एक ओर जहाँ वह अपने प्रशासन द्वारा अपना उत्तरदायित्व पूर्ण करेगा वहीं अपने विविध संस्थानों द्वारा भी उसी कल्याण-कार्य को बढ़ावा देगा। लेकिन हुआ क्या? हमारे राज्य का इस्तेमाल पूँजीशाहू वर्ग ने आत्महित के लिए कर डाला और इसीलिए एक ओर जहाँ विशाल जनता शोषण के चक्र में पिसती चली गई, शोषित जनता गहन अंधकार की खोहों में भटक गई है और उसकी भावी आशा एक अन्तहीन प्रतीक्षा-सी दीखने लगी है; वहीं दूसरी ओर उस राज्य द्वारा नियंत्रित संस्थानों ने भी पूँजीशाहू वर्ग द्वारा नियंत्रित राज्य के उद्देश्यों की पूर्ति में कम योगदान नहीं दिया। राज्य-व्यवस्था के चरित्र के सारे गुण उसमें भी विद्यमान हैं—हमारे विश्वविद्यालय इसके जीते-जागते प्रमाण हैं। विश्वविद्यालयों में गैर-बराबरी वाली मान्यताओं से भरे दिमाग, शक्ति और पद से मोहाच्छन्न लोग, अजनतान्त्रिक क्रियाप्रणाली, बेमानी पाठ्यक्रम और दकियानूसी अध्यापन, पूंजीवादी बुर्जुआ अधिरचना के अनिवार्य परिणाम हैं। एक तरफ़ गठन और नियंत्रण पर जहाँ राज्य का सीधा कब्ज़ा है तो दूसरी ओर उसके नीचे इजारेदारी अच्छी तरह फूल-फल रही है। दिल्ली विश्वविद्यालय का उदाहरण दूं तो कालेजों को निबंधित (कंट्रोल) करने वाली प्रबन्ध-समितियों में अनपढ़ पूंजीपतियों की स्थिति से ही अनुमान लगाया जा सकता है कि किस तरह ये इजारेदारी के अड्डे बने हुए हैं। कालेजों को ५ प्रतिशत चंदा देने वाले पूंजीपतियों का संपूर्ण कालेज पर कब्ज़ा होता है, दाखिले से लेकर नियुक्ति तक और प्रबन्ध से लेकर शैक्षणिक मामलों तक इनकी राय एकमात्र निर्णायक होती है।

कहने का अर्थ यही है कि जब हम पाठ्य-क्रम या अध्यापन या अन्य छोटे-मोटे दोषों की ओर ध्यान दिलाकर छुट्टी पा जाना चाहते हैं, या जब हम उनमें परिवर्तन के सुझाव पेश करते हैं तो शायद इसके इस पूर्ण संदर्भ को भूल जाते हैं जो हमें न केवल संपूर्ण विश्वविद्यालयीय गठन व राज्य के साथ उसके सम्बन्धों पर विचार करने के लिए बाध्य करता है बल्कि उसके साथ ही संपूर्ण सामाजिक स्थिति का विश्लेषण करने के लिए भी हमें बाध्य कर देता है। और यहाँ हम पाते हैं कि आधार में अर्थात् सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक व्यवस्था में (संक्षेप में कहें तो उत्पादन सम्बन्धों में) परिवर्तन लाये बिना (जिन पर विश्वविद्यालय अधिरचना खड़ी है) इसमें किसी भी प्रकार के परिवर्तन की बात बेमानी होगी अर्थात् जब तक सही अर्थों में राज्य का जनकरण नहीं हो जाता, जब तक जनता के लोकतन्त्र की स्थापना नहीं हो जाती, तब तक न तो विश्वविद्यालय के गठन में ही जनतंत्रीकरण किया जा सकता है और न अन्य किसी क्रान्तिकारी परिवर्तन की आशा की जा सकती है। लेकिन इससे इस बात का खंडन नहीं हो जाता कि इसमें वांछित सुधारों की लड़ाई लड़नी होगी, लड़ते रहनी होगी। क्योंकि हर प्रकार के सुधार एक ओर जहाँ उस व्यवस्था को कमज़ोर बनाते हैं तो दूसरी ओर परिवर्तन की ज़रूरत को महसूस कराते हैं और दिलों में एक संगठित विद्रोह की धारणा को मज़बूत बनाते हैं, साथ-ही-साथ उस अनुभव से गुज़रते हैं जिनमें आदमी यह महसूस करता है कि मेरी यह परिवर्तन की लड़ाई सम्पूर्ण व्यवस्था से जुड़ी है और यहाँ वह अकेला नहीं है उस जैसे अन्य भी हैं जो हर जगह परिवर्तन के लिए लड़ रहे हैं। इसलिए मैं कहना चाहता हूँ कि यह आधार और ढाँचे वाला परिवर्तन एक-दूसरे को प्रभावित करता है, एक-दूसरे को योग देता है और क्रान्तिकारी परिवर्तन के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। निष्कर्ष यही कि चाहे 'साहित्य-शिक्षा' पर ही विचार करें विश्वविद्यालयीय-प्रक्रिया व उससे सम्बद्ध अन्य सभी बातें सामने आती हैं और यह ऐसा आधार है जिसके बिना उससे संबंधित चीज़ों पर बात नहीं की जा सकती। और यहीं हमें समाज का पूरा विश्लेषण प्रस्तुत करने की ज़रूरत होती है।

दूसरी बात पाठ्यक्रम में परिवर्तन को लेकर है जो सीधे तौर पर 'साहित्य-शिक्षा' से जुड़ी है। इससे पहले कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाठ्यक्रम में परिवर्तन पर बात की जाय, मैं महसूस करता हूँ कि देश के विश्वविद्यालयों के हिन्दी पाठ्यक्रम को मिलाकर देखा जाय। ऐसा करने पर ऐसी आश्चर्यजनक बातें सामने आएँगी जो बिना अपनी ओर से कुछ भी कहे उसके पीछे के सारे मन्तव्यों को स्पष्ट कर देंगी कि कौन-कौनसे कवि निश्चित रूप से वहाँ हैं और वे क्यों हैं ? इसी तरह यदि सारे विश्वविद्यालयों की हिन्दी परीक्षा में पूछे गये प्रश्न-पत्रों पर ध्यान दिया जाय तो अच्छी तरह समझा जा सकता है कि पाठ्यक्रम को पढ़ाने में नज़रिया क्या रहता होगा और विद्यार्थियों से क्या अपेक्षा की जाती है या उन्हें क्या बनाया जाता है तथा साथ ही यह भी कि क्यों बनाया जाता है ? यह अलग से खोज का विषय है जो इस पूरी प्रक्रिया को समझने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग देगा।

पाठ्यक्रम को लेकर संवादियों ने भी अनेक मौलिक और संगत सुझाव पेश किये हैं और इस बात पर क्षोभ प्रकट किया है कि पाठ्यक्रम में नवीन साहित्य को न रखा जाकर प्राचीन साहित्य को ही रखा जाता है। क्षोभ स्वाभाविक है। और इस बात से पूर्ण सहमति होते हुए भी कि "पुराना साहित्य वहाँ होकर भी नहीं है" नये साहित्य को पाठ्यक्रम में रखने की माँग एक सही कदम है। लेकिन यह इति नहीं है। देखना यह भी होगा कि विभाग-नियंता नये से क्या अर्थ लेते हैं और नये में से किसे स्वीकार करते हैं ? और फिर यह बात कहनी होगी कि नये साहित्य में से भी वह जिसमें प्रगतिशील मूल्यों की प्रतिष्ठा हो जो समाज के प्रति और मानव के सुखद, उज्ज्वल और सुन्दर भविष्य से प्रतिबद्ध हो। लेकिन इसके आगे भी कुछ रह जाता है। मान लीजिए मुक्तिबोध या उस जैसा कोई भी आधुनिक कवि पाठ्य-क्रम में रख दिया जाता है तो उससे कितना बड़ा अन्तर पड़ जाएगा ? हम जानते हैं कि किस प्रकार मैथिलीशरण गुप्तीय साहित्य-रस में निमग्न व्यक्ति एक विशेष निर्वाचन-पद्धति (जिसमें अनेक सेंसर काम करते हैं) से अध्यापक बनता है, तो कैसे उनसे यह अपेक्षा की जा सकती है कि उनके द्वारा मुक्तिबोध के काव्य के बजाय मुक्तिबोध का बिम्ब-विधान एकदम उसी रूप में नहीं पढ़ाया जाएगा जिस रूप में पन्त का प्रकृति-चित्रण पढ़ाया जाता है ? क्या वे भी गुप्त-बन्धुओं की श्रेणी में नहीं रख दिये जाएँगे ? इसलिए केवल नवीनता का आग्रह ही अपने-आप में पर्याप्त नहीं है उसके साथ अनिवार्य रूप से अन्य दो माँगें भी जुड़ी हैं कि नये में से भी कौन-सा और साथ ही कैसे पढ़ाया जाए ? अतः केवल नये पर ज़ोर देने के साथ ही इस बात पर ग़ौर करना भी ज़रूरी है कि गड़बड़ जितनी पाठ्यक्रम के चयन में है उससे अधिक उस अध्यापन (चयन+विधि) में है, उस प्रक्रिया में है जो जाने-अनजाने अध्यापन को एक खास किस्म का होने को मजबूर करती है। संक्षेप में यही कि पाठ्यक्रम के चयन में कम-से-कम उद्देश्य का स्पष्ट होना ज़रूरी है; कि साहित्य का ऐसा पाठ्यक्रम जो एक ओर संवेदनात्मक ज्ञान को पुष्ट करने में मदद दे और दूसरी ओर उससे विद्यार्थी में इतिहास-बोध का विकास हो, उसका ज्ञानात्मक आधार पुष्ट हो— और स्पष्ट ही यह काम अकेले पाठ्य-क्रम का नहीं है, अध्यापन का भी है।

तीसरा और अन्तिम विचारणीय पक्ष है—अध्यापन। अध्यापक के लिए मात्र व्याख्यापरक और ठेठ सौंदर्यपरक दृष्टिकोण ही पर्याप्त नहीं है (हालाँकि वह एक खास विचार-धारा से सम्बन्धित है या अनजाने में उस विचार को योग देता है)। अध्यापक का दायित्व बहुत ही महत्त्वपूर्ण और बड़ा है। अपने सम्पूर्ण सन्दर्भों में पढ़ाया जाकर ही साहित्य कुछ उपयोगी हो सकता है—दृष्टि-विस्तार, इतिहास-दर्शन, विकास-प्रक्रिया की समझ। लेकिन यह होगा कैसे ? इसके सम्बन्ध में समीक्षक के लिए जो मुक्तिबोध ने कहा है वही मैं अध्यापकों के लिए कहना चाहता हूँ—"असल में वास्तविक जीवन की संवेदनात्मक समीक्षा-शक्ति के अभाव में, साहित्य के क्षेत्र की समीक्षा थोथी होती है। इसीलिए समीक्षक का आदिकर्तव्य वास्तविक जीवन की संवेदनात्मक समीक्षा-शक्ति का विकास करना है। जीवन की परिस्थितियों, प्रवृत्तियों, गतिविधियों और उसमें पले हुए व्यक्तियों का संवेदनात्मक ज्ञान जब तक समीक्षक को नहीं है (और वह हो नहीं सकता जब तक कि अपने वर्ग, श्रेणी या समाज की व्यापक ज़िन्दगी में समीक्षक की हिस्सेदारी न हो) तब तक समीक्षक की साहित्यिक समीक्षा कुतिया के उस बच्चे के समान है, जिसकी आँखें नहीं खुली हैं।"

ठीक यही बात मैं विश्वविद्यालयीय अध्यापकों के बारे में कहना चाहता हूँ। साहित्य से उनका परिचय परीक्षा में पूछे जाने वाले प्रश्नों के माध्यम से होता है (उनके द्वारा लिखित अधिकांश पुस्तकें व शोध-प्रबन्ध इसके सबूत हैं) तथा समाज से उनका परिचय विश्वविद्यालयीय-गोष्ठियों, विचार-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महफिलों में होता है। स्पष्ट है कि विश्वविद्यालयीय अध्यापकों की सब-कुछ से कटी दृष्टि कैसे साहित्य को सही संदर्भों में रखकर देख और दिखा सकती है ? कैसे वह साहित्य की मूल संवेदना को पकड़ सकती है ? जब वास्तविक जीवन में पाये जाने वाले तत्त्व ही साहित्य की कसौटी हैं तो अध्यापक के हवाई सिद्धान्त या उसकी कल्पनाएँ साहित्य को समझा सकती हैं ?

प्रश्न उठता है कि इन तीनों बातों का 'साहित्य-शिक्षा' के संदर्भ में क्या औचित्य है ? जब हम पाठ्यक्रम में परिवर्तन की बात करते हैं तो किसलिए करते हैं ? जब हम अध्यापन में परिवर्तन की बात करते हैं तो क्यों करते हैं ? इसलिए कि हम साहित्य-शिक्षा में बनी हुई उस स्थिति को तोड़ना चाहते हैं जो एक ओर तो स्वयं साहित्य के लिए सबसे बड़ा खतरा बन गई है और दूसरी ओर जो वर्ष-प्रतिवर्ष ऐसे दकियानूस दिमाग तैयार करके समाज में भेज रही है जो न केवल अनुपयोगी सिद्ध होते हैं बल्कि सामाजिक प्रगति के मार्ग में बाधा बनकर खड़े होने के लिए अभिशप्त हैं। अर्थात् इसके द्वारा एक ओर जहाँ हम साहित्य की सही समझ विकसित करना चाहते हैं वहीं इतिहास-बोध और समाज-दर्शन की भी। इसके साथ ही जब हम साहित्य की मूल संवेदनाओं को पकड़ने की बात करते हैं तो उसका क्या मतलब होता है ? उससे हमारा मतलब होता है मानव की मूल संवेदनाओं को पकड़ना, साहित्य के और जीवन के बीच के रिश्तों को पहचानना, साहित्य में पुनर्रचित उस जीवन की समझ जो वास्तव है; और इन चीज़ों पर जब हम आएँगे तो निश्चित रूप से मानव-संवेदना से जुड़े होंगे और मानव-भविष्य के अधिक उज्ज्वल होने से प्रतिबद्ध होंगे, साथ ही हर प्रकार की गैर-बराबरी, शोषण, अमानवीयता, अन्याय और विवेकहीन व अबौद्धिक बातों के खिलाफ व्यक्ति के रूप में और संगठन के रूप में होंगे। तो फिर क्या विश्वविद्यालयीय ढाँचे में जनतांत्रिक परिवर्तन की बात उसके अन्तर्गत नहीं आती ? समाज में फैले हर प्रकार के अन्याय को तरजीह देने वाली व्यवस्था के विरुद्ध लड़ाई की बात उसके अन्तर्गत नहीं आती ? पाठ्यक्रम का अधिक तर्कसंगत बनाया जाना और उससे सही इतिहास-बोध की अपेक्षा करना उसके अन्तर्गत नहीं आता ? हो सकता है 'साहित्यिकों' को यह बात कुछ साहित्य-क्षेत्र से बाहर की जान पड़े या उसका अतिक्रमण करती दिखाई दे, पर बात सच है और इसलिए उसे सीधे शब्दों में कह सकने में कोई संकोच नहीं है। साहित्य को जब तक साहित्य की वर्तमान कूपमंडूकता से बाहर निकालकर अन्य ज्ञानों के साथ नहीं मिलाया जाएगा तब तक न तो साहित्य ही सुरक्षित रहने की सम्भावना है और न ही समाज का ही कुछ भला होगा। और यहीं आकर ये तीनों चीज़ें एक साथ मिल जाती हैं कि किस तरह एक परिवर्तन की माँग दूसरे परिवर्तन की माँग से सम्बद्ध है और उसके लिए सही पाठ्य-क्रम यदि सही दिमाग तैयार करेगा तो ठीक अध्यापन भी इस दिशा में अपने दायित्व को निभायेगा।

अन्त में उन प्रश्नों को उठाना आवश्यक जान पड़ता है जो इस प्रक्रिया को समझने में सहायक हैं। और ये प्रश्न अपने प्रश्न के रूप में भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं—

१. कैसे हिन्दी-भाषी प्रदेशों की राजनीति, हिन्दी के समर्थक प्रतिक्रियावादी दलों की राजनीति, विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्षों के कमरों से जुड़ी है, कैसे विभागाध्यक्ष पाठ्यक्रम निर्धारण समितियों से और कैसे रही-सही कसर अध्यापन के उन तरीकों से पूरी की जाती है जो अपने सैद्धान्तिक व प्रभाव रूप में प्रतिक्रियावाद के पोषक हैं।

२. दूसरा सवाल विभागों के अलगाव का है। क्या विभागों को अलग-अलग जागीर का रूप देना संगत है ? क्या साहित्य का विद्यार्थी इतिहास, विज्ञान, दर्शन, राजनीति, समाजशास्त्र आदि से अलग होकर रह सकता है ? या अन्य विभाग के विद्यार्थी को क्या अन्य ज्ञानों की आवश्यकता नहीं रहती।

३. यह प्रश्न भी विचारणीय है कि आज हिन्दी का विद्यार्थी हीन-भावना से ग्रस्त क्यों होता जा रहा है। इसके लिए उस प्रक्रिया का विवेचन करना होगा जो जान-बूझकर दकियानूस अध्यापक निर्वाचित करती है, हिन्दी साहित्य के पाठ्य-क्रम को अधिक-से-अधिक अनुपयोगी बनाती है और फल यह होता है कि न तो हिन्दी का स्नातकोत्तर विद्यार्थी साहित्य की समझ ही विकसित कर पाता है और न अन्य सामाजिक दृष्टियों से ही उपयुक्त होता है। फलतः उसमें स्थायी हीनता की भावना घर कर जाती है जो उस कूपमंडूक दृष्टि के कारण पनपती है जो वह विभाग से लेकर निकलता है। और इस प्रकार विभाग द्वारा हिन्दी का जितना बड़ा अहित आज हो रहा है उतना शायद ही किसी द्वारा हुआ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो। दूसरी बात यह भी कि आज हिन्दी विभाग की दीक्षा से निकला हुआ विद्यार्थी न केवल अपने समाज की विषमताओं को समझने में असमर्थ हो गया (क्योंकि उसने तो बिहारी की नायिका के बारे में पढ़ा था) बल्कि उसमें से विद्रोह के तत्त्व भी नहीं बच पाते। बड़ा भयंकर है यह सोचना कि प्रतिवर्ष हिन्दी विभागों से इस प्रकार के वैष्णवी और गऊ-छाप विद्यार्थियों की जमात बहुतायत में निकलकर समाज में आती है।

४. आज के सचेत व प्रबुद्ध छात्र यह पूछना चाहते हैं कि सदियों पुरानी मान्यताओं में जी रहे प्राध्यापक को नवयुवकों को पढ़ाने का अधिकार किस तर्क-पद्धति से दिया जाता है? अवैज्ञानिक दृष्टिकोण को क्या यह छूट दी जा सकती है कि वह वर्तमान का मार्गदर्शन करे? और यहीं वह बात आती है जो इस ओर ले जाती है कि अब अध्यापन की योग्यताओं के मानदंड बदलने होंगे—उन निर्वाचन समितियों (जो और भी दकियानूस हैं) के विरुद्ध आवाज़ उठानी होगी और सरेआम चल रही धोखेबाज़ी का (जिसको साहित्यिक गरिमा के संकोचवश सामने नहीं लाया जाता) अन्त करने के लिए प्रयत्नशील होना होगा। उसकी जगह हम स्वस्थ दृष्टिकोण के लोगों की निर्वाचन समितियों में माँग करेंगे, अध्यापक की योग्यताओं में काव्यशास्त्र की पारंगतता को कसौटी नहीं रहने देंगे बल्कि साहित्य को सम्पूर्ण इतिहास में रखकर समझने, पूर्ण परिप्रेक्ष्य में रखकर देखने की माँग करेंगे और माँग करेंगे एक सही ज्ञानात्मक आधार की जो हमें जागरूक व क्रियाशील बनाये न कि पंडित और दकियानूस। जो एक सही इतिहास-दर्शन, समाज-दर्शन दे, वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रदान करे और आज की वास्तविकताओं से हमें जोड़े।

मैं जानता हूँ कि यह बात एकदम नहीं हो सकती, पूरे सामाजिक संदर्भों से काटकर यह सुधार नहीं किया जा सकता, और कि ये अन्तिम बातें हवाई कल्पना जान पड़ सकती हैं (ठीक भी है क्योंकि अभी स्थिति बिलकुल विपरीत है) लेकिन यह बात वही कहेंगे जिनको इतिहास की सही प्रक्रिया का एकदम बोध नहीं है, जो इस समाज से और समाज में आगे बढ़ रही न्याय पाने की इच्छित शक्तियों से कटे हुए हैं और फलतः अपने में भी जिनका विश्वास नहीं है। बहुत बार दकियानूसों ने बाज़ी मारी है, अमानवीय शक्तियों ने पिछले दरवाज़े से जगह कब्ज़ाई है, बहुत दिन हो गये विश्वविद्यालयों में पुष्टिमार्गीय भक्तिभावना [पोषणं तद् (=अध्यक्ष का) अनुग्रहः] पोषण करते हुए--अब स्थिति बदल गई है और आज ऐतिहासिक रूप से वे बाज़ी हार चुके हैं, लोगों के विशाल समूह अपनी-अपनी जगह चेतन हो रहे हैं, फिर भी संग्राम तगड़ा रहेगा—यही है मेरी बात का आधार।

५. पिछले दिनों विभिन्न विश्वविद्यालयों में एम०लिट्० पाठ्यक्रम को लेकर बातें हुई हैं। समाप्त करने से पहले एम० लिट्० पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। अपने लेख में श्री रमेश कुन्तल मेघ ने उसका 'समर्थन' किया है। लेकिन मैं दिल्ली विश्वविद्यालय के कुछ शोधार्थियों (जिन पर यह 'प्रयोग' किया गया था) के अनुभवों के आधार पर यह बताना चाहता हूँ कि उसका जो स्वरूप है उसमें कुछ भी ऐसा नहीं जिसका कोई भी औचित्य छात्र-हित की दृष्टि से सिद्ध किया जा सके। एम० लिट्० का पाठ्यक्रम इस प्रकार है—**प्रथम वर्ष**: १०० अंक का शोध-प्रशिक्षण, २०० अंक का एक विशिष्ट पर्चा (पद्य, गद्य एवं काव्यशास्त्र में से कोई एक) तथा १०० अंक का आमने-सामने (मौखिक)। **द्वितीय वर्ष**: १०० अंक के बराबर भारतीय भाषाओं का इतिहास, २०० अंक के बराबर एक लघु शोध-प्रबंध और १०० अंक का आमना-सामना। विशिष्टता वाले पर्चे का कोर्स वही है जो एम० ए० में पढ़ाया जा चुका होता है। अब अध्यापन-विधि पर भी विचार कर लिया जाए—विशिष्ट योग्यता वाले विषय पर उससे बहुत ही कम भाषण दिये जाते हैं जिससे अधिक वे ही प्राध्यापक एम० ए० में दे चुके होते हैं। इसी तरह भारतीय भाषाओं पर दो भाषण देने से यदि इतिहास जाना जाता है तो अच्छा है कि यह छात्रों पर छोड़ दिया जाए। 'लघु-शोध-प्रबन्ध' अपने-आप में शक्ति और धन का अपव्यय है क्योंकि उसका न तो मौलिकता से कोई सम्बन्ध होता है न भावी शोधकार्य से। इस पूरे चक्र को यदि ध्यान से देखा जाए तो इसमें विद्यार्थियों के बेशकीमती दो वर्षों को व्यर्थ गँवाने के अतिरिक्त कोई मन्तव्य नहीं है। यह इसी बात से सिद्ध हो जाता है कि दिल्ली विश्वविद्यालय के एम० लिट्० के छात्रों ने पिछले वर्ष इसके विरुद्ध आवाज़ उठाई थी लेकिन नहीं पता चला कि विभागाध्यक्ष के दिमाग में वह कौन-सी प्रच्छन्न हितैषणा थी जिसके कारण वे इसे विद्यार्थियों पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थोपना चाहते थे। हमने बार-बार कहा था कि न तो साहित्य की समझ की दृष्टि से इसका कोई उपयोग है, न ही इस डिग्री को कहीं मान्यता प्राप्त है। लेकिन 'अन्तःपुर' में बिठाकर जो उत्तर दिया गया उसका भावार्थ यह था कि एम० लिट्० के समर्थन का अर्थ है 'प्राध्यापक-पद-प्राप्ति' की दिशा में एक कदम और विरोध का मतलब है उसका उलटा। निश्चित रूप से आज के वातावरण में नौकरी का भय बहुत कारगर होता है। किन्तु हम निरन्तर इस कोर्स का विरोध करेंगे क्योंकि हम जानते हैं कि इसके पीछे विभाग को कुछ अतिरिक्त अधिकार-प्राप्ति व पद-प्राप्ति का मोह है, इसमें विद्यार्थियों का हित न तो है, न सोचा गया है। दूसरी बात जो बड़ी ही भयंकर है वह यह कि एम० लिट्० के सीमित दाखिले से जिन लोगों को अन्दर लिया जाता है और जिन्हें विशेष रूप से प्राध्यापक बनाने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है उसमें समझा जा सकता है कि क्या पढ़ाया जाता होगा। विभाग के पास दो वर्ष का समय यह जाँचने के लिए काफी होता है कि कौन छात्र ऐसा है जिससे विभाग की वर्तमान नीतियों को कोई खतरा नहीं है और उसे प्राध्यापक के योग्य समझ लिया जाता है, इसका अपवाद जो छात्र होता है उसे प्राध्यापक-पद से वंचित करने के लिए एम० लिट्० में द्वितीय श्रेणी थमा देना होता है। पूरे दो वर्ष तक एक ओर तो इन छात्रों को अपने छात्र-समुदाय से काट दिया जाता है, दूसरी ओर इन्हें पूरी तरह इस बात पर आश्रित कर दिया जाता है कि अब प्राध्यापक-पद के अतिरिक्त उनके पास कोई विकल्प नहीं है 'सबै लौ राम सौं लागी'। जहाँ तक छात्र-हित की बात है उसके लिए यह बताना पर्याप्त होगा कि न तो इसे प्रारम्भ करने के लिए उनकी राय ली गई थी बल्कि अपने निहित स्वार्थ ध्यान में रखे गए थे और अब क्योंकि विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग ने इस कोर्स के लिए ग्रांट देना नामंजूर कर दिया है तो न ही इसे समाप्त करने के लिए अब विद्यार्थियों की राय जानी जाएगी। इन और इस तरह की सभी अन्य बातों (जिन्हें सामने रखना कठिन है) के आधार पर हम इसका विरोध करते हैं और आशा करते हैं कि रमेश कुंतल मेघ इस बात पर पुनर्विचार करें।

●

ऊँची शिक्षा के ताजमहल

नरेन्द्र प्रताप सिंह

आलोचना (अक्तूबर-दिसम्बर, '६९) में छपे सम्पादकीय को मैंने बेहद दिलचस्पी से पढ़ा। इस बात से मैं पूरी तरह सहमत हूँ कि शिक्षा का प्रश्न केवल एकेडैमिक नहीं। शिक्षा का प्रश्न सामाजिक व्यवस्था से जुड़ा हुआ है। सही कहा गया है कि भारत जैसे पिछड़े हुए देश में साक्षरता से ज़्यादा ध्यान ऊँची शिक्षा पर दिया गया। साक्षरता का विकास यूं तो अखिल भारतीय स्तर पर भी निराशाजनक रहा, किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि साक्षरता का विकास हिन्दी-भाषी राज्यों में केरल, मैसूर व महाराष्ट्र के मुकाबले बहुत ही निराशाजनक है। यह आकस्मिक नहीं कि हिन्दी-भाषी राज्य, यू० पी०, बिहार, मध्य प्रदेश एवं राजस्थान न केवल साक्षरता के प्रसार में पिछड़े हैं, बल्कि प्रतिक्रियावादी शक्तियों के गढ़ भी बन गये हैं।

नतीजा यह हुआ कि शिक्षा का आकार उस उलटे पिरामिड जैसा हो गया, जिसका आधार संकुचित रहा, किन्तु शिखर फैलता ही गया। एक ओर निरक्षरता बढ़ती रही और दूसरी ओर नये-नये कालेज व विश्वविद्यालय खोले गये। यह आकस्मिक नहीं कि साक्षरता की दृष्टि से अत्यन्त पिछड़े हुए राज्यों में कालेज व विश्वविद्यालयों के खोलने की होड़ लग गई। अभी पता चला है कि मध्य प्रदेश में दसवाँ विश्वविद्यालय भोपाल में खोला जायेगा। नवाँ विश्वविद्यालय रीवाँ में खोला गया था जिसके विकास के लिए समुचित साधन की व्यवस्था की चिन्ता न तो राज्य सरकार को थी न 'यूनिवर्सिटी ग्रान्ट कमीशन' को। यह भी सुनने में आया है कि मध्य प्रदेश की नवीं व दसवीं यूनिवर्सिटी शुरू करने से पहले यूनिवर्सिटी ग्रान्ट कमीशन की अनुमति लेने की आवश्यकता किसी ने महसूस न की।

लगभग बीस साल के 'योजनाबद्ध विकास' का फल आज हम देख रहे हैं। एक ओर हमारे देश में लगभग ३५ करोड़ निरक्षर हैं। दूसरी ओर हमारे कालेजों एवं विश्वविद्यालयों से एक बड़ी तादाद में नवयुवक एवं नवयुवतियाँ निकल रही हैं, जो बनना तो अफसर चाहते हैं, किन्तु बाबू बनने के लिए भी उनको हर तरह के पापड़ बेलने पड़ते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिक्षा का पिरामिड ऐसा उलट गया है कि निरक्षरता भी पनप रही है और बेरोज़गारी भी। पिरामिड के आधार पर ३५ करोड़ निरक्षर खड़े हैं और उसके शिखर पर लाखों डिग्री-धारी बेरोज़गार जमा हैं। लगता है यह उल्टा पिरामिड अब अधिक दिन टिक नहीं सकेगा। दबाव दुहरा है। एक छोर पर निरक्षरता का दबाव है तो दूसरे छोर पर बेरोज़गारी का। इस 'योजनाबद्ध विकास' से और किसी को लाभ हो या न हो, उन लोगों को तो लाभ है ही जो सस्ता मज़दूर चाहते हैं या सस्ता बाबू।

किन्तु अन्तर्विरोध केवल ऊँची शिक्षा के प्रसार एवं साक्षरता के प्रसार के बीच ही नहीं, ऊँची शिक्षा का प्रसार भी अन्तर्विरोध से मुक्त नहीं। कानपुर यूनिवर्सिटी में वैज्ञानिक शिक्षा के सन्दर्भ में भाषण करते हुए सर सी० वी० रमन ने ऊँची शिक्षा के ताजमहल निर्माण करने की प्रवृत्ति की आलोचना की। ऊँची शिक्षा के ताजमहल से उनका इंगित शान-शौकत वाले राष्ट्रीय संस्थानों की ओर था जिनकी इमारत शानदार होती है और कर्मचारी ऊँची तनखाह पाते हैं, किन्तु काम-धाम के नाम पर शिक्षा के ताजमहल कोरे होते हैं। नतीजा यह होता है कि आम स्कूल और कालेजों में साधन के अभाव में न तो अच्छे शोधकर्ता टिक पाते हैं न आम छात्रों को सही माने में ऊँची शिक्षा ही मिल पाती है। ऊँची शिक्षा को साक्षरता से अधिक प्राथमिकता तो मिली, किन्तु उसका आम स्तर बेहद घट गया।

मैं आपका ध्यान इस तथ्य की ओर खींचना चाहता हूँ कि ऊँची शिक्षा के क्षेत्र में भी ब्राह्मण व शूद्र का भेद बना रहा। कुछ चुने हुए विद्यालय एवं संस्थान ऊँची शिक्षा के ताजमहल अवश्य बन गये, किन्तु लगभग २,००० कालेज ऐसे हैं, जिनमें आम घरों के लड़के पढ़ते हैं और उनकी दशा दयनीय है। सरकारी आँकड़ों से पता चलता है कि लगभग ८५ प्रतिशत विद्यार्थी साधारण कालेजों में पढ़ते हैं, जिनमें न तो शिक्षकों को समय से वेतन मिलता है न पुस्तकालयों में पुस्तकें खरीदने का पैसा होता है। ऊँची शिक्षा के क्षेत्र में भी मोटेतौर से शिक्षा के ताजमहलों को ब्राह्मण माना जा सकता है और साधारण कालेजों को शूद्र माना जा सकता है। बरायेनाम ऊँची शिक्षा हमारे और आपके बच्चों को मिलेगी और ऊँची शिक्षा के ताजमहलों पर एकाधिपत्य होगा, कुछ चुने हुए घरों के बच्चों का।

नतीजा यही होगा कि ऊँची शिक्षा के ताजमहल अफ़सर पैदा करेंगे और साधारण कालेज दफ्तर के बाबू। यूँ कहने के लिए कहा जा सकता है कि ऊँची शिक्षा की बेहद तरक्की हुई है, किन्तु ऊँची शिक्षा के क्षेत्र में भी ब्राह्मण व शूद्र का भेद साफ़ दिखाई देता है। एक-एक ताजमहल के पीछे पचीसों घुड़सालें भी नज़र आयेंगी। दोरंगी राजनीति एवं दोरंगी नैतिकता के साथ-साथ हमारे देश में दोरंगी शिक्षा का भी सहज प्रसार हुआ है। कीमती अफ़सर पैदा करने के ताजमहल अलग हैं और सस्ते बाबू पैदा करने वाले कालेज अलग। शिक्षा का यह दोरंगा रूप कब तक चलेगा कहा नहीं जा सकता। रसेल ने ठीक ही कहा था कि ठोस-से-ठोस समाजवादी नेता भी इस बात को सहन नहीं कर पाता कि उसके बच्चे आम बच्चों के साथ आम स्कूल व कालेजों में पढ़ें और दफ्तर के बाबू बनें।

ऊँची शिक्षा के ताजमहलों को देखकर शिक्षा के दोरंगे रूप को भुला देना घातक होगा। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना-पुस्तक-परिवार

के सदस्य बनिये
और अपनी पसन्द की पुस्तकें घर बैठे पढ़िये

उद्देश्य

१. आज तक हिन्दी-प्रकाशन-जगत् अपने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग व्यक्तिगत खरीदार (इंडिविजुअल कस्टमर) की ओर पूरा ध्यान नहीं दे पाया, क्योंकि विक्रेताओं का ध्यान प्रायः पुस्तकालयों, सरकारी विभागों व स्कूल-कालेजों की थोक बिक्री की ओर रहा है, जबकि अन्ततः पुस्तक का पाठक 'व्यक्ति' ही होता है। यदि पुस्तकों की सूचना सीधे पाठकों के हाथों में पहुँचे तो उन्हें अपनी रुचि की पुस्तकों को चुनने में सुविधा रहेगी। अतः 'आलोचना पुस्तक-परिवार' योजना का पहला उद्देश्य होगा, पाठकों तक नये प्रकाशनों की सूचना नियमित रूप से पहुँचाना।

२. हिन्दी पुस्तकों के प्रति भारतीय जनता में जागरूकता लाना और हिन्दी-साहित्य को लोकप्रिय बनाना।

३. हिन्दी पुस्तकों के बारे में लोक-मत को जानना और लेखकों व पाठकों के बीच तादात्म्य स्थापित करना जिससे साहित्य जन-जीवन के निकट आ सके।

४. हिन्दी के साधारण पाठक को उसी मूल्य पर पुस्तकें सुलभ करना जिस पर पुस्तकालयों को प्राप्त होती हैं ताकि लोग अधिक-से-अधिक संख्या में निजी पुस्तकालय बनाने में रुचि ले सकें।

सदस्यता के नियम

१. 'आलोचना पुस्तक-परिवार' के सदस्य बनने पर आपको 'राजकमल प्रकाशन' के प्रकाशनों पर १५ प्रतिशत कमीशन दिया जाएगा, २० रुपये या इससे अधिक मूल्य के आर्डर पर फ्री पोस्टेज की सुविधा दी जाएगी। 'राजकमल प्रकाशन' की पुस्तकों के साथ यदि आप अन्य प्रकाशन मँगाना चाहेंगे तो उन पर भी साढ़े बारह प्रतिशत कमीशन की सुविधा दी जाएगी। किन्तु बाहरी प्रकाशनों का कुल मूल्य या कुल मूल्य की आधी रकम आर्डर के साथ अग्रिम भेजनी होगी।

२. सदस्यता फार्म भरकर भेजते समय मात्र ३.०० रुपये की राशि सिक्योरिटी डिपॉज़िट के रूप में भेजनी होगी जो हमारे पास स्थायी रूप में जमा रहेगी। आर्डर की पुस्तकों की वी० पी० न छुड़ाने की स्थिति में यह रकम जब्त हो जायेगी। यदि कोई सदस्य अपनी सदस्यता समाप्त करके अपना सिक्योरिटी डिपॉज़िट कभी वापस मँगवाना चाहेंगे तो उन्हें यह राशि लौटा दी जायेगी। ३.०० रुपये की यह राशि पुस्तकों के पहले आर्डर की अग्रिम राशि के साथ जोड़कर भी भेजी जा सकती है।

३. आर्डर की पुस्तकें नैट मूल्य की वी० पी० पी० द्वारा अथवा पुस्तकों का मूल्य अग्रिम प्राप्त होने पर रजिस्ट्री से भेजी जाएँगी। बड़ा आर्डर होने पर पुस्तकें रेल पार्सल द्वारा भेजकर बिल्टी आदेशानुसार रजिस्ट्री या वी० पी० पी० से भेज दी जायेगी।

४. आर्डर की वी० पी० पी० छुड़ाना सदस्य का नैतिक कर्तव्य होगा।

५. 'आलोचना पुस्तक-परिवार' के सदस्यों को हिन्दी प्रकाशनों की जानकारी देने के लिए हिन्दी-प्रकाशन-जगत् का सबसे पुराना मासिक पत्र 'प्रकाशन समाचार' निःशुल्क भिजवाया जायेगा।

६. योजना का सदस्य बनकर आप जब चाहें, पुस्तकें मँगा सकेंगे। प्रतिमास या नियमित रूप से पुस्तकें मँगाने का कोई बन्धन नहीं होगा। न ही किसी कालावधि में किसी खास रकम की पुस्तकें मँगाने का प्रतिबन्ध होगा।

७. इस योजना के अन्तर्गत अश्लील या निम्न स्तर की पुस्तकों के आर्डर स्वीकार नहीं किये जायेंगे।

८. दिल्ली में रहने वाले सदस्यों को 'राजकमल प्रकाशन' में आकर स्वयं पुस्तकें खरीदने पर भी १५ प्रतिशत कमीशन की सुविधा मिलती रहेगी।

९. इस योजना के अन्तर्गत पाठ्य-पुस्तकें नहीं भेजी जाएँगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'आलोचना' के स्वामित्व तथा अन्य ब्योरे के विषय में विज्ञप्ति

फार्म ४ *(नियम ८ देखिये)*

१. प्रकाशन का स्थान	दिल्ली
२. प्रकाशन की अवधि	त्रैमासिक
३. मुद्रक का नाम	श्रीमती शीला सन्धू
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड ८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६
४. प्रकाशक का नाम	श्रीमती शीला सन्धू
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड ८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६
५. सम्पादक का नाम	डा० नामवर सिंह
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड ८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली- ६
६. उन व्यक्तियों के नाम और पते, जिनका पत्र पर स्वामित्व है तथा उन भागीदारों अथवा शेयर होल्डरों के नाम और पते, जो पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक शेयर रखते हों।	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड ८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६

मैं, शीला सन्धू, इसके द्वारा घोषित करती हूँ कि ऊपर जो ब्योरे दिये गए हैं, वे मेरी अधिक-से-अधिक जानकारी और मेरे विश्वास में सही हैं।

ह० शीला सन्धू
प्रकाशक

१ मार्च, १९७०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेनिन का जन्मशती

के उपलक्ष्य में

आलोचना के आगामी अंक में

- लेनिन संबंधी लेख;
- जार्ज लूकाच, अन्र्स्ट फिशर, क्रिस्टोफर काडवेल प्रभृति मार्क्सवादी आलोचकों की समीक्षाएँ;
- नये सोवियत कवियों की कविताएँ;
- हिंदी के नये कवियों की कविताएँ;

तथा

- पुस्तक समीक्षा आदि नियमित सामग्री।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि पंत : छाया-विद्याव्रत

सुमित्रानंदन पंत : जीवन और साहित्य

•

सुश्री शांति जोशी

ने युग कवि श्री पंत जी की यह बृहत् जीवनी दो खण्डों में सम्पूर्ण की है। हिन्दी साहित्य के साथ जीने के लिए पंत जी की यह महत् जीवन-गाथा अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। आर्ट पेपर पर कवि के अनेक दुर्लभ अप्रकाशित चित्रों सहित प्रथम खंड कवि की ७२वीं वर्षगांठ पर मई '७० में प्रकाशित किया जा रहा है।

राजकमल प्रकाशन

८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६ साइंस कालेज के सामने, पटना-६

श्रीमती शीला सन्धू, मैनेजिंग डायरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०, ८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली के लिए नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४२ ६ २३

आलोचना

त्रैमासिक

सम्पादक : नामवर सिंह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना त्रैमासिक

सम्पादक : नामवर सिंह • प्रबन्ध सम्पादिका : शीला सन्धू

इस अंक में

सम्पादकीय १

लेनिन के बारे में
बर्टोल्ट ब्रेष्ट ९

लेनिन और साहित्य
भीष्म साहनी ११

भारतीय साहित्य में लेनिन
ई० चेलिशेव १७

जो शब्दों को घटनाओं से सुलगाता था
विश्वनाथ त्रिपाठी २२

लेनिन के दो पत्र गोर्की के नाम २३

लेनिन की एक समीक्षा २८

काडवेल और साहित्य की सामाजिक वृत्ति
डेविड एन० मार्गोलीज़ ३०

यथार्थवाद, मिथक और सृजनशीलता
रोजर गारोदी ३८

पार्टी, साहित्य और समाजवाद
अर्न्स्ट फिशर ४२

जार्ज लुकाच के साथ एक इंटरव्यू
इस्तवान साइमन एवं इर्विन जित्यनि ५०

अलेक्सांदेर सेंकोविच की पाँच कविताएँ ६१

निकोलाइ जिनोव्येव की तीन कविताएँ ६३

मार्क श्चेग्लोव : एक प्रतिभाशाली रूसी समालोचक
व० लक्शिन ६६

कुमार विमल की चार कविताएँ ७८

हिन्दी साहित्य पर समाजवादी विचारधारा का प्रभाव : दो महायुद्धों के बीच
शिवदानसिंह चौहान ८०

इंसान की विमुक्ति तथा कला की अनिवार्यता
रमेश कुन्तल मेघ ८९

अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद
सुरेन्द्र चौधरी १०८

रेजी देब्रे और सशस्त्र क्रान्ति की समस्याएँ
जोआ कारतीम ११४

• प्रासंगिकी

साम्प्रदायिकता और साम्प्रदायिक दंग
प्रभातकुमार त्रिपाठी १२४

• मूल्यांकन

लेनिन जन्मशती का एक आलोचनात्मक उपहार
नामवर सिंह १२७

अराजकतावाद से लेनिनवाद की ओर
विश्वनाथ त्रिपाठी १३५

वर्ष १८ : नवांक १३, (पूर्णांक ५०) अप्रैल-जून १९७०, मूल्य ४.००

वार्षिक—साधारण डाक द्वारा १६.००—रजिस्टर्ड डाक द्वारा १९.००

विदेशों में—२०.००

शिक्षा निदेशालय, दिल्ली के परिपत्र संख्या डी• ई० वी०/८/एस० ई० लायब्रेरी/मैग०/१९६७-६८ दिनांक २०-१-६८ एवं उपनिदेशक, समाज शिक्षा, राजस्थान के पत्रांक पु० प्र०/१/एफ/११-६८/५०५ दिनांक ६-९-६९ के अनुसार स्कूलों के पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिए स्वीकृत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४८, ६२३ (1)

लेनिन की जन्मशती के उपलक्ष्य में

१८७०-१९७०

६६
७८
८०
८९
१०८
११४
१२४
१२७
१३५

आलोचना

वर्ष : १९
नवांक : १३
अप्रैल-जून १९७०

संपादक
नामवर सिंह

प्रबंध संपादिका
शीला संधू

प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना
अप्रैल-जून '७०

संपादकीय

लेनिन ने हर्ज़ेन की शतवार्षिकी के अवसर पर लिखते हुए कहा था, "हर्ज़ेन की जन्म तिथि को सौ वर्ष बीत चुके हैं। समस्त उदारवादी रूस उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित कर रहा है किन्तु समाजवाद के गंभीर प्रश्नों से बड़ी सावधानी के साथ कतराता हुआ और बड़ी मेहनत से उस बात को छिपाता हुआ जो क्रांतिकारी हर्ज़ेन को एक उदारवादी से अलग करती है। दक्षिणपंथी अखबार भी हर्ज़ेन की वर्षगांठ मना रहे हैं, लेकिन इस मिथ्या दावे के साथ कि हर्ज़ेन अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में क्रांति से विमुख हो गए थे। और विदेशों में हर्ज़ेन के बारे में जो उदारवादी तथा नरोदनिक भाषण दिये जा रहे हैं उनमें लफ़्फ़ाज़ी के अलावा और कुछ नहीं है। मजदूर वर्ग की पार्टी को हर्ज़ेन की वर्षगांठ कूपमंडूकों की तरह उनका गौरव-गान करने के लिए नहीं बल्कि स्वयं अपने कर्तव्यों को स्पष्ट करने के लिए और यह मालूम करने के लिए मनानी चाहिए कि जिस लेखक ने रूसी क्रांति का पथ प्रशस्त करने में इतनी बड़ी भूमिका अदा की उसका स्थान इतिहास में वस्तुतः क्या था ?"

इस कथन की रोशनी में स्वयं लेनिन की जन्मशती मनाते हुए हम कह सकते हैं कि यह अवसर लेनिन के गौरव-गान के लिए नहीं—क्योंकि उनके गौरव को अतिरिक्त गान की अपेक्षा नहीं है—बल्कि आज की स्थिति में अपने कर्तव्य को स्पष्ट करने के लिए है। ज़ाहिर है कि लेनिन हर्ज़ेन नहीं थे, इसलिए उनके क्रान्तिकारी रूप में न तो शक पैदा करने की गुंजाइश है और न उसे किसी तरह छिपाना ही संभव है। फिर भी यहाँ के दक्षिणपंथी अखबार लेनिन की जन्मशती के समारोहों के प्रति अपना गुस्सा न छिपा सके। जहां तक उदारवादियों का सवाल है उनकी सुविधा के लिए संयोग से गांधीजी की जन्मशती की तात्कालिक पृष्ठभूमि उपलब्ध हो गई इसलिए उन्हें लेनिन को गांधी बनाकर पेश करने की जैसे छूट मिल गई। किन्तु इससे कहीं अधिक भयंकर है लेखकों और बुद्धिजीवियों के संसार की निपट उदासीनता ! यदि यह उदासीनता प्रचलित पाखंड और लफ़्फ़ाज़ी की प्रतिक्रिया भर होती तो एक बात थी लेकिन यहां तो सिरे से मैदान साफ़ है। आज हिन्दी के बहुत से लेखकों को इस बात की भी जानकारी नहीं है और न यह जानने की दिलचस्पी ही है कि हमारी स्वाधीनता के संघर्ष का एक वह भी दौर था जब लेखकों और बुद्धिजीवियों ने बड़ी मेहनत से ढूंढ़कर लेनिन की रचनाओं को पढ़ा, उनमें से कुछ एक का अनुवाद किया और फिर भरसक अपनी भाषा में लेनिन के विचारों की आम जनता तक पहुंचाने की कोशिश भी की। कहने की आवश्यकता नहीं कि स्वाधीनता आन्दोलन के उस आरंभिक दौर में सामान्य भारतीय को १९१७ की अक्तूबर क्रान्ति में आशा की एक नई किरन दिखाई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ी थी और असंदिग्ध रूप में उससे राष्ट्रीय स्वाधीनता के संघर्ष को बल मिला था तथा समाजवाद की मंजिल करीब मालूम हुई थी। शुरू-शुरू में बहुतों को शायद इस बात का पता न था कि भारत के स्वाधीनता आन्दोलन में शुरू से ही लेनिन की गहरी दिलचस्पी रही है और वे रूस की समाजवादी क्रान्ति की सफलता भारत जैसे उपनिवेशों की राष्ट्रीय मुक्ति के प्रयास से संबद्ध मानते थे। फिर भी उस दौर के प्रबुद्ध लेखक और बुद्धिजीवी देश के राजनीतिक नेताओं के साथ ही भारत की राष्ट्रीय मुक्ति को सोवियत रूस की समाजवादी क्रांति से सम्बद्ध समझते थे और इसी दृष्टि से उन्होंने लेनिन के जीवन, कर्म और विचारों में गहरी रुचि ली थी। 'प्रताप', 'अभ्युदय' और 'वर्तमान' जैसे पत्र ही नहीं बल्कि 'प्रभा', 'माधुरी' और 'सरस्वती' जैसी साहित्यिक पत्रिकाओं के पन्ने भी लेनिन के साथ आम हिन्दी लेखकों और बुद्धिजीवियों के गहरे लगाव की गवाही देते हैं। आज हिन्दी के जो लेखक लेनिन की ओर से उदासीन हैं वे दरअसल अपनी ही प्रगतिशील एवं क्रान्तिकारी परम्परा से भी अनभिज्ञ हैं, और इस तरह उन्होंने अपने-आपको अपने ही इतिहास से विच्छिन्न कर लिया है।

यदि यह उदासीनता लेनिन तक ही सीमित होती तो एक बात थी, लेकिन रवीन्द्रनाथ, गालिब और गांधी की शतवार्षिकियों के प्रति भी रुख यही था जिससे स्पष्ट है कि यह उदासीनता ज्यादा व्यापक है और इसकी जड़ें भी ज्यादा गहरी हैं। जैसा कि एक नये कवि ने स्वीकार किया है, "वह हमारी खास दुनिया या तो नकली उदासीनता से या सतही दिलचस्पी से कमोबेश छिन्न-भिन्न हो चुकी है।" क्या यह "नकली उदासीनता" और "सतही दिलचस्पी" एक ही सिक्के के दो पहलू नहीं हैं—परस्पर-विरोधी होते हुए भी परस्पर-सम्बद्ध? क्या उस 'लफ्फाजी' और इस 'चुप्पी' में कोई आपसी सम्बन्ध नहीं है? कहना न होगा कि लफ्फाजी और चुप्पी की यह मिली-जुली स्थिति राजनीति में तानाशाही को जन्म देती है तथा नकली उदासीनता और सतही दिलचस्पी की मनोभूमि साहित्य को अन्ततः बंजर बनाती है। यह स्थिति इतनी नगण्य नहीं कि इससे कतराकर अपने कर्तव्य को स्पष्ट करना सम्भव हो।

स्पष्टतः इस स्थिति के साथ आजादी के २३ वर्षों का इतिहास जुड़ा है जिसे समझने के लिए और समस्याओं की तरह इस विषय में भी १५ अगस्त १९४७ तक जाना होगा क्योंकि वह अनेक अर्थों में भारत के लिए एक गहरी विभाजक रेखा है। इस दिन इतिहास इस अर्थ में विभक्त हुआ कि स्वाधीनता आन्दोलन की एक क्रान्तिकारी परम्परा खण्डित हुई। उस दौर की अनेक जनवादी प्रतिज्ञाएँ तोड़कर राजनीतिक नेतृत्व ने भारत के लिए पूंजीवादी विकास का रास्ता चुना। इस प्रकार समझौता और सुविधा का वह रास्ता खुला जिसने अनेक टुटपुंजिया राजनीतिक नेताओं की तरह टुटपुंजिया मध्यवर्ग के लेखकों और बुद्धिजीवियों को भी पूंजीवादी सुविधा के सोपानों का आरोही बना दिया। स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान 'गरीब हिन्दी' के 'गरीब' लेखकों की जो छोटी-मोटी जनवादी परम्परा बनी थी वह भी देखते-देखते खण्डित हो गई। आजादी क्या मिली कि संचित तप के भोग का खुला अवसर उमड़ पड़ा। औरों की तो बात ही क्या पिछले दौर के अनेक जनवादी लेखक भी देर-सबेर एक-एक करके सुविधा की इसी 'क्यू' में जा खड़े हुए। इस प्रकार इन लेखकों ने अपनी ही गौरवशाली परम्परा से नाता तोड़ लिया। विडम्बना यह है कि यह सब राष्ट्र-निर्माण के नाम पर हुआ। मसलन नाम समाजवाद का लिया गया और काम पूंजीवादी रास्ते के लिए हुआ। कथनी और करनी के इस भेद ने उस राष्ट्रीय पाखण्ड को जन्म दिया जिससे लफ्फाजी पैदा होती है जिसका असर केवल राजनीति में ही नहीं बल्कि साहित्य में भी देखा जा सकता है।

नये लेखकों ने आरम्भ में इस स्थिति के खिलाफ विद्रोह का झण्डा उठाया जिसका एक उदाहरण 'धुरीहीनता' सम्बन्धी बहस के रूप में तत्कालीन पत्रिकाओं में सुरक्षित है। किन्तु कुछ दिनों बाद ही यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्पष्ट हो गया कि विद्रोह का सारा नाटक स्वयं वैसी ही सुविधा प्राप्त करने का साधन मात्र था। समाज में टुटपुंजिया मध्यवर्ग की स्थिति को देखते हुए लेखकों का यह सोपान-आरोहण तनिक भी आश्चर्यजनक नहीं है। फिलहाल स्थिति यह है कि एक लेखक को लेखक के नाते इस समाज-व्यवस्था में सुविधा ही नहीं बल्कि सम्पन्नता प्राप्त करने की सम्भावना का भी पूरा अहसास हो गया है। और आज इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि हिन्दी के अधिकांश लेखक शासक वर्ग के किसी-न-किसी प्रकार के प्रतिष्ठान द्वारा हजम कर लिए गए हैं—फिर वह प्रतिष्ठान चाहे सरकारी हो या गैर-सरकारी अथवा अर्ध-सरकारी ! इस प्रकार अपनी वस्तुगत स्थिति में आज अधिकांश लेखक व्यवस्था के अंग हैं; निस्सन्देह मानसिक स्तर पर उनमें से बहुतों में असन्तोष है, कुछ में विद्रोह भी है, किन्तु जब तक व्यवस्था से प्राप्त होनेवाली सुविधा छोड़ने का साहस नहीं जुटता सारा असन्तोष और सारा आक्रोश क्रमशः एक अपराध-बोध में परिणत होकर सम्पूर्ण चेतना को भोथरा बना रहा है। इसकी एक अभिव्यक्ति है वह 'गुस्सा' जो "हाशिए पर चुटकुला बन रहा है", और "नीरो को मात देते हुए व्यंग्य-हास्य की कविताएँ लिखने वाले साहित्यकार" भी शायद इसी वर्ग में आते हैं। इन लेखकों से यह शिकायत नहीं हो सकती कि वे व्यवस्था का खुला समर्थन करते हैं। जब स्वयं यह व्यवस्था ही अपने कल्याणकारी रूप के बारे में आश्वस्त नहीं है, तो वह किसी लेखक से अपनी प्रशस्ति की अपेक्षा कैसे कर सकती है। ऐसी स्थिति में तो विरोध ही प्रशस्ति का काम करता है बशर्ते उसमें एक साथ ही सबका विरोध हो—समग्र विरोध, जैसा कि आज के अनेक लेखकों का अन्दाज़ है।

निस्सन्देह ईमानदार लेखक अपनी इस विडम्बनापूर्ण स्थिति को अच्छी तरह समझता है जैसा कि एक लेखक ने लिखा भी है कि "जब तक मैं सिर्फ अपनी दुश्चिन्ता को अभिव्यक्ति देता हूँ, समाज के प्रति अपने क्षोभ को व्यक्त करता हूँ, तब तक वह केवल एक मनोवैज्ञानिक समस्या ही रहती है जो सत्ताधारियों को खतरा नहीं बन सकती। जब मैं अपनी हताश स्थिति का वर्णन करता हूँ तब किसी को कोई आपत्ति नहीं होती, क्योंकि मेरी हताशा उनकी संस्थाओं की शक्ति की ही पुष्टि करती है। मेरे ऊलजलूल-से-ऊलजलूल विचार, मेरी तितीक्षा, मेरा व्यंग्य—सबको ग्राहक मिल जाते हैं क्योंकि इनके माध्यम से मैं सिर्फ इसी बात की गवाही देता हूँ कि जो शक्ति-सम्पन्न हैं वे कितने उदार हैं। वे अपनी जगह पर इतना सुरक्षित महसूस करते हैं कि मुझे ऐसी बहुत-सी बातों का पक्ष-समर्थन करने दिया जाता है जो मुझे प्रगतिशील लगती हैं। तात्पर्य यह कि भ्रष्टाचार पर, शोषण पर और निजी स्वामित्व के एकाधिकारों द्वारा जन-मानस के विषाक्तीकरण पर प्रहार का कोई फल नहीं हो सकता अगर वे कोई स्पष्ट विकल्प प्रस्तुत न करें।"

किन्तु इससे भिन्न एक स्थिति और है जिसमें नया सुविधाप्राप्त लेखक नये सुविधाभोगी समुदाय की रुचियों का साझीदार बन गया है और इस प्रकार अपनी कृतियों में उस संस्कृति को प्रतिफलित करने लगा है। आजादी के बाद जिस तेजी से भारत में एक नये सम्पन्न मध्यवर्ग का उदय हुआ है उसके समानान्तर अरसे से 'गंवार' समझा जाने वाला हिन्दी साहित्य भी शहराती और 'आधुनिक' हुआ है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह नया मध्यवर्ग अपनी सम्पन्नता के बावजूद जितना असंस्कृत और फूहड़ है उसकी रुचि को तुष्ट करनेवाला साहित्य भी कम फूहड़ नहीं है। आवश्यक नहीं कि वह अनिवार्यतः प्रचलित अर्थ में 'अश्लील' हो—तथाकथित 'अश्लीलता' से नाक सिकोड़ने का तेवर अपनाकर भी यह साहित्य ज्यादा अश्लील है क्योंकि उसमें खास तरह का बाजारूपन है।

इस प्रकार आज साहित्य में यदि एक ओर टुटपुंजिया मध्यवर्ग के पुंस्त्वहीन आक्रोश की प्रधानता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है तो दूसरी ओर नये सम्पन्न मध्यवर्ग के असंस्कृत आत्मतोष की। स्पष्ट है कि समाज का यह स्तर लेनिन में कोई दिलचस्पी नहीं ले सकता !

लेनिन की 'दो संस्कृतियों' का सिद्धान्त इस सन्दर्भ में विशेष अर्थ रखता है। १९१३ में लेनिन ने यह सामान्य स्थापना की थी कि "प्रत्येक आधुनिक राष्ट्र में दो राष्ट्र हैं।···प्रत्येक राष्ट्रीय संस्कृति में दो राष्ट्रीय संस्कृतियाँ हैं।" आगे इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लेनिन ने स्पष्ट किया कि तीव्र वर्ग-संघर्ष वाले समाज की राष्ट्रीय संस्कृति में वस्तुतः दो संस्कृतियाँ होती हैं : एक बूर्ज्वा संस्कृति जो प्रायः प्रभुत्व-शाली होती है और दूसरी जनवादी तथा समाजवादी संस्कृति जो मेहनतकश और शोषित जनता के जीवन की स्थितियों से उत्पन्न होकर जनवाद और समाजवाद की विचारधाराओं के सहारे विकसित होती है। यह संस्कृति प्रायः बीज रूप में अविकसित रहती है और इसीलिए राष्ट्रीय जीवन में प्रभाव की दृष्टि से इसका स्थान गौण होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि एक राष्ट्र के अन्दर स्थित ये दोनों संस्कृतियाँ ऐकांतिक रूप से परस्पर-व्यवच्छिन्न नहीं हैं। इनमें घात-प्रतिघात स्वाभाविक है और इस द्वन्द्व के फलस्वरूप बीच में एक 'तीसरी संस्कृति' के अनेक स्तरों का भी निर्माण हो सकता है। आवश्यक नहीं कि इस बिचौलिया संस्कृति में शेष दोनों के गुण ही गुण शामिल हों क्योंकि दोनों के दोषों की तलछट के रूप में भी तीसरे का निर्माण सम्भव है। जो हो प्रत्येक स्थिति में इस संस्कृति का स्वरूप अन्य दो संस्कृतियों की शक्ति के सन्तुलन पर निर्भर है।

हिन्दी साहित्य इस नियम से बाहर नहीं है और आज़ादी के बाद तो विशेष रूप से बूर्ज्वा संस्कृति ही प्रभुत्वशाली है। निस्संदेह यह कड़वा सत्य है किन्तु इसे स्वीकार करने के अलावा कोई चारा नहीं है। स्पष्टतः इस संस्कृति को 'संस्कृति' से कोई सरोकार नहीं है। जो संस्कृति राजनीति और साहित्य के संबंध के बुनियादी सवाल को बार-बार उठाकर आज तक मुल्तबी करती आ रही हो उसके राजनीतिक आधार के बारे में किसी संदेह के लिए गुंजाइश नहीं रह जाती। संकट की घड़ी में बूर्ज्वा वर्ग ऐसे ही वितंडा का सहारा लेता है और राजनीतिक संघर्ष में पार पाने की संभावना न देख धर्म, संस्कृति या साहित्य में आश्रय पाने का प्रयास करता है इस आशा के साथ कि शायद वहाँ खतरनाक राजनीति के प्रभाव से बचाव संभव है। आज के भारत में इस बूर्ज्वा संस्कृति की यह विशेषता है कि वह उत्पादन से अधिक उपभोग-प्रधान है और उसकी यह उपभोग-प्रकृति साहित्य पर भी हावी है जिसके उदाहरण बड़े पैमाने पर बिकनेवाली रंगीचुंगी पत्रिकाओं में आसानी से मिल जाते हैं। निस्सन्देह इनकी भी अदा साहित्यिक ही होती है, किंतु इनमें साहित्य विज्ञापन से ज्यादा अहमियत नहीं रखता और राजनीति भी यहाँ आकर किसी कम्पनी का विज्ञापन या चुटकुला बनकर रह जाती है जिसका उपयोग ज़ायका बदलने से ज्यादा नहीं है; यह दूसरी बात है कि निहित स्वार्थ की प्रतिक्रियावादी राजनीति की छौंक साफ़ रहती है।

ऐसे माहौल में यदि स्वयं साहित्य की सार्थकता ही संदिग्ध हो उठे तो कोई आश्चर्य नहीं। आकस्मिक नहीं जो इस बीच अनेक लेखक 'साहित्य क्यों' के प्रश्न पर एकबारगी गम्भीर हो उठे हैं। यह प्रश्न जहाँ एक ओर सच्चे साहित्य-कर्म के परम्परागत संस्कार के बचे रहने का सूचक है वहीं दूसरी ओर वह व्यवस्था के हितों के रक्षक चतुर बुद्धिजीवियों के उन सामयिक नारों में से एक भी हो सकता है जिन्हें समय-समय पर फुलझड़ी के रूप में छोड़कर आम लोगों का ध्यान असली मुद्दे से हटाने की कोशिश की जाती है। आकस्मिक नहीं है कि आज की स्थिति में 'साहित्य क्यों' का प्रश्न उठानेवाले लेखकों ने स्पष्ट घोषणा कर दी है कि वे प्रतिष्ठान को केवल थोड़ा-सा लचीला बनाना चाहते हैं—इस प्रतिष्ठान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को तोड़कर कोई नया प्रतिष्ठान बनाने का इरादा उनमें नहीं है। इन्हीं से संबद्ध वे लेखक हैं जिन्होंने साफ़-साफ़ मान लिया है कि साहित्य के किए कुछ नहीं हो सकता, वह एकदम निरर्थक और फालतू है। साहित्य की यह स्थिति स्पष्टतः उस संकट की सूचक है जिससे आज की समूची व्यवस्था गुजर रही है।

वस्तुतः यह पूंजीवादी व्यवस्था का संकट है जिससे भारतीय लेखक का साक्षात्कार पहली बार हुआ है। जो पूंजीवाद अभी तक भारतीय लेखक के लिए सिर्फ एक किताबी शब्द अथवा अधिक से अधिक एक मानसिक अवधारणा-मात्र था वह अब उसके जीवन की वास्तविकता बनकर सामने आ खड़ा हुआ है। विडम्बना यह है कि बहुत से लेखक आज भी इस नई ऐतिहासिक स्थिति को समझने और समझकर स्वीकार करने की ओर से विमुख हैं। कुछ स्मृतिजीवी लेखक आज भी मानसिक स्तर पर अपने बचपन के संसार में जी रहे हैं तो कुछ अनुभव के स्तर पर इस पूंजीवादी संक्रमण के लक्षणों को अभिव्यक्त करते हुए भी बोध के स्तर पर इस नये ऐतिहासिक परिदृश्य से सर्वथा अनजान हैं। जिन्होंने सामाजिक सम्बन्धों में अमानुषिकता, संवेदनहीनता, अजनबीपन, अकेलेपन आदि का साहित्यिक चित्रण किया है उनकी दृष्टि में भी यह सब पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की उपज नहीं बल्कि 'मानव-नियति' अथवा कोई अबूझ अभिशाप है। दूसरी ओर ऐसे 'भारतीय लेखक' हैं जिनकी दृष्टि में सामाजिक सम्बन्धों की अमानुषिकता तथा अजनबीपन आदि अधिकांशतः पाश्चात्य साहित्य का कोरा अनुकरण-मात्र है और यदि उनमें से कुछ अनुभूत है तो उसका सम्बन्ध केवल महानगरों के जीवन से है जो स्पष्टतः विशाल भारतीय जीवन का एक छोटा-सा अंग-भर है। इस सीमित, एकांगी एवं अवास्तविक संसार से मुँह फेरकर वे लेखक गलगल भाव से गाँव का वह चित्र उपस्थित कर रहे हैं जिसमें ममतामयी मां है, स्नेहमयी भाभी है, करुणामयी दादी है और बटवृक्ष के समान अडिग विशाल बाबा हैं। उनकी दृष्टि में पूंजीवाद ऐसी अर्थव्यवस्था है जिसका सम्बन्ध केवल शहरों से होता है और जिससे भारत के गाँव आज भी, बल्कि अभी तक, एकदम अछूते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह दृष्टि पूंजीवाद के स्वरूप से तो अनजान है ही, आज के भारत की वास्तविकता के ढाँचे में होने वाले उस नये परिवर्तन को भी देखने में असमर्थ है। प्रेमचन्द ने जिस 'महाजनी सभ्यता' के आरम्भिक रूप को आज से पैंतीस-छत्तीस साल पहले देख लिया था उससे आज का 'प्रबुद्ध' लेखक इतना अनजान क्यों हैं? यह भारत की नयी पूंजीवादी व्यवस्था द्वारा फैलाए हुए मोहावरण की सफलता है या स्वयं हिन्दी लेखक की वर्ग-चेतना की विफलता? क्या यह सच नहीं है कि आज ज्यादातर हिन्दी लेखक अपनी वर्ग-स्थिति दूसरों से तो क्या स्वयं अपने-आप से ही छिपाने की विडम्बना के शिकार हैं? क्या आत्म-विस्मरण क इस स्थिति से साहित्य अछूता रह सकता है?

लेखक में वर्ग-चेतना का यह लोप भी एक प्रकार का 'एलियनेशन' अथवा आत्मनिर्वासन है जो पूंजीवादी समाज-व्यवस्था की विशेष देन है। अपने आपसे विच्छिन्न लेखक अपनी शक्ति से विच्छिन्न होता है जिसका परिणाम है निरुपायता और असहायता का अहसास! अपनी असहायता का जैसा चरम अहसास हिन्दी में लेखक को आज है वैसा रोमांटिक दौर में भी न था, बल्कि उस समय तो लेखक अपने-आप में ज़मीन-आसमान एक कर देने की ताकत का अनुभव करते थे! इस स्थिति में यदि साहित्य भी अपनी शक्ति से अलग हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि बिलगाव की इस व्यापक प्रक्रिया से साहित्य का बच सकना कठिन है। व्यवस्था से संबद्ध वर्ग-बोध-शून्य लेखक की यह विडम्बना है कि वह व्यवस्था का विरोध करते हुए भी अपने विरोध की निरर्थकता के अहसास से कुंठित रहने को अभिशप्त है। साहित्य की शक्ति में आवश्यकता से अधिक विश्वास करना 'रोमांटिसिज़्म' हो सकता है किन्तु साहित्य को सर्वथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अशक्त मान लेना यथार्थवाद नहीं है। इस विश्वास को लेकर तो व्यवस्था को लचीला बना सकना भी असम्भव है। इसीलिए हिन्दी में 'प्रतिबद्धता' को लेकर पिछले दशक में जो इतनी बहस हुई वह अन्ततः एक ढोंग या पाखंड बनकर रह गई ! जहां साफ़-साफ़ अपनी वर्ग-स्थिति को स्वीकार करने का भी साहस न हो, वहाँ आम जनता के साथ प्रतिबद्ध होने की बात तो दूर किसी भी वर्ग से प्रतिबद्धता का सवाल गोल ही रहेगा। आकस्मिक नहीं कि प्रतिबद्धता के नाम पर अधिकांश लेखकों ने प्रायः 'अपने समय के साथ प्रतिबद्ध होने' या 'अपने परिवेश के साथ प्रतिबद्ध होने' की गोलमोल बातें कीं।

स्पष्टता का तकाज़ा है कि हम चीज़ों को उनके सही नाम से पुकारें। सवाल यह है कि हमें साहित्य की निरर्थकता से संतोष है या क्षोभ ? सवाल यह है कि हमें साहित्यकार की असहायता की स्थिति स्वीकार है या अस्वीकार ? यदि सचमुच क्षोभ है और अस्वीकार है तो फिर सवाल यह है कि हम साहित्य को फिर से सार्थक और साहित्यकार को फिर से समर्थ बनाने के लिए क्या कर सकते हैं ?

हम क्या करें ? यह सवाल आज हिन्दी लेखकों के भी सामने है उसी तरह जैसे लेनिन के सामने इस सदी के आरम्भ में था बल्कि मूलतः यह सवाल तो लेनिन से पहले चेर्निशेव्स्की तथा उनके समकालीन रूसी लेखकों के सामने था ! असहायता और निरुपायता की स्थिति वहाँ भी थी। लेनिन स्वयं निर्वासन में थे। किन्तु एक पूर्ववर्ती बुद्धिजीवी के सवाल को लेनिन के क्रान्तिकारी सिद्धान्त में बदल दिया और इस सवाल का जवाब देने के प्रयास में उस क्रान्तिकारी पार्टी का जन्म हुआ जिसने पन्द्रह वर्ष के अन्दर ही समाजवादी क्रान्ति को अंजाम दिया। हिन्दी के लेखकों और बुद्धिजीवियों का स्वाभिमान कम नहीं है। ज़ाहिर है कि न तो वे किसी राजनीतिज्ञ के पीछे चलने को तैयार हैं और न किसी लेनिन का इन्तज़ार ही करना चाहेंगे। फिर भी 'क्या करें' का उत्तर तो देना ही पड़ेगा और इसके लिए वे पार्टी बनाने जैसा असाहित्यिक कार्य करने की ज़हमत भले न उठाएँ, लेकिन वर्तमान "साहित्यिकता" से कुछ तो मुक्त होना ही पड़ेगा। और इस दिशा में लेखक को पहले इस सवाल का उत्तर देना पड़ेगा कि तुम किधर हो ? किसके साथ हो ?

और यहीं लेनिन द्वारा निर्दिष्ट दूसरी संस्कृति—जनवादी संस्कृति का सवाल उठता है जो बीज रूप में आज हिन्दी में मौजूद है; किंतु जनवादी शक्तियों के विभाजन तथा जन-आन्दोलनों के बिखराव के कारण उस संस्कृति में वह शक्ति नहीं आ पा रही है जिससे प्रभुत्वशाली संस्कृति को चुनौती दी जा सके। इसके अतिरिक्त इस वर्ग का साहित्य भी लेखक समुदाय की दृष्टि से अपने निम्न-मध्यवर्गीय आधार के कारण अनेक आंतरिक संकटों से गुज़र रहा है। निस्सन्देह इस वर्ग के लेखकों में व्यवस्था के प्रति घोर विरोध का भाव है, वे इसे जड़ से बदलने के लिए भी आकुल हैं और इसके साथ ही उनके सामने एक विकल्प भी है, किन्तु इन तमाम बातों के बावजूद उनमें अधीरता इतनी है कि वे एक प्रकार के 'क्रान्तिकारी स्वच्छन्दतावाद' की ओर अग्रसर हो चले हैं। सामान्यतः इनके प्रेरणा-स्रोत हैं गोरों के विरुद्ध काले लोगों का आन्दोलन, विश्वव्यापी उभरती हुई छात्र-शक्ति जिसका चरमोत्कर्ष फ्रांस की 'मई क्रांति' है तथा अमेरिकी साम्राज्यवादी आक्रमण के विरुद्ध वियतनाम का संघर्ष ! विचारों की दृष्टि से इनमें और भी विविधता है। कुछ हैं जो हर्बर्ट मारकुस के प्रभाव में हैं तो कुछ फैनन और कारमाइकेल के। इनमें जो सबसे क्रान्तिकारी हैं वे चे गुएवारा, कास्त्रो, रेज़ी देब्रे तथा अंततः माओ त्से तुंग को अपना आदर्श मानते हैं। फिर भी राजनीति के प्रति इनके रुझान में कुछ बातें इतनी समान हैं कि इन सबको सुविधा के लिए 'स्वच्छन्दतावादी क्रान्तिकारी' कहा जा सकता है। इस क्रान्तिकारिता का मूल मंत्र है : 'नो कम्प्रोमाइज़' अर्थात् कोई समझौता नहीं—न वर्ग-शत्रु के साथ कोई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फौरी रजामंदी या किसी तरह की छूट और न ही प्रतिकूल परिस्थितियों में अपनी जान बचाने के लिए क्रान्तिकारी सिद्धान्तों की शुद्धता के बारे में तालमेल का प्रयास ! इन क्रान्तिकारियों की सामान्य मान्यता यह है कि अब क्रान्ति के हिरावल दस्ते की भूमिका अदा करने की स्थिति में मजदूर वर्ग नहीं है, मौजूदा दौर में यह भूमिका मुख्यतः किसान अदा करेंगे और ये किसान भी एशिया, अफ्रीका, लैटिन अमेरिका जैसे 'तीसरी दुनिया' के देशों के किसान होंगे; किसानों के इस हिरावल दस्ते का साथ देंगे छात्र तथा काले लोग। इस दृष्टि से वे संसार की प्रायः सभी कम्युनिस्ट पार्टियों को गैर-क्रान्तिकारी तथा जड़ मानते हैं और सोवियत संघ को विश्व-क्रान्ति का अग्रणी नेता मानने के स्थान पर बूर्ज्वा तथा "सामाजिक-साम्राज्यवादी" कहते हैं। इनके लिए क्रान्ति का एक ही अर्थ है सशस्त्र क्रान्ति जिसका सबसे विकसित रूप है छापामार युद्ध। स्पष्टतः इन क्रान्तिकारियों के लिए लेनिन में विशेष आकर्षण नहीं है। कास्त्रो, चे गुएवारा तथा रेज़ी देब्रे जैसे युवा क्रान्तिकारियों के करिश्मे से ये इतने अभिभूत हैं कि इन्हें लेनिन की ओर देखने का अवकाश ही नहीं। इनकी दृष्टि में चीन की 'सांस्कृतिक क्रान्ति' के प्रभामंडल के सामने अक्तूबर क्रान्ति फीकी है।

इन नये क्रांतिकारियों के हृदय में हर तरह के अन्याय के विरुद्ध जो आग भड़क रही है उसकी अनाविल नैतिकता और बलिदान के लिए स्वतः स्फूर्त साहस को देखकर जहां मन में आदर का भाव पैदा होता है वहीं उनकी राजनीतिक समझ को देखकर लेनिन की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'उग्रपंथी कम्युनिज्मः एक बचकाना मर्ज़' की याद आती है। यह सही है कि लेनिन की १९२० की लिखी हुई पुस्तक को १९७० के युवकों पर आंख मूंदकर लागू करना ज्यादती होगी किन्तु इस उग्रवाद के 'टुटपुंजिया मध्यवर्गीय' आधार का लेनिन का विश्लेषण आज भी सोलहो आने सही है। निस्सन्देह जैसा कि लेनिन ने कहा था यह अराजकतावाद मजदूर वर्ग के आन्दोलन के अवसरवादी पापों की सज़ा का ही एक प्रकार है; किन्तु इससे उसकी टुटपुंजिया मध्यवर्गीय कमज़ोरियां संगत साबित नहीं होतीं। टुटपुंजिया मध्यवर्ग इतनी आसानी से क्रान्तिकारी अतिरेक की ओर इसलिए जाता है कि वह पूंजीवादी व्यवस्था में जितना कष्ट झेलता है उससे ज्यादा उसका अनुभव करता है। उसमें गुस्से की मात्रा जितनी ज्यादा होती है, संगठन अनुशासन और दृढ़ता की क्षमता उतनी ही कम होती है। इसलिए वह आवेश में आकर दुस्साहसिक प्रयास तो कर बैठता है किन्तु कड़े संघर्ष में उतनी ही जल्दी पस्त होकर उदासीन भी हो जाता है। लेनिन के ये निष्कर्ष क्रान्तिकारी संघर्ष की लम्बी अवधि के प्रत्यक्ष अनुभव के परिणाम थे। जब भीतर के गृहयुद्ध और बाहर के चौतरफा साम्राज्यवादी आक्रमणों के दबसठ में आकर उन्होंने ब्रेस्ट-लिटोव्स्क की संधि की तो उस जमाने के उग्रवादियों ने भी लेनिन का विरोध किया और महान अक्तूबर क्रान्ति के नेता पर उन्होंने साम्राज्यवाद के साथ समझौता करने का आरोप लगाया। आगे चलकर इतिहास ने साबित कर दिया कि लेनिन का वह निर्णय कितना समझदारीभरा और सही था। अपने जमाने के उग्रवादियों के लिए लेनिन के हृदय में भी कम स्नेह और आदर न था, लेकिन सवाल रणनीति और रण-कौशल सम्बन्धी क्रान्तिकारी समझ का था और इस मामले में लेकिन समाजवादी क्रान्ति की इतनी बड़ी उपलब्धि को बचकानी दुस्साहसिकता के दांव पर लगाने को तैयार न थे। निश्चय ही लेनिन की रणनीति और रणकौशल की यह द्वन्द्वात्मकता उग्रवादियों के लिए काफ़ी पेचीदा है और क्रान्ति की रोमांटिक दृष्टि यदि उसकी ओर उतनी तेज़ी से आकृष्ट नहीं होती तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

लेकिन आश्चर्य तो इस बात का है कि आज के रोमांटिक क्रान्तिकारी जिस वियतनाम को 'मेरा नाम तेरा नाम' की तरह जपते हैं स्वयं उसके संघर्ष की गैर-रूमानियत की ओर उनका ध्यान नहीं जाता। सभी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जानते हैं कि वियतनाम का क्रान्तिकारी संघर्ष चे गुएवारा का छापामार युद्ध नहीं है बल्कि इस युद्ध में इसके अलावा भी अनेक रणकौशल अपनाए गए हैं। इस संघर्ष का हिरावल दस्ता केवल किसान नहीं बल्कि मजदूरों के नेतृत्व में किसानों-मजदूरों का संगठित मोर्चा है जिसमें वियतनामी जनता का बहुत बड़ा देशभक्त हिस्सा शामिल है। इस संघर्ष का नेतृत्व कम्युनिस्ट पार्टी कर रही है—लेनिनवादी पार्टी के ढांचे पर निर्मित कम्युनिस्ट पार्टी जिसको नये उग्रवादी गैर-क्रान्तिकारी घोषित कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त वियतनाम के इस साम्राज्यवाद-विरोधी युद्ध में सोवियत संघ पूरी तरह वियतनाम के साथ है। इतना होते हुए भी यदि नये क्रान्तिकारी क्रान्ति का कोई रोमांटिक ख्याल अपने दिमाग में पाल रहे हैं तो इसे बचकानापन ही कहा जायगा। दूसरी ओर जो युवक मारकुस, फैनन और कार माइकेल के प्रभाव में आकर मार्क्सवाद-लेनिनवाद को 'पुराना' तथा अप्रासंगिक मान बैठे हैं उन्हें ठंडे दिमाग से इस पहलू पर भी सोचना चाहिए कि आखिर पश्चिम का बूर्ज्वा प्रेस इतने "खतरनाक" क्रान्तिकारियों को क्यों इतना उछाल रहा है? निस्सन्देह यह उन विचारकों की आलोचना नहीं है किन्तु उनके विचारों पर रोशनी डालने का एक नुक्ता जरूर है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि भारत के शासक वर्ग ने नक्सलवादियों का हौवा खड़ा करके उनके खिलाफ जो जेहाद छेड़ रखा है वह संगत है। शासक वर्ग की इस चाल से भारत के रोमांटिक क्रान्तिकारी भी समझ गए होंगे कि क्रान्ति का रास्ता इतना संक्षिप्त और संकुचित नहीं है। छह महीने का रास्ता छोड़कर छह दिन का रास्ता अपनाना एक राजकुमार के लिए चाहे जितना रोमांचक हो किन्तु क्रान्ति के लिए कोई 'शार्टकट' नहीं है। यही नहीं बल्कि भारत की वर्तमान स्थिति में यह आग के साथ खेलवाड़ है। जिस समय वामपक्षी दलों में गहरी फूट हो, मजदूरों और किसानों के संगठन छिन्न-भिन्न और कमज़ोर हों, उदारपंथी केन्द्रीय सत्ता लड़खड़ा रही हो, तमाम दक्षिणपंथी शक्तियां एकजुट हो रही हों, पूंजीपतियों की इज़ारेदारी बाढ़ पर हो, गांव से लेकर शहरों तक के विशाल निम्न मध्यवर्गीय स्तर में गहरा असंतोष हो तथा आर्थिक संकट के साथ राजनीतिक संकट में तीव्रता आ रही हो, ऐसे समय क्या समाजवादी क्रान्ति की दिशा में दुस्साहसपूर्ण कदम उठाने में जनवाद को भी खो देने का खतरा नहीं है? आखिर कम्बोदिया के सवाल पर साम्राज्यवाद के खतरनाक कदम का विरोध करने वाले यह क्यों भूल जाते हैं कि अमरीकी साम्राज्यवादी मौका देखकर भारत को भी कम्बोदिया बनाने में न चूकेंगे। जिस समय भारत में चारों ओर से फासिस्ट खतरे की आशंका की जा रही है उस समय आतंकवाद की कोई भी कार्रवाई चाहे वह वामपक्ष की ओर से ही क्यों न की गई हो, दक्षिणपंथी आतंकवाद के लिए साक्षात् निमंत्रण है, जिसकी परिणति असंदिग्ध रूप में फासिज्म है! दक्षिणपंथी शक्तियोंके साथ वामपक्षी दलों के तालमेल का प्रयास उस खतरे को और नजदीक लाने में सहायक हो सकता है।

बहरहाल, साहित्य के क्षेत्र में इस 'क्रान्तिकारी रोमांटिसिज़्म' ने अपनी गलत राजनीतिक धारणाओं के बावजूद आरंभ में भद्रवर्ग के निष्प्राण साहित्य को परास्त करने में निश्चित रूप से तात्कालिक सफलताएं प्राप्त कीं। किन्तु दो-तीन वर्ष की अवधि में स्वयं उसी के अन्दर जिस प्रकार ठहराव आ गया उससे स्पष्ट है कि एक अदूरदर्शी जीवन-दृष्टि साहित्य को भी ज्यादा दूर नहीं ले जा सकती। आज भले ही "कान नहीं सुनते हैं कविताएं / कविता पेट से सुनी जा रही है," लेकिन निकलेगी कविता "समूचे आदमी" से ही, बंदूक की नली से नहीं—राजसत्ता भले ही निकल जाय। "इस वक्त जबकि कविता मांगती है समूचा आदमी अपनी खूराक के लिए" तो कविता को कविता के ही द्वारा "समूचा आदमी" देना होगा—इकहरा रोमांटिक क्रांतिकारी नहीं। और यह समूचा आदमी और कुछ नहीं लेनिन की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टि का निचोड़ "जीवंत, मूर्त भरा-पूरा सत्य" है। बर्टोल्ट ब्रेष्ट के रचनाकक्ष में लेनिन का यही अमर वाक्य था "ट्रूथ इज़ कांक्रीट!"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेनिन के बारे में

बर्टोल्ट ब्रेष्ट

साथी लेनिन का कई बार
और भरपूर सम्मान हुआ है, आदमकद और
नीमकद मूर्तियाँ खड़ी की गई हैं
शहरों और बच्चों के नाम उन पर रखे गये हैं
लेनिन के सम्मान में शंघाई से शिकागो तक
कई ज़बानों में तकरीरें की गई हैं
जलसे हुए हैं और जुलूस निकले हैं
लेकिन दक्खिनी तुर्किस्तान के छोटे से कस्बे
कुजान-बुलाक में गलीचे बुननेवालों ने इस तरह
उनकी अक़ीदत की

वहाँ बीस गलीचे बुननेवाले रहते हैं, शाम को
जब बुनाई करने के लिए वे अपनी मचियों पर
बैठते हैं
तो बुखार उन्हें पेरता रहता है
बुखार फैलता है : स्टेशन भनभनाते हुए मच्छरों के
बादलों से भरा होता है
जो पुराने ऊँटखाने के पीछे गंदे दलदल से उठते हैं
लेकिन रेलगाड़ी, जो हर दूसरे हफ़्ते पानी और
धुआँ लाती है
एक दिन यह भी खबर लाती है
कि लेनिन की बरसी का दिन आ रहा है
और कुजान-बुलाक के लोग
ग़रीब जुलाहे
तय करते हैं कि उनकी बस्ती में भी लेनिन की
मूर्ति हो
लेकिन जब वे मूर्ति के लिए पैसे इकट्ठे करते हैं
तो बुखार उन्हें जकड़े होता है
और मेहनत से कमाए अपने सिक्कों को वे काँपते
हाथों से गिनते हैं
और लाल फ़ौज का आदमी, स्तेपा गमालेव, जो
मुस्तैदी से गिन रहा है और चौकन्ना है
लेनिन को इज़्ज़त देने के जज़्बे को देखता है और
खुश है
लेकिन वह काँपते हुए हाथ भी देखता है
और यकायक तजवीज़ रखता है
कि वे मूर्ति के लिए जमा किए जा रहे पैसों से
पेट्रोल लें
और उसे ऊँटखाने के पीछे वाले दलदल पर छिड़क
दें
जिससे मच्छर आते हैं और बुखार लाते हैं
इस तरह दोनों काम हो जाएँगे—कुजान-बुलाक में
बुखार से मुकाबला
और मरहूम
लेकिन कभी न भुलाए जाने वाले
साथी लेनिन की सरफ़राज़ी भी

सब इस बात पर राज़ी हुए बरसी के दिन
वे अपनी दबी-पिचकी बाल्टियाँ काले पेट्रोल से भर
एक के बाद एक
ले गए और दलदल पर डाल आए

यूं उन्होंने लेनिन की इज़्ज़त करते हुए खुद की
मदद की
और अपनी मदद करते हुए लेनिन को इज़्ज़त दी
और
उन्हें समझा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभी हमने सुना किस तरह कुजान-बुलाक के
लोगों ने लेनिन को मान दिया
फिर जिस दिन
पेट्रोल खरीदा गया और दलदल पर छिड़का गया
उस शाम एक आदमी उनकी जमात में खड़ा हुआ
और उसने कहा
स्टेशन पर बतौर यादगार एक तख़्ती लगा दी जाय
जिसमें यह सब लिखा हो और
बदले हुए मन्सूबे और लेनिन की मूर्ति की जगह
बुख़ार ख़त्म करने वाली पेट्रोल की टंकियाँ—दोनों की
सारी बातें आ जाएँ

और यह कि इतना सब लेनिन की अक़ीदत में
हुआ
और उन सबने यह भी किया
और वह तख़्ती लगवा दी ●

अनुवादक : विष्णु खरे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेनिन और साहित्य

भीष्म साहनी

लेनिन क्रान्तिकारी थे, साहित्यकार नहीं थे। कहानियाँ-कविताएँ नहीं लिखते थे। उनकी भाषा तर्क की भाषा थी, बिम्बों की भाषा नहीं थी। पर एक बिन्दु पर महान् क्रान्तिकारी और महान् साहित्यकार मिल जाते हैं। दोनों का संवेदन समाज के अन्दर पाये जाने वाले अन्तर्विरोधों को तीव्रता से महसूस करता है, साहित्यकार उन्हें अभिव्यक्त करता है जबकि क्रान्तिकारी अमली तौर पर समाज के निज़ाम को बदलने की कोशिश करता है। दोनों मानवजाति के साथ असंख्य तन्तुओं से गहरे जुड़े होते हैं। दोनों का दृष्टि क्षेत्र संकुचित न होकर विशाल और व्यापक होता है। दोनों के लिए अन्याय, झूठ, अत्याचार असह्य होता है, दोनों जीवन की बाहरी ताम-झाम से प्रभावित न होकर उसकी गहराइयों में पैठने वाले, नये मूल्यों के खोजी, न केवल हमारे चिन्तन को, बल्कि जीवन-व्यवस्था को भी नये आयाम, नये मोड़ देते हैं।

एक क्रान्तिकारी समाज की व्यवस्था को बदलना चाहता है। ज़ाहिर है उसकी नजर में सबसे पहले समाज के उस वर्ग का ही हित होगा जिसके लिए वह लड़ रहा है, जिसके लिए वह समाज की व्यवस्था को बदलना चाहता है।

जिस समाजवादी समाज की स्थापना लेनिन के क्रान्तिकारी जीवन का ध्येय रही, उसमें रूस की विशाल गरीब जनता, निरक्षर, अपहृत, भूखी-नंगी जनता का ही सुख अपेक्षित था।

वह चाहते थे कि समाज की ऐसी व्यवस्था बने जिसमें विशाल जनसमूहों का सांस्कृतिक स्तर ऊंचा हो, साहित्य के खज़ाने उस गरीब जनता तक पहुँचें, निरक्षर लोग साक्षर बनें, साहित्य की जो निधि समाज के एक छोटे-से धनी वर्ग को प्राप्त है, वह उसी तक सीमित न रहकर समस्त जनता तक पहुंचे। हम सभी जानते हैं कि वह साहित्यकार के नाते टाल्सटाय की कृतियों का बहुत ऊँचा मूल्य आँकते थे। पर वह उस दिन के स्वप्न देखा करते थे जब टाल्सटाय की कृतियाँ रूस के लाखोंलाख लोग पढ़ पायेंगे। जनता के उज्ज्वल भविष्य की कामना करने वाला व्यक्ति चाहता है कि जनता का सांस्कृतिक स्तर ऊंचा हो। क्रान्ति के बाद एक बार बोल्शोई थियेटर में किसी बढ़िया खेल की चर्चा उठने पर लेनिन ने क्लारा जेटकिन से कहा :

"ठीक है, हमारे सुन्दर बेले नृत्य विदेशों में बहुत से लोगों के लिए इस बात का प्रमाण हैं कि हम बोल्शेविक लोग इतने जाहिल नहीं जितना वहाँ माना जाता था। मैं ऐसे कार्यक्रमों के महत्व से इन्कार नहीं करता···पर मैं यह स्वीकार करूँगा कि अगर दूर-पार के किन्हीं गाँव में दो-तीन प्राइमरी स्कूल खोल दिये जाएँ तो मुझे कहीं ज्यादा सन्तोष होगा।"

कला और साहित्य के खज़ाने जो अभी तक समाज के एक छोटे-से वर्ग के हाथ में रहे थे—लेनिन उन्हें विशाल जन-समूह की मिल्कीयत बनाना चाहते थे। अभी तक विशाल जन-समूह निरक्षर, अज्ञानी, तरह-तरह के भ्रमों में फंसा हुआ, उत्पीड़ित और संस्कृति की प्रत्येक देन से वंचित रहा था, जबकि विद्या और ज्ञान और संस्कृति के भण्डार केवल समाज के धनी वर्ग को प्राप्त थे।

जो भी व्यक्ति अपहृत जन-साधारण की नज़र से समाज को देखता है, उसके दिल में इस बात की तड़प रहती है कि जो चीज़ एक वर्ग को मयस्सर रही है वह सभी को मयस्सर हो। इसलिए लेनिन चाहते थे कि स्कूल खुलें, जनता को अच्छी-से-अच्छी तालीम दी जाय, विज्ञान, इतिहास, टेक्नोलाजी आदि की सभी उपलब्धियाँ उन तक पहुँचें।

१९१० में, जिस वर्ष रूस के महान लेखक टाल्सटाय की मृत्यु हुई लेनिन ने लिखा :

"कलाकार टाल्सटाय को रूस में केवल गिने-चुने लोग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही जानते हैं। यदि उनकी महान कृतियों को लोगों तक सचमुच पहुँचाना है तो समाज की उस पद्धति के विरुद्ध संघर्ष करना होगा—जो लाखों-लाख लोगों को जहालत, अंधकार, गरीबी में रखे रहती है—हमें समाजवादी क्रान्ति सम्पन्न करनी होगी।"

साहित्य और कला सम्बन्धी उनके विचारों को पढ़ते समय हम इस बात को देखकर प्रभावित हुए बिना नहीं रहते कि उनका दृष्टिकोण बड़ा व्यापक और विशाल था। कला और संस्कृति के खज़ानों को वह समस्त मानवजाति की विरासत मानते थे। यह ठीक है कि समाज के विकास में अलग-अलग युग रहे, सामन्तवादी युग भी रहा और पूंजीवादी युग भी, लेकिन ये अपने में अलग-थलग युग नहीं थे, एक-दूसरे से जुड़े थे, एक का स्थान दूसरे ने लिया था, आर्थिक और सामाजिक शक्तियों द्वारा एक के बाद दूसरा आया था। लेनिन इतिहास के नैरन्तर्य में विश्वास रखते थे। यदि कल सामन्तवादी युग था और आज पूंजीवादी युग है और आने वाले कल को समाजवादी युग होगा तो ये एक-दूसरे में से जन्म लेकर निकले थे, और एक-दूसरे से विरासत में बहुत-कुछ लेकर आये थे। अपने में अलग-थलग कोई नहीं जन्मा था। इसी भाँति कला और संस्कृति के क्षेत्र में भी यह नैरन्तर्य बना रहता है। समाजवादी पद्धति न केवल पूंजीवाद का बल्कि इससे पहले की सामाजिक व्यवस्थाओं का भी तर्कसंगत परिणाम होगी। यह कहना गलत होगा कि सामन्तवादी व्यवस्था की सांस्कृतिक उपलब्धियों का पूंजीवादी संस्कृति की उपलब्धियों के साथ कोई मेल नहीं, या पूंजीवादी साहित्य का समाजवादी साहित्य से कोई मेल नहीं।

लेनिन की दृष्टि में समस्त प्राचीन संस्कृति और साहित्य का मानवजाति के लिए निश्चित मूल्य था। वह उसे समस्त मानवजाति की विरासत मानते थे।

इसी तरह सर्वहारा संस्कृति हवा में से पैदा होने वाली अलग-थलग चीज़ नहीं है। यह उन लोगों की ईजाद नहीं है जो अपने को सर्वहारा संस्कृति के विशेषज्ञ मानते हैं। लेनिन ने लिखा :

"सर्वहारा संस्कृति, उस ज्ञान-भण्डार का तर्कसंगत विकास है जिसे मानवजाति ने पूंजीवादी, सामन्तवादी और नौकरशाही समाज के जुए के नीचे संचित किया है। ये सभी रास्ते सर्वहारा संस्कृति की ओर चलते रहे हैं, और चलते रहेंगे।" (लेनिन ग्रंथावली, जिल्द ३१, पृ० २८१)

हमारे यहाँ भी ऐसी विचारधारा पायी जाती रही है जो सर्वहारा समाज की बात करते हुए अपने सारे अतीत को नकारा करते थे, पिछले समस्त साहित्य का मज़ाक उड़ाया करते थे, भले ही वह कालिदास हो, रामायण-महाभारत हो, सूफ़ी और भक्त कवियों की साखियाँ हों या टैगोर का साहित्य हो। ज़ाहिर है कि यह नजरिया संकीर्ण ही नहीं, गलत भी था, मूलतः दोषपूर्ण था। लेनिन के जीवनकाल में, रूस में भी ऐसे लोग थे जिनका मत था कि पिछले युगों की आध्यात्मिक संस्कृति का समस्त भण्डार विजयी सर्वहारा को मंजूर नहीं है। इन लोगों का मत था कि पिछले काल की समस्त संस्कृति को मटियामेट कर देना चाहिए :

"हम आने वाले कल की खातिर रफ़ैयल के चित्रों को आग लगा देंगे, संग्रहालयों को तबाह कर देंगे, और कला के फूलों को पाँवों तले रौंद डालेंगे (Gryadushchee, The Future—1918 No. 2, p. 4)।

इस तरह के विध्वंसकारी, अथवा तथाकथित क्रान्तिकारी कला के प्रतिनिधि रूस में भी क्रान्ति के समय काफी संख्या में पाये जाते थे, जो "कल्चर मुर्दाबाद" का नारा लगाया करते थे।

लेनिन ने इन लोगों का कड़ा विरोध किया था।

"हमें उस समस्त संस्कृति को लेना होगा जो पूंजीवाद अपने पीछे छोड़ गया है। हमें उसकी समस्त साइंस, टेक्नोलाजी, ज्ञान और कला को लेना होगा। इनके बिना हम कम्युनिस्ट समाज का निर्माण नहीं कर पायेंगे।"

संस्कृति के क्षेत्र में जगह-जगह हमें लेनिन के उदार, व्यापक और सन्तुलित विचार पढ़ने को मिलते हैं। एक जगह नौजवानों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने लिखा :

"...हम अपने को कम्युनिस्ट निष्कर्षों तक सीमित नहीं रख सकते, और केवल कम्युनिस्ट नारे ही नहीं सीख सकते।...तुम सच्चे कम्युनिस्ट तभी बन पाओगे जब मानवजाति द्वारा रचित ज्ञान के समस्त खज़ाने से अपने को समृद्ध बना लोगे।"

इसी तरह एक अन्य स्थान पर उन्होंने लिखा :

"मार्क्सवाद ने क्रान्तिकारी सर्वहारा की विचार-पद्धति के नाते बुर्जुआ युग की बहुमूल्य उपलब्धियों को रद्द नहीं किया, इसके विपरीत, मानव-चिन्तन और संस्कृति के पिछले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो हज़ार साल से अधिक समय के विकास में जो कुछ भी मूल्यवान था उसे अंगीकार किया है और उसे नया रूप दिया है। भविष्य में इसी आधार पर और इसी दिशा में किये जाने वाले काम को ही सच्ची सर्वहारा क्रान्ति का विकास माना जा सकता है।" (लेनिन ग्रंथावली, जिल्द ३१, पृ० ३१७)

महान् कला और साहित्य समस्त मानवजाति की विरासत है। उसे वह सदैव बड़ी श्रद्धा और आदर की दृष्टि से देखते थे। उनके मन में यह विचार कभी नहीं आया कि वही कला श्रेष्ठ है जो राजनीतिक प्रचार का साधन बने, न ही उन्होंने कभी किसी लेखक अथवा कलाकार को इस नज़र से देखा कि वह किस वर्ग में से आया है। यह संकीर्ण दृष्टि न कभी उनकी रही और न ही कभी उन्होंने इसे प्रश्रय दिया। उनकी पत्नी ने एक जगह लिखा है कि एक बार वे दोनों उस कम्यून में गये जहाँ कला विद्यालय के छात्र रहा करते थे। बातों-बातों में उन्होंने लड़कों से पूछा :

"तुम पढ़ते क्या हो ? क्या तुम पुश्किन की रचनाएँ पढ़ते हो ?"

"जी नहीं," उनमें से एक बोला, "वह तो बुर्जुआ था। हम मायाकोव्स्की की रचनाएँ पढ़ते हैं।"

लेनिन मुस्करा दिये। उन्होंने कहा—

"मैं सोचता हूँ पुश्किन बेहतर लेखक है।"

पुश्किन बुर्जुआ थे, और टाल्सटाय काउण्ट थे, इसलिए उनकी रचनाएँ अच्छी नहीं हो सकतीं, इस प्रकार की संकीर्ण दृष्टि का लेनिन ने सदा विरोध किया। उनके विचार में टाल्सटाय की कलम में जादू था और उन्हें वह विश्व के महान् लेखकों में मानते थे।

इसी दृष्टि के अनुरूप ही १९१८ में, अनेक ऐसी विज्ञप्तियाँ जारी की गईं जिनके अनुसार कला की सभी प्राचीन कृतियाँ, जिनमें रूसी और पश्चिमी यूरोप की चित्र-कला के नमूने, मास्को, लेनिनग्राद और अन्य स्थानों में रजिस्टर करके सुरक्षित किये गये। मास्को की एक बहुत बड़ी चित्र-प्रदर्शनी त्रेत्याकोव आर्ट गैलरी का राष्ट्रीयकरण कर लिया गया।

यह तो रही उनके व्यापक, उदार और सन्तुलित दृष्टि-कोण की बात।

कला और साहित्य की महान् कृतियों के प्रति उनके दिल में गहरा आदर-भाव था। महान् लेखकों और कवियों की रचनाओं पर वह विस्मित और अभिभूत हो जाते थे।

लुनाकार्स्की ने अपने संस्मरणों में एक जगह लिखा है :

"१९०५ में, पहली क्रान्ति के दिनों में लेनिन एक रात लेश्शेंकों के घर पर रहे, लेश्शेंकों के पास विश्व के महान् लेखकों की रचनाओं का एक सेट रखा था। दूसरे दिन सुबह लेनिन ने मुझसे कहा, 'कला के इतिहास में कितना आकर्षण है। मैं रात भर नहीं सो पाया, एक के बाद एक किताब देखता रहा। और मुझे इस बात का अफसोस हुआ कि कला के लिए मैं न तो कभी समय निकाल पाया हूँ और न निकाल पाऊँगा'।"

उनका यही भाव चित्रकला के प्रति भी था और संगीत के प्रति भी। गोर्की ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि एक शाम येकातरीना पेश्कोवा के घर पर लेनिन बीथोवन का संगीत सुनते रहे। संगीत सुनने पर वह बोले :

"Appassionata से भी कोई अधिक सुन्दर रचना हो सकती है मैं नहीं जानता। मैं इसे हर रोज सुन सकता हूँ। कितना विस्मयकारी, मानवेतर संगीत है यह। मैं बड़े गर्व से कभी-कभी सोचता हूँ जो शायद बचकाना जान पड़े, देखो तो लोग कैसे-कैसे चमत्कार कर दिखाते हैं।"

कला के लिए उनके दिल में तीव्र उत्सुकता और विस्मय का-सा भाव पाया जाता था।

लेनिन बड़े सुशिक्षित व्यक्ति थे, अनेक भाषाएँ जानते थे, लेखकों के साथ—विशेषकर अपने देश में गोर्की के साथ—उनका गहरा सम्पर्क रहा, और साहित्य में उनकी गहरी रुचि थी। लेनिन की पत्नी का कहना है कि जब कभी गोर्की उनसे किसी नये लेखक की चर्चा करते, लेनिन फौरन उसकी पुस्तकें मँगवाकर पढ़ते। जब भी उन्हें मौका मिलता वह खूब पढ़ते, भले ही वह मास्को में रह रहे हों या साइबेरिया में निर्वासन का दण्ड भोग रहे हों, या पेरिस, लन्दन अथवा जेनेवा में अपने प्रवास के दिन काट रहे हों। टाल्सटाय की रचनाओं पर उन्होंने चार महत्त्वपूर्ण लेख लिखे थे। लड़कपन से ही उन्होंने तुर्गनेव, चेर्निशोव्स्की, लेरमेन्तोव, पुश्किन आदि की रचनाएँ पढ़ डाली थीं। चेर्निशोव्स्की के उपन्यास 'क्या करें ?' का उन पर गहरा असर हुआ था, और इस उपन्यास को उन्होंने बार-बार पढ़ा।

टाल्सटाय की महान् कृतियों से भी वह बहुत प्रभावित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए। उनकी पत्नी के संस्मरणों से हमें पता चलता है कि मृत्यु के कुछ ही दिन पहले वह अपनी पत्नी से जैक लण्डन की की कहानी 'जीवन-प्रेम' पढ़कर सुनाने का आग्रह करते रहे थे, और अपनी बीमारी के दौरान गोर्की की रचना 'मेरे विश्वविद्यालय' सुनते रहे थे।

लेनिन किस प्रकार का साहित्य पसन्द करते थे? एक शब्द में कहें तो उन्हें ऐसा साहित्य पसन्द था जो यथार्थ का चित्रण करे। जो जीवन से जुड़ा हो, जिसमें अपने काल में पाये जानेवाले मूल अन्तर्विरोधों की पकड़ हो। इसी कारण उन्हें चेर्निशोव्स्की का उपन्यास पसन्द था क्योंकि उसने समाज की उन प्रवृत्तियों को देख लिया था जो १८६१ के कृषि-सुधारों के बाद रूस में पैदा होने लगी थीं। टाल्सटाय की महानता उनकी नज़र में इस बात में थी कि उन्होंने १८६१ से लेकर १९०५ तक के काल में, अर्थात् भूदास प्रथा केखात्मे से लेकर पहली रूसी क्रान्ति तक के जीवन का सजीव, यथार्थ, कलात्मक और शक्तिशाली चित्रण किया है। यह वह काल था जब रूस में भूदास प्रथा की समाप्ति के कारण ग्राम-व्यवस्था की पुरानी नीवें टूट गई थीं और नई व्यवस्था का रूप प्रकट नहीं हो पाया था, और किसान का जीवन सुधरने के बजाय और अधिक निःसहाय और दुःखी हो उठा था।

टाल्सटाय के सम्बन्ध में अपने एक लेख में लेनिन ने लिखा :

"रूस के ग्रामीण जीवन के बारे में टाल्सटाय का ज्ञान अद्वितीय था···अपनी कलापूर्ण कृतियों में उन्होंने इस जीवन की ऐसी तस्वीर खींची है जो विश्व-साहित्य की उत्कृष्टतम कृतियों में से है। टाल्सटाय रूस के सबसे ऊँचे, सम्भ्रान्त परिवारों में से थे। उन्होंने इस परिवेश की परम्परागत मान्यताओं से अपना नाता तोड़ लिया और अपनी बाद की कृतियों में समकालीन राज्य-सत्ता, धर्म-संस्थान, सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था की कड़ी आलोचना की जो जनता की गुलामी पर आधारित थे, उत्पीड़न और पाखण्ड पर खड़े थे।"

"टाल्सटाय द्वारा की गई आलोचना", लेनिन लिखते हैं, "कोई नई आलोचना नहीं थी···टाल्सटाय की आलोचना की विशिष्टता और उसका ऐतिहासिक महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने इस काल के रूस, यानी ग्रामीण रूस, किसानों के रूस—के विशाल जन-समुदायों के विचारों में होनेवाले आमूल परिवर्तन को ऐसे शक्तिशाली ढंग से आँका है जैसा कि विरल प्रतिभा वाले कलाकार ही आँक सकते हैं।"

लेनिन ने टाल्सटाय की महानता को व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा—किसान-जीवन के उनके गहरे ज्ञान में, किसानों के प्रति उनके दर्द में और उनकी प्रचण्ड कलात्मक शक्ति में। लेनिन की नज़र में उनकी महानता इस बात में थी कि टाल्सटाय अपने सम्भ्रान्त परिवार और वर्ग की परम्पराओं से नाता तोड़कर, गरीब जनता, गरीब किसानों की दुनिया में जाकर विचरने लगे थे और हर प्रकार के पाखण्ड और जुल्म का विरोध करने लगे थे। उनकी महानता उनकी गहरी मानवीयता तथा सृजनशक्ति में निहित थी।

जहाँ लेनिन एक लेखक से इस बात की आशा करते थे कि वह समाज से जुड़ा हो, समाज में होने वाले परिवर्तनों को देखता हो, वहाँ उन्होंने रचनात्मक क्षेत्र में किसी संकीर्णवाद या सिद्धान्त के अनुरूप लिखने की माँग नहीं की।

"प्रत्येक कलाकार का," उन्होंने एक जगह लिखा, "प्रत्येक ऐसे व्यक्ति का जो अपने को कलाकार मानता है, यह अधिकार है कि वह स्वतंत्र रूप से अपने विचारों-आदर्शों के अनुरूप, सभी बातों से स्वतन्त्र रहते हुए अपनी रचनाएँ रचे।"

याद रहे, जहाँ लेनिन टाल्सटाय की कला के प्रशंसक थे, वहाँ वह टाल्सटाय की आध्यात्मिक और नैतिक मान्यताओं के कटु आलोचक भी थे। उन्होंने टाल्सटाय की कृतियों को मात्र उनके अध्यात्मवाद के आधार पर नहीं आँका था, ऐसा करते तो टाल्सटाय को प्रतिक्रियावादी ठहराकर उनकी रचनाओं को रद्दी की टोकरी में फेंक देते। जहाँ उन्होंने टाल्सटाय के दर्शन की कड़ी आलोचना की है, वहाँ उन्होंने टाल्सटाय के साहित्य को विश्व-साहित्य की उज्ज्वल उपलब्धि भी माना है। बल्कि एक जगह पर तो उन्होंने यहाँ तक लिखा है कि समाजवादी क्रान्ति इसलिए जरूरी है कि लोग साक्षर होकर टाल्सटाय की महान् कृतियाँ पढ़ सकेंगे।

उन्हें नारेबाजी वाला साहित्य पसन्द नहीं था, उन्होंने साहित्य से नारेबाजी की माँग नहीं की, उत्कृष्ट कलात्मक गुणों की माँग की है।

लेनिन साहित्य में यथार्थ चित्रण को साहित्य का उत्कृष्ट गुण मानते थे। पर साथ ही वह यथार्थ चित्रण और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक दृष्टिकोण का समन्वय चाहते थे। लेनिन की पत्नी नदेज़्दा क्रुप्स्काया ने एक जगह लिखा है :

"लेनिन कथा-साहित्य पढ़ते थे, इसमें उन्हें रस मिलता था। लेकिन उनके पढ़ने में एक बात थी, उनकी नज़र में लेखक की सामाजिक दृष्टि और यथार्थ की कलात्मक अभिव्यक्ति मिलकर एक हो जाती थी। वह उन्हें अलग-अलग नहीं कर पाते थे, और जिस भाँति चेर्निशेव्स्की अपने उपन्यासों में बड़े ब्यौरे के साथ अपने विचार व्यक्त करने के आदी थे, वैसे ही लेनिन को भी वे पुस्तकें पसन्द थीं जो सजीव ढंग से सामाजिक विचारों को व्यक्त करती थीं। वह अपने पढ़ने के लिए उपन्यास स्वयं चुनते थे···"

एक क्रान्तिकारी के नाते लेनिन को वह साहित्य पसन्द था जिसमें जीवन के प्रति निष्ठा पाई जाये, जो मनुष्य को ऊँचा उठाये, जो उसे सतत संघर्ष की प्रेरणा दे। व्यंग्यात्मक साहित्य की तुलना में उन्हें वीरतापूर्ण साहित्य अधिक पसन्द था।

लेनिन ने लेखक के लिए जनता के बीच रहना परमाश्यक माना है। जनता से सम्पर्क को वह ऐसी लौ मानते थे जो लेखक का पथ प्रशस्त करती है। वह लेखक से जनता के साथ रागात्मक सम्बन्ध की अपेक्षा करते थे। गोर्की जब इटली से लौटे तो लेनिन ने उनका हार्दिक स्वागत किया। उनकी नजर में जनता के लेखक के लिए अपने वतन की हवा में साँस लेना, अपने दिल की प्रत्येक धड़कन से अपने देश के जीवन को महसूस करना, अपनी आँखों से उसकी गतिविधि को देखना बहुत जरूरी था। लेखक का जीवन से गहरा सम्पर्क बना रहे, लेनिन लेखक से इस बात की अपेक्षा करते थे।

गोर्की के साथ एक बार नहीं, अनेक बार उनका राजनीतिक स्तर पर मतभेद हुआ, लेकिन कहीं भी उन्होंने गोर्की से यह नहीं कहा कि तुम ऐसा नहीं लिखो, ऐसा लिखो। अगर कुछ कहा है तो यह कि जनता के बीच रहो, उन भाग्यवादी बुद्धिजीवियों के बीच न रहो जिन्हें चारों ओर निराशा-ही-निराशा, अन्धकार-ही-अन्धकार नजर आता है। "मैं सच कहता हूँ," उन्होंने अपने एक पत्र में गोर्की को लिखा, "अगर इन बुद्धिजीवियों के घुटनभरे परिवेश से अपने को आजाद नहीं करोगे तो तुम तबाह हो जाओगे··· मैं तुम पर कोई नसीहत लादना नहीं चाहता, लेकिन मैं इतना जरूर कहूँगा, अपना परिवेश बदलो, अपने रहन-सहन की स्थिति बदलो···वरना जीवन से तुम्हें सदा के लिए घृणा होने लगेगी।"

टाल्सटाय के दर्शन की चर्चा करते हुए लेनिन ने एक जगह लिखा :

"निराशावाद, बुराई की मूक स्वीकृति, अध्यात्मवाद ऐसी विचारधारा के अंग हैं जो ऐसे युग में अनिवार्य हो जाती है जब समस्त पुरानी पद्धति ऊपर से नीचे तक टूट रही हो, और जनता, जिसने माँ के दूध के साथ पुरानी पद्धति के सिद्धान्तों को अंगीकार किया होता है, यह देख नहीं पाती कि किस प्रकार की नयी पद्धति जन्म ले रही है और कौन-सी सामाजिक शक्तियाँ उसे रूप दे रही हैं।"

यह अत्यधिक दुःख और क्लेश का काल होता है। पर लेनिन लेखक से इस बात की अपेक्षा करते थे कि वह समाज में होने वाले संघर्ष को पहचाने, सामाजिक शक्तियों के संघर्ष की पृष्ठभूमि में जीवन के बदलते परिवेश को देखे और समझे।

कला और साहित्य के प्रति लेनिन का रवैया एक आलोचक का रवैया कभी नहीं रहा। अपनी पसन्द और नापसन्द के आधार पर उन्होंने सौन्दर्यबोध के सिद्धान्त नहीं गढ़े। उन्होंने कहीं नहीं कहा कि यदि अमुक रचना पार्टी के सिद्धान्तों का प्रचार करती है तभी उसे सच्चे साहित्य की संज्ञा दी जा सकती है, अन्यथा नहीं। साहित्य के क्षेत्र में उन्होंने किसी पर अपना मत लादने की कोशिश नहीं की। बल्कि कला और साहित्य के प्रति उनके रवैये में अत्यधिक विनम्रता पायी जाती थी।

रूस में उन दिनों भी साहित्य और कला के कुछ क्षेत्रों में नवीनता की वाहवाही थी। भविष्यवाद, अभिव्यंजनावाद, घनवाद आदि का बोलबाला था। लेनिन अपने विनम्र स्वभाव के अनुरूप इनके बारे में अपना मत प्रकट करने में झिझकते थे। एक बार जब लेनिनग्राद और मास्को में एक प्रदर्शन के लिए महान् क्रान्तिकारियों की प्रतिमाएँ खड़ी करने का विचार किया गया और एक मूर्तिकार ने उस काल की आधुनिक शैली में एक क्रान्तिकारी का बुत बनाया तो लेनिन झेंप गये, पर उन्होंने अपना कोई मत व्यक्त नहीं किया। "मैं इस कला को नहीं समझ पाता हूँ", उन्होंने कहा। इसी प्रकार मायाकोव्स्की की कविता उन्हें पसन्द नहीं थी। उन्हें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसमें बिखराव, असम्बद्धता आदि दोष नज़र आते थे। लेकिन उन्होंने यह भी महसूस किया कि नयी पीढ़ी को मायाकोव्स्की की कविता इसलिए पसन्द है कि भावनाओं की जिस बेचैनी, उत्तेजना को वे व्यक्त करना चाहते हैं, उसके लिए उन्हें समकालीन भाषा में उपयुक्त शब्द नहीं मिलते। मायाकोव्स्की की गूढ़, उत्तेजित, असम्बद्ध भाषा में उन्हें उन भावों की झलक मिलती है, इसलिए वह उससे सन्तुष्ट हैं। इस कारण अपनी अभिरुचि के आधार पर उन्होंने मायाकोव्स्की की कविता का मूल्यांकन करना छोड़ दिया। वह इतना भर कहते थे कि यह कविता मुझे छू नहीं पाती, मुझे इसमें रस नहीं मिलता।

हाँ, एक बात के बारे में उनका ज़ेहन साफ था। वह नवीनता को महज़ नवीनता के नाते कबूल करने के लिए तैयार नहीं थे। नवीनता को आधार मानकर पुराने उत्कृष्ट साहित्य को नकारना उन्हें मंजूर न था। क्लारा ज़ेटकिन के साथ अपनी बातचीत में उन्होंने कहा :

"चित्रकला में हम जरूरत से ज्यादा बुतशिकन बन रहे हैं। जो सुन्दर है, उसे सुरक्षित रखना होगा, भले ही वह 'पुराना' हो, और यहीं पर विभाजन रेखा भी खींचनी होगी। जो सचमुच सुन्दर है उसके प्रति हम पीठ क्यों मोड़ लें, और उसे रद्द क्यों कर दें, महज़ इसलिए कि वह पुराना है, और इस तरह विकास के लिए नये और पुराने को आधार रेखा मान लें? नवीनता को देवता मानकर हम उसके सामने सिर नवाने लगें, केवल इसलिए कि वह नया है? यह बकवास है, बिल्कुल बकवास है। इसमें बहुत-कुछ कोरा पाखण्ड है और बेशक, अचेतन रूप में कला के उन फैशनों का दम भरना है जिनका पश्चिम में बोलबोला है। हम अच्छे क्रान्तिकारी हैं, पर, न जाने क्यों, हम यह साबित करने के लिए भी ललकते रहते हैं कि हम आधुनिक संस्कृति में भी आगे चलने वालों की सफ़ में हैं। मैं तो बेझिझक कहूँगा कि इस मामले में मैं 'बर्बर' हूँ। मैं भविष्यवाद, अभिव्यंजनावाद, घनवाद और अन्य वादों को कलात्मक प्रतिभा की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति मानने में असमर्थ हूँ। मैं उन्हें नहीं समझ पाता। मुझे उनसे कोई रस नहीं मिलता।"

"लेकिन"—और उनका यह विचार महत्त्वपूर्ण है, "कला के सम्बन्ध में हमारा मत सर्वोपरि महत्त्व नहीं रखता। और इसका भी बहुत महत्त्व नहीं कि करोड़ों की जनसंख्या में कुछेक सौ या हज़ार व्यक्तियों के लिए कला का क्या महत्व है। कला जनता की मिल्कीयत है। उसकी जड़ें मेहनतकश जनता के भीतर गहरे में बोनी होंगी। इन विशाल जन-समुदायों की समझ में इसे आना चाहिए। उनकी भावनाओं को, उनके विचारों, उनकी संकल्प-शक्ति को, एकबद्ध करना, उन्हें ऊँचा उठाना, इसका काम है। इसका कर्त्तव्य है कि वह उनमें पायी जाने वाली कला-प्रवृत्तियों को स्फूर्ति दे, उनका विकास करे। छोटे-से अल्पमत को तो हम बढ़िया केक खिलाते रहें जबकि मज़दूरों और किसानों की विशाल जनसंख्या को काली रोटी भी न मिले, यह कहाँ की दानिशमन्दी है?" ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय साहित्य में लेनिन

ई० चेलीशेव

पूर्व के जनगण के जागरण में व्लादीमिर इल्यीच लेनिन ने बड़ी भूमिका अदा की। वे उपनिवेशों के साम्राज्य-विरोधी संघर्ष को पूंजीवादी जूए के खिलाफ मेहनतकश वर्ग के अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का एक महत्त्वपूर्ण अंग मानते थे। वे हमेशा इस पर ज़ोर देते रहे कि पश्चिम में मेहनतकशों के क्रान्तिकारी आन्दोलन और पूर्व के राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन अन्योन्याश्रय रूप से एक-दूसरे के पूरक हैं और यह कि एक ही शक्तिशाली प्रवाह के रूप में वे दमन और शोषण का संसार सदैव के लिए नष्ट कर देंगे। पूर्व के जनगण के कम्युनिस्ट संगठनों की दूसरी अखिल रूसी कांग्रेस में प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट में उन्होंने कहा था, "समूची पश्चिमी सभ्यताओं का भाग्य-विधान अधिकाधिक रूप में अब, राजनैतिक जीवन में पूर्व की मेहनतकश जनता के सहयोग पर निर्भर करता है।"

प्राच्य देशों के राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के अनेक नेताओं पर लेनिन का व्यापक प्रभाव पड़ा। वे उनके विचारों की भूमिका की उच्च प्रशंसा करते थे, जो उनके देशों के जनगण के जीवन में तथा मानवता के इतिहास में अदा कर रहे थे।

भारत के राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के महात् नेता महात्मा गांधी ने लिखा था, "लेनिन जैसी महान् आत्मा के त्याग से तपीभूत आदर्श व्यर्थ नहीं जा सकते, उनके त्याग के पुनीत उदाहरण सदा-सदा के लिए आलोकित रहेंगे और समय व्यतीत होने के साथ-साथ आदर्श को उज्ज्वल और शुद्ध करेंगे।"

जवाहरलाल नेहरू ने बल देकर कहा था, "लेनिन न केवल स्वदेश रूस में ही शक्तिशाली परम्परा बन गए हैं, बल्कि सम्पूर्ण विश्व में उन्होंने यह स्थान ग्रहण कर लिया है। समय बीतने के साथ वह महानतर होते जाते हैं, वह विश्व के स्पृहणीय अमर व्यक्तियों में हो गए हैं···वह स्मारकों अथवा चित्रों में जीवित नहीं बल्कि अपने विशाल कार्य में और करोड़ों मेहनतकशों के हृदयों में जीवित हैं, जो उनके उदाहरण से प्रेरणा लेते हैं और बेहतर दिन की आशा करते हैं।"

सबको लेनिन के उस महान् ध्यान की बाबत जानकारी है जो उन्होंने भारतीय जनता के राष्ट्रीय-मुक्ति आन्दोलन की ओर दिया। एक मेधावी की दिव्य दृष्टि की तरह उन्होंने उपनिवेशी दासता के जुए से भारतीय जनता की अवश्यम्भावी मुक्ति की भविष्यवाणी की। १९०८ में ही वी० आई० लेनिन ने (बालगंगाधर तिलक पर झूठा मुकदमा बनाने वाले उपनिवेशी अधिकारियों की निरंकुशता के प्रति क्रुद्ध बम्बई के सर्वहारा वर्ग की आम हड़ताल के सिलसिले में) अपने लेख 'विश्व राजनीति में ज्वलनशील सामग्री' में लिखा: "भारत में भी सर्वहारा जागृत राजनैतिक आम संघर्ष के लिए विकसित हो चुका है और ऐसी स्थिति में रूसी ढंग के इस बर्तानवी शासन का अन्त भारत में निश्चितप्राय है।"

भारत के राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के नेतागण रूस की मेहनतकश जनता के क्रान्तिकारी संघर्ष से, लेनिन के नेतृत्व में होने वाले संघर्ष से प्रेरणा ग्रहण करते थे। न तो युवा सोवियत राज्य से भारत को विलग करने वाली उच्च पर्वत श्रेणियाँ और न ही उपनिवेशवादियों की जंजीरें, जेलें, और न ही पूंजीवादी कलमनवीसों की चालाकीभरी मनगढ़न्तें, जो रूस में मेहनतकश जनता की महान जीत को बदनाम करने अथवा उस पर पर्दा डालने की कोशिश कर रही थीं, अक्तूबर क्रान्ति और उसके नेता के बारे में सच्चाई को छिपा नहीं सकीं।

उपनिवेशी प्रतिबन्ध की सभी बाधाओं के बावजूद पत्र-पत्रिकाओं में विशेषकर भारत के उन हिस्सों में, जहाँ मुक्ति संघर्ष १९१७ के अन्त में खासतौर पर तेज था, रूस की क्रान्तिकारी घटनाओं के बारे में लेख व समाचार प्रकाशित होते थे। इनके लेखक आमतौर पर भारतीय राष्ट्रीय मुक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आन्दोलन में सक्रिय रूप से भाग लेने वाले होते थे।

क्रान्तिकारी मेहनतकश आन्दोलन के एक बड़े केन्द्र, बम्बई में सुप्रसिद्ध पत्रकार और बाल गंगाधर तिलक के अनुयायी के० पी० खाडिलकर ने १९१७ के दिसम्बर में एक लेख 'चित्रमय जगत' के प्रथम अंक में लिखा था, जो अक्तूबर क्रान्ति के बाद प्रकाशित हुआ था। इस लेख में उन्होंने रूस में समाजवादी क्रान्ति और इसके नेता लेनिन के बारे में साधारण भाषा में और व्यापक रूप से वर्णन प्रस्तुत किया था। उन्होंने लेनिन की उन गतिविधियों पर जोर देने की चेष्टा की जो भारत की साधारण जनता की भावनाओं के अनुरूप थीं और जो राजनैतिक और सामाजिक मुक्ति के लिए बेताब थीं। उन्होंने राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार सम्बन्धी लेनिन की डिक्री की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका पर बल दिया। "यह मानने के लिए थोड़ी-सी ही कल्पना की आवश्यकता है कि भारतीयों के हृदय कितने रोमांचित हो उठे होंगे···जब उन्हें उस सोवियत डिक्री के बारे में ज्ञात हुआ होगा, जिसमें जारशाही शासन के अधीन जातियों को स्वतन्त्रता प्रदान की गई थी," ऐसा भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के प्रख्यात नेता श्रीनिवास गणेश सरदेसाई ने आगे चलकर लिखा था।

२९ जनवरी १९१८ को 'केसरी' में, जिसके सम्पादक तिलक थे, एक सम्पादकीय प्रकाशित हुआ, जिसका शीर्षक था: 'रूसी नेता लेनिन के बारे में' और इसमें तिलक ने पूंजीवादी समाचारपत्रों की रूसी मेहनतकश जनता के नेता के बारे में सभी तरह की गलतबयानियों तथा दुर्भावनाओं को बेनकाब किया था। उन्होंने लेनिन के निःस्वार्थ जीवन और कार्यों का वर्णन किया था।

अक्तूबर १९२१ में फणि भूषण घोष ने बंगला भाषा में वी० आई० लेनिन का संक्षिप्त जीवन-चरित्र प्रकाशित किया और उसमें उन्होंने लिखा कि वी० आई० लेनिन का मुख्य लक्ष्य, महात्मा गांधी की नाईं ही, सभी प्रकार के दमन को समाप्त करने की कामना तथा साधारण जनता को गरीबी और निरंकुशता से मुक्त करना था। उन्होंने लिखा :

"लेनिन के अनुसार समाज की उस दुर्दशा का कारण यह है कि उत्पादन के समस्त साधन तथा सारी ज़मीन केवल ज़मींदारों और पूंजीपतियों के हाथ में है।"

सचिन सान्याल ने लेनिन के जीवन और कृतित्व के बारे में जो लेखमाला लिखी उसका भी उल्लेख करना प्रासंगिक रहेगा। ये लेख मार्च १९२१ से दो वर्ष तक प्रगतिशील पत्रिका 'संख्या' में प्रकाशित होते रहे और फल-स्वरूप इन लेखों के लेखक को बाद में गिरफ्तार किया गया और मुकदमा चलाया गया।

एक बंगाल-निवासी सज्जन अमूल्य अधिकारी ने १९२३ में लिखा :

"लेनिन मज़दूरों के मित्र थे। हर व्यक्ति उन्हें जानता था और मज़दूर लेनिन को अपने शिक्षक के रूप में मानता था। बोल्शेविक पूर्णतः साम्राज्यवाद-विरोधी है, इसीलिए अंग्रेजों, फ्रांसीसियों और अन्य लोगों ने नये राज्य को कुचलने का प्रयास किया। परन्तु लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक आज विश्व के सम्मुख विजयी खड़े हैं। पूंजीवादी भयभीत हो गए हैं और खरगोशों की भाँति भाग रहे हैं। समस्त विश्व की उत्पीड़ित जनता मुक्ति के लिए लेनिन की प्रतिभा और बोल्शेविकों से प्रेरणा प्राप्त करती है।

लेनिन के नाम, उनके विचारों तथा नवजीवन के निर्माण में सोवियत जनता की उपलब्धियों को भारत में लोकप्रिय बनाने में नेहरूजी का बड़ा हाथ था। इस महान् भारतीय राजनेता ने इस बात पर ज़ोर दिया कि स्वाधीन रूस की जनता लेनिन से कितना प्यार करती थी और १९२७ में अपनी सोवियत संघ की यात्रा में उन्होंने उस भावना को स्वयं देखा था, "भारत में उन्हें निश्चय ही कोई संत-महात्मा मान लिया जाता, लेकिन सोवियत लोगों में संत बहुत लोकप्रिय नहीं हैं और सोवियत जनता ने उन्हें अपनों में से एक मानकर जिस तरह प्यार दिया है, वह सबसे बड़ा सम्मान है। उनमें से हरेक के लिए वह भाई व साथी के समान थे। वह उन्हें जानते थे, उनके लिए मेहनत करते थे और लोग मुसीबत के वक्त उनके पास आ सकते थे।"

भारत में लेनिन की मृत्यु का समाचार राष्ट्रीय शोक लेकर आया। 'आनन्द बाज़ार पत्रिका' में छपे शोक संदेश के एक भाग में कहा गया था, "मानवता का एक सदाशयी मित्र अब हमारे बीच नहीं रहा। वह उन उच्चाशय लोगों में से थे जो उसके लिए अपना सब-कुछ—अपनी ज़िन्दगी तक दाँव पर लगा देते हैं। हम एक परतन्त्र पूर्वी देश के निवासी हैं लेकिन हमारी आँखों में भी उनकी मृत्यु से आँसू

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उमड़ आए हैं।"

देशव्यापी राष्ट्रीय-मुक्ति संघर्ष छिड़ जाने पर भारत में लेनिन के विचार और दूर-दूर तक फैले तथा क्रान्तिकारी विचारधारा वाले भारतीयों के मन की गहराइयों तक पैठ गए।

१९२५ में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना के साथ क्रान्तिकारी विचारधारा के भारतीयों के लिए लेनिन के विचार बाकायदा पथ-प्रदर्शक बन गए।

दुनिया में लेनिन के विचारों की दिगंतव्यापी प्रगति तथा संसार के पहले समाजवादी देश में उसके सफल कार्यान्वयन ने भारतीय स्वाधीनता सेनानियों को प्रेरणा दी। जब लेनिन की भविष्यवाणी सत्य हुई और उपनिवेशी उत्पीड़न की बेड़ियाँ कट गयीं—भारत स्वाधीन विकास के मार्ग पर आगे बढ़ने लगा। नव जीवन के प्रकाश की आकांक्षा रखने वाले करोड़ों लोगों के लिए लेनिन का नाम पथप्रदर्शक प्रकाश-स्तम्भ बन गया।

भारत में लेनिन के नाम पर अनेकानेक कविताएँ रची गयी हैं। अक्तूबर क्रान्ति के बारे में भारत में पहुँचने वाले पहले समाचारों का ही भारतीय कवियों ने महत् स्वागत किया। हिमालय के उस पार दूर देश में होने वाली क्रान्ति का अर्थ पूरी तरह से न समझ पाने पर भी देश के विभिन्न भागों में बसने वाले अनेक भारतीय कवियों ने जन-क्रान्ति की जीत पर अपार हर्ष व्यक्त किया। उन्होंने इस क्रान्ति को एक पवित्रता लाने वाला तूफान बताया—एक ऐसा तूफान जिसने विश्व को हिलाकर रख दिया और हिंसा तथा पाप की पुरानी दुनिया को नेस्तनाबूद कर दिया। उन्होंने लेनिन के व्यक्तित्व को क्रान्ति का साकार रूप माना, कई बार उन्होंने लेनिन में अतिमानवीय गुणों का आरोप करते हुए उनकी तुलना उन पौराणिक वीरों से की जिन्होंने कि धरती पर पाप के साम्राज्य को नष्ट करके मानवता को दुःख और कष्टों से छुटकारा दिलाया।

लेनिन के व्यक्तित्व की ओर अभिमुख होने वाले भारतीय कवियों में मुहम्मद इकबाल सर्वप्रथम थे। लेनिन पर अपनी प्रसिद्ध कविता उन्होंने १९२० के आसपास लिखी।

इस कविता में लेनिन को जनता का मसीहा बताया गया है। इससे पता चलता है कि मार्क्सवाद से दूर एक भारतीय कवि किस तरह लेनिन के व्यक्तित्व के साथ अपने सपनों और आशाओं को बाँधे हुए है।

भारत में रोमानी क्रान्तिकारी कविता के युग में लेनिन के व्यक्तित्व का चित्रण रोमानी रंग में किया गया है। उन्हें क्रान्ति के सपनों की यथार्थ में परिणति का कवित्वमय साकार रूप माना गया है। धीरे-धीरे भारत में राष्ट्रव्यापी स्वाधीनता आन्दोलन छिड़ जाने पर और साम्यवाद की वैज्ञानिक विचारधारा के प्रचार तथा जनता में वर्गचेतना एवं राजनीतिक चेतना उभर आने के बाद भारतीय कवि लेनिन के व्यक्तित्व को अधिक गहराई से समझने लगे। अब वह उनके लिए एक महान् क्रान्ति के नेता ही नहीं बल्कि संसार में कामगरों के पहले राष्ट्र के प्रवर्तक एवं उस अमर शिक्षा के रचयिता भी हैं जिसने संसार भर के श्रमिक वर्ग को धरती पर परिश्रम करने वाले साधारण जनों की खुशहाली के लिए संघर्ष करने का स्पष्ट मार्ग दिखाया। लेनिन का नाम अक्सर एक उज्ज्वल भविष्य के स्वप्न के साथ ही नहीं बल्कि स्वप्न को साकार करने के लिए जारी अपने अधिकारों की माँग एवं श्रमिक वर्ग के क्रान्तिकारी संघर्ष के साथ भी जोड़ा जाता है।

लेनिन की महानता तथा उनके अमर विचारों को कला में उतारने की आकांक्षा अनेक भारतीय कवियों के काव्य में प्रस्फुटित हुई है जिन्होंने विभिन्न काव्यात्मक बिम्बों एवं उपमाओं के साथ अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्त किया है। उदाहरण के लिए बंगाल के प्रख्यात कवि विष्णु दे लेनिन को करोड़ों लोगों का अमर-नेत्र कहकर पुकारते हैं या फिर उनकी तुलना संसार में सबसे ऊँची हिमालय की चोटी से करते हैं। मराठी के एक क्रान्तिकारी कवि अन्नाभाऊ साठे लेनिन की शिक्षाओं की तुलना प्रेरणा के तीव्रगामी रथ से करते हुए उसे पीड़ित जनता का अजेय पथप्रदर्शक तारा बताते हैं। हिन्दी के कवि भगेरिया लेनिन को एक दुर्धर्ष योद्धा और नवप्रभात का सूर्य बताते हैं।

अनेक कवियों ने लेनिन के यश को परम्परागत स्तुतियों, स्तोत्रों और कसीदों के रूप में गाया है। १९५० के आसपास लिखी गयी विमलचन्द्र घोष की एक कविता इसका उदाहरण है। इसका शीर्षक है—उनका नाम युगों को प्रकाशित करता है:

"आज एक ऐसे संत और विचारक का जन्मदिन है,
जिसने मूक पीड़ा को प्रबल क्रान्ति में बदल दिया, जिसने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आँसू और दुःख से पूर्ण मानव-समुद्र में तूफान ला दिया, जिसने मानवता को एक दुर्लभ और बहुमूल्य भेंट दी— शान्ति का एक स्वर्णिम पात्र एवं अनन्त प्रसन्नता···जिसने धरती पर गर्व से बनायी एक महान् और प्रकाशवान वेदी भ्रातृत्व, एकता और स्वाधीनता की···जिस ने एक देश बनाया जहाँ प्रकाश ने अन्धकार को हरा दिया, शान्ति और प्रसन्नता से भरा-पूरा एक देश।···आज का दिन परम श्रद्धा का दिन है। वह प्रतीक्षारत हृदयों को मृदुल आशाओं से भर देता है, पीड़ित व्यक्ति के लिए उल्लास और प्रेम। जिसने भोगा है! दुख, पीड़ा, युद्ध की विभीषिका, रक्तपात! आज एक ऐसे व्यक्ति का जन्मदिन हैं जिसका गरिमामय और पूजनीय नाम बीते युगों को प्रकाशित कर रहा है, क्रान्ति का एक प्रतीक, प्रेम, सुन्दरता और अतुलनीय साहस का नाम है लेनिन!"

लेनिन के विचारों को ज्यादा सुबोध और स्पष्ट बनाने के लिए भारत के प्रगतिशील कवियों ने लोकगीतों का सहारा लिया है। उदाहरण के लिए प्रगतिशील लेखक सज्जाद जहीर और तमिल कवि वी० जीवा नंदम ने इस तरह के लोकप्रिय गीत लिखे हैं।

लेनिन के विषय में इस तरह की अनेक कविताओं को लोकगीतों में ढाला गया है ताकि उन्हें जनता की रचना समझा जाए।

लेनिन विषयक ये रचनाएँ भारत के जनसाधारण को अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा देती रही हैं, उन्हें अपना संगठन मज़बूत करने में सहायता देती रही हैं और जीत में आस्था बाँधकर उन्हें शक्ति प्रदान करती रही हैं।

१९३०-४० के बीच भारतीय कवियों द्वारा लिखे गए गीत और कविताएँ जनसाधारण के लिए 'झंडे और बम' का काम करती रहीं। उनका घोष सारे देश में सुनाई देता था। उनके प्रणेता जनहित के लिए संघर्ष करने वाले निर्भय योद्धा थे। इस संदर्भ में बम्बई के एक साम्यवादी कवि एवं भारत-रूस मैत्री परिषद् के सचिव शशि मोहन वकाईया की गाथा उल्लेखनीय है। उन्होंने डॉक्टर के आदेश की अवहेलना करते हुए प्रतिक्रियावादियों के भड़काये हिन्दू-मुस्लिम दंगों के शिकार व्यक्तियों की प्राण-रक्षा के लिए रक्तदान दिया और १९४६ में २५ साल की उम्र में मर गए। १९४२ में लिखी उनकी कविता 'लेनिन' एक लोकप्रिय गीत बन गयी जो मज़दूरों की सभाओं और प्रदर्शनों के दौरान सुनने में आती थी। तीव्र वर्ग-संघर्ष में भाग लेने वाले बम्बई के सर्वहारा वर्ग ने १९४० में अपने पोस्टरों में इस गीत की पंक्तियों को उद्धृत किया। गीत के अन्तिम शब्द थे :

हम कम्युनिस्ट हैं, हमारा नारा है
हड़ताल करो, आगे बढ़ो!
आज हम कसम खाते हैं :
लेनिन के झंडे तले
जीत के लिए आगे बढ़ेंगे!

"लेनिन" यह एक शब्द संसार भर के करोड़ों शोषित लोगों के लिए उत्पीड़न और हिंसा से मुक्ति का प्रतीक बन गया है। अनेक भारतीय कवियों की रचनाओं में वह समाजवादी-क्रान्ति की धारणा से तदरूप प्रतीत होता है। भारतीय कवियों ने लेनिन के व्यक्तित्व को पूर्व की जनता के स्वाधीनता संग्राम एवं साम्राज्यवाद तथा नव-उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष के साथ एकाकार देखा है।

इस संदर्भ में उल्लेखनीय होगा कि संसार भर की सभी भाषाओं में लेनिन शब्द एक-सा प्रभावशाली प्रतीत होता है। लेनिन मानवता की निधि हैं और हर राष्ट्र उन्हें अपना एक अंग मानता है। इस विचार को हिन्दी के कवि एस० भगेरिया ने इस प्रकार व्यक्त किया है :

लेनिन तुम रूसी हो केवल
हमारे नहीं हो क्या?
सारे शोषित संघर्षों के
सितारे नहीं हो क्या?

अपनी नज़्म 'लेनिन हमारे साथ हैं' में उर्दू के कवि नियाज़ हैदर घोषणा करते हैं कि पूर्व के सभी श्रमिक लेनिन के दोस्त हैं, लेनिन के बेटे हैं!

भारतीय कवियों ने नाज़ी जर्मनी को हराकर यूरोप के देशों को फासिस्टों से मुक्ति दिलाने वाले सोवियत नागरिकों के महान् कार्य की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। वह इस महान् जीत का सम्बन्ध हमेशा लेनिन से जोड़ते हैं। उदाहरण के लिए उर्दू के प्रसिद्ध कवि कैफी आज़मी ने अपनी रचना 'शिकस्त का तराना' में १९४३ में लाल सेना की जीत का वर्णन करते हुए कहा है कि लेनिन की आवाज़ फासिस्टों का मुकाबला करने वाले लोगों को प्रेरणा देती थी।

उर्दू के सुप्रसिद्ध प्रगतिशील शायर अली सरदार जाफरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने १९४५ में लिखी अपनी प्रतीकात्मक नज़्म 'जवाल बर्लिन और हिन्दुस्तान' में प्रतिक्रियावादी शक्तियों पर जनतांत्रिक शक्तियों की जीत को अवश्यम्भावी बताया है। यहाँ भी लेनिन के व्यक्तित्व को क्रान्ति के साथ एकरूप देखा गया है।

उर्दू के इस क्रान्तिकारी कवि की वाणी की प्रतिध्वनि आन्ध्र के प्रसिद्ध प्रगतिशील कवि श्री श्री की रचनाओं में भी मिलती है। अपनी कविता, 'घनगरज, रूस' में, जो कि दूसरे महायुद्ध के दौरान लिखी गयी थी, कवि इस विचारधारा का प्रतिपादन करता है कि महान् अक्तूबर क्रान्ति की उपलब्धियों को कोई ताकत मिटा नहीं सकती और लेनिन की वाणी दिगदिगंत में फैली हुई विजय का उद्घोष कर रही है।

सोवियत अन्तरिक्षयात्रियों की प्रशंसा में लिखी अपनी नज़्म 'ऊपर से देखा नज़ारा' में उर्दू के कवि नियाज़ हैदर विज्ञान की इस महान् उपलब्धि का सम्बन्ध लेनिन के नाम से जोड़ते हैं। विश्व के असीम विस्तार में उड़ते हुए अन्तरिक्ष-यात्रियों को सम्बोधित करते हुए कवि कहता है कि उन पर जीवन का एक अक्षय स्रोत चमक रहा है—वह है लेनिन का पवित्र हृदय।

भारत के कवि जब भी साम्यवाद की स्थापना में सोवियत जनता की उपलब्धियों की चर्चा करते हैं और भारत तथा सोवियत संघ में बढ़ती मित्रता तथा सहयोग का स्वागत करते हैं तो वह बार-बार लेनिन और उनकी विरासत की चर्चा अवश्य करते हैं।

भारत के प्रगतिशील कवि भारत और सोवियत संघ में बढ़ते हुए सहयोग और मित्रता तथा लेनिन के अन्तर्राष्ट्रीयता-वाद में एक सीधा सम्बन्ध देखते हैं। अपने काव्य 'लोकायतन' (१९६४) में, जिसे कि १९६५ में जवाहरलाल नेहरू पुरस्कार मिला, हिन्दी के सुख्यात आधुनिक कवि सुमित्रानन्दन पंत ने भारत और सोवियत संघ की पवित्र मैत्री की प्रशंसा का राग छेड़ते हुए लेनिन के विचारों की महानता के लिए अपनी प्रशंसा व्यक्त की है :

मित्र भारत के सब भू देश,
रूस का उनमें अपना स्थान,
दलित भू जन को जिसने भव्य,
स्वप्न जीवन का दिया महान।
प्राप्त कर जन का निश्छल स्नेह,
सहज भारत के प्रति सम्मान
हुआ कवि का मन स्नेह कृतार्थ
हृदय का कर आदान-प्रदान।

लाल काले स्फटिकों का सौम्य
यहाँ लेनिन का स्तूप पवित्र
पारदर्शी वेष्टन में भव्य
सुरक्षित हाड़-मांस का चित्र।
लौह दृढ़ शिरा वज्र संकल्प
हृदय हो विगलित करुणा स्वर्ण
धरा पर विचरा नव युग दूत
दलित को करने मुक्त, सम्पन्न!

इस प्रकार लेनिन का नाम हमेशा के लिए भारतीय साहित्य का एक अंग बन गया है। हिन्दी के प्रसिद्ध गद्य लेखक यशपाल के शब्दों में, "लेनिन की शिक्षा और उनकी याद भारत की जनता के उज्ज्वल भविष्य के लिए हमेशा पथ-प्रदर्शन करती रही है और आगे भी करती रहेगी।" ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो शब्दों को घटनाओं से सुलगाता था

विश्वनाथ त्रिपाठी

मैं बड़े लोगों के ड्राइंग रूम में
अपनी नहीं, उनकी मनचाही पोशाक पहनकर
जाता हूँ,
वे मुझसे सीधे मुँह कहते हैं
'बैठो'
मेरी नसें उल्लसित हो जाती हैं
मैं बुलबुल हो जाता हूँ।

कितना असुविधापूर्ण है बड़े लोगों के ड्राइंग
रूम में
बुलबुल न होकर
आदमी का आदमी बने रह पाना !
और कितना भयावह है !
सुविधा की बेखतर ज़िन्दगी में
लेनिन की घुचघुची आँखों
और उनकी व्यंग-तरल मुस्कान का याद पड़
जाना !

मैं पाठकों और आलोचकों में करुणा जगाने के
लिए
घोषित करता हूँ कि
मैं अँधेरे में सूरज टटोल रहा हूँ
लेकिन लेनिन ! तुम जानते हो कि
शब्दों की आग से चिलम भरने वालों के हाथ
कभी नहीं जलते,
और सूरज वह उगाता है
जो शब्दों को घटनाओं से सुलगाता है।

तुम्हारे साथ एक आदमी और हुआ करता था,
पता नहीं कौन-कौन-सा उलियानोव।
तुमने ज़ारशाही को ध्वस्त किया
लेकिन क्या उसके मन में भी
राष्ट्रभूषण, राष्ट्ररत्न होने की इच्छा कभी नहीं
जगी !
शराब, कबाब, आक़बत के बारे में वह क्या
सोचता था ?
हमें तुम्हारे साथ उसकी भी बेअख्तियार याद
आ रही है
और यह ज़माना ही ऐसा है कि
हमें उसके और तुम्हारे सम्बन्धों को जानने
की सख़्त ज़रूरत महसूस हो रही है। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेनिन के दो पत्र गोर्की के नाम

: १ :

१३ फरवरी, १९०८

प्रिय ए० एम०

मेरे विचार से हमारे वैचारिक मतभेद के सम्बन्ध में तुमने जो प्रश्न उठाए हैं वे महज़ गलतफ़हमी पर आधारित हैं। यह निश्चित है कि मैंने कभी भी मूर्ख 'श्रमिक संघवादियों' (सिंडिकेलिस्ट्स) की भाँति बुद्धिजीवियों को पूरी तरह निकाल बाहर करने की बात नहीं सोची अथवा न ही मज़दूर आन्दोलन के लिए उनकी आवश्यकता से इनकार किया। इस सम्बन्ध में मैं पूरी तरह आश्वस्त हूँ कि इन प्रश्नों पर हमारे बीच कोई मतभेद नहीं हो सकता और क्योंकि अभी हमारा इकट्ठा होना असम्भव है, अतः हमें तुरन्त ही काम शुरू कर देना चाहिए। काम करने के दौरान सबसे अच्छी बात यह होगी कि हम हमसुखन हो सकेंगे।

सर्वहारा वर्ग के लिए छोटे-छोटे लेख लिखने की तुम्हारी योजना से मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई (इसका सन्देश तुम्हारे पास भेज दिया गया है)। यदि तुम किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर लिख रहे हों तो निस्सन्देह उसे बीच में मत छोड़ो।

मैं त्रात्स्की के बारे में पिछली बार ही जवाब देना चाहता था परन्तु भूल गया। हमने (प्रोलेतारी के सम्पादक-मंडल, ए० ए०[1], बोल्शेविक के अच्छे सहयोगी इनोक[2] तथा मैंने) तय किया था कि त्रात्स्की को सीधे प्रोलेतारी में बुलाया जाय। रूपरेखा के साथ विषय का सुझाव देते हुए हमने उसे एक पत्र लिखा था। आम राय के मुताबिक हमने यह पत्र 'प्रोलेतारी का सम्पादक मंडल' की ओर से भेजा ताकि विषय अधिक मज़बूती के साथ उसके सामने रखा जा सके (उदाहरणार्थ त्रात्स्की के साथ, जब वह मेन्शेविक था, सन् १९०३ से १९०५ के बीच व्यक्तिगत स्तर पर मेरा बाकायदा उग्र संघर्ष होता रहा)। मैं नहीं समझता कि उक्त पत्र में त्रात्स्की के लिए कोई अपमानजनक बात थी, परन्तु उसने एक ऐसा पत्र भिजवाया जो स्वयं उसका लिखा न था: "कामरेड त्रात्स्की के आदेशानुसार" प्रोलेतारी के सम्पादक मण्डल को सूचित किया जाता है कि वह बहुत व्यस्त होने के कारण पत्र का उत्तर लिखने से इनकार करता है।

मेरे विचार से यह मात्र ढोंग है। लन्दन कांग्रेस में भी उसने ऐसी ही हरकत की थी। मैं नहीं समझता कि वह वास्तविक रूप में बोल्शेविकों के साथ रह सकेगा।

मेन्शेविकों ने मासिक पत्रिका 'गोलोस सोशल देमोक्रेत'[3] के बारे में प्लेखानोव, एक्ज़लरोद, दान, मारतोव और मारतिनोव के हस्ताक्षरों के साथ एक घोषणा प्रकाशित की है। इसे प्राप्त करने के बाद तुम्हें भेज दूंगा। संघर्ष तीव्र गति से चल सकता है परन्तु त्रात्स्की 'संघर्षरत गुटों से ऊपर' रहना चाहता है।

मेरे खयाल में जिस बात पर मेरा तुमसे मौलिक मतभेद है वह है भौतिकवाद, विश्वदृष्टि के रूप में—'इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा' (जिससे हमारे 'अनुभववादी' भी इनकार नहीं करते) नहीं, बल्कि दार्शनिक भौतिकवाद। मैं इस बात का दृढ़तापूर्वक प्रतिवाद करता हूँ कि आंग्ल और जर्मन जातियों के 'फिलिस्तिनिज़्म' और रोमांस जातियों के अराजकतावाद के लिए 'भौतिकवाद' ज़िम्मेदार है। दर्शन के रूप में भौतिकवाद को उन्होंने हर जगह पृष्ठभूमि में धकेल दिया। 'न्यू जाइट'[4] बहुत गम्भीर और सूचना-सम्पन्न पत्र है, वह दर्शन के प्रति उदासीन है; वह दार्शनिक भौतिकवाद का उत्साही समर्थक कभी नहीं रहा और इधर तो कुछ दिनों से वह बिना किसी ननु-नच के अनुभववादी-आलोचकों को ही प्रकाशित करता रहा है। यह सोचना गलत—सरासर गलत है कि जिस भौतिकवाद की शिक्षा मार्क्स और एंगेल्स ने दी है उससे जड़ 'फिलिस्तिनिज़्म' निस्सृत होता है। सोशल-डेमोक्रेसी के अन्दर की सभी 'फिलिस्तिन' प्रवृत्तियां

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सबसे ज्यादा दार्शनिक भौतिकवाद के विरुद्ध हैं, उनका झुकाव कांट, नवकांटवाद तथा आलोचनात्मक दर्शन की ओर है। 'एण्टी-ड्यूहरिंग' में एंगेल्स ने जिस दर्शन का प्रतिपादन किया है वह फिलिस्तिनिज़्म से कोसों दूर है। प्लेखनोव ने इस क्षेत्र के संघर्ष को गुट सम्बन्धी संघर्ष के साथ जोड़कर उस दर्शन को हानि ही पहुँचाई है। फिर भी किसी रूसी 'सोशल डेमोक्रेट' को पुराने प्लेखनोव के साथ आज के प्लेखनोव को मिलाकर घपला नहीं करना चाहिए।

ए० ए० अभी-अभी मेरे पास से गया है। मैं उससे 'मिलने' के सम्बन्ध में दुबारा बातचीत करूँगा। यदि तुम्हारा आग्रह हो तो बातचीत का प्रबन्ध दो-एक दिन के लिए हो सकता है और वह भी बहुत जल्दी।

शुभ कामनाओं सहित

लेनिन

जेनेवा से कप्री द्वीप (इटली) भेजा गया पत्र।
लेनिन के निबन्ध-संग्रह में पहली बार १९२४ में प्रकाशित।
संकलित रचनाएँ, खण्ड ३४, पृ० ३८५-८६।

●

टिप्पणियाँ

१. ए० ए०—ए० ए० बोग्दानोव।
२. इनोक (इनोकेएटी) आई० एफ० दुब्रोविन्स्की।
३. गोलोस सोशियल डेमोक्रेत (द सोशियल डेमोक्रेट्स वाइस)—मेन्शेविकों का एक समाचारपत्र जो विदेश से प्रकाशित होता था। यह पहले जेनेवा से और फिर पेरिस से फरवरी १९०८ से दिसम्बर १९११ तक प्रकाशित होता रहा।
४. दाइ न्यू जाइट (न्यू टाइम्स)—दार्शनिक सिद्धान्तों को प्रकाशित करने वाली एक पत्रिका जो स्टुटगार्ट में १८८३ से १९२३ तक प्रकाशित होती रही। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में एंगेल्स की मृत्यु के बाद इस पत्र ने संशोधनवादी लेख प्रकाशित करने शुरू कर दिए।

: २ :

२५ फरवरी, १९०८

प्रिय ए० एम०

मैंने तुम्हारे पत्र का जवाब तत्काल नहीं दिया; कारण, तुम्हारे लेख[1] पर उसके कुछ मुद्दों को लेकर सम्पादक मण्डल में अ० अ० के साथ हम लोगों का खासा गम्भीर झगड़ा हुआ। हालांकि पहली नज़र में यह कुछ अजीब-सा लगेगा। उंह-उंह···मैंने बातें कीं लेकिन उस स्थान पर नहीं और न उस विषय पर जिसके बारे में तुमने सोचा था।

हुआ यह।

'मार्क्सवादी दर्शन सम्बन्धी अध्ययन'[2] नामक पुस्तक ने दर्शन के सवालों में बोल्शेविकों के पुराने मतभेदों को तेज कर दिया है। मैं इन प्रश्नों पर अपने-आपको इतना समर्थ नहीं समझता कि फौरन छपा मारूँ। लेकिन मैंने हमेशा दर्शन के बारे में पार्टी की उन बहसों का नज़दीक से अनुसरण किया है जिसमें प्लेरगनोव ने पहले मिखाइलोव्स्की एंड कम्पनी के विरुद्ध सन् १८९५ तक और फिर १८९८ और बाद के वर्षों में कांटवादियों के और अन्त में अनुभववादी आलोचकों के विरुद्ध संघर्ष किया (यहाँ मैंने उन बहसों का अनुसरण ही नहीं किया वरन् १९०० से जार्या[3] के सम्पादक मण्डल का सदस्य होने के नाते एक हद तक उन बहसों में भाग भी लिया)।

बोग्दानोव ने जब से 'प्रकृति के विषय में ऐतिहासिक दृष्टि' नामक पुस्तक लिखी है तब से उस पर भी मेरी नज़र है। यह पुस्तक मैंने साइबेरिया प्रवास के दौरान पढ़ी थी। बोग्दानोव की यह स्थिति अन्यान्य दार्शनिक दृष्टियों की दिशा में एक संक्रमण मात्र थी। बोग्दानोव से मेरा सीधा व्यक्तिगत परिचय १९०४ ई० में हुआ; और हमने फौरन एक-दूसरे को उपहार दिए : मैंने उसे अपनी 'कदम'[4] नामक पुस्तक भेंट की तथा उसने मुझे अपने तत्कालीन दार्शनिक लेखों का संग्रह[5] भेंट किया। इसके तुरन्त बाद (सन् १९०४ के वसंत अथवा ग्रीष्म ऋतु के शुरू में) मैंने जेनेवा से पेरिस उसे यह पत्र लिखा कि उसके लेखों से मेरी यह दृढ़ धारणा बन गई है कि उसके विचार गलत हैं और उतनी ही दृढ़ धारणा यह है कि प्लेखानोव के विचार सही हैं।

जब प्लेखानोव और मैं साथ-साथ काम करते थे। हमने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अक्सर बोग्दानोव पर चर्चा की। प्लेखानोव ने मुझे बोग्दानोव के हेत्वाभास को समझाया, परन्तु वे यह नहीं मानते थे कि विचारों का यह भटकाव कोई खतरनाक रूप से गम्भीर चीज है। मुझे अच्छी तरह याद है कि सन् १९०३ की गर्मियों में प्लेखानोव और मैंने 'जार्या' सम्पादक मण्डल के प्रतिनिधि होने के नाते जेनेवा में 'यथार्थवादी विश्व-दृष्टि की रूप-रेखा'[६] नामक संगोष्ठी के सम्पादकों के एक प्रतिनिधि से बातचीत की। इस संगोष्ठी में हमने सहयोग देना स्वीकार किया था—मैंने कृषि-सम्बन्धी प्रश्न पर और प्लेखानोव ने माखवादी दर्शन के खण्डन पर। प्लेखानोव ने अपने सहयोग की यह शर्त रखी थी कि वह 'माख' के खिलाफ लिखेंगे। संगोष्ठी के प्रतिनिधि ने यह शर्त तुरन्त मान ली। प्लेखानोव उस समय बोग्दानोव को सुधारवादियों के विरुद्ध संघर्ष में अपना मित्र मानते थे—ऐसा मित्र जिसने पहले ओस्टवाल्ड का अनुसरण करने की गलती की और फिर 'माख' का।

१९०४ के ग्रीष्म और पतझड़ में बोग्दानोव और मैं बोल्शेविक के रूप में पूर्ण सहमति पर पहुँचे। हमने एक ऐसे गुट का निर्माण किया जिसमें दर्शन को एक तटस्थ क्षेत्र मान-कर छोड़ दिया गया। इस गुट का अस्तित्व पूरी क्रान्ति के दौरान रहा तथा उसने हमें उस क्रान्ति में क्रान्तिकारी 'सोशल-डेमोक्रेसी' (बोल्शेविज्म) की कार्यनीति को लागू करने में मदद दी, और मेरा दृढ़ विश्वास है कि एकमात्र सही कार्यनीति वही है।

क्रान्ति की सरगर्मी के दौरान दर्शन में उलझने का अवसर बहुत कम मिला। बोग्दानोव ने १९०६ के आरम्भ में जेल में दर्शन पर एक और लेख लिखा जो मेरे खयाल में अनुभव-वादी अद्वैतवाद का तीसरा भाग था। उसने १९०६ के ग्रीष्म में मुझे इसे भेंट किया और मैं तुरन्त उसे पढ़ने बैठ गया। इस लेख को पढ़ने के बाद मैं भड़क उठा। मुझे अब पहले से कहीं ज़्यादा साफ था कि वह एकदम गलत रास्ते पर था, वह मार्क्सवादी रास्ते पर नहीं था। उसके बाद मैंने उसे "प्रेम की घोषणा"—दर्शन के विषय में एक पत्र लिखा जिसने तीन नोट-बुकों का आकार ग्रहण कर लिया। मैंने उसे स्पष्ट करते हुए लिखा कि मैं दर्शन के क्षेत्र में केवल एक साधारण मार्क्सवादी हूँ। फिर यह लिखा कि तुम्हारी सुबोध, लोकप्रिय और भव्य ढंग से लिखित रचनाओं के कारण ही मुझे अंततः विश्वास हो गया कि तुम मूलतः गलत हो और प्लेखानोव सही है। मैंने इन नोट-बुकों को कुछ दोस्तों को दिखाया (जिनमें लूनाचार्स्की भी हैं) और "एक साधारण मार्क्सवादी की दर्शन-सम्बन्धी टिप्पणियाँ" शीर्षक से उन्हें छपाने का विचार किया, मगर यह हो नहीं पाया। अब मुझे खेद है कि मैं उन्हें उस समय प्रकाशित नहीं करवा सका। मैंने कुछ दिन पहले सेंट पीटर्सबुर्ग को लिखा था कि उन "नोट-बुकों"[७] को खोजकर मेरे पास भेज दो।

"मार्क्सवादी दर्शन सम्बन्धी अध्ययन" नामक पुस्तक अब निकल आई है। मैंने सुवारोव के निबन्ध को छोड़कर (जिसे इस समय पढ़ रहा हूँ) सभी निबन्ध पढ़ डाले हैं और प्रत्येक निबन्ध ने मेरे अंदर क्रोध को भड़काया। नहीं, नहीं, यह मार्क्सवाद नहीं है। हमारे अनुभववादी आलोचक, अनु-भववादी अद्वैतवादी और अनुभववादी प्रतीकवादी कीचड़ के दलदल में धँस रहे हैं। वे पाठकों को यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि बाह्य-जगत की वास्तविकता में "विश्वास" करना "रहस्यवाद" (बाजारोव) है। वे अत्यन्त शर्मनाक ढंग से भौतिकवाद और कांटवाद को गड्मड्ड कर देना चाहते हैं (बाजारोव और बोग्दानोव)। वे एक प्रकार से अज्ञेयवाद (अनुभववादी आलोचनावाद) और आदर्शवाद (अनुभववादी अद्वैतवाद) का उपदेश देते हैं। वे मजदूरों को "धार्मिक नास्तिकता", उच्चतर मानव संभावनाओं की "पूजा" की शिक्षा दे रहे हैं (लूनाचार्स्की)—वे घोषित करते हैं कि एंगेल्स का द्वन्द्ववाद का सिद्धान्त रहस्यवादी है (बेर-मान); वे फ्रांसीसी "विधेयवादियों" तथा अज्ञेयवादियों या अध्यात्मवादियों के "ज्ञान-विषयक प्रतीकवादी सिद्धान्त" के बदबूदार कुएं से पानी निकाल रहे हैं (मुश्केविच)। नहीं, यह सचमुच अति है। माना कि हम साधारण मार्क्सवादी लोग दर्शन के अधिक जानकार नहीं हैं, लेकिन, मार्क्सवादी दर्शन के नाम पर ऐसा कचरा परोसकर कोई हमारा अप-मान क्यों करे? ऐसी चीजों का उपदेश करने वाले किसी पत्र या संस्था के साथ सहयोग की स्वीकृति देने के बजाय मैं फाँसी पर लटकाया जाना, घसीटा जाना और टुकड़े-टुकड़े कर दिया जाना ज्यादा पसंद करूँगा।

"एक साधारण मार्क्सवादी की दर्शन सम्बन्धी टिप्प-णियाँ" में मेरी दिलचस्पी ताज़ा हो गई है तथा मैंने उसे लिखना शुरू कर दिया है। परन्तु "मार्क्सवादी दर्शन सम्बन्धी अध्ययन" पढ़ने के दौरान मुझ पर जो प्रभाव पड़ा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसे मैंने साफ-साफ लट्ठमार ढंग से ए० ए० को बता दिया है।

लेकिन तुम पूछोगे कि तुम्हारे लेख का इससे क्या सम्बन्ध है ? इसका सम्बन्ध इस रूप में है कि ठीक ऐसे समय जब बोल्शेविकों के आपसी मतभेद अधिक गहरे हो गए हैं तुमने प्रोलेतारी वाले अपने लेख में साफ-साफ एक प्रवृत्ति का प्रतिपादन शुरू कर दिया है। मुझे सचमुच यह पता नहीं है कि कुल मिलाकर तुम उसमें क्या करोगे। इसके अतिरिक्त मेरा विश्वास है कि एक कलाकार सभी प्रकार के दर्शन से अपने लिए उपयोगी तत्वों का चयन करता है। अन्त में मैं इस विचार से पूरी तरह सहमत हूँ कि जहाँ तक लिखने की कला का सवाल है उन मामलों में सबसे अच्छे निर्णायक तुम्हीं हो। अपने कलात्मक अनुभव और दर्शन से, यहाँ तक कि भाववादी दर्शन से भी, दोनों से इस प्रकार के विचारों को ग्रहण कर तुम ऐसे निष्कर्षों पर पहुँच सकते हो जो मजदूरों की पार्टी के लिए अत्यधिक लाभदायक हो सकते हैं। यह सब सच है फिर भी प्रोलेतारी को हमारे दार्शनिक मतभेदों से पूरी तरह तटस्थ रहना चाहिए तथा लेशमात्र के लिए भी पाठक को यह प्रतीत नहीं होने देना चाहिए कि बोल्शेविक, एक प्रवृत्ति के रूप में तथा रूसी सोशल-डेमोक्रेटों के क्रान्तिकारी दस्ते की एक कार्यनीतिपरक 'लाइन' के रूप में अनुभववादी-आलोचना या अनुभववादी-अद्वैतवाद से किसी तरह सम्बद्ध है।

तुम्हारे लेख को दुबारा पढ़ने के बाद जब मैंने ए० ए० को बताया कि मैं उसके प्रकाशन के विरुद्ध हूँ तो उसका चेहरा ऐसा काला हो गया जैसा अंधड़ ! सम्पादक मण्डल के बीच टूट का खतरा हवा में था। कल इस मामले पर विचार करने के लिए हमारे सम्पादकीय त्रिक की एक विशेष बैठक हुई। "न्यू जाइट" की ओर से एक बेहूदा चाल अप्रत्याशित रूप से हमारे बचाव के लिए आ गई। 'न्यू जाइट' के बीसवें अंक में किसी अज्ञात अनुवादक ने बोग्दानोव का 'माख' पर लिखा हुआ लेख प्रकाशित करा दिया तथा इसके साथ ही उसने अपनी टिप्पणी में यह भी उगल दिया कि प्लेखानोव और बोग्दानोव के बीच जो-जो मतभेद हैं उनमें रूसी 'सोशल डेमोक्रेसी' के अन्तर्गत के बोल्शेविकों और मेन्शेविकों के दलीय मतभेद में विकसित होने की प्रवृत्ति है। वह मूर्ख, चाहे स्त्रीहो या पुरुष, इस टिप्पणी को लिखकर हमें एकजुट करने में सफल हो गया। हम इस बात पर तुरन्त एकमत हो गए कि प्रोलेतारी के अगले ही अंक में हमारी तटस्थता की घोषणा अब नितांत आवश्यक है। 'मार्क्सवादी दर्शन सम्बन्धी अध्ययन' के प्रकाशित होने के बाद मेरा जो मानसिक ढाँचा बना था उसके यह सर्वथा अनुरूप ही था। एक वक्तव्य तैयार किया गया, और सर्व-सम्मति से स्वीकार हुआ तथा कल वह प्रोलेतारी के २१वें अंक में प्रकाशित होगा जिसे मैं तुम्हारे पास भिजवा दूँगा।

जहाँ तक तुम्हारे लेख का सम्बन्ध है, तय हुआ है कि मामला स्थगित कर दिया जाय तथा प्रोलेतारी के तीनों सम्पादकों की ओर से अलग-अलग पत्र द्वारा तुम्हें सारी स्थिति स्पष्ट कर दी जाय और मैं तथा बोग्दानोव तुम से जल्द मिलें।

और इस तरह तुम एक पत्र ए० ए० से और एक पत्र तीसरे सम्पादक से प्राप्त करोगे जिसके बारे में मैंने तुम्हें पहले लिखा था।

मैं यह जरूरी समझता हूँ कि तुम्हें अपना मत बिल्कुल स्पष्टता के साथ बता दूँ। मैं बोल्शेविकों के बीच दर्शन के प्रश्नों पर किसी-न-किसी प्रकार का विवाद अपरिहार्य मानता हूँ। किन्तु इस पर पार्टी की टूट मूर्खता होगी। हमने एक गुट का निर्माण किया है तो मजदूरों की पार्टी में निश्चित कार्यनीतियों के अपनाए जाने की सिद्धि के लिए। हम अभी तक इन कार्यनीतियों को बिना असहमति के निरन्तर लागू करते रहे हैं (केवल एक मतभेद "तीसरा दूमा" के बहिष्कार के सम्बन्ध में हुआ, परन्तु एक तो वह इतना मामूली था कि उससे बोल्शेविकों में टूट के लिए कोई खतरा नहीं पैदा हुआ, दूसरे वह माखवादियों और भौतिकवादियों के बीच के मतभेद के समानान्तर नहीं था क्योंकि उदाहरण के लिए बहिष्कार का विरोध करने में माखवादी बाजारोव मेरे साथ था और उसने इस प्रश्न पर प्रोलेतारी में एक लम्बा लेख लिखा)।

भौतिकवाद या माखवाद के प्रश्न पर उठे विवाद के नाम पर मजदूरों की पार्टी के अंदर क्रान्तिकारी सोशल डेमोक्रेसी की कार्यनीति को लागू करने के रास्ते में बाधा देना मेरी राय में, अक्षम्य मूर्खता होगी। हमें दर्शन पर विवाद इस तरीके से करना चाहिए कि प्रोलेतारी और पार्टी के एक गुट के रूप में बोल्शेविक किसी भी तरह इससे प्रभावित न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हों। और यह बिल्कुल सम्भव है।

और मैं समझता हूँ कि तुम्हें इस काम में मदद करनी चाहिए। तुम मदद कर सकते हो प्रोलेतारी के लिए लिखकर—साहित्यिक समीक्षा, प्रचारात्मक लेख, ललित साहित्य आदि तटस्थ प्रश्नों पर (जिनका दर्शन से सीधा सम्बन्ध नहीं हो)। यदि तुम पार्टी को टूटने से बचाना चाहते हो और नये संघर्ष को सीमित करने में मदद देना चाहते हो तो अपने लेख को दुबारा लिखो और उन सभी बातों को कहीं अन्यत्र स्थान दो जिनका बोग्दानोव के दर्शन से परोक्षतः भी सम्बन्ध हो। खुदा का शुक्र है कि तुम्हारे पास प्रोलेतारी के अतिरिक्त दूसरे माध्यम भी हैं। वे सब बातें जिनका बोग्दानोव के दर्शन से सम्बन्ध नहीं है—और तुम्हारे लेख का अधिकांश इस दर्शन से सम्बद्ध नहीं है—तुम लेखमाला के रूप में प्रोलेतारी में प्रकाशित करा सकते हो। तुम्हारी ओर से अन्य कोई भी रवैया—लेख को दुबारा लिखने से इन्कार अथवा प्रोलेतारी के साथ असहयोग—मेरी दृष्टि से अनिवार्यतः बोल्शेविकों के आपसी झगड़े को गहरा करेगा; वह नये संघर्ष के परिसीमन को मुश्किल बनाएगा और उस महान् लक्ष्य को कमजोर करेगा जो व्यावहारिक और राजनीतिक दोनों दृष्टियों से रूस में क्रान्तिकारी सोशल डेमोक्रेसी के लिए बुनियादी है।

मेरा अभिमत यही है। मैंने तुम्हें अपने सारे विचार बता दिए हैं और अब तुम्हारे उत्तर की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

आज हम तुम्हारे पास आना चाहते थे परन्तु मालूम हुआ कि कम-से-कम एक सप्ताह के लिए हमें यह यात्रा स्थगित करनी पड़ेगी—शायद दो या तीन सप्ताह।

तुम्हारा

एन० लेनिन

(जेनेवा से काप्री (इटली) द्वीप को भेजा गया, प्रथम प्रकाशन १९२४ में, लेनिन विविध-१ में; लेनिन ग्रंथावली, जिल्द-१३, पृ० ४४८-५४)।

अनुवादक : प्रतापसिंह नेगी

टिप्पणियाँ

१. लेख का नाम "डिस्ट्रक्शन ऑफ दि पर्सनेलिटी (व्यक्तित्व का विघटन) है जिसे गोर्की क्रमशः प्रोलेतारी में प्रकाशित करवाना चाहते थे। यह लेख पहली बार "समूहवादी दर्शन सम्बन्धी निबन्ध" में १९०८ में प्रकाशित हुआ।

२. लेनिन का संकेत वी०वाजारोव, वाई० बेरमान, ए०लूनाचार्स्की, पी० पुरकेविच, ए० बोग्दानोव, आइ० गेलफोंद और एस० सुबोरोव के निबन्धों की ओर है जो एक संग्रह रूप में "मार्क्सवादी दर्शन सम्बन्धी अध्ययन" नाम से १९०८ में प्रकाशित हुए।

३. जार्या (प्रभात)—एक मार्क्सवादी वैज्ञानिक और राजनीतिक पत्रिका जो कानूनी तौर से १९०१ और १९०२ में स्टुटगार्ट में 'इस्क्रा' सम्पादक मण्डल द्वारा प्रकाशित की गई। तीन पुस्तकों के आकार में इसके चार अंक निकले। 'जार्या' में अन्तर्राष्ट्रीय और रूसी संशोधनवादियों ('कानूनी मार्क्सवादी' और 'अर्थवादी') की आलोचना की और मार्क्सवाद के मूलभूत सिद्धांतों का समर्थन किया।

४. यहाँ लेनिन का संकेत अपनी पुस्तक "एक कदम आगे और दो कदम पीछे" की ओर है।

५. यहाँ बोग्दानोव की पुस्तक 'इम्पीरिओ-मोनिज्म' की ओर संकेत है जो १९०५ में प्रकाशित हुई।

६. एक निबन्ध संग्रह, जिसमें ए० लूनाचार्स्की, वी० बाजारोव, वी० फ्रिच आदि के लेख छपे थे। प्लेखानोव और लेनिन के लेख इसमें सम्मिलित नहीं किए गए।

७. 'नोट-बुक्स'—'एक साधारण मार्क्सवादी की दार्शनिक टिप्पणियाँ' अप्राप्य है।

८. उस समय लेनिन 'अनुभववादी आलोचना' का लेखन आरम्भ कर रहे थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेनिन की एक समीक्षा

एक दक्षतापूर्वक लिखी गई छोटी पुस्तक

क्रान्ति की पीठ में एक दर्जन छुरे, पेरिस, १९२१

इस छोटे-से कहानी-संकलन का लेखक श्वेत प्रवासी अर्कादी एवर्चेंको है जिसका गुस्सा बोखलाहट की हद तक पहुंच चुका है। यह तथ्य दिलचस्प है कि इस अत्यंत दक्षता से लिखी हुई पुस्तक में लेखक की उबलती हुई नफरत उसकी अद्‌भुत शक्ति भी है और अद्‌भुत दुर्बलता भी। लेखक ने जहां अपरिचित विषयों को कहानियों के लिए चुना है, वे कलाहीन हो गई हैं। उदाहरण के लिए वह कहानी, जिसमें लेनिन और त्रात्स्की के घरेलू जीवन का चित्रण है। प्रिय नागरिक एवर्चेंको, उसमें विद्वेष ही ज्यादा है, सचाई नहीं। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि लेनिन और त्रात्स्की में, अपने घरेलू जीवन के साथ-साथ और सभी मामलों में अनेक दोष हैं। लेकिन उनका कौशलपूर्वक वर्णन करने के लिए यह जानना जरूरी है कि वे हैं क्या। और यह आप नहीं जानते।

लेकिन इस पुस्तक में अनेक कहानियों के विषय ऐसे हैं जिनसे अर्कादी एवर्चेंको अच्छी तरह परिचित है, जिनका उसने अनुभव किया है, जिन पर उसने विचार किया है और जिन्हें भोगा भी है। उसने जमींदारों और पूंजीपतियों के पुराने, समृद्ध, खब्बू और चटोर रूस के प्रतिनिधियों की मानसिक स्थितियों का चित्रण अद्‌भुत कौशल के साथ किया है। शासक वर्गों के प्रतिनिधियों की दृष्टि में क्रान्ति की तस्वीर एकदम यही हो सकती थी। एवर्चेंको के उबलते हुए गुस्से के कारण कुछ—बल्कि अधिकांश—कहानियां आश्चर्यजनक रूप में सजीव बन पड़ी हैं। कुछ तो निश्चय ही शानदार कहानियां हैं, जैसे 'बूटों द्वारा कुचली हुई घास', जिसमें उन बच्चों का मनोविज्ञान चित्रित है जो गृहयुद्ध के दौर से गुजर रहे हैं।

लेकिन लेखक की अनुभूति की वास्तविक गहराई उस समय व्यक्त होती है जब वह यह वर्णन करता है कि पुराने रूस में धनी लोग पेत्रोग्राद में—नहीं, पेत्रोग्राद में नहीं, बल्कि सेंट पीटर्सबुर्ग में—किस प्रकार साढ़े चौदह या पचास रूबल में नाश्ता करते थे। इन सबका वर्णन वह सचमुच ही वासनोत्तेजक शब्दों में करता है। इन चीजों को वह अच्छी तरह जानता है; इन चीजों का उसने अनुभव किया है; यहां वह कोई गलती नहीं करता। विषय के बारे में उसका ज्ञान और उसकी ईमानदारी—दोनों ही अत्यंत असाधारण हैं।

अन्तिम कहानी 'एक ध्वस्त संसार के टुकड़े' में, क्रीमिया के अन्तर्गत सेवास्तोपोल में एक ऐसे भूतपूर्व सिनेटर का चित्रण है जो "धनी, उदार और अच्छे संबंधों वाला" था, लेकिन "अब वह एक बारूदखाने में दैनिक मजदूर की हैसियत से कारतूस उतारने और छांटने का काम कर रहा है"; और फिर एक भूतपूर्व डाइरेक्टर का चित्रण है जो ऐसे "इस्पात के विशाल कारखाने" से संबद्ध था "जो विबोर्ग जिले में सबसे बड़ा समझा जाता था।" लेकिन "अब वह पुराने सामानों की एक दुकान पर सेल्समैन है और हाल ही में उसने महिलाओं के बिक्री योग्य पुराने कोटों और बच्चों के प्लश (रोएँदार खाल के बने), खिलौना भालुओं की कीमत आँकने का कुछ हुनर सीख लिया है।"

ये दोनों बूढ़े खूसट पुराने भले दिनों की याद करते हैं—सेंट पीटर्सबुर्ग के सूर्यास्त, सड़कें, नाटकघर, और हाँ, "भेद-वेद", "विएना", "माली यारोस्लावेत्स" तथा ऐसे ही अन्य रेस्त्राओं के भोजन! उनके संस्मरण बीच-बीच में इन चीत्कारों से टूट जाते हैं: "हमने ऐसा क्या किया जिससे हमारा यह हश्र हुआ! किसी के रास्ते में हम कहाँ से आते थे? किसको हमने बाधा दी?···उन्होंने रूस की क्या गत कर दी है?"···

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्कादी एवर्चेंको उन लोगों में नहीं हैं जो यह समझ सकें कि ऐसा क्यों है। हालाँकि मजदूर और किसान इस बात को काफी आसानी ने समझते प्रतीत होते हैं और उन्हें किसी स्पष्टीकरण की जरूरत नहीं है।

मेरी राय में, कुछ कहानियाँ पुनर्मुद्रित करने लायक हैं। प्रतिभा को प्रोत्साहन मिलना ही चाहिए। ●

प्रावदा संख्या २६३
नवम्बर २२, १९२१
इस्ताह्र : न. लेनिन
लेनिन ग्रंथावली
जिल्द ३३, पृष्ठ १२५-२६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काडवेल और साहित्य की सामाजिक वृत्ति

डेविड एन० मार्गोलीज़

: १ :

क्रिस्टोफर काडवेल को जार्ज थामसन ने 'सौन्दर्यशास्त्र की आधारभूत समस्याओं के मार्क्सवादी समाधान के प्रथम प्रयास'[१] का श्रेय दिया है, और अपनी मृत्यु के तीन वर्ष बाद काडवेल सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग्रेज मार्क्सवादी आलोचक के रूप में स्वीकार कर लिए गये हैं। उन्होंने संस्कृति के विशाल क्षेत्रों का मार्क्सवादी विश्लेषण किया था। सम्भवतः वे पहले आलोचक थे जिन्होंने कला पर पूर्णतः सामाजिक और पूर्णतः मार्क्सवादी दृष्टिकोण से विचार किया और मनुष्य के जीवन में कला के कार्य की खोज की।

फिर भी, महत्वपूर्ण होने के बावजूद, काडवेल सामान्यतः उपेक्षित रहे हैं। कभी-कभी उनके नाम का उल्लेख कर दिया जाता है, कभी-कभी संकलनों में उनकी लिखी हुई चीज़ें दिखलाई पड़ जाती हैं, उनकी कुछ रचनाएँ पुनर्मुद्रित भी की जाती हैं, किन्तु, थोड़े से एकेडेमिक निबन्धों को छोड़कर उनकी कृतियों का गम्भीर अध्ययन नहीं किया गया है और पाठकों तक तो वह और भी कम पहुँच सका। कभी-कभार लेख दिखलाई पड़े हैं, किन्तु इन लेखों की सार्थकता सन्दिग्ध है। 'द आर्म्ड विज़न' नामक पुस्तक में मार्क्सवादी आलोचना से सम्बन्धित अध्याय के अन्तर्गत स्टैनली एडगर हाइमन ने काडवेल के विषय में विस्तारपूर्वक लिखा है। हाइमन का यह अंश उपयोगी होते हुए भी आलोचनात्मक नहीं है। उसमें गुण कथन और व्यक्तिगत प्रशंसा का भाव अधिक है। १९५०-५१ ई० में 'द माडर्न क्वार्टर्ली' में काडवेल पर एक लंबी बहस छपी थी। एक मार्क्सवादी आलोचक के विषय में अंग्रेजी मार्क्सवादियों की यह बहस सार्थक होनी चाहिए थी, किन्तु इससे काडवेल को समझने में बहुत कम सहायता मिली (इनमें शरीक कुछ लोगों को तो आज यह बहस धर्म-संकट में डाल देगी)। काडवेल की रचनाओं की दृष्टि से यह बहस बहुत-कुछ अप्रासंगिक थी। काडवेल का योगदान मार्क्सवादी आलोचना को क्या है, इस विषय पर बहस से कोई प्रकाश नहीं पड़ा। केवल भावनाएँ उत्तेजित की गईं। काडवेल-विवाद में शामिल होते हुए एलिक वेस्ट ने लिखा था कि आलोचकों ने आक्रमण काडवेल की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि पर ही किया। सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि यह थी : "उन्होंने बताया कि कविता उस सिद्धान्त और व्यवहार का अंश है जिससे मानव समझता और निर्णय करता है कि उसकी इच्छाएँ वास्तविकता में कैसे बदली जा सकती हैं? क्या ज़रूर होना चाहिए और क्या हो सकता है।" वेस्ट ने आगे यह कहा कि काडवेल की रचनाओं की माँग है कि उनका आलोचनात्मक जायजा लिया जाए, लेकिन यह जायज़ा उस जगह से नहीं शुरू होना चाहिए, जिसे काडवेल पीछे छोड़ आए हैं।"[२] इस तरह का जायज़ा देखने में नहीं आ रहा है—काडवेल के सिद्धान्तों की सम्यक् समीक्षा बहुत पहले हो जानी चाहिए थी।

काडवेल की कृतियों में, प्रातिभ अंतर्दृष्टि के बावजूद, उस व्यवस्था का अभाव है जिसे हम आज के विद्वत्तापूर्ण लेखन में देखने के अभ्यस्त हैं। यद्यपि वे मार्क्सवादी आलोचकों में सबसे अधिक विचारदायक हैं, लेकिन इस 'विचारदायकता' के जो खतरे होते हैं, वे भी काडवेल के यहाँ मौजूद हैं। जे० बी० एस० हाल्डेन ने उनकी रचनाओं को 'विचारों की खान' कहा है। यह खान बहुत मूल्यवान हो सकती है, लेकिन इस उपमा में काडवेल की रचनाओं के पाठकों की परेशानियाँ भी स्पष्ट हैं। काडवेल को 'अशिक्षित' किसी तरह नहीं कहा जा सकता; लेकिन यह सत्य है कि काडवेल को विश्वविद्यालय का औपचारिक प्रशिक्षण नहीं मिला था, शायद इसीलिए कहीं-कहीं उनकी रचनाओं में बौद्धिक संयम का मोहक अभाव दिखलाई पड़ता है और वे एक रूप से दूसरे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप और निष्कर्षों तक छलांगते जाते हैं। इसे युवकोचित अतियों के अन्तर्गत भी रखा जा सकता है। 'परिपक्व विद्वान' जैसा विश्लेषण उन्हें नहीं फबता। थामसन का कहना ठीक है कि काडवेल ने मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र की आधारशिला रखी लेकिन उन्होंने मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र को सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत नहीं किया, वह अभी 'खान' के रूप में ही है। लेकिन सुव्यवस्थित न होते हुए भी काडवेल का कृतित्व अंग्रेजी भाषा में किया गया मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र का सर्वाधिक आधारभूत योगदान है।

मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के प्रति काडवेल के योगदान की चर्चा शुरू करते ही सवाल उठता है कि 'मार्क्सवादी सौन्दर्य-शास्त्र क्या है?' मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र की कोई स्वीकृत या स्थापित परिभाषा नहीं है। परिभाषा के अभाव का परिणाम यह हुआ कि ऐसे आलोचकों को भी भ्रमवश मार्क्स-वादी आलोचक कहा गया है जिन्होंने (१) कुछ अंशों में ही मार्क्सवाद को अपने लेखन का आधार बनाया है या (२) जिनके लेखन का मार्क्सवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है। परि-भाषा के अभाव में इस प्रकार की तथाकथित मार्क्सवादी आलोचना अर्थहीन हो जाती है। उदाहरण के लिए जार्ज वाट्सन अपनी पुस्तक 'द लिटररी क्रिटिक्स' में मज़े से अपनी लापरवाह अज्ञानता का परिचय देते हुए कहते हैं कि मार्क्स-वादी परम्परा का अधिकांश मार्क्सवाद-विरोधी है; वे लॉए-नल ट्रिलिंग तक को मार्क्सवादी आलोचकों में गिनते हैं। निश्चय ही, मार्क्सवादी आलोचना पर सार्थक बहस तभी हो सकती है, जब इसके कतिपय संघटक सिद्धान्तों को स्पष्ट कर दिया जाए।

यह ठीक है कि मार्क्स और एंगेल्स की रचनाएँ सौन्दर्य-शास्त्र का सुव्यवस्थित निर्माण नहीं करतीं, (जैसा कि अरस्तू का 'काव्यशास्त्र' करता है)। लेकिन वे निश्चय ही एक ऐसी पद्धति प्रदान करती हैं जो सौन्दर्यशास्त्र (?) का आधार बन सकती है। यहाँ सौन्दर्य का प्रयोग केवल 'सुन्दर' नहीं बल्कि व्यापक कला सिद्धान्त के अर्थ में किया जा रहा है। मार्क्स और एंगेल्स ने सौन्दर्य-शास्त्रीय प्रश्नों पर कुछ खास सम्मतियाँ और निर्णय दिए हैं, इसके साथ ही उन्होंने अपने विपुल लेखन में जगत् के प्रति अपना दृष्टिकोण और अपनी सामान्य पद्धति भी व्यक्त की है। हमें इन दोनों को एक नहीं मान लेना चाहिए। कलाओं पर दी गई उनकी टिप्पणियाँ विचक्षण उक्तियों से अधिक नहीं हैं, ये वक्तव्य विशिष्ट संदर्भों में दिये गए हैं, इनका सामान्यीकरण करके किसी सौन्दर्य सिद्धान्त का निर्माण नहीं किया जा सकता। जगत् सम्बन्धी उनका दृष्टिकोण कलाओं के स्थान और उनके महत्व के प्रति उनके विचारों का संकेत देता है, और उनकी पद्धति उस मार्ग की ओर इंगित करती है जिस पर चलकर सौन्दर्य के प्रश्नों का उत्तर दिया जा सकता है। मार्क्स और एंगेल्स ने सौन्दर्य के प्रश्नों पर विचार करने के लिए अपने सिद्धान्तों का व्यवस्थित व्यावहारिक पक्ष नहीं प्रस्तुत किया। लेकिन मार्क्स ने यह इच्छा अवश्य व्यक्त की थी कि वह आर्थिक समस्याओं पर लिख चुकने के बाद बाल्ज़ाक पर पुस्तक लिखेंगे। इससे ज़ाहिर है कि मार्क्स का विश्वास था कि उसके सिद्धान्तों का व्यवहार सौन्दर्य के क्षेत्र में किया जा सकता है। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में मार्क्सवादी सौन्दर्य-शास्त्र का अर्थ मार्क्स और एंगेल्स के साहित्यिक निष्कर्षों की प्रतिध्वनि मात्र नहीं है। इस सौन्दर्यशास्त्र को सार्थक होना है तो उसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर आधारित होना पड़ेगा।

सौन्दर्यशास्त्र की सामान्य समस्याओं को हल करने का रास्ता बताने के साथ-साथ मार्क्स ने कुछ ऐसे वक्तव्य दिए जिनको कला के क्षेत्र में सीधे लागू किया जा सकता है। इनमें से निम्नलिखित वक्तव्य सर्वाधिक प्रसिद्ध और आधारभूत है। मार्क्सवादी आलोचक को इससे तत्काल कलाओं का सामाजिक दृष्टिकोण प्राप्त होता है; वह समझ लेता है कि चेतना का एक रूप होने के नाते कलाओं का जीवन से सुनिश्चित सम्बन्ध है।

"अपने जीवन के सामाजिक उत्पादन में मनुष्य ऐसे निश्चित सम्बन्धों में बँधते हैं जो अपरिहार्य एवं उनकी इच्छा से स्वतंत्र होते हैं। उत्पादन के ये सम्बन्ध उत्पादन की भौतिक शक्तियों के विकास की एक निश्चित मंजिल के अनुरूप होते हैं। इन उत्पादन सम्बन्धों का पूर्ण समाहार ही समाज का आर्थिक ढाँचा है—वह असली बुनियाद है, जिस पर कानून और राजनीति का ऊपरी ढाँचा खड़ा हो जाता है और जिसके अनुकूल ही सामाजिक चेतना के निश्चित रूप होते हैं। भौतिक जीवन की उत्पादन पद्धति जीवन की आम सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक प्रक्रिया को निर्धारित करती है। मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती, बल्कि उल्टे—उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चेतना को निर्धारित करता है।"[3]

लेकिन यह मान्यता कि "सामाजिक सत्ता चेतना को निर्धारित करती है" स्वयं कोई सौंदर्यशास्त्रीय मान्यता नहीं है। यह सिर्फ एक शुरुआत है। काडवेल चूंकि मार्क्सवादी ढंग पर सचेत रूप से एक सौंदर्यशास्त्र को निर्मित करने का प्रयास कर रहे थे, इसलिए उनके अध्ययन से "सामाजिक सत्ता द्वारा चेतना के निर्धारण" सम्बन्धी मान्यता से निस्सृत होने वाले कुछ सिद्धान्तों को स्पष्ट होना चाहिए।

'साहित्य का कार्य' नामक सिद्धान्त के ज़रिए काडवेल ने मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र में विशिष्ट योगदान किया है। काडवेल ने साहित्य के अस्तित्व की साग्रह घोषणा और फिर विभिन्न प्रकारों के साहित्य की परीक्षा को ही पर्याप्त नहीं समझा। काडवेल का ध्यान इस बात पर भी गया कि साहित्य का अस्तित्व है तो उसके अस्तित्व का कारण है। साहित्य का अस्तित्व है तो उसकी कुछ सामाजिक सार्थकता भी होगी। अगरचे उसने चेतना के सामाजिक निर्धारण के विचार को पूर्णतः स्वीकार कर लिया लेकिन इस निर्धारण की प्रक्रिया को मान लेने से ही साहित्य के अस्तित्व के कारण समझ में नहीं आ सकते थे। इससे यह तो समझ में आ सकता है कि विभिन्न समाजों में विभिन्न प्रकार का साहित्य क्यों लिखा जाता है लेकिन यह नहीं खुलता कि सामान्यतः साहित्य और कला के अस्तित्व का कारण क्या है? काडवेल ने इस समस्या का समाधान साहित्य के पूर्ण सामाजिक दृष्टि-कोण को अपनाकर खोजा। यह उनकी केवल व्यक्तिगत बौद्धिक उपलब्धि नहीं थी, मार्क्सवादी आलोचक के रूप में भी उनकी यह महान् शक्ति थी। उन्होंने साहित्य की परीक्षा केवल कुछ रचनाओं तक ही सीमित रहकर नहीं, मानव जीवन की सम्पूर्णता को ध्यान में रखकर की। उन्होंने साहित्य को, समाज की छाया के रूप में नहीं, समाज के अन्दर रखकर देखा-परखा।

कला अपना कार्य व्यक्तियों के माध्यम से करती है और व्यक्तियों के लिए उसका कार्य व्यक्तियों की हैसियत से ही सम्पन्न होता है, लेकिन काडवेल के अनुसार साहित्य का सामाजिक कार्य तभी स्पष्ट होता है, जब हम समग्र समाज की दृष्टि से उस पर विचार करते हैं।

इस सामाजिक कार्य के सिद्धान्त तक पहुँचने के लिए काडवेल के साहित्य को पूरी तरह द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोण से परखना पड़ा। उन्होंने साहित्य को 'स्थिर' कृतियों के रूप में नहीं, प्रक्रिया के रूप में देखा। साहित्य और समाज की सत्ता द्वन्द्वात्मक एकत्व पर आधारित है। अतः केवल सामाजिक सत्ता साहित्य का निर्धारण नहीं करती, साहित्य भी समाज को प्रभावित करता है। उन्होंने साहित्य की परीक्षा जीवन-चर्या, समाज के, जीवन के सन्दर्भ में की और पाया कि अन्य सामाजिक उत्पादनों की भाँति साहित्य भी कुछ करता है—मनुष्य के जीवन में साहित्य का भी एक कार्य है।

यह ठीक है कि साहित्य की कार्य-परकता के आग्रहशील आलोचक अकेले काडवेल नहीं हैं। लेकिन वे ऐसे अकेले आलोचक अवश्य हैं जिसने सामाजिक कार्य के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है। सामाजिक कार्य के सिद्धान्त के अनुसार साहित्य का कार्य-क्षेत्र पूरा समाज है, उस समाज के संघटक अलग-अलग व्यक्ति मात्र नहीं। (सामाजिक कार्य व्यक्तियों पर पड़ने वाले प्रभावों के कुल योग से भिन्न है, यह कार्य समग्र समाज या वर्ग के हित में है।) ऐसे आलोचक हुए हैं जिन्होंने इस बात पर बल दिया है कि साहित्य सामाजिक दृष्टि से कार्यपरक (फंक्शनल) होता है, लेकिन वे इस कार्य का कोई उद्देश्य नहीं समझ पाए थे। यह कहना कि 'साहित्य कुछ करता है' नाकाफी है। साहित्य के कार्य की दिशा को भी समझने की ज़रूरत है। काडवेल के अनुसार साहित्य की क्रियात्मकता का उद्देश्य मनुष्य की स्वतंत्रता का विस्तार है। जिस साहित्य का कार्य उचित है, वह मनुष्य और समाज की स्वतंत्रता का विस्तार करता है; जो साहित्य स्वतंत्रता का विस्तार नहीं करता, उसका कार्य उचित नहीं है, या फिर ऐसा साहित्य अधम है।

काडवेल द्वारा प्रतिपादित 'सामाजिक कार्य का सिद्धान्त' मार्क्सवादी आलोचना के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सम्भवतः इस कार्य की समझ की कमी के कारण मार्क्सवादी आलोचकों की प्रगति अवरुद्ध रही है। साहित्य की 'प्रगति-शीलता' जैसे सवाल मार्क्सवादी आलोचकों को कई बार धर्म संकट में डालने वाले साबित हुए हैं। कारण यह है कि इस बात पर तो वे बल देते हैं कि अच्छा साहित्य प्रगतिशील होता है—जो ठीक भी हो सकता है। लेकिन वे यह नहीं समझा सकते कि अच्छा साहित्य प्रगतिशील क्यों होता है। कभी-कभी इसके कारण सिद्धान्त और अभिरुचि के बीच बेतुका विरोध दिखलाई पड़ता है जिससे डी० एच० लारेन्स

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसे लेखकों की प्रतिक्रियावादी राजनीतिक दृष्टिकोण के कारण आलोचक निन्दा करते हैं, लेकिन उनकी साहित्यिक महत्ता के कायल होते हैं। अक्सर इन अंतर्विरोधों को कृत्रिम रूप में सुलझाने के लिए यह आग्रह किया गया है कि वे लेखक अच्छे हो ही नहीं सकते। इस आग्रह का आधार यह दूषित हेत्वानुमान है: अच्छा साहित्य प्रगतिशील होता है; डी० एच० लारेन्स प्रतिक्रियावादी है; इसलिए डी० एच० लारेन्स अच्छा लेखक नहीं है। (मार्क्सवादी आलोचकों ने बाल्ज़ाक की जो प्रशंसा की है उसे उपर्युक्त अन्तर्विरोध के सफल शमन के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, लेकिन वह शमन से अधिक टालू ढंग है। बाल्जाक के विषय में सामान्य राय यह है कि उसकी रचनाएँ प्रगतिशील थीं और वह इतना महान लेखक था कि अपनी रचनाओं में वह अपनी प्रतिक्रियावादी निजी स्थिति से ऊपर उठकर प्रगतिशील रचनाएँ कर गया; जबकि लारेंस के व्यक्ति और कृतित्व दोनों ही प्रतिक्रियावादी समझे जाते हैं।) अभिरुचि और मूल्यांकन के इस अंतर्विरोध से सिद्धान्त को आलोकित करने में सहायता मिलनी चाहिए थी। लेकिन प्रायः देखा गया है कि इससे हठधर्मी ही बढ़ी है तथा मार्क्सवादी आलोचक और भी अलग जा कटे हैं। कभी-कभी ऐसे अन्तर्विरोधों की उपेक्षा कर दी जाती है और आलोचक साफ-साफ (और कभी-कभी सतही तौर पर) केवल प्रगतिशील लेखकों के विषय में ही लिखते हैं। ऐसे आलोचक शेक्सपियर की तारीफ में लिखते हैं कि वह जानता था कि पैसा समाज को कितना भ्रष्ट करता है, उसका दृष्टिकोण मेहनतकशों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण था। साहित्य का कार्य समझ लिया जाए तो आलोचना कार्य की ऐसी कठिनाइयाँ दूर की जा सकती हैं।

कार्यपरक आलोचना एकमात्र मार्क्सवादी आलोचना नहीं है। उदाहरण के लिए लूकाच कार्यपरकतावादी आलोचक नहीं हैं, लेकिन फिर भी वह महान् मार्क्सवादी आलोचक है। लेकिन कई दृष्टियों से, कार्यपरकतावादी आलोचना सर्वाधिक विशिष्टतया मार्क्सवादी आलोचना है, क्योंकि यह विशेष समीक्षाओं के द्वारा आलोचना की ओर अग्रसर होने की अपेक्षा समाज की पूर्ण अवधारणा प्रकट करती है, समूचे साहित्य पर, विचार करती है, सीधे समाज के साथ साहित्य के सम्बन्धों पर विचार करती है। मार्क्सवाद—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद—सामाजिक गति पर विचार करता है और साहित्य के विषय में कार्यपरक की दृष्टि से विचार करने वाली किसी अन्य पद्धति की अपेक्षा द्वन्द्वात्मक दृष्टि से इस गति पर विचार कर सकते हैं। मैं कार्यपरक से इतर मार्क्सवादी पद्धतियों का महत्व कम नहीं करना चाहता। लेकिन मुझे कहना पड़ेगा कि मैं इस कार्यपरक दृष्टि को अधिक पसन्द करता हूं क्योंकि इससे पता चलता है कि कला के क्षेत्र में मार्क्सवाद का उपयोग करके मार्क्सवादी आलोचना का विकास कैसे किया जा सकता है।

आलोचना, मार्क्सवादी हो या नहीं, रसग्राहिता पर निर्भर है। यदि साहित्य की मार्क्सवादी आलोचना को अच्छी आलोचना होना है तो उसे साहित्य को साहित्य के रूप में देखना पड़ेगा। साहित्य को समाजशास्त्र समझने से काम नहीं चलेगा। काडवेल का मत था कि साहित्य **साहित्य** के रूप में ही मनुष्य जीवन में अपना कार्य करता है, इसके लिए उसे समाजशास्त्र नहीं बनना पड़ता। काडवेल मार्क्सवाद को अच्छी तरह समझने के साथ-साथ साहित्य के प्रति अत्यन्त संवेदनशील थे, इसीलिए वे साहित्य के सामाजिक कार्य के सिद्धान्त को प्रतिपादित कर सके।

काडवेल का अध्ययन करते समय कठिनाइयों के पुंज का सामना करना पड़ता है। ऐसी कठिनाइयों को पुंज शायद ही किसी दूसरे लेखक का अध्ययन करते समय सामने आए। सबसे पहली कठिनाई है काडवेल का भीषण लेखन। अस्पष्ट होने के अलावा काडवेल के गद्य में सर्वत्र व्यवस्था का अभाव भी है, यहाँ तक कि उनके अनुच्छेदों में भी अव्यवस्था है। इसके कारण उनके लेखन में अनावश्यक दुरूहता आ गई है। कई स्थलों पर काडवेल अपने विचारों को स्पष्टतापूर्वक प्रकट नहीं करते, कभी-कभी वह ऐसे अन्तर्विरोधों को सामने लाते हैं जिनका शमन वह नहीं करते (अगरचे पाठक आमतौर पर इनका शमन पुस्तक के अन्य भागों के आधार पर कर सकता है)। काडवेल शब्द-क्रीड़ा के प्रेमी हैं, इससे रोचकता तो पैदा होती है, लेकिन अक्सर निरर्थक विरोधी युग्मों और अर्थशून्य वक्तव्यों की भी सृष्टि होती है। यह शब्द-क्रीड़ा बहुत कुछ मार्क्स से मिलती-जुलती है, लेकिन काडवेल के यहाँ ज्यादातर इसके कारण तर्क धुंधले और परिणाम अर्थहीन हो जाते हैं। संक्षेप में, काडवेल के कथ्यों को प्रतिपादित कर पाना सम्भव होने पर भी अत्यन्त दुष्कर है। काडवेल की रचनाओं को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पढ़ने पर साफ़ पता चल जाता है कि यह जल्दबाजी का कृतित्व है। तो भी हमें यह नहीं समझना चाहिए कि काडवेल अपने मन्तव्यों को प्रकट नहीं कर सके हैं या उन्होंने पहले से ही स्थापित अवधारणाओं का पिष्टपेषण किया है। काडवेल क्रान्तिकारी चिन्तक हैं। हम काडवेल को तब तक नहीं समझ सकते जब तक हम उनके विचारों पर अपने विचारों को लादने के बजाय स्वयं उनके सन्देश को ग्रहण नहीं करते।

काडवेल की दुरूहता का एक कारण यह भी है कि उन्होंने अपनी महत्वपूर्ण कृतियों की रचना लगभग दो वर्षों के ही स्वल्प समय में की। इसी दौरान उनका चिन्तन भी प्रौढ़ हुआ। अतः उनके विचारों के विकास को हम 'काल' के सन्दर्भ में नहीं देख सकते। हम प्रकाशन-तिथि के आधार पर उनकी रचनाओं का क्रम भी नहीं निर्धारित कर सकते, क्योंकि उनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचनाएँ मरणोपरान्त प्रकाशित हुईं। स्वयं रचनाओं के ही भीतर से हम काडवेल की कुछ मार्क्सवादी अवधारणाओं का विकास देख सकते हैं। इस विकास-रेखा से हमें उनकी रचनाओं का क्रम निर्धारित करने में कुछ सहायता मिलती है। अन्तःसाक्ष्य तथा अप्रकाशित पाण्डुलिपियों से यह संकेत मिलता है कि 'इल्यूज़न एण्ड रियलिटी' में काडवेल के सैद्धान्तिक विकास को अन्तिम रूप मिला है। कार्य सम्बन्धी अध्ययन की दृष्टि से इस बात को ध्यान में रखना पर्याप्त होगा कि 'स्टडीज इन ए डाइंग कल्चर' 'इल्यूज़न एण्ड रियलिटी' से पहले लिखी गयी।

गौण सामग्री के अभाव से काडवेल-साहित्य के अध्ययन में बाधा नहीं पड़ती। लेकिन इससे विचार चर्चा में कठिनाई यह हो जाती है कि उनके कृतित्व के बारे में व्यापक पाठक समुदाय की कोई भी सम्मति स्वतः स्वीकार नहीं की जा सकती और इस प्रकार हर चीज़ की व्याख्या नये सिरे से करनी पड़ती है। काडवेल की कृतियों को छोड़कर आलोचक और पाठक के बीच कोई सामान्य आधार नहीं रहता। लेकिन काडवेल विषयक भ्रान्तियों को देखते हुए, यह भी गनीमत है।

हाल्डेन द्वारा काडवेल की प्रशंसा में लिखे गये वाक्यांश 'विचारों की खान' से जो अव्यवस्था और दुरूहता व्यंजित होती है, वह शायद काडवेल के अध्ययन की सबसे बड़ी कठिनाई है। शायद इसी कारण अब तक किसी ने काडवेल का सम्यक् अध्ययन नहीं प्रस्तुत किया है। काडवेल का ज्ञान-क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था—वह पुनर्जागरणकालीन मानव थे। उन्होंने अपनी कृतियों में संस्कृति की अपार ज्ञान-राशि का उपयोग किया है: ज्ञान-राशि का यह उपयोग उन्होंने एक अधकचरे की तरह नहीं, बल्कि सच्चे ज्ञान-साधक की तरह किया है। उनके आलोचक को भी वैसा ही ज्ञान-साधक होना पड़ेगा। मैं कह सकता हूँ कि अधिकांश आलोचक यह शर्त पूरी नहीं करते। मुझ में तो निश्चित रूप से काडवेल का आलोचक होने की क्षमता नहीं है। काडवेल की कृतियों की आधारभूत सामग्री अन्तःसम्बन्धित है और सीमित बहस उनके सिद्धान्तों के साथ न्याय नहीं कर सकती। फिर भी मेरा खयाल है कि मैं अपने-आपको उनके साहित्य के कार्य सम्बन्धी सिद्धान्त तक ही सीमित रखकर उनके विचारों को न्यूनतम क्षति पहुँचा रहा हूं और मार्क्सवादी साहित्य सिद्धान्त को काडवेल की जो देन है उसकी आत्मा के यथासम्भव सबसे निकट पहुंचने का प्रयास भी कर रहा हूं।

: २ :

चौथे दशक के अन्य मार्क्सवादी आलोचकों से तुलना करें तो मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में काडवेल का योगदान असाधारण रूप से महत्वपूर्ण मालूम पड़ता है। जिन आलोचनात्मक प्रश्नों को उन्होंने उठाया और अनुत्तरित ही रहने दिया, उनकी ओर ध्यान दें तो चौथे दशक के वामपन्थी आलोचकों ने साहित्य पर मार्क्सवादी अवधारणाओं को लागू तो किया, किन्तु मार्क्सवादी पद्धति का ज्यादा उपयोग नहीं किया। यह ठीक है कि उन्होंने कला सम्बन्धी मार्क्सवादी सिद्धान्त की दिशा में कुछ प्रगति निश्चित रूप से की, किन्तु उनके अधिकांश लेखन को स्पष्ट रूप से केवल एक शुरूआत कहा जा सकता है।

चौथे दशक के मार्क्सवादी आलोचकों ने कम-से-कम इतना किया कि लोगों को इस बात से अवगत करा दिया कि कला के क्षेत्र में मार्क्सवादी अवधारणाएं लागू की जा सकती हैं। १९३३ में आर० डी० चार्क ने साहित्य के क्षेत्र में लागू होने वाले 'अस्तित्व द्वारा चेतना निर्धारण' के सिद्धान्त के औचित्य को प्रमाणित करने की आवश्यकता महसूस की थी। लेकिन १९३७ ई० तक उपर्युक्त सिद्धान्त (तथा यह सिद्धान्त भी कि कला भौतिक अस्तित्व के तथ्यों से सम्बद्ध है) को एडवर्ड अपवर्ड ने करीब-करीब एक स्वतःसिद्ध उक्ति के रूप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में स्वीकार कर लिया था तथा राल्फ़ फाक्स ने उपन्यास के उद्भव की विवेचना करते समय इसका सर्जनात्मक उपयोग किया।[४] चेतना और साहित्य के सामाजिक निर्धारण का सिद्धान्त पूर्णतः स्वीकार कर लिया गया, हालाँकि उस चेतना की समझ बहुत सीमित थी। कला को राजनीतिक औज़ार के रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश का तकाज़ा था कि कला के कार्य पर व्यापक बहस की जाए लेकिन अधिकांश आलोचकों ने साहित्य के तात्कालिक कार्य (अर्थात् समाजवाद के संघर्ष की सहायता करना) को ही सामने रखा। इन लोगों की दृष्टि में साहित्य का कार्य सामान्यतः यही था।

वे विविध प्रकार से साहित्य-विषयक धारणा बनाते थे कि साहित्य शब्दों का हथियार है, कि वह मनुष्य की चेतना परिवर्तित कर देने वाला उत्तोलक यन्त्र है, कि वह संघर्ष के लिए तैयार करता है। एरिक गिल ने कहा कि सभी प्रकार की कलाएँ प्रचार हैं; अपवर्ड ने कहा कि समाजवादी क्रान्ति लाने का कार्य कितना महान् है, इसे महसूस करने में हमें साहित्य की सहायता की ज़रूरत है। एफ० डी० क्लिनजेंडर के अनुसार मनुष्य की चेतना को परिवर्तित कर सकने के कारण कला सभी प्रगतिशील शक्तियों का अनिवार्य सहायक है।[५] साहित्य के कार्य सम्बन्धी ये अल्प-व्याख्यान विचार जिस साहित्यिक अवधारणा को प्रकट करते थे वह बहुत दूर तक राजनीतिक थी। इन विचारों के साथ जिन साहित्यिक मानदण्डों को अपनाया गया था वे शायद साहित्य का राजनीतिक मूल्यांकन तो कर सकते थे लेकिन एक कला-रूप की दृष्टि से साहित्य पर विचार करने के लिए अपर्याप्त थे। सम्भवतः सबसे कुख्यात मानदण्ड अपवर्ड ने प्रस्तुत किया। उनका विचार था कि समाजवादी स्थिति अपनाकर ही कोई आधुनिक पुस्तक अच्छी बन सकती है। लेखक समाजवादी नहीं है तो उसका लेखन झूठा है।[६]

एलिक वेस्ट इस प्रकार की आलोचना से साफ़ तौर पर अलग नज़र आते हैं। उन्होंने साहित्य सम्बन्धी ऐसा दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जिसमें सर्जन और कार्य को सर्वदा दो भिन्न प्रक्रियाएँ नहीं माना गया है, बल्कि साहित्य को इस रूप में देखा गया है कि वह बयक समाज से उपजने और फिर समाज को प्रभावित करने का काम साथ-साथ करता है। वेस्ट में सौन्दर्यशास्त्र और आलोचना की एक ऐसी अवधारणा प्रस्तुत करने की क्षमता थी जो मार्क्सवादी राजनीति और कला को सफलतापूर्वक एक-दूसरे से जोड़ती थी।[७]

चौथे दशक की मार्क्सवादी आलोचना ने मार्क्सवाद को साहित्य में लागू किया, उसने इस मार्क्सवादी अवधारणा की सन्दर्भवत्ता स्थापित की कि 'सामाजिक सत्ता चेतना का निर्धारण करती है।' यह अवधारणा साहित्य को सामाजिक समस्याओं से जोड़ती थी। उस समय साहित्य को औजार या हथियार के रूप में ग्रहण किया गया। फाक्स और विशेष रूप से वेस्ट ने चौथे दशक में महत्वपूर्ण योगदान किया, लेकिन इसके बावजूद इस काल की आलोचना ने मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र का निर्माण नहीं किया। सामान्यतः इस काल के आलोचकों में साहित्य के कार्य सम्बन्धी समझ की कमी थी और साहित्य की ज़िम्मेदारियों और समस्याओं पर इनके विचार सतही होते थे। आज इस कालावधि की आलोचना का महत्व बहुत कम है; लेकिन इससे कई बातें साफ होकर सामने आईं। इससे साफ़ ज़ाहिर हुआ कि ऐसे मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र की आवश्यकता है जो आधारभूत समस्याओं का समाधान प्रस्तुत कर बता सके कि (१) साहित्य क्या है, (२) इसका सामाजिक कार्य क्या है और (३) समूचे मानव परिवेश में साहित्य कहाँ स्थित है? काडवेल ने इन प्रश्नों का उत्तर देने की कोशिश की।

काडवेल ने साहित्य के कार्य की सन्तोषजनक व्याख्या की, कम-से-कम समूचे मानव-जीवन में साहित्य की स्थिति को परिभाषित किया। लेकिन इस काम में वह बहुत दूर तक आगे न बढ़ सके। चौथे दशक के अन्य मार्क्सवादी आलोचकों की तरह वह भी सौन्दर्य-रुचि पर यथेष्ट प्रकाश न डाल सके। साहित्य के सर्वांगपूर्ण सिद्धान्त को शुद्ध सौन्दर्यशास्त्र और सौन्दर्य पर विचार करना ही पड़ेगा। अन्य आलोचकों की राजनैतिकता उनकी असफलताओं को साफ प्रकट कर देती है, किन्तु काडवेल राजनीति की शरण में नहीं जाते। 'फर्दर स्टडीज़ इन ए डाइंग कल्चर' में सौन्दर्य पर उन्होंने जो निबन्ध लिखा है, उससे पता चलता है कि शायद वह इस समस्या के प्रति सचेत थे, लेकिन वह इस समस्या के समाधान के निकट नहीं पहुँचते। काडवेल की दृष्टि में, कला के क्षेत्र में सौन्दर्य का वही स्थान है जो विज्ञान के क्षेत्र में सत्य का है। लेकिन इससे यह पता नहीं चलता कि साहित्य के क्षेत्र में सौन्दर्य की भूमिका क्या है या वह साहित्य के कार्य से किस प्रकार सम्बन्धित है। काडवेल के अनुसार कलाकृतियों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन और समाकलन का काम सौन्दर्यशास्त्र का है।

"इसका यह मतलब नहीं कि उपन्यास और कविता में समाकलन की आवश्यकता नहीं है। यह समाकलन सौन्दर्य-शास्त्र का कार्य है। सौन्दर्यशास्त्र का यह मूल कार्य है कि वह हरेक को मिल्टन से अवर तथा शेक्सपियर को इन दोनों से श्रेष्ठ प्रमाणित करे। उसे जटिल विस्तार में जाकर उनका फर्क भी प्रमाणित करना है। लेकिन इसके लिए एक प्रतिमान, जगत के समाकलित दृष्टिकोण की आवश्यकता है, यह (प्रतिभा और दृष्टिकोण) वैज्ञानिक अर्थात् बुद्धिसंगत नहीं सौन्दर्य-शास्त्रीय होगा। यह कला का न्याय है"[८]।

काडवेल ने विशुद्ध सौन्दर्यशास्त्रीय कसौटी और साहित्य के कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध को स्पष्ट नहीं किया। लेकिन कार्य सिद्धान्त अपने आप साहित्यिक कृतियों के मूल्यांकन की वस्तु-गत कसौटी प्रस्तुत करता है। काडवेल ने इस सूत्र की खोज की लेकिन इसका विकास नहीं किया। "सामाजिक सत्ता चेतना का निर्धारण करती है" यह वाक्य कसौटी नहीं बन सकता। यह कहना कि साहित्यिक कृति अपने काल की प्रतिच्छवि है, कृति का मूल्यांकन करना नहीं है। हाँ, कार्य-सिद्धान्त अवश्य प्रतिमान बन सकता है। साहित्य यदि अपना कार्य करता है, सामाजिक पुनर्गठन की बढ़ोतरी के जरिए लोगों की स्वतन्त्रता के विकास में सहायक होता है, व्यक्ति की अपनी सम्भावनाओं की उपलब्धि में सहायक होता है, तो अच्छा है; यदि वह लोगों की स्वतन्त्रता का ह्रास करता है या केवल भावप्रवणता को बढ़ाता है तो बुरा है। जाहिर है कि सौन्दर्यशास्त्रीय कसौटी का व्यवहार इन निष्कर्षों पर पहुँचने के लिए करना है—कार्य की कसौटी का व्यवहार बिल्कुल सीधे नहीं किया जा सकता। इस कसौटी का इस्तेमाल करना आसान नहीं है। लेकिन साहित्य का सामाजिक कार्य समझ लेने के बाद इसकी विधि स्पष्ट हो जाती है।

काडवेल ने सिद्धान्त और व्यवहार की द्वन्द्वात्मकता को पूरी तरह समझ लिया था, इसलिए उन्होंने जान लिया कि मार्क्सवाद व्यावहारिकता की उपेक्षा नहीं करता, इसीलिए वह मार्क्सवाद की व्याख्या जगत् के सन्दर्भ में करने से नहीं हिचके। काडवेल के लिए मार्क्सवाद साध्य नहीं, पथदर्शक था। उन्होंने मार्क्स और एंगेल्स की रचनाओं को गहराई से पढ़ा था, इसका सर्जनात्मक उपयोग उन्होंने मार्क्सवाद को नए क्षेत्रों पर लागू करने के लिए किया। उन्होंने मार्क्सवाद की अपनी मजबूत पकड़ का उपयोग सौन्दर्यशास्त्र को मार्क्स-वाद के प्रभाव क्षेत्र में लाने के लिए किया।

अपनी पीढ़ी के अन्य साहित्यकारों की अपेक्षा काडवेल बेहतर भौतिकवादी और बेहतर द्वन्द्ववादी थे। उन्होंने साहित्य के सामाजिक अन्तःसूत्रों को पकड़ा और मनुष्य के उत्तरा-धिकार और भौतिक प्रकृति के प्रति साहित्य की जिम्मेदारी को आँका। उन्होंने न तो साहित्य का अतिमूल्यन किया न मानव-जाति में इसके महत्व को कम करके आँका। वह साहित्य को ऐतिहासिक तथ्य मानकर सन्तुष्ट नहीं रहे बल्कि उन्होंने इसकी मौजूदगी के कारणों की व्याख्या का प्रयास किया। उसकी व्याख्या का सामाजिक व्याख्या होना अवश्यम्भावी था। यह सच्चे अर्थों में साहित्य के सामाजिक कार्य के विषय पर किया गया चिन्तन है। काडवेल ने बताया कि मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्रियों की आधारभूत समस्या साहित्य का सामाजिक कार्य है। अंग्रेज मार्क्सवादी आलो-चकों में से केवल वही समाधान के निकट तक पहुँच सके। उन्होंने बताया कि सिर्फ इसका विस्तार करने से काम नहीं चलेगा कि "सत्ता चेतना का निर्धारण करती है।" मार्क्स-वादी व्याख्या को द्वन्द्वात्मक होना पड़ेगा, उसे साहित्य के व्यवहार-पथ और समाज पर पड़ने वाले प्रभावों का भी ध्यान रखना पड़ेगा।

काडवेल के अनुसार कला, मायिक अवास्तविकता के जरिए मनुष्य को बदलती है, बदले हुए मनुष्य अवास्तविकता को वास्तविकता बनाने के लिए दुनिया को बदलते हैं। उन्होंने मनुष्य के सामाजिक और जैवी द्वन्द्वात्मकता के एकत्व को समझा और साहित्य का अध्ययन करके सार रूप में ऐसे सामाजिक सम्बन्ध को खोज निकाला जिसकी अभिव्यक्ति साहित्य का कार्य है। साहित्य उस अन्तर्विरोध की अभिव्यक्ति करता है जो व्यक्ति, सहज वृत्तियों से चालित मनुष्य और संगठित, सुसंस्कृत मनुष्य के बीच है, समाज पर अपनी ऊर्जा का धावा बोल देने वाले और अपनी ऊर्जा को सामाजिकता से निर्देशन करने वाले मनुष्य के बीच है। इस अन्तर्विरोध को देखें तो साहित्य की आवश्यकता समझ में आती है, इसी से साहित्य की विशेषताएँ भी उत्पन्न होती और समझ में आती हैं। इस जानकारी के लिए मार्क्सवादी आलोचना काडवेल के प्रति कृतज्ञ रहेगी।

अनुवादक : विश्वनाथ त्रिपाठी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टिप्पणियाँ

१. थामसन, 'इन डिफेंस ऑफ पोएट्री', दि माडर्न क्वार्टर्ली, वसंत, १९५१, पृ० १२३।

२. वेस्ट, "दि काडवेल डिरकशन', वही, ग्रीष्म १९५१, पृ० २६८।

३. मार्क्स, 'प्रिफेस टु ए कंट्रीब्यूशन टु दि क्रिटीक आफ पोलिटिकल एकॉनॉमी', पृ० १८२।

४. Charques कन्टेम्पोरेरी लिटरेचर एण्ड सोशल रिवोल्यूशन, ७.१०; अपवर्ड, "स्केच फार ए मार्क्सिस्ट इंटरप्रिटेशन आफ लिटरेचर", पर और फाक्स, द नावेल एण्ड द पीपुल, ४४. फाक्स की रचना का प्रथम संस्करण १९३७ में छपा था।

५. गिल "सभी कलाएँ प्रचार हैं" ४८ अपवर्ड ५५, और क्लिन-जॅडर, २८।

६. अपवर्ड, ५२-५३ और देखिए ४६-४७ और ४९। शायद इसी प्रकार के वक्तव्यों को देखकर हाइमन ने लिखा "एडवर्ड अपवर्ड ने अपने अल्पकालीन उग्रवादी दौर में जो कुछ लिखा वह लेखन के इतिहास का सबसे वाहियात अंश है।" हाइमन १९३।

अपवर्ड ने जैसे ही निष्कर्ष निकालना और समाजवादी दौर में साहित्य के भविष्य पर विचार करना शुरू किया, आलोचक और मार्क्सवादी के रूप में उसका हल्कापन प्रकट होने लगा। उदाहरण के लिए उन्होंने लिखा, "हम सोच सकते हैं कि भावी लेखक त्रासदी को जो कि मनुष्य की पराजय पर मनन करने का परिणाम (?) है, सर्वाधिक प्रभावशाली और सर्वाधिक गम्भीर साहित्य-विधा नहीं मानेगा।" (५४) अपवर्ड के इस कथन से प्रकट है कि उनका साहित्यिक अनुभव निहायत उथला था और उन्होंने मार्क्सवाद को बिल्कुल नहीं समझा था।

७. वेस्ट : क्राइसिस इन क्रिटिसिज्म; उदाहरण के लिए देखिए पृ० ९२, १३४, १३८-१४०, १८१।

८. इल्यूजन एंड रियलिटी, पृ० १३३

[लेखक की पुस्तक 'दि फंक्शन ऑफ लिटरेचर : ए स्टडी ऑफ क्रिस्टोफर काडवेल्स इस्थेटिक्स, इंटरनेशनल पब्लिशर्स, न्यूयार्क, १९६८ से भूमिका और निष्कर्ष के अंश साभार।]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यथार्थवाद, मिथक और सृजनशीलता

रोजर गारोदी

: १ :

मार्क्सवाद मानव की सृजनात्मक क्रियाशीलता से शुरू होता है। वहीं पर इसका पर्यवसान है : प्रत्येक मानव को मानव बनाने में अर्थात् स्रष्टा 'कवि' बनाने में। फिर मानवीय श्रम-क्रिया में, मानव द्वारा मानव की अनवरत सृष्टि में, कलात्मक सृजन का क्या स्थान है? विश्व को रूपान्तरित करने की क्रिया के अन्तर्गत मिथक का क्या स्थान हो सकता है?

हम इस पर पहले भी बल दे चुके हैं कि कल्पलोक से विज्ञान तक के संचरण में, समाजवाद के हाथों स्वप्न का नाश नहीं हुआ है। समाजवाद ने यही किया है कि इस स्वप्न को साकार करने के लिए वैज्ञानिक और प्राविधिक आधार प्रस्तुत किया है।

हमें स्वप्न देखने चाहिए; यह लेनिन ने कहा था जो यह जानता था कि मिथक स्वयं क्रियारत जीवन है।

मानववादी दृष्टिकोण के अनुसार मिथक का स्थान सृजनात्मक कला के स्तर पर है, न तो ऊपर है और न ही नीचे।

हम जिस तरह बर्कले के इस मत में शरीक नहीं हैं कि प्रकृति किसी अनन्त मस्तिष्क के द्वारा ससीम मस्तिष्कों को कही गई प्रतीकात्मक भाषा है, इसी तरह कैसिरर के इस मत में हमारा विश्वास नहीं है कि मिथक ईश्वर-विषयक चेतना द्वारा रचित ओडेसी है, और न गुसडोर्फ के इस मत में कि मिथक वास्तविकता में निमज्जन तथा आधिभौतिक पुनरैक्य है, या द्यूमेरी के इस मत में कि मिथक पूर्वतः विद्यमान मूल्यों का स्पन्दानुभव है, और न ही युंग के इस विचार में हमारी सहमति है कि आर्किटाइप अथवा आदिम बिम्ब विचार-प्रक्रिया के लिए गर्भ-स्थानीय हैं। मिथक की भूमिका न तो धार्मिकता है और न ही आदिम-प्रकृति।

यदि मिथक अतिरोहण की अभिव्यंजना है तो यह अतिरोहण बाह्यता अथवा उपस्थिति की शब्दावली में नहीं समझा जा सकता। यह अतिरोहण न तो ऊपर से है—ईश्वर का, न ही नीचे से है—बने बनाए रूप में हमें दी गई प्रकृति का।

मिथक सहभागिता नहीं अपितु सृजन है।

मार्क्स के अनुसार मिथक का स्वरूप वह नहीं है जो फ्रायड के अनुसार है, आकांक्षा की उदात्तीकृत अभिव्यक्ति भी नहीं। मार्क्स के मत में मिथक श्रम का एक रूप है।

यह अन्तर मौलिक अन्तर है क्योंकि आकांक्षा प्रकृति का ही प्रवाह है जबकि श्रम प्रकृति का अतिरोहण करता है।

श्रम को मिथक का—यहाँ तक कि प्रकृति के विपरीत संस्कृति का ही—आधार बनाने से, हमें अवसर मिलता है कि हम स्वप्न-प्रतीकों तथा मिथक-प्रतीकों में विभाजक रेखा खींच सकें। स्वप्न-प्रतीक आकांक्षा की अभिव्यक्ति हैं जबकि मिथक-प्रतीक मानव द्वारा मानव की अनवरत सृष्टि का एक रूप है—ऐसा रूप जो काव्यात्मक हो, पैगम्बराना हो तथा लड़ाकू हो, किन्तु हर हालत में पुरो-द्रष्टा हो।

इससे, सही अर्थ में, अपने नाम से पुकारे गए मिथक में तथा गलत नाम से पुकारे गए मिथक के बीच उत्पन्न घालमेल का निवारण हो जाता है। यदि मिथक श्रम की वह अवस्था है, जिसमें मानव का उदय अपने उस अस्तित्व के नए आयाम की स्थापना करता है जो भविष्य को उपलब्ध करता है, तो मिथक को हम न तो अतीत का अवशेष कह सकते हैं, न अन्योक्ति रूप में बालिश तथा स्थानारोपित तर्क और न ही कारणान्वेषी कथाएँ कह सकते हैं। और न ही यह किसी महान् अवधारणा के द्वारा वर्तमान का पुनरुत्पादन तथा संरक्षण है—एक ऐसा चित्र जो व्यवहार के लिए आदर्श बन जाय। प्रोपेगैण्डा तथा प्रचार द्वारा निर्मित यह सामाजिक रूढ़ि और निर्जीवता की स्थिति भ्रम तथा अलगाव है। इसकी प्रवृत्ति है : इतिहास की प्रगति करना नहीं बल्कि इच्छाओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को स्वीकार्य रूप प्रदान कर इतिहास की गति को रोकने तथा इंसान को उसकी सहजवृत्तियों के बन्द घेरे में चक्कर लगाने को छोड़ देने की है। यह रूढ़ि कई तरीकों से अनेक शक्लें अख्तियार करती है : हिटलर के नस्ल के प्रोपेगैण्डा अथवा कामोत्तेजना को इश्तिहार का साधन बनाने से लेकर 'मूर्ति' में प्राप्त होने वाले मिथक-नायक की जगह किसी अधःपतित को स्थानापन्न करने तक। यहाँ मिथक के विस्तार के द्वारा, युवकों को आत्मनिर्वासित जीवन के लिए स्थानापन्न जीवन का एक पूरक भ्रम प्रदान किया जाता है : जैसे बेरेनिस की जगह सोराया को तथा अफ्रोदाइत की जगह ब्रिगीवादो को।

ऐसे भी मिथक हैं जो हमारे लिए उपयोगी नहीं हैं या फिर हानिप्रद हैं। वे हमें कहीं भी नहीं ले जाते। दूसरे हैं जो हमें अपने सृजन केन्द्रों तक पहुँचाते हैं, जो लगातार नए क्षितिजों का उद्घाटन करते हैं और अपनी ही सीमाओं को पार करने में हमारी सहायता करते हैं। कुछ बन्द मिथक होते हैं और कुछ खुले मिथक। इनमें से दूसरे ही सही मायने में असली मिथक होते हैं।

हम मिथक नाम, हर ऐसे प्रतीकात्मक कथानक तक सीमित रखेंगे जो मानव को उसके सर्जक-रूप और भाव-रूप की प्रकृति तक वापस ले आता है। यह मानव का वह रूप है जो भविष्य का निर्माण करता है, वह रूप नहीं जो अन्य प्राणियों के समान उसे सहजात वृत्तियों और इच्छाओं के वशीभूत होकर अतीत से बाँधे रखता है।

यह अनिवार्य नहीं है कि ऐसे मिथक केवल आदिम मस्तिष्क की उपज हों। समकालीन मिथक भी होते हैं जो बुद्धि-प्रसूत हैं।

अपने प्रारम्भ से ही मिथक अतिरोहण की अभिव्यंजना है और उसका विनम्रतम रूप है—मानव द्वारा प्रकृति का अतिरोहण। इसमें प्रदत्त स्थिति से सम्बन्ध-विच्छेद के दो रूप अन्तर्निहित हैं : बाह्य प्रकृति से तथा हमारी अपनी प्रकृति से।

मार्क्स का कहना है कि हम ग्रीस के उन महान मिथकों की, जिनका आकर्षण शताब्दियों से बना हुआ है, इस तरह व्याख्या करें जैसे कि वे मानव के स्वस्थ शैशव की अभिव्यक्ति हैं; वह चाहे प्रोमेथेडस हो या इकेरस, अन्तिगोने और विग-मेलियन! प्रत्येक महान् मिथक में, चाहे वह धार्मिक हो अथवा काव्यात्मक, मानव प्रदत्त व्यवस्था के सम्बन्ध में अपने अतिरोहण को फिर से हासिल करता है।

इसके अतिरिक्त यह श्रम के विशिष्ट मानवीय आयाम पर आधारित है; यह आयाम वह भविष्य है जो वर्तमान में खमीर की तरह मौजूद रहता है।

: २ :

यथार्थवाद की हमारी मार्क्सवादी अवधारणा को बुर्जुआ आलोचना में रूढ़ तथा सीमित यथार्थवाद का अनुगमन नहीं करना चाहिए अपितु मानव-जाति के सभी महान् सृजनात्मक कालों की विरासत को आयत्त करके उसे साहसपूर्वक सृजनात्मक रूप में आगे बढ़ाना चाहिए।

यह इसलिए और महत्वपूर्ण है कि ऐतिहासिक तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की मतारूढ़ अवधारणा ने, निकृष्टतम बुर्जुआ आलोचना की उस आधि-भौतिक अवधारणा के परिणामों को और भी बिगाड़ दिया है जिसने पुनर्जागरण की सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यताओं को शाश्वत तथा अपरिवर्तनीय मान लिया है।

ऐतिहासिक भौतिकवाद की यांत्रिक विकृति के फलस्वरूप सौन्दर्यशास्त्रीय गलतियों के केवल तीन उदाहरण लें :

१. मार्क्सवादी आलोचना में ह्रास की विश्वव्यापी अवधारणा को लागू करना। स्वयं मार्क्स ने अट्ठारहवीं शती के फ्रांसीसी भौतिकवादियों की इस आडम्बरपूर्ण अज्ञता का मजाक उड़ाया है जिन्होंने अपने यांत्रिक भौतिकवाद के बल पर यह तर्क प्रस्तुत किया : हम अपनी तकनीकी और आर्थिक स्थिति में प्राचीन ग्रीसवासियों से उन्नत हैं; अतः हमारी कला भी उनकी कला की अपेक्षा उन्नत है। वोल्तेयर का हेनरियाद, होमर के इलियद से बेहतर है।

इस तर्क से अधिरचनाओं की सापेक्ष स्वायत्तता का मूल्य दुखद रूप में कम होता है। और इस विश्वास को प्रश्रय मिलता है कि एक ह्रासग्रस्त सामाजिक और आर्थिक शासन-व्यवस्था केवल ह्रासग्रस्त कृतियों को ही उत्पन्न कर सकती है।

यह तो दर्शन के क्षेत्र में भी सच नहीं है : जिस युग ने साम्राज्यवाद को ध्वस्त किया वह ऐसी अनेक महत्वपूर्ण कृतियों के जन्म का साक्षी है जिनसे हम बहुत कुछ सीख सकते हैं। उदाहरण के लिए यदि हमने हुसेर्ल, हाइडेगर, फ्रायड, बाशेलार और लेवी-स्त्रोस आदि की ऐसी उपेक्षा की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसे ये कभी हुए ही नहीं तो स्वयं मार्क्सवाद ही दरिद्र होगा।

कला में इसका औचित्य और भी ज्यादा है : वह काल जिसमें पूंजीवाद का ह्रास तथा साम्राज्यवाद का ध्वंस हुआ वह कला में प्रभाववाद, सेज़ाँ, वान गॉग, घनवादियों तथा वनवादियों के विकास और साहित्य में काफ्का से लेकर क्लादेल तक की अत्यधिक मूल्यवान् कृतियों के सृजन का साक्षी है।

२. ह्रास की इस अवधारणा को लागू करना, दरअसल, एक अधिक सामान्य गलती का एक विशेष नमूना है : यह गलती है—कला में विचारधारात्मक अधिरचना के अतिरिक्त और कुछ न देखना और यह मानना कि कला अपने से बाहर पूर्वनिर्मित वास्तविकता का प्रतिबिम्ब मात्र है। प्रतिबिम्बन की यह यान्त्रिक अवधारणा कलाओं के लिए उतनी ही घातक है जितनी विज्ञान के लिए।

कोई भी मार्क्सवादी यह सन्देह नहीं करेगा कि कला अधिरचना का अंश है और इस तरह वर्गहितों से बंधी हुई है; किन्तु कला को विचारधारा के घटकों तक सीमित कर देना, न केवल इसके विशिष्ट चरित्र को आँख से ओझल करना है, किन्तु इसकी सापेक्ष स्वायत्तता से भी मुंह मोड़ना है और यह भूल जाना है कि कला अपना विकास समाज के साथ कदम में कदम मिलाकर नहीं करती।

मार्क्स ने जोर देते हुए कहा था कि सोफोक्लेस की त्रासदियों और जिस सामाजिक व्यवस्था में वे उत्पन्न हुईं उन दोनों के बीच की ऐतिहासिक कड़ियों की व्याख्या करना कठिन नहीं है, किन्तु इस तथ्य की व्याख्या फिर भी अपेक्षित है कि आज भी, एक पूर्णतया भिन्न व्यवस्था में वे सौन्दर्यानुभूति कराने में समर्थ क्योंकर हैं, और क्यों वे ऐसे आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित हैं जिनका अतिक्रमण असंभव प्रतीत होता है।

३. तीसरी गलती है कला को ज्ञान का एक रूप मानकर वर्गव्यवस्थाओं से निरपेक्ष कलाकृति के स्थायी मूल्य की व्याख्या करने का प्रयास। बेशक, जैसा कि मार्क्स ने बालजाक के विषय में और लेनिन ने तालस्ताय के विषय में दिखाया है, महान कृतियों का ज्ञानात्मक मूल्य है। किन्तु कला को इसी पक्ष तक सीमित कर देने का मतलब है कला के विशिष्ट चरित्र को न समझ पाने की भूल को दुहराना। हीगेल का अनुसरण करते हुए कला को ज्ञान का एक विशिष्ट रूप समझ लेना काफी नहीं है; क्योंकि यह सत्य नहीं है कि कला बिम्ब के माध्यम से वही सिखलाती है जो दर्शन तथा इतिहास अवधारणाओं के माध्यम से सिखलाते हैं। मैं डान कुइहोट या हैमलेट, या किसी कविता या चित्र, अथवा संगीत रचना को अवधारणाओं में 'अनूदित' नहीं कर सकता। वह इसलिए कि कलाकृति का विशिष्ट गुण इसी में है कि वह अपनी वस्तु और अपनी भाषा दोनों में ही अक्षय होती है।

अपनी वस्तु में इसलिए कि वह सक्रिय सत्ता—स्रष्टा के रूप में मनुष्य स्वयं है। जब सेज़ां की एक 'स्टिल लाइफ़' हमें ऐसे सन्तुलन की अनुभूति कराती है, जो कि, ढह जाने के कगार पर है, और एक मेज, एक प्लेट और तीन सेबों में परिसीमित कर दिया गया यह संसार ऐसा प्रतीत होता है मानो मानव की एक महान क्रिया—कलात्मक रचना—के द्वारा विनाश के अन्तिम बिन्दु पर थमा हुआ है तो उस समय हमें इस सत्य की मूर्त अभिव्यंजना का बोध होता है कि वास्तविक वह नहीं जो एक प्रदत्त स्थिति है अपितु वास्तविक वह भी है जो उपलभ्य कर्म है। कृति उत्तरदायित्व के प्रति एक जागृति है, यह संस्मृति है कि मानव एक सर्जक है, एक दायित्वपूर्ण प्राणी है। यह एंटिगोने के बारे में भी उतना ही सत्य है जितना फाउस्ट के बारे में।

कला की भाषा उसकी वस्तु से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। वस्तु की तरह ही भाषा भी अनिवार्यतः अक्षय होती है। यह मिथकों की सर्जक है। ये मिथक मानव के वे आदर्श रूप हैं जब वह अपना अतिरोहण करता है और जब वह उन अवधारणाओं के दायरे को पार करता है जो केवल पूर्वनिर्मित की अभिव्यक्ति करती हैं। इसलिए यह काव्य अथवा प्रतीक है। दूसरे शब्दों में—यह शब्दों की ऐसी अप्रत्याशित मुठभेड़ है जो हमें पूर्वनिर्मित वास्तविकता नहीं प्रदान करती किन्तु हमें उस 'लक्ष्य' का संकेत देती है, उस 'लक्ष्य' को प्रस्तुत करती है जो एक वास्तविकता है किन्तु ऐसी वास्तविकता जो निर्माण की प्रक्रिया में है।

अतः कला ज्ञान है, किन्तु ऐसा ज्ञान जो अपनी वस्तु और भाषा के धर्म से विशिष्ट है। यह मनुष्य को अपनी सृजनात्मक शक्ति का ज्ञान है जो मिथक की अक्षय भाषा में अभिव्यक्त होता है।

कलाकृति का लक्ष्य यथार्थ की वह अवधारणा है जिसमें निहित यथार्थवाद यथार्थ के ही समान अन्तहीन विकास और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुनर्नवीकरण की अवस्थाओं से गुज़र सकता है।

यह ऐसा यथार्थवाद है जो यथार्थ का कोरा प्रतिबिम्ब मात्र नहीं बल्कि एक नए यथार्थ की सृष्टि में सक्रिय साझेदारी है।

एक मार्क्सवादी के लिए, कला का इतिहास आत्मा की चेतनता नहीं है, जैसा कि हीगेल ने सोचा था, अपितु आत्मा के सृजन का इतिहास है।

यदि हम कलात्मक सृजन के इस विशिष्ट चरित्र को पहचान लें तो हम उन्हीं निष्कर्षों पर पहुँचेंगे जो विज्ञानों के बारे में निर्मित निष्कर्षों के तुल्य होंगे।

यदि यथार्थ को रूढ़ तथा इदमित्थं ढंग से परिभाषित किया गया तो हम यथार्थवाद से हर ऐसी चीज़ को निष्कासित कर देंगे जो नया यथार्थ है। और, इस प्रकार हम जो करेंगे वह ऐसा दावा होगा कि हमने यथार्थ अथवा नैतिकता के लिए **एकबारगी और हमेशा के लिए** मानदण्ड परिभाषित और निश्चित कर दिया है।

दूसरी ओर, कला की सृजनात्मक भूमिका को मान्यता दे देने का मतलब होगा कि हम विज्ञान की तरह, कला में शैली और वादों के **बहुत्ववाद** को न केवल मानते हैं, अपितु उसकी प्रत्याशा भी करते हैं।

मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के निर्माण का आरम्भ इसी महान् सौन्दर्यशास्त्रीय आन्दोलन से हो सकता है। इसका मतलब होगा कि कलाकार से तात्कालिक नारों को उद्गाहत करने की माँग न की जाय, किन्तु उसे आह्वान किया जाय कि वह मानव-भविष्यत् के निर्माण में सहभागी हो—और यह वह तभी कर सकता है जब वह हमारे काल के ऐतिहासिक विकास के नियमों की स्पष्ट चेतना से प्रारम्भ करे और जब उस विकास के प्रति अपने व्यक्तिगत उत्तरदायित्व की तीव्र चेतना हो और साथ ही उसे यह भी चेतना हो कि समाजवाद मूलतः क्या है। समाजवाद को अतीत की तुलना में वर्गयुद्ध के निषेधात्मक रूप में परिभाषित किया जाता है। किन्तु इसका अतिक्रमण करने पर समाजवाद हमारे सामने ऐसी समाज-व्यवस्था के रूप में आता है जो हर मनुष्य को मनुष्य बनाती है, एक सर्जक बनाती है और वह सर्जक भी हर स्तर पर : आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक। कलाकार को यह चेतना प्रदान करने का अर्थ है उसे वह भूमिका अदा करने में मदद देना, जिसके द्वारा वह मनुष्यों में अपनी मानवीय चेतना और इस प्रकार सर्जनात्मक गुण के प्रति जागृति पैदा करता है।

अनुवादक : विनोद खुराना

[लेखक की सद्यः प्रकाशित पुस्तक 'बीसवीं शताब्दी में मार्क्सवाद' (१९७०) के 'मार्क्सवाद और कला' शीर्षक पाँचवें अध्याय से साभार।]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पार्टी, साहित्य और समाजवाद

अर्न्स्ट फिशर

समाजवादी व्यवस्था उस कला के लिए उन वस्तुगत अवस्थाओं का सृजन करती है जो मनुष्य के हृदय को अपनी पकड़ में ले सके, उसके मर्म को आन्दोलित कर सके और उसे बदल सके। रद्दी और सस्ती कृतियों का उत्पादन वस्तुतः व्यापारिक लाभ भी नहीं पहुँचाता। अवकाश के समय के साथ नियंत्रण-हीन मनोरंजन उद्योग का बलात्कार नहीं होता। समाजवाद का रुख 'है' की तरफ न होकर 'होने' की तरफ है। समालोचना एक विचार के आधार पर परिपुष्ट होती है, और वह विचार समाजवाद है; कल्पना-शक्ति इस योग्य होती है कि वह निर्माण की प्रक्रिया से गुज़रते हुए समाज की गतिशीलता को ग्रहण कर सके।

'संस्कृति की रक्षा के लिए कांग्रेस' में अर्न्स्ट ब्लाख ने १९३५ में पेरिस के अपने व्याख्यान (मार्क्सवाद और साहित्य) में इन संभावनाओं पर बोलते हुए कहा था—

'सही यथार्थवादी साहित्य उस प्रक्रिया से संबद्ध होता है जिसके अन्दर से तथ्य बड़ी ही कुशलता से निर्वासित और जड़ कर दिये गये हैं; यह प्रक्रिया सारग्राही सूक्ष्म कल्पना की माँग करती है जिससे उसका पुनः प्रस्तुतीकरण हो सके और वह स्वतः इस कल्पना से ठोस रूप में बँध जाय। जब किसी को एक बार मार्क्सवादी समीक्षा का चस्का लग जाता है तो वह स्वभावतः खोखली सिद्धान्तवादिता के विरोध में स्वयं आ खड़ा होता है और उसे अस्वीकार कर देता है। किन्तु एकमात्र सही काव्यात्मक लय जो आज संभव है—वह कल्पना जो झूठ से मुक्त है—पूरी स्पष्टता से उभरकर सामने आती है और अपने हर पूर्ववर्त्ती युग के कथ्य से बेहतर होकर स्पर्द्धा का विषय बनती है।"[१]

हर महान् साहित्यिक कृति के पीछे "उस प्रक्रिया का समुद्र लहराता है जिसकी यथार्थता की गहराई शायद ही मापी जा सके। मार्क्सवाद इससे पर्याप्त परिचित है और वह विचारधारा-प्रसूत झूठ से मुक्त तथा मूर्त स्वप्नलोक से युक्त प्रक्रिया से संबद्ध ठेठ वस्तु तक पहुँचने में सहायक होता है।"[२]

अतः समाजवाद अपने अन्दर अग्रगामी, सक्रिय और सशक्त कल्पना की शक्ति लिए हुए है जो मानव-भविष्य का सह-निर्णायक हो सकती है। यह तो और भी दुःखद बात है कि इसके जो नतीजे हैं वे सम्भावनाओं की तुलना में अत्यन्त नगण्य हैं; कि जो यन्त्र समाजवाद के नाम पर शासन करता है वह उस रचनात्मक कल्पना से घबराता है जिसका स्वभाव ही स्वाधीनता है; कि यह कला को नपुंसक बनने के लिए अभिशप्त कर देता है क्योंकि यह अपनी शक्ति को या तो पहचानता है या फिर बढ़ा-चढ़ाकर आँकता है। कोई भी 'दिशा निर्देश', आदेश या विधेयक कल्पना पर दबाव डालकर उसे राज्य, पार्टी या शासन-यन्त्र की सेवा करने को विवश नहीं कर सकता—खासकर इस उद्देश्य से कि जो कुछ भी है उससे यथावत सहमत हो जाय या जो अभी तक उपलब्ध न हो सका है उसे रोज़मर्रा के जीवन का अंश मान लेने का दिखावा करे।

रूसी क्रान्ति-काल में कल्पना यथार्थ से मिलकर एकाकार हो गयी थी। क्रान्तिकारी क्रियाकलाप, जिससे आत्म-निर्वासन की प्रवृत्ति मिटती है, इस संदर्भ में कला से मिलती-जुलती हुई चीज़ है। इससे निर्वासित व्यक्ति अपने-आप में लौट आता है। उस समय कला क्रांतिकारी जनसमूह के साथ थी, यद्यपि उसके रूप उन लोगों के लिए अपरिचित थे। समूह का बोध उन शब्दों तक में विद्यमान था जो समझ में नहीं आ सके थे। किन्तु जब अपनी अनेक कठिनाइयों के बावजूद क्रान्ति ने निर्माण के दौर में प्रवेश किया तो साहित्यिक और कलात्मक 'अवाँगार्द' के साथ जनसमूह का संबंध एक पेचीदा समस्या के रूप में उभर आया। क्रांति की आवाज़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के रूप में कला ने अपना एकीकृत उद्देश्य खो दिया और विविध लक्ष्यों की उपलब्धि के आह्वान की प्रतिक्रिया में वह अलगायी जाने लगी। ऐसा प्रतीत हुआ मानो बँधी हुई मुट्ठी खुल पड़ी हो और हाथ तरह-तरह की चीज़ों, पास और दूर की चीज़ों की तरफ बढ़ा। क्रान्ति की प्राणशक्ति १९२० के दशक के अन्त तक प्रभावशाली रही—फ़िल्म, कविता और उपन्यास की विपुल रचना हुई जिसमें नये विषयों को लेकर और समाजवादी कला की अक्षय सम्भावनाओं की पूर्वाभिरुचि जगाने के उद्देश्य से अभिव्यक्ति के नये माध्यमों का प्रयोग किया गया। किन्तु उस समय भी कला को नियन्त्रित करने का रवैया ज़ोर पकड़ रहा था, उसे शासित और मनोनुकूल ढंग से तोड़मरोड़ कर पेश करने की प्रवृत्ति मौजूद थी, उससे आलोचना और मुक्त कल्पना के उपयोग की प्रवृत्ति निकाल फेंकने और कलाकारों को पदाधिकारी बना देने, प्रस्तावों के उदाहर्त्ता के रूप में बदल लेने की प्रवृत्ति मौजूद थी।

मार्क्सवादी आलोचना की समस्याएँ

१९२८ ई० में लुनाचार्स्की ने 'मार्क्सवादी समीक्षा की समस्याओं पर प्रबन्ध' में लिखा था—

"सार्वभौमिकता की कसौटी को गम्भीरता से लागू करना चाहिए। हमारे प्रकाशन एवं प्रचारात्मक साहित्य का विस्तार नितांत आरम्भिक लोकप्रिय स्तर से लेकर अत्यन्त जटिल पत्र-पत्रिकाओं तक है जो पाठक से काफी समझ की अपेक्षा रखती हैं। इसी तरह हम अपने तमाम साहित्य को उन किसानों या मज़दूरों के स्तर तक नहीं गिरा सकते जो अब तक असंस्कृत हैं। यह बहुत गम्भीर भूल होगी।" अपनी उसी कृति मे लुनाचार्स्की लेखक की उस आवश्यकता की पुष्टि करते हैं जिसके अनुसार वह 'हमारे कार्यक्रम में पहले ही पूरी तरह विकसित किये गये विचारों' से परे भी जा सकता है।

'कलाकार तभी महत्त्वपूर्ण होता है जब वह परती ज़मीन तोड़ता है, जब वह अपनी अंतःप्रज्ञा के बल पर ऐसे क्षेत्र में प्रथम प्रवेश करता है जिसमें तर्कशास्त्र या सांख्यिकी शायद ही पहुँच पायें। कलाकार सही है या नहीं, उसने यथार्थ और साम्यवाद की बुनियादी आकांक्षाओं का सम्मिश्रण किया है या नहीं—यह निर्णय करना आसान नहीं है; यहाँ भी सही निर्णय पर तभी पहुँचा जा सकता है जब हम आलोचकों और पाठकों के विचारों के संघर्ष पर ध्यान देंगे।"[३]

जब तक यह प्रवृत्ति शासनारूढ़ कम्युनिस्ट पार्टी के रुख की निर्णायक है—यद्यपि शासन-यन्त्र के द्वारा हस्तक्षेप का सदैव खतरा मौजूद है—तब तक कलात्मक कल्पना के लिए वे अनुकूल परिस्थितियाँ किसी न किसी तरह मौजूद हैं जिनकी वजह से वह उन क्षेत्रों में प्रवेश कर सके जिनमें तर्कशास्त्र, सांख्यिकी और राजनीतिज्ञों तथा शासकों की व्यावहारिक अनुभूतियाँ प्रवेश नहीं कर सकतीं। अन्य व्यवस्थाओं की अपेक्षा, समाजवाद को कहीं अधिक उस आलोचना की आवश्यकता है जिससे वह अपनी गलतियों को सुधारे और भ्रामक क्रियाकलापों को बदले। इसी तरह उस कल्पना की भी कहीं अधिक आवश्यकता है जिससे भविष्य का पूर्वानुमान किया जा सके—न केवल उसे 'प्रतिबिम्बित' करने के लिए बल्कि मनुष्य के विकास में सक्रिय होकर भाग लेने के लिए; यह सब इसलिए क्योंकि समाजवाद का लक्ष्य **पूर्ण मनुष्य** है; उसके सभी सम्बन्धों का मानवीयकरण उसका उद्देश्य है। अगर कलाकार को 'पहले ही पूरी तरह विकसित किये गये विचारों' से आगे बढ़कर नयी वास्तविकताओं की खोज के अधिकार से वंचित कर दिया गया, अगर सत्तारूढ़ शक्तियों के विरोध पर बंदिश लगा दी जाय, अगर किसी कलाकृति के संबंध में मूल्य-निर्णय आलोचकों और पाठकों के विचारों के संघर्ष में न ढूँढ़ा जाय बल्कि किसी अच्युत संस्था के आदेश से उसका निर्णय हो—तो उस हालत में समाजवादी समाज **व्यवहारतः** उन संभावनाओं को नष्ट कर रहा है जो **सिद्धान्ततः** पूँजीवादी समाज की तुलना में उसकी अपनी विशिष्टता है। जैसा कि अधिकारीगण आम जनता की शिकायतों का हवाला देकर अक्सर कहते हैं, कुछ 'अहंकारी' कलाकार होते हैं और इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता। पर इनकी तुलना में समाजवादी कला के विकास को वास्तविक खतरा उन अहंकारी नवसिखुओं (अमेचर्स) से है जिनका विश्वास है कि वे अपने पद के नाते यह सिखा सकते हैं कि चित्रकार कैसे चित्र बनाये और लेखक कैसे लिखे। खतरा उन अधिकारियों से है जिनके लिए सत्य हमेशा "पहले से ही पूरी तरह विकसित" है।

पार्टी-समझ (Party mindedness)

'समाजवादी कलाकार की दृष्टि में कला हमेशा वर्ग-संघर्ष का हथियार होती है। वह कला के अनेकानेक माध्यमों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का उपयोग जर्मन जनवादी गणतन्त्र को सशक्त बनाने, जमन जनवादी गणतन्त्र की प्रतिष्ठा बढ़ाने, सभी क्षेत्रों में समाजवाद के निर्माण की सफल उपलब्धि और साम्राज्यवाद तथा सैन्यवाद की आक्रामक शक्तियों के कुचक्रों के प्रतिरोध में करेगा। कला में पार्टी-समझ से हमारा यही अभिप्राय है।'[४]

अवसर आने पर कड़ाही भी वर्गयुद्ध में हथियार का काम कर सकती है। फिर कलाओं के बारे में तो कहना ही क्या, जिनके साधन और सम्भावनाएँ कड़ाही से कहीं अधिक बहुविध हैं। पर कलाएँ यह काम तभी कर सकती हैं जब उन्हें ऐसा करने का आदेश न दिया जाय। इसके बावजूद यह सवाल पूछा जा सकता है :

माना कि कला हथियार है—पर कैसा हथियार ? क्या ढोल हथियार है ? अथवा युद्ध गीत ? अथवा फौजी मार्च ? कला को हमेशा 'वर्गसंघर्ष का हथियार' बना देने का केवल लाक्षणिक अर्थ हो सकता है। यह न तो शत्रु पर चोट करती है और न उसे भयाक्रांत करती है, बल्कि लड़ाकू लोगों को अपनी तरफ करने में मदद देती है। फिर भी अगर यह केवल इतना ही काम करती है, और कुछ भी नहीं, तो अन्ततः यह अनिर्णीत जनों को भयाक्रांत ही करके रह जाएगी और लड़ाकू दस्तों को उत्साह के स्थान पर ऊब ही प्रदान करेगी। और सम्भवतः केन्द्रीय समिति के सदस्यों के मन में सस्ती अमरीकी मनोरंजन की किताबें पढ़ने का लालच उत्पन्न करेगी या सौन्दर्यपरक शस्त्राभ्यास की बजाय पश्चिमी जर्मन सिगार से ही परितोष प्राप्त करने की प्रेरणा देगी।

फिर कला 'जर्मन जनवादी गणतन्त्र को सशक्त बनाने या उसकी प्रतिष्ठा में वृद्धि करने में कैसे सहायक होगी' ? बर्तोल्त ब्रेख्त जर्मन जनवादी गणतन्त्र को सशक्त बनाने में सहायक न हो सके, यद्यपि उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाने में निश्चित रूप से उनका योग है, क्योंकि कलाकार के नाते पार्टी-लाइन मानने से इनकार कर उन्होंने अपनी कला के लिए अलग रास्ता चुना। अपनी अनेक रचनाओं में, वर्गसंघर्ष के कवि के रूप में उन्होंने विश्व-प्रसिद्धि प्राप्त की न कि सैद्धान्तिक हथियारों के वाहक के रूप में। सदैव वर्ग-युद्ध की रट लगाने वाले अन्य जन जर्मन जनवादी गणतन्त्र की महत्ता स्थापित करने में जरा भी सहायक न हो पाये। समाजवादी राज्य तभी आदर पाता है जब वह पार्टी के गलत होने पर भी कलाकारों द्वारा पार्टी के सही होने के एलान करवाने की कसरत करवाने के बजाय कला के लिए आवश्यक स्वतन्त्रता प्रदान करता है। अतः कलाकार उसी हद तक अपने समाज की प्रतिष्ठा के लिए काम करते हैं जिस हद तक पार्टी का संगठन-यंत्र उन्हें मुक्त ढंग से काम करने के मार्ग में दिशानिर्देश या प्रत्यक्ष दण्डविधान के रूप में अवरोध न उत्पन्न करता।

जहाँ तक 'सभी क्षेत्रों में समाजवादी निर्माण-कार्य' का प्रश्न है, इसका मतलब निश्चित रूप से केवल औद्योगिक समूह, स्कूल, अस्पताल और शोध संस्थान (हालाँकि ये सभी आवश्यक और प्रशंसनीय काम हैं) न होकर अधिकाधिक स्वतन्त्रता होना चाहिए, उस 'सूक्ष्म' अर्थ में नहीं जिस अर्थ में शासक लोग व्यंग्यपूर्वक स्वतन्त्रता की बात किया करते हैं, बल्कि सूचना, परस्पर विरुद्ध विचारों के अभिज्ञान से उत्पन्न विचार, विकल्पों के बीच स्वैच्छिक चुनाव, अधिकारियों की बोल और लिखकर विरोध करने की सर्वोच्च मूर्त स्वतन्त्रता।

खेद के साथ कहना पड़ता हैकि कला शायद कभी ही या सम्भवतः आंशिक रूप में ही 'साम्राज्यवादी और सैन्यवादी आक्रामक शक्तियों के कुचक्रों के प्रतिरोध में' समर्थ है। इस लक्ष्य के साथ प्रतिबद्ध कला प्रायः उन्हीं लोगों को प्रभावित कर पाती है जो पहले से ही साम्राज्यवाद और सैन्यवाद के विरुद्ध हैं। यह अभी तक अनिश्चय में पड़े लोगों को ही प्रभावित कर पाती है और वह भी तब जब कलाकृति मानवता का पक्ष लेकर बोलती है न कि 'सैद्धान्तिक मोर्चे' का पक्ष लेकर; जब यह मानवीय और बुद्धिसंगत का साथ देती है तथा वर्ग और राज्य के हितों से ऊपर उठ जाती है; दूसरे शब्दों में जब वह निर्धारित अर्थ में 'पार्टी-समझ' से युक्त नहीं होती। अपने संकुचित और रूढ़ अर्थ में 'पार्टी-समझ' का सिद्धान्त कला को 'वर्गसंघर्ष के हथियार' रूप में भी कामयाब नहीं होने देता।

ऐसी कोई कला नहीं है जो पक्ष न लेती हो—पक्षधरता के विरुद्ध होने के बावजूद। इस प्रकार 'पक्ष लेने की नीति के विरुद्ध पक्ष लेना' प्रायः उपयोगितावाद, कठमुल्ला चिन्तन तथा अतिसरलीकरण के विरुद्ध बताया जाता है। यह छद्म रूप में आत्मसमर्पण की सचेष्ट नीति भी हो सकती है अथवा मौजूदा व्यवस्था का साथ देने के भाव से सांसारिक चीजों में दिलचस्पी लेने के प्रति 'संवेदनापूर्ण' अस्वीकृति का भी सूचक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो सकती है। किन्तु इस सबके बावजूद सचाई यह है कि कम्युनिस्टों द्वारा शासित देशों में 'पार्टी-समझ' का अर्थ किसी घटना, किसी उद्देश्य अथवा किसी विचार के पक्ष या विपक्ष में कलाकारों का स्वतन्त्र निर्णय नहीं होता बल्कि पार्टी जब जैसा चाहे तब वैसा करने के निश्चय के हमेशा अधीन रहना है।

उद्धरणों का दुरुपयोग

उस अवधि में जब हर विचार स्तालिन के विरुद्ध षड्यंत्र समझा जाता था, मास्को में एक चुटकुला चल पड़ा था: 'विचार क्या है?'—'दो उद्धरणों के बीच की न्यूनतम दूरी ही विचार है।' यह 'न्यूनतम दूरी' भी, सामान्य रूप में छद्म और सलज्ज उद्धरण था। 'कला को पार्टी समझ' (पार्टी माइन्डेडनेस) पर लेनिन का उद्धरण आधिकारिक कथन माना जाता रहा है।

अतः हम सबसे पहले निम्नलिखित नुक्तों को साफ तौर पर समझ लें—

१. महान् लोगों का उद्धरण भी सत्य का प्रमाण नहीं होता; हाँ, यह एक सुचिन्तित विचार को पुनः पुष्ट कर सकता है।

२. उद्धृत वाक्य का सन्दर्भ जानना आवश्यक है—उस प्रसंग की जानकारी जिसमें यह बात कही गयी है।

३. यह जानना भी आवश्यक है कि उद्धृत वाक्य आधारभूत पुस्तक से लिया गया है, या किसी निबन्ध, पैम्फलेट अथवा पत्र से।

४. अन्त में, यह पता करना भी आवश्यक है कि उद्धृत वाक्य अपने सही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है या नहीं।

लेनिन के अनेक वाक्यों को 'मार्क्सवादी-लेनिनवादी' सौंदर्यशास्त्र के सिद्धान्त के रूप में स्फीत कर दिया गया है। उन वाक्यों को बहुत ही गलत ढंग से लागू किया जाता है और लेनिन के निहितार्थ के एकदम विपरीत। लेनिन ने 'पार्टी-समझ' की माँग सामान्य साहित्य के लिए नहीं, बल्कि राजनीतिक रचनाओं के लिए की थी। लेनिन की पत्नी क्रुप्सकाया ने (३ मई १९३७ के पहले ही) 'साहित्य पर लेनिन के लेखों और वक्तव्यों के संग्रह' निकालने की इ. बुज्कोवा की योजना पर टिप्पणी लिखते हुए 'शैक्षणिक व्यवहार पर लेनिन के साहित्य सम्बन्धी निबन्धों और वक्तव्यों के प्रभाव' नामक निबन्ध के सम्बन्ध में इस आधार पर मतभेद प्रकट किया था कि इसमें सन्दर्भ से च्युत उद्धरणों को नत्थी भर कर दिया गया है और उदाहरणों के द्वारा पुष्ट नहीं किया गया है। उन्होंने लिखा:

"यह बताना आवश्यक है कि किस उद्देश्य से और किन घटनाओं के सन्दर्भ में यह निबन्ध लिखा गया है। लेनिन के निबन्ध 'सर्वहारा संस्कृति', 'पार्टी संगठन और पार्टी साहित्य' और 'युवा संगठन के कर्तव्य' में साहित्य से मतलब ललित कला नहीं है।"

क्रुप्सकाया व्यक्तिगत रूप से लेनिन के सन्निकट थीं जबकि स्तालिन और ज्दानोव ने उनकी कृतियों से उद्धरणों का संग्रह मात्र किया है। सोवियत पत्र 'द्रुज्बा नरोदोव' ने १९६० के चौथे अंक में क्रुप्सकाया की महत्त्वपूर्ण टिप्पणी प्रकाशित की है। किन्तु इस टिप्पणी में भी 'पार्टी संगठन और पार्टी साहित्य' के लिखे जाने की पृष्ठभूमि के विश्लेषण का स्थान नहीं ले सकती।

क्रान्ति और पार्टी

१९५० के पतझड़ में रूस का विशाल जन-समूह आन्दोलित हो उठा था। क्रान्ति प्राकृतिक और स्वतःस्फूर्त थी। सवाल यह था कि इस क्रान्ति का नेतृत्व कौन करे जिससे ज़ारशाही का पतन हो और जनतान्त्रिक गणतन्त्र की जीत हो?

अवैधता तोड़कर बोल्शेविक उभर आये थे। उनके छोटे लड़ाकू समूहों के सामने गैर-पार्टी जन-समूहों से एकताबद्ध होने की समस्या थी। इसके साथ ही प्रगतिशील बुद्धिजीवियों से एकताबद्ध होने का सवाल था जो अधिकांशतः समाजवादी थे और ईसप की कहानियों की भाषा में तत्कालीन विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखा करते थे और प्रायः उग्र तथा सुधारवादी दृष्टिकोणों की बेमेल खिचड़ी पकाते रहते थे। उस समय सम्पूर्ण देश में ऐसे संगठन एकाएक बनते चले गये जिनका अनुभव सीमित था और नेतृत्व आकस्मिक। अपने एक निबन्ध 'समाजवादी पार्टी और गैर-पार्टी क्रान्तिकारिता' में लेनिन ने उस परिस्थिति का वर्णन निम्न तरह से किया था—

"रूस का क्रान्तिकारी आन्दोलन बड़ी तेजी से आबादी के नये हिस्सों में फैल रहा है, जिससे अनेकानेक गैर-पार्टी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संगठन पनप उठे हैं···। सभी प्रकार के संगठन, प्रायः अपने स्वरूप में ढीले-ढाले और स्वभाव से अत्यन्त मौलिक, अबाध रूप से पनपते चले जा रहे हैं। उनकी कोई बँधी-बँधायी सीमाएँ नहीं हैं—ठीक उसी तरह जैसे यूरोप में अनेक पार्टियाँ हैं।···पार्टी सिद्धान्त का कठोरतापूर्वक पालन आज की जरूरत है और यही उच्चतम अवस्था में विकसित वर्गसंघर्ष का सही नतीजा है। इसी प्रकार खुले और व्यापक रूप में फैलते हुए वर्गसंघर्ष की यह माँग है कि कठोर पार्टी-सिद्धान्त का विकास किया जाय।"[५]

बर्बरता, जंगलीपन, भ्रष्टाचार तथा भू-दास प्रथा के अन्य 'रूसी' अवशेषों को खत्म करने की माँग करने वाली जनतान्त्रिक क्रान्ति के समय गैर-पार्टी क्रान्तिकारिता के विचार का व्यापक प्रसार दुर्निवार था। 'मानवीय,' सभ्य जीवन जीने की आकांक्षा, मानवीय गरिमा की प्रतिरक्षा के लिए संगठित होने की उद्दाम वृत्ति, मनुष्य और नागरिक होने के नाते अपने अधिकारों की माँग—सबको अपनी गिरफ्त में ले लेती है, सभी वर्गों को एकता के सूत्र में बाँध देती है, व्यापक पैमाने पर पार्टी-बन्धनों को छिन्न-भिन्न कर देती है।' यह गैर-पार्टी सिद्धान्त "हमारी क्रान्ति के बुर्जुआ चरित्र की उत्पत्ति—या अभिव्यक्ति था। बुर्जुआ वर्ग अपने को गैर-पार्टी सिद्धान्त के प्रति झुकाव से रोक नहीं पाता—बुर्जुआ समाज की मुक्ति के लिए लड़ने वालों में पार्टियों का अभाव इसलिए होता है कि स्वयं बुर्जुआ समाज के विरुद्ध संघर्ष छिड़ने की कोई सम्भावना न हो···"यह गैर-पार्टी विचार बुर्जुआ विचार है। पार्टी का सिद्धान्त समाजवादी सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त सामान्यतः और समग्रतः सारे बुर्जुआ समाज पर भी लागू होता है। इस सामान्य सत्य को विशेष प्रश्नों और विशेष स्थितियों में लागू करने की ज़रूरत है। किन्तु इस सत्य को इस समय, जबकि पूरा बुर्जुआ समाज सामन्तवाद और एकतन्त्र के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ है, भूलने का अर्थ है बुर्जुआ समाज की समाजवादी आलोचना से आँखें मूँद लेना।"[६]

पार्टी-संगठन और पार्टी साहित्य

अवैधता को तोड़कर बाहर उभर पड़ी बोल्शेविक पार्टी के सामने क्रान्तिकारी विप्लव में हिस्सा लेते हुए जन-समूह के नेतृत्व का प्रश्न मुख्यतया दो लक्ष्यों को लेकर था: जनतान्त्रिक क्रान्ति और उसके साथ ही सर्वहारा क्रान्ति के लिए समाजवादी सर्वहारा को तैयार करना।

इस दुहरे सबक को पूरा करने के लिए यह आवश्यक था कि पार्टी-प्रकाशन और साहित्य पर भरपूर ज़ोर दिया जाय। 'पार्टी-संगठन और साहित्य' नामक अपने निबन्ध में लेनिन ने लिखा—

"जब तक वैध और अवैध प्रकाशन का अन्तर था, उस अवधि पार्टी में और गैर-पार्टी प्रकाशन की समस्या अत्यन्त सरल ढंग से सुलझा ली गयी और वह भी छद्म तथा असाधारण रीति से। सम्पूर्ण अवैध प्रकाशन पार्टी-प्रकाशन था जो उन संगठनों और समूहों से संबद्ध था जिनका संचालन पार्टी-कार्यकर्ताओं के हाथ में था। दूसरी तरफ सम्पूर्ण वैध प्रकाशन गैर-पार्टी था (क्योंकि पार्टियों पर पाबन्दी लगी हुई थी), किन्तु इसके बावजूद वे सभी इस या उस पार्टी के प्रति रुझान रखते थे। अस्वाभाविक गठजोड़, अजीब जोड़ेदारी और छद्म आवरण-सज्जा आदि अपनाना अनिवार्य था। वह अवधि ईसोपीय भाषा, साहित्यिक बन्धनों, गुलाम ढंग की बोली और सैद्धान्तिक दासता के लिए अभिशप्त थी।"[७]

वह अपूर्ण, अर्ध-पूर्ण और अर्ध-क्रान्ति थी जिसमें खुली, प्रत्यक्ष और निरन्तर पार्टी-चेतना के साथ का फरार, गुप्त और राजनैतिक वैधता का अस्वाभाविक सम्मिश्रण था। इस स्थिति में पार्टी को इस माँग के लिए मजबूर कर दिया कि जो लेखक और पत्रकार पार्टी-सदस्य हैं, वे खुले तौर पर अपनी निष्ठा व्यक्त करें। "साहित्य को अनिवार्यतः सर्वहारा के सामान्य लक्ष्य का अंग होना चाहिए, मज़दूर-वर्ग के तमाम राजनीतिक रूप से सचेत अग्रिम दस्ते के द्वारा जो महान् 'सोशल-डिमोक्रेटिक' मशीन गतिमान कर दी है, उसका अभिन्न पहिया होना चाहिए।"[८]

लेनिन की कार्य-प्रणाली ही यह थी कि वे आत्यन्तिक स्थितियों में आत्यन्तिक स्थापनाएँ किया करते थे। लेकिन इस स्थिति में उस आत्यन्तिक स्थापना पर उन्होंने सुचिंतित टिप्पणी प्रस्तुत की—

"'सभी तुलनाएँ दूषित होती हैं'—यह एक जर्मन कहावत है। साहित्य की पहिया से तुलना भी ऐसी ही है क्योंकि यह जीवंत गति और यंत्र की तुलना है।···साहित्य को थोड़ा भी यांत्रिक ढंग से अभियोजित करने या उसे समतल करने लायक चीज़ के रूप में देखने का सवाल ही नहीं उठता; यहाँ अल्पमत पर बहुमत के शासन का भी प्रश्न नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उठता। इस क्षत्र में यह निर्विवाद है कि विचार और फैंटेसी, रचनातंत्र और विषय-वस्तु में व्यक्तिगत रुझान के लिए पहल करने की असंदिग्ध रूप से छूट होनी चाहिए। इस सबसे इनकार नहीं किया जा सकता; किंतु इससे यह भी साफ है कि सर्वहारा पार्टी-लक्ष्यों का साहित्यिक पक्ष अपर पक्ष के साथ यांत्रिक रूप से तदाकार नहीं माना जा सकता।"

अतः यहाँ सामान्य साहित्य का सवाल नहीं था बल्कि 'पार्टी-कार्य के साहित्यिक पक्ष' का, पार्टी-साहित्य का, राजनीतिक लेखन का सवाल था। लेनिन ने जो माँग की थी, वह यह थी—

"समाचार-पत्रों को विविध पार्टी-संगठनों का मुखपत्र होना चाहिए और उनके लेखकों को हर तरह से इन संगठनों का सदस्य होना चाहिए। प्रकाशन और वितरण केन्द्र, किताब की दूकानें और वाचनालय, पुस्तकालय और इसी तरह के अन्य प्रतिष्ठान—सबको अनिवार्य रूप से पार्टी के नियंत्रण में होना चाहिए।"

लेनिन की दृष्टि में निर्णायक चीज थी प्रकाशन और पार्टी से संबद्ध प्रचारकों का कार्यकलाप। उनकी बुनियादी माँग थी—"हम स्वतंत्र प्रकाशन स्थापित करना चाहते हैं और स्थापित करेंगे; यह स्वतंत्रता केवल पुलिस से स्वतंत्र नहीं होगी बल्कि पूँजी, अवसरवाद और उससे भी बढ़कर बुर्जुआ-अराजकतावादी व्यक्तिवाद से भी स्वतंत्र होगी।" "आप विज्ञान, दर्शन, सौंदर्यशास्त्र से संबद्ध प्रश्नों का हल क्या बहुमत के द्वारा करेंगे?" इस संभावित सवाल का उत्तर देते हुए उन्होंने लिखा—

"महाशयो, तसल्ली रखिये! अभी सबसे पहले हम पार्टी-साहित्य और उस पर पार्टी-नियंत्रण के बारे में विचार कर रहे हैं। हर कोई जो चाहे लिखने के लिए स्वतंत्र है—बिना किसी पाबंदी के। किन्तु हर स्वैच्छिक संगठन (यहाँ तक कि पार्टी भी) उन सदस्यों को संगठन से बहिष्कृत करने के लिए भी स्वतंत्र है जो पार्टी के नाम पर पार्टी-विरोधी काम करते रहते हैं। भाषण और प्रकाशन की स्वतंत्रता सम्पूर्ण होनी चाहिए। किन्तु इसके साथ संगठन बनाने और चलाने की स्वतंत्रता भी सम्पूर्ण होनी चाहिए। मैं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के नाम पर आपको शोर करने, झूठ बोलने और दिल खोलकर लिखने की पूरी आज़ादी देने को तैयार हूँ। लेकिन इसके साथ आप भी मुझे संगठन की स्वतंत्रता के नाम पर किसी भी संगठन में प्रवेश करने या उससे निकलने, इस या उस दृष्टिकोण का प्रचार करने वाले संगठन की स्वतंत्रता देने के लिए बाध्य हैं। पार्टी एक स्वैच्छिक संगठन है। वह अगर पार्टी-विरोधी दृष्टिकोण का प्रचार करने वाले लोगों के कचरे से अपने को साफ नहीं करती तो एक दिन पहले सैद्धान्तिक स्तर पर और बाद में सांगठनिक स्तर पर अनिवार्यतः बिखर जायेगी···पार्टी के अन्दर रहकर विचार और आलोचना की स्वतंत्रता का हक मिल जाने पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हमें उन स्वैच्छिक संगठनों को बनाने की स्वतंत्रता का भी अधिकार है जिसे पार्टी कहते हैं।"[८]

स्वतंत्रता और स्वैच्छिक चुनाव

इतने विस्तार से लेनिन को उद्धृत करने का अर्थ यह नहीं है कि मैं इन उद्धरणों को रूढ़ि का दर्जा दे रहा हूँ अथवा परिस्थिति-प्रेरित किसी कथन को शाश्वत बना रहा हूँ, बल्कि मेरा उद्देश्य तो उद्धरणों के दुरुपयोग का विरोध मात्र करना है। संदर्भ से स्पष्ट है कि यहाँ लेनिन की चिन्ता 'पार्टी-समझ' के कलात्मक सिद्धान्त को लेकर नहीं है बल्कि यह प्रसंग प्रकाशन तथा पार्टी के राजनीतिक साहित्य का है। अभिव्यक्ति और प्रकाशन की स्वतंत्रता परिपूर्ण होनी ही चाहिए। पार्टी-सदस्य को केवल एक स्वतंत्रता नहीं मिलती, और वह यह कि पार्टी-सदस्य पार्टी के प्रकाशनों का दुरुपयोग कर पार्टी पर आक्रमण करे। पार्टी स्वेच्छा वरण पर स्थापित है। कोई भी व्यक्ति, जो अपनी इच्छा से पार्टी का सदस्य बनता है, उसे पार्टी के विरुद्ध बोलने या लिखने का अधिकार नहीं है। हालाँकि पार्टी के अन्दर विचार और आलोचना की पूरी छूट है। क्रान्तिकारी पार्टी का सदस्य होना अपने-आप में कोई लाभ की चीज़ नहीं है। अगर कोई पार्टी अपने सदस्य को निकाल देती है तो सदस्य को पेशे, एकेडेमिक कैरियर, लिखने या बोलने में छूट का कोई नुकसान नहीं उठाना पड़ता है। स्वतन्त्रता और स्वतन्त्र चुनाव का सिद्धान्त दुतरफा कार्य करता है। ऐसे समय अगर केन्द्रीयकरण क्रान्तिकारी आवश्यकता है तो पार्टी-साहित्य का पार्टी-संगठन के अधीन रहना अपरिहार्य है। फिर भी पार्टी-प्रकाशन और पार्टी-साहित्य में खुले विचार को कितनी छूट थी, पर उस समय भी लेनिन ने 'यान्त्रिक अभियोजन या समतलीकरण···अल्पमत पर बहुमत के शासन' के विरुद्ध साहित्य का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पक्ष लिया था। फिर ऐसे नियम के आगे समग्र साहित्य को झुका देने की बात तो लेनिन ने और भी कम सोची होगी।

पूंजीवादी संसार में लेखक और कलाकार की 'निरपेक्ष स्वतन्त्रता' के ढोंग का तीव्र खंडन करने के लिए लेनिन ने पूंजीवाद के 'अखंडपूर्ण स्वतन्त्र' साहित्य की तुलना में 'सर्वहारा के साथ खुले रूप में संबद्ध था : स्वतन्त्र साहित्य' को रखा है। उनके निम्नलिखित कथन में किसी माँग की अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि एक स्वप्न है :

"यह मुक्त साहित्य होगा, क्योंकि समाजवाद और श्रमिक जनता के प्रति हमदर्दी का ख़याल, न कि लालच और अवसरवाद, श्रमिक जनता की कतारों में नयी ताकतों को लायेगा। यह मुक्त साहित्य होगा, क्योंकि यह किसी परितृप्त नायिका की सेवा न करेगा, और न पतनोन्मुखता के दलदल में फँसे और ऊबे हुए 'उच्चवर्गीय दस हज़ार' लोगों की सेवा करेगा, बल्कि लाखों-करोड़ों श्रमिक जनता की सेवा करेगा जो देश के प्रसून हैं, शक्ति हैं और भविष्य हैं। यह मुक्त साहित्य होगा, क्योंकि यह मानव जाति के क्रान्तिकारी विचारों को उत्कर्ष प्रदान करने के क्रम में समाजवादी सर्वहारा के अनुभवों और जीवंत कार्यकलापों का सम्मिश्रण करेगा जिसमें अतीत के अनुभव (वैज्ञानिक समाजवाद, समाजवाद के आदिम, काल्पनिक रूपों से विकास की पूर्णता) और वर्तमान के अनुभवों (मजदूर साथियों का वर्तमान संघर्ष) के बीच स्थायी क्रिया-प्रतिक्रिया का सम्बन्ध स्थापित हो सके।"

पूर्वोद्धृत अन्य अनुच्छेदों के विपरीत यह अनुच्छेद सामान्य साहित्य पर प्रकाश डालता है। एक ओर इस अनुच्छेद में की गई स्थापना है और दूसरी ओर वे कृतियाँ हैं जिनमें लेनिन ने विस्तृत सामग्री और गहन चिन्तन के आधार पर अपने सिद्धान्तों का विकास किया; यदि इन दोनों की तुलना करें तो इस सुचिंतित निबंध के अंत में प्राप्त होने वाला उत्तेजक स्वर और प्रचारक-सुलभ करुणा से यही व्यक्त होता है कि इसमें कोई सिद्धान्त नहीं बल्कि एक दिवास्वप्न है। इसके अतिरिक्त इस विवादास्पद वाक्य—'सम्पूर्ण सोशल-डिमोक्रेटिक साहित्य को पार्टी-साहित्य होना चाहिए' से यह निष्कर्ष निकालना दूर की कौड़ी लाना ही है कि संपूर्ण साहित्य समाजवादी-जनतांत्रिक (सोशल डिमोक्रेटिक) होना चाहिए; इससे भी बुरी बात यह कि कला पार्टी-अधिकारियों के अधीनस्थ हो। लेनिन ने कभी भी कला और साहित्य के लिए विषय या माध्यम निर्धारित करने का दावा नहीं किया। वे भविष्यवाद की पृष्ठभूमि के कारण मायकॉव्स्की के प्रशंसक नहीं थे; लेकिन उनका कहना था कि इस सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय क्रान्तिकारी युवावर्ग पर छोड़ देना चाहिए। चूंकि उनमें से बहुत-से लोग इस कवि के प्रशंसक थे, अतः उसमें अवश्य ही कुछ रहा होगा।

रेडीमेड फार्मूले के विरुद्ध

चूंकि कला में 'पार्टी-समझ' के लिए गरजने वाले कभी-कभी २० अक्तूबर १९२० को कम्युनिस्ट युवा लीग के तीसरे अधिवेशन में दिये गये लेनिन के व्याख्यान का हवाला देते हैं, अतः मैं भी उस व्याख्यान से उद्धृत करना पसन्द करूँगा—

"यदि कोई कम्युनिस्ट उन तथ्यों को समझे बिना, जिनका आलोचनात्मक परीक्षण अपेक्षित है और गंभीर तथा कठिन श्रम किये बिना ही अनायास लभ्य बने-बनाये निष्कर्षों के कारण अपने कम्युनिज्म की डींग हाँकने का वहम पाल लेता है तो निश्चय ही वह एक दयनीय कम्युनिस्ट है।...

आपके सामने निर्माण का प्रश्न है और आप अपने इस काम को तभी पूरा कर सकते हैं जब सारे आधुनिक ज्ञान को अपने अन्दर पचाएँ—तभी और केवल तभी आप कम्युनिज्म को बने-बनाए और रटे-रटाये फार्मूलों, परामर्शों, नुस्खों और कार्यक्रमों से निकालकर जीवंत वास्तविकता बना सकते हैं...।"

यदि कुछ समाजवादी राज्यों में सौन्दर्यशास्त्र नियंत्रित है, 'पार्टी-समझ' की भ्रामक व्याख्या की गई है और सर्जनात्मक कल्पना पर नौसिखुएपन की नौकरशाह तानाशाही है तो उनकी 'कला-सम्बन्धी नीति' की आलोचना करते समय सावधानी और रियायत का परित्याग आवश्यक है; क्योंकि कलाओं के क्षेत्र में एक नये युग के समारंभ की दिशा में समाजवाद पूंजीवाद की अपेक्षा बेहतर स्थिति में है। इस संक्षिप्त 'अंतर्हिमानी' अवधि में, सोवियत संघ, पोलैंड, हंगरी और चेकोस्लोवाकिया में साहित्य और कला आश्चर्यजनक गति से हिमजड़ता-मुक्त हुआ है, अभिव्यंजना के साधनों के मामले में पश्चिम के लगभग बराबर पहुँच गया है और अपनी विषय-वस्तु में कभी-कभी आगे भी निकल गया है। इसीलिए हरे गेहुँओं को रह-रहकर जो बूट और खुर कुचल देते हैं, उनके बारे में एक समाजवादी केवल वेदना और क्रोध के साथ ही बात कर सकता है।

अनुवादक : मुरली मनोहर प्रसाद सिंह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ-संकेत

१. अर्न्स्ट ब्लाख, लिटरेरीस्च्यू ऑफ्सत्ज़े, संकलित रचनाएँ, खंड-९ (फ्रैंकफर्ट, सहकम्प, १९६५)।

२. ए० वी० लुन्चार्स्की, 'साहित्य और कला पर' (मास्को : प्रगति प्रकाशन, १९६५)।

३. वही।

४. सोशल-डिमोक्रेटिक पार्टी के एक अधिकारी का ग्यारहवें प्लेनम के समय भाषण।

५. व्लादिमिर लेनिन, समाजवादी पार्टी और गैर-पार्टी क्रान्तिकारिता, संकलित रचनाएँ, खंड-१० (लन्दन, लारेंस और विशार्ट, १९६२)।

६. वही।

७. लेनिन, पार्टी संगठन और पार्टी साहित्य, संकलित रचनाएँ, खंड-१० (लंदन : लारेंस और विशार्ट, १९६२)

८. वही।

[अर्न्स्ट फिशर की पुस्तक 'आर्ट अगेन्स्ट आइडियालोजी' (१९६९) एलेन लेन लंदन, के पाँचवें अध्याय से साभार।]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जार्ज लूकाच के साथ एक इंटरव्यू

इस्तवान साइमन और इर्विन जित्यनि

—लेनिन पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने सर्वप्रथम यह मान्यता प्रस्तुत की कि सह-अस्तित्व एक ऐतिहासिक आवश्यकता है; —और उन्होंने इसके निहितार्थों को कार्यान्वित भी किया। सोवियत संघ की बीसवीं पार्टी कांग्रेस ने इसे तथा अन्य कई लेनिनवादी विचारों को पुनर्जीवन दिया। आज इस मत का क्या अर्थ है? क्या आज से पूर्व के विचारों की तुलना में इसका अर्थ बदल गया है? क्या आज से पूर्व की स्थिति के साथ इसकी राजनीतिक-ऐतिहासिक मान्यताएँ मेल खाती हैं या वे इस दरम्यान परिवर्तित हो गयी हैं?

—मैं उस भाषण का संकेत देते हुए आरम्भ करूँ जो मैंने १९५६ में एक राजनीतिक अकादमी में दिया था। उसमें मैंने कहा था कि सह-अस्तित्व वर्ग-संघर्ष का एक नया रूप है और जैसा कि सभी वर्ग-संघर्षों के साथ 'कौन-किसे' का लेनिनवादी सिद्धान्त लागू होता है, इस संदर्भ में भी वह प्रामाणिक है। लेकिन आज हम उस बुनियादी तथ्य की ओर उपेक्षा नहीं कर सकते जो किसी भी प्रकार के सह-अस्तित्व की पृष्ठभूमि में मौजूद है। इसे हम दो संस्कृतियों के बीच आपस का निर्बाध सम्पर्क कह सकते हैं जिसे न तो युद्ध के द्वारा रोका जा सकता है और न निषेध के द्वारा। उदाहरण के लिए यह देखें कि फ्रांसीसी-जर्मन शत्रुता के बावजूद बारबूस ने अपने उपन्यास में लाइबनेख्ट के दृष्टिकोण का किस प्रकार इस्तेमाल किया, या उस अवधि को जब पश्चिमी शक्तियों ने सोवियत संघ पर हमला करने की तैयारी की, जब उन्होंने उसे मान्यता नहीं दी थी, लेकिन फिर भी 'पोतेम्पकीन'-फ़िल्म ने यूरोप में तहलका मचा दिया था और बुद्धिजीवियों में अत्यधिक उत्तेजना पैदा कर दी थी। कहने का अर्थ यह कि दो संस्कृतियों के बीच सम्पर्क था।

बीसवीं कांग्रेस के बाद कमोबेश यह एक नयी घटना थी कि अमरीकी नीति को बाध्य होकर यह मानना पड़ा कि पीछे की ओर मुड़ने की नीति—यानी सैनिक गुरुता के प्रदर्शन द्वारा विश्व-युद्ध के परिणामों को विपरीत दिशा में ले जाने की नीति असफल रही और आणविक गतिरोध के कारण उन्हें दीर्घ अथवा संक्षिप्त अवधि के लिए सोवियत संघ के साथ शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की स्थिति में आना पड़ा। इससे एक विचित्र स्थिति खड़ी हो गयी : एक तरफ तो आणविक गतिरोध ने विश्वयुद्ध को बिल्कुल असम्भव कर दिया और दूसरी ओर युद्ध के सभी कारण—यानी साम्राज्यवादी हस्तक्षप, औपनिवेशिक जनता की मुक्ति आदि—विद्यमान रहे। यही कारण है कि सतत् तनाव मौजूद हैं जिसे वे इस प्रकार नियन्त्रित रखने की कोशिश कर रहे हैं जिससे वह विश्वयुद्ध का रूप न ले ले। ऐसे ही वातावरण में सह-अस्तित्व जन्म लेता है; जिसका अर्थ यह भी होता है कि सांस्कृतिक सम्पर्क लगातार बढ़ रहा है यद्यपि समाजवादी और गैर-समाजवादी दुनिया के बीच किस्म-किस्म के राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक प्रतिरोध भी विद्यमान हैं। यही कारण है कि मेरी राय में, और मेरी यह राय बाकायदा १९५६ में ही थी, सह-अस्तित्व की समस्या को अन्तर्राष्ट्रीय वर्ग-संघर्ष का एक नया रूप समझकर ही विचार किया जा सकता है। इसका यह अर्थ नहीं कि किसी को अपने विरोधी के प्रति पशुवत् अथवा अश्लील होना चाहिए या यह कि वह उसके कथन को मिथ्या साबित करे; इसके विपरीत जिस प्रकार युद्ध में सफलता उत्तम उद्देश्य और सही हथियार पर निर्भर करती है, उसी प्रकार सांस्कृतिक सह-अस्तित्व के क्षेत्र में सर्वोत्तम सांस्कृतिक उपलब्धियों के आधार पर ही वास्तविक सफलता प्राप्त की जा सकती है।

कोई कारण नहीं है कि हमारे अखबार यह खबर न दें कि अमरीका में डा० क्ष-त्र ने ३२ पुरस्कार प्राप्त किये। यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्य है कि हंगेरी के लिए बर्तोक सचमुच ही उपलब्धि है। किन्तु इसमें मुझे सन्देह है कि आधुनिक कही जाने वाली कुछ अन्य कृतियाँ उपलब्ध हैं। वास्तव में महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक उपलब्धियाँ ही सह-अस्तित्व में चिर-स्थायी विजय हासिल कर सकती हैं—मैं सिर्फ सांस्कृतिक उपलब्धियों की बात कह रहा हूँ, आर्थिक उपलब्धियों की नहीं जिनसे सम्बन्धित अन्य समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। अन्य शब्दों में, हमारे दृष्टि-कोण से, और वर्ग-संघर्ष में विजय के लिए जो महत्त्वपूर्ण है वह यह कि गैर-समाजवादी देशों में यथासम्भव व्यापकतम पैमाने पर उन शक्तियों को अपने पक्ष में सहमत कर लेना चाहिए और वे यह महसूस करने लगें कि एक इन्सान के योग्य अस्तित्व को पूंजीवाद की अपेक्षा समाजवाद के अन्तर्गत अधिक अच्छी तरह प्राप्त किया जा सकता है। यही वह जीत है जिसके लिए हमें वस्तुतः संघर्ष करना चाहिए और इसी की उपलब्धि के लिए हमें सह-अस्तित्व के अन्तर्गत लड़ाई लड़नी चाहिए।

—बौद्धिक जीत और विचारों की श्रेष्ठता, वास्तव में जिसकी उम्मीद कोई कर सकता है, आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता में अवसर और परिणाम को भी किस प्रकार प्रभावित करती है ?

—यहाँ भी अवधि-विशेष के अनुसार समस्या में फर्क आ गया है। यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि सन् '२० से '३० की अवधि में सोवियत अर्थव्यवस्था की बुरी हालत का सोवियत संस्कृति के आकर्षण पर कोई निर्णायक प्रभाव नहीं पड़ा था। लोग सिर्फ उस समाजवाद के लिए सोच में पड़ गये जो पूंजीवाद की अपेक्षा उनके जीवन की समस्याओं का बेहतर हल उपस्थित करने की क्षमता रखता था। कई वर्ष पूर्व मैंने जर्मनी-निवासी साहित्य के एक बुर्जुआ इतिहासकार को पढ़ा जिन्होंने सन् '२० से '३० की अवधि के साहित्य का विवेचन करते हुए यह मत दिया था कि सोवियत संघ साहित्य में उस प्रवाह का आधार है जिसे वास्तव में विरोध का अभिन्न अंग माना जा सकता है, और इससे उनका मतलब कम्युनिस्ट साहित्य नहीं था, बल्कि उनका मतलब उस अवधि के ब्रेख्त अथवा ब्रेचर जैसे लेखक से था। इसके अलावा उस 'मूड' ने जर्मनी के बुर्जुआ साहित्य को गम्भीरता से प्रभावित किया था। इसके बाद उनका कहना था कि चूंकि समाजवाद से सम्बन्धित अनेक व्यक्तियों का भ्रम टूट चुका था, अतः जर्मनी का साहित्यिक विरोध आश्रयहीन और अनाथ हो चुका था। किसी ऐसे व्यक्ति का यह कथन, जो हमारे शिविर का अंग नहीं है, एक अत्यन्त दिलचस्प रियायत है। सन् '२० से '३० की अवधि में क्रान्ति-कारी बुद्धिजीवियों का एक विशिष्ट वर्ग—कुछ क्षण पहले मैं ब्रेचर और ब्रेख्त की बात कर चुका हूँ जिनके साथ अर्नाल्ड ज्वाइग, अन्ना सेगर्स, एलुआर अथवा पिकासो का भी नाम ले सकता हूँ—कम्युनिस्ट हो चुका था। आज हम विशिष्ट युवा लेखकों की ओर देखते हैं तो हमें उनमें कम्युनिस्टों की बहुलता नहीं मिलती। क्यों ? यह सच है कि सोवियत संघ की सतत निन्दा की जाती है। लेकिन सन् '२०-'३० के बीच तो शायद उसकी और अधिक निन्दा की गयी थी। ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि आज यह अधिक हो रहा है। इस सन्दर्भ में हमें आत्मालोचन करना चाहिए और हमें अपने इतिहास की जाँच करनी चाहिए। हमें अपने से यह सवाल करना चाहिए कि आज हम जो लिखते हैं उसका वह प्रभाव नहीं है जो सन् '२०-'३० के बीच था। यहाँ से हमें व्यक्ति-पूजा की समाप्ति की अवधि की ओर जाना होगा, क्योंकि वह स्टालिनवादी काल था जब यूरोप के बुद्धिजीवियों ने कम्यु-निस्टों की ईमानदारी में अपनी आस्था खो दी थी। और जब वे यह विश्वास नहीं कर पा रहे थे कि कम्युनिस्ट उनसे जो कुछ कह रहे थे वह सच था। यहाँ मैं केवल एक मामूली उदाहरण दूंगा : पश्चिम में कोई व्यक्ति उस पार्टी के इतिहास के बारे में क्या सोचेगा या सोच सकता है, जिसमें १९१७ का विवेचन किया गया हो, लेकिन त्रात्स्की के नाम या उसकी भूमिका का ज़िक्र न हो। यह एक विसंगति है : यद्यपि मैं किसी भी प्रकार त्रात्स्की का समर्थन नहीं कर सकता। लेकिन १९१७ की घटनाओं में त्रात्स्की ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी, इस तथ्य को नकारने का यह भी अर्थ होगा कि आज से इतिहास से सम्बन्धित हमारी किसी भी बात पर विश्वास नहीं किया जायगा।

—क्या आप सह-अस्तित्व में हमारी जीत के लिए हमारे बौद्धिक जीवन से व्यक्तित्व-पूजा की समाप्ति को आधार-भूत कसौटी मानते हैं ? क्या आप जनतन्त्र के व्यापक विकास को इस मान्यता से जोड़ सकते हैं कि सह-अस्तित्व आवश्यक है ?

—निश्चय ही वे एक-दूसरे से जुड़े हैं और हम सह-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तित्व की आवश्यकता को पहचानने के बिन्दु पर पहुँच चुके हैं और इसके साथ ही यह भी कि सह-अस्तित्व का नियन्त्रण नौकरशाही के द्वारा उतना ही कम हो सकता है जितना कि, उदाहरण के लिए, अपने देश में जनमत का। क्योंकि वस्तुतः कोई भी जनमत को नियन्त्रित नहीं कर सकता। एक महिला जब दूसरी महिला से किसी फिल्म के बारे में यह कह रही हो कि यह फिल्म, यद्यपि लोगों ने इसकी तारीफ की है, पर यह भद्दी फिल्म है और उसे मत देखो। उस समय उन्हें ऐसा करने से रोकने का कोई तरीका हमारे पास नहीं है। जो कोई हंगेरी की स्थिति की खबर रखता है यह जानता है। एक उदाहरण दूं: फिल्मों की सफलता बिल्कुल इस बात पर निर्भर नहीं करती कि अखबार उनके बारे में क्या छापते हैं। इस गप-शप के स्तर पर जनमत फैलता है। पश्चिम में इस आलोचनात्मक जनमत के विकास में बाधा डाले जाने की संभावना और भी कम है—पर हमें इसके प्रति सतर्क होना चाहिए—और इस बात के प्रति भी, कि केवल हमारी निन्दा करने में दिलचस्पी रखने वाला बोलशेविक-विरोधी जनमत भी है। लेकिन इसके साथ ही ऐसे ईमानदार लोग भी हैं, जो समाजवाद से सहानुभूति रखते हैं, जिनका विश्वास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, लेकिन वे अपने को हमारी छलयोजना का शिकार नहीं होने दे सकते।

—युद्धोपरान्त शीत-युद्ध के सभी सिद्धान्तों का निरपवाद रूप से दिवाला निकल गया। वे सभी राजनीतिक विचार जो वास्तविक स्थिति को प्रतिबिम्बित करने और उसे अभिव्यक्त करने की चेष्टा करते हैं, वे आज न कोई आश्वासन देते हैं और न कोई हल बल्कि सन्दिग्ध लगते हैं: मुझे ऐसा लगता है कि हमारे दृष्टिकोण से यह महत्त्वपूर्ण है कि हमारी नीति सचेत एवं सैद्धान्तिक रूप से न्याय-सम्मत मतों से शासित होनी चाहिए, क्योंकि मजदूर-वर्ग के आन्दोलन की यह हमेशा विशिष्टता रही है। आप क्या सोचते हैं?

—आप बिल्कुल ठीक कह रहे हैं। स्थिति बहुत बदल गई है। ऐसा कहा जा सकता है कि अमरीकी जीवन-पद्धति का सिद्धान्त ढह गिरने की हालत में है चाहे उसका सम्बन्ध वियतनाम युद्ध से हो या घरेलू नस्ली समस्या से। इंगलैंड तथा अन्य देशों में भी स्थिति समान है। प्रश्न यह है कि हम किस हद तक इसे दबा सकेंगे और नया सिद्धान्त पेश करेंगे अगर, उदाहरणस्वरूप, हमारे राजनीतिक अर्थशास्त्र में लेनिन के प्रबन्ध 'साम्राज्यवाद' पर सिर्फ नयी टिप्पणियाँ ही शामिल हों और हम अमरीका में आनेवाले घोर संकट का इन्तजार ही करते रहें। इस प्रकार के राजनीतिक अर्थशास्त्र का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता क्योंकि यह सिर्फ तथ्यों के विपरीत पड़ता है। हमारी प्रस्थापना का आदर तभी हो सकता है, जब हम मार्क्सवादी प्रणाली से आज के आर्थिक तथ्यों की व्याख्या करने योग्य होंगे। मुझे यह दृढ़ विश्वास है कि यह सम्भव है।

विदेश में होने वाले संकट से सम्बद्ध प्रश्नों का किसी प्रकार का जवाब देने का ढंग यह नहीं है। हमें दम्भी अथवा अभद्र नहीं होना चाहिए बल्कि हमें इसकी पहचान होनी चाहिए कि विदेश में वे कितनी भी बुरी तरह समाजवाद की निन्दा करें फिर भी हरेक व्यक्ति, जो किसी आर्थिक, राजनीतिक अथवा सांस्कृतिक दृष्टिकोण से पूंजीवाद से असंतुष्ट है, सहज रूप से हमारी तरफ मुड़ेगा एक समझदारी से भरा जवाब पाने की उम्मीद में। अब अगर उत्तर पाने के लिए उन प्रतीक्षित लोगों को एक नौकरशाही का जवाब मिलता है और जवाब भी ऐसा जो तत्कालीन कार्यनीति से पैदा होता है या किसी छद्म लेखक की रचनाएँ हमारे द्वारा उनके सामने कर दी जाती हैं तो यह स्पष्ट है कि समाजवाद के प्रभाव में कमी आएगी और एक ऐसे 'मूड' का विकास होगा या कहिए, दुर्भाग्य से पश्चिम में ऐसे 'मूड' का विकास वस्तुतः हो चुका है उन लोगों के बीच भी जो पूंजीवाद की तरफदारी नहीं करते हैं, क्योंकि अब वे वैसा और कर भी नहीं सकते। वे सम्भवतः ऐसा कहते हैं कि मानवीय स्थिति अपने-आप में बिल्कुल निराशापूर्ण है, न तो पूंजीवाद और न समाजवाद इसका जवाब देने के योग्य रह गया है। इसके लिए अधिकांशतः जवाबदेह हम हैं। इस जवाबदेही की माँग ही हमें वह रास्ता बतलाती है जिसकी ओर हमें प्रगति करनी चाहिए। इसके लिए दुहरे कदम आवश्यक हैं: प्रणाली में मार्क्स का अनुसरण करें और व्यवहार में वर्तमान घटनाओं की मार्क्सवादी व्याख्या की ओर बढ़ें। अगर हम ऐसा कर सकें तो हम सह-अस्तित्व से सम्बन्धित लड़ाई में विजयी होंगे और अगर नहीं कर सके तो यह आवश्यक है कि हमें हार मिलेगी। हमारा आत्मालोचन इसी उद्देश्य की दिशा में होना चाहिए। दो भिन्न प्रकार के तर्क दिए जाते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं जो अक्सर एक-दूसरे से मिले होते हैं। नौकरशाह यह सोचते हैं कि थोड़ी बेहतर और आधुनिक रूढ़ियाँ इस उद्देश्य को प्राप्त कर सकती हैं। २०वीं कांग्रेस के बाद जब परिस्थितियाँ थोड़ी शिथिल हुईं तो सहज रूप से जो दूसरी प्रवृत्ति सामने आई वह लोगों को बिना किसी संयम के अत्यन्त मूर्खतापूर्ण पश्चिमी फैशनों को अपनाने की दिशा में ले गयी। आज भी ऐसे कुछ व्यक्ति हैं जो यह विश्वास करते हैं कि वे अत्यन्त ही बेहूदा नौकरशाही विचारों को अपनाकर और उन्हें टाइप कराने की बजाय कम्प्यूटर के द्वारा परोस कर मार्क्सवादी पुनर्जागरण को जन्म दे सकते हैं और प्रभावशाली नतीजे पैदा कर सकते हैं। हमें इन मिथ्या अतियों से छुटकारा पाना है। हंगेरी के लिए भी यह एक महत्त्वपूर्ण सवाल है, क्योंकि, खासकर २२वीं कांग्रेस के बाद से मैंने सजग होकर देखा है कि एक तरफ रूढ़िवादियों और दूसरी तरफ अनालोचनात्मक आधुनिकतावादियों के बीच एक गुप्त अभिसंधि हो गयी है। इसका परिणाम यह है कि उनमें से कई यह घोषणा करते हैं कि बेकेट और आयनेस्को ही वस्तुतः महान् लेखक हैं और साथ ही वे उन नौकरशाहों के सामने सर झुकाते हैं जो अभी कल तक अनालोचनात्मक ढंग से इतने उत्साही थे—और यह दिलचस्प है कि वे, उदाहरण-स्वरूप, साहित्य के इतिहास में, János Horváth से होकर पीछे Elemèr Császèr तक जाते हैं।[1] इस प्रकार बेकेट के शिष्य का मेल Elèmèr Csaszar के शिष्य से बैठता है। और तब कुछ को यह आश्चर्य लगता है कि उनसे कोई भी प्रभावित नहीं है।

—फिर भी यह महसूस किया जाता है कि पूरी दुनिया के पैमाने पर मार्क्सवाद में दिलचस्पी बढ़ रही है। २०वीं कांग्रेस के बाद से एक नया विचारशील वर्ग सह-अस्तित्व के स्तर पर एक राह खोज रहा है जिसमें मार्क्सवादी प्रणाली की सहायता से वे भविष्य के लिए एक स्पष्ट उत्तर पा सकें।

—निस्संदेह ऐसा है। मेरा स्वानुभव इसका गवाह है। १९५६ में जब मैं प्रथम बार एक अन्तर्राष्ट्रीय सभा में भाग लेने के हेतु अपने देश से चला तो मेरी मुलाकात वापस आये दोस्तों से हुई। आमतौर पर उनका 'मूड' पाठकों के व्यक्तिगत पत्र के कालम में मौनतेस्कू के लिखने की शैली या ढंग की याद दिलाता था। वह व्यक्ति तो ईरानी है? कोई भी ईरानी कैसे हो सकता है? अर्थ यह कि एक व्यक्ति जो अन्यथा तौर पर शिक्षित है मार्क्सवादी कैसे हो सकता है, क्योंकि मार्क्सवाद तो उन्नीसवीं सदी के उन सिद्धान्तों में से है जो अरसा पहले पुराना पड़ गया है। यह 'मूड' अब मृत हो गया है। पश्चिम में मार्क्सवाद में दिलचस्पी बढ़ रही है, लेकिन इसके साथ यह जोड़ दिया जाना चाहिए कि रूढ़िवादिता को नकारने की प्रवृत्ति भी मज़बूत हो रही है। मुझे अनेक पत्र ऐसे मिले हैं जिनमें पश्चिम के लोग लिखते हैं कि "मार्क्सवाद में मेरी बहुत दिलचस्पी है लेकिन आपके 'सरकारी' मार्क्सवाद में नहीं।"

—लेकिन प्रो० लुकाच, निश्चय ही आप इन नयी प्रवृत्तियों के विरुद्ध हैं। मार्क्सवाद शीर्षक के अन्तर्गत अनेक विचार सामने आये हैं जिन्हें प्रायः स्पष्टतया मार्क्सवाद के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। अन्वेषण के इस युग ने मार्क्सवाद की परिभाषा को और भी विस्तृत कर दिया है, प्रामाणिक और मिथ्या सिद्धान्तों के बीच इसने कई सीमान्त स्थित उदाहरण सामने कर दिये हैं।

—मुझे इसका कुछ अनुभव है। लेकिन इस तरह कोई आंदोलन खड़ा करना असम्भव है जिसमें हरेक प्रश्न पहले तय कर लिया जाय। अपने रास्ते पर आगे चल पड़ने के पहले हम सिवा इसके कुछ नहीं कह सकते कि हमें मार्क्सवाद के सिद्धान्तों की ओर लौटना चाहिए और यह कि अब समय आ गया है जब लोग प्रयोग करेंगे और सभी समस्याओं पर विचार-विमर्श करेंगे। अगर मेरे विचार सरकारी सिद्धान्त के रूप में बदल दिये गये तो इसका विरोध करनेवाला मैं पहला व्यक्ति होऊँगा, हालाँकि मैं विश्वस्त हूँ कि मैं सही हूँ। फिर भी उचित विकास के सदर्भ में मैं इसे खतरनाक समझता हूँ।

—हंगेरी के बौद्धिक जीवन में ऐसी प्रवृत्ति पाई जाती है, यद्यपि मैं ऐसा नहीं सोचता कि जो व्यक्ति आपके निकट हैं वे भी इसमें शामिल हैं।

—जब कभी भी अधिकारी व्यक्तियों से अपनी बात कहने का मौका मिला है मैं हमेशा उस प्रस्थापना पर टिका रहा हूँ कि इस मार्क्सवादी दृष्टिकोण को भाषण की स्वतन्त्रता

१. दो युद्धों के बीच की अवधि के दो प्रभावशाली साहित्यिक इतिहासकार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिलनी चाहिए, भले ही मार्क्सवाद के अन्तर्गत मेरी प्रस्थापना को वे एक विशिष्ट मत के रूप में मान्यता दें। इसकी सम्भावना पर हम इस प्रकार देखें कि मार्क्सवाद की कीर्ति को पुनःस्थापित करने के लिए सैद्धान्तिक संघर्ष का महत्त्वपूर्ण दौर शुरू हो गया है जिसमें सद्विचार रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को भाषण की स्वतन्त्रता अवश्य दी जानी चाहिए। और इसके लिए हम इतिहास में विश्वास रखें कि उनमें कौन विचार अन्ततः वास्तविक मार्क्सवादी विचार के रूप में अपने को स्थापित करेगा। अगर हम ऐसा करें तो अपने-आप में यह तथ्य पश्चिम में हमारा यश बढ़ाएगा। हम यह तथ्य न भूलें कि अगर हम एक तरफ किसी प्रवृत्ति को दबाते हैं तो यह विदेश में हमारी प्रतिष्ठा घटाता है और दूसरी ओर वर्जित को झूठा महत्त्व मिलता है। सच्चाई यह है कि अगर उन्हें वर्जित न किया गया होता तो कोई भी उनकी कतई परवाह नहीं करता। आपत्तिजनक वस्तुओं को भी एक प्रकार का दुर्लभ मूल्य प्राप्त हो जाता है क्योंकि वे वर्जित होती हैं और लोग बड़े उत्साह से उनका स्वागत इसलिए करते हैं कि वे पश्चिम से आये हैं। लेकिन आज 'नाजीविलाग' (Nagyvilag) के द्वारा किसी चीज़ के भी अनुवाद की सम्भावना बन गई है, अतः यह स्पष्ट हो गया है कि हंगेरी की जनता अच्छी और बुरी कहानियों के बीच फर्क करने लग गयी है। वे अब उनका विभाजन इस प्रकार नहीं करते कि वे पश्चिम से आई हैं और ये यहाँ लिखी गयी हैं।

सह-अस्तित्व के साथ-साथ प्रतिबन्धों की समाप्ति अधिक वस्तुनिष्ठ दृष्टि को जन्म देगी और यह व्यापक राय खत्म हो जायगी कि पश्चिम की हर चीज़ अपने देश से अच्छी है, क्योंकि यह सहज रूप में सही नहीं है। पश्चिम में लोग इस बात के प्रति अच्छी तरह जागरूक हैं कि हम जिन चीज़ों की प्रशंसा करते हैं और जिसे साष्टांग प्रणाम करते हैं, उनमें क्या खतरे निहित हैं—सह-अस्तित्व के अन्तर्गत वर्ग-संघर्ष की सभी शक्तियों को मुक्त करने के लिए संस्कृति के क्षेत्र में सर्वहारा जनतन्त्र की पुनःस्थापना अवश्य की जानी चाहिए। अगर हम गम्भीरता से सह-अस्तित्व की ओर आगे जाना चाहते हैं और परिणाम हासिल करना चाहते हैं, तो यह प्राथमिक शर्त है।

—मैं दो प्रश्न पूछना चाहता था। उनमें से पश्चिमी संस्कृति की विवादास्पद कृतियों के प्रति हमें किस प्रकार का रुख अपनाना चाहिए, इस एक प्रश्न का उत्तर मिल गया। दूसरे प्रश्न पर और प्रकाश डाले जाने की आवश्यकता है क्योंकि यह हमारे युग के और मजदूर वर्ग के आन्दोलन की अत्यन्त आवश्यक समस्याओं से सम्बन्धित है। किस प्रकार हमारा युग रूढ़िवादिता की समाप्ति के सवाल पर आज भी पिछड़ा है और किस प्रकार समाजवादी आत्मालोचन की ऐतिहासिक प्रक्रिया आज भी पूर्ण नहीं हुई है ? आप इन समस्याओं को किस प्रकार देखते हैं ?

—स्तालिन ने उस समय मार्क्सवाद को सर के बल खड़ा कर दिया, जब बुनियादी समस्या यह थी कि समाजवाद के नियमों का विकास मार्क्सवाद के अन्तर्गत हो चुका था और महज़ सामान्य अर्थ में समाजवाद की ओर जानेवाले रास्ते को शासित करने वाले नियमों का विकास भी इसी के अन्तर्गत हो चुका था। प्रत्येक अवधि में अग्रणी राजनीतिकों ने अपनी रणनीति तैयार की है और उस रणनीति के अन्तर्गत कुछ कार्यनीतियाँ भी तैयार की हैं जो परिस्थितियों के अनुसार स्वभावतः सतत् बदलती गयीं। स्तालिन ने इसे सर के बल खड़ा कर दिया। इस दृष्टिकोण से उस काल की कार्यनीतियों का ही महत्त्व था। स्तालिन ने कार्यनीति के अनुसार रणनीति को बदल दिया और फिर उस रणनीति के अनुसार समाजवाद के भावी रूप को भी बदल दिया। उन्होंने घोषणा की कि समाजवाद के अन्तर्गत वर्ग-संघर्ष सतत् तेज हो रहा है, लेकिन यह कोई सामान्य पर्यवेक्षण नहीं था, यह महज़ एक छल था जिसे अभियोगों के बड़े तमाशे को ढँकने के लिए उन्होंने गढ़ा था। पहले अभियोग लगाया गया फिर उसके लिए सिद्धान्त गढ़ा गया···। आज भी ऐसा होता है कि कार्यनीतियाँ पहले आती हैं, फिर उन्हें समाहित करने के लिए रणनीति और आम सिद्धान्त को जन्म दिया जाता है। ऐसे आम सिद्धान्तों का मूल्य नहीं के बराबर होता है।

आज यह कहना आसान है कि स्तालिन की यह स्थापना सही नहीं है कि वर्ग-संघर्ष सतत् तीव्र हो रहा है। लेकिन अगर हम उसकी पूरी प्रक्रिया को न समझें तो हम अत्यन्त गम्भीर समस्याओं में फँस जायेंगे। इसके लिए एक ऐतिहासिक उदाहरण लें। जब चीन के प्रश्न पर स्तालिन और त्रात्स्की में मत-वैभिन्य था तब स्तालिन ने घोषणा की थी कि चीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक सामन्ती राज्य है अतः सामन्तवाद के मुकाबले में उन्हीं कार्यनीतियों को लागू किया जिन्हें रूस में लागू किया था। यानी संक्षेप में, अपनी कार्यनीति की श्रेष्ठता कायम रखने के उद्देश्य से उन्होंने मार्क्सवादी सिद्धान्त से उत्पादन की पूर्वीय प्रणाली से सम्बन्धित सारे सवालों को परे कर दिया और मार्क्सवादियों के लिए एशिया में होने वाले विकास को समझना असंभव बना दिया। इतने महत्त्वपूर्ण विषय के साथ मार्क्सवाद का अर्थ यानी उत्पादन की पूर्वीय प्रणाली का अर्थ दुनिया के मार्क्सवादियों के लिए खो गया जब औपनिवेशिक जनता के विद्रोह को समझने की समस्या सामने आई। मैं उस अवधि के विकास की विशिष्ट मंजिल को ध्यान में रखते हुए यहाँ कोष्ठकों में यह जोड़ना पसंद करूँगा कि मार्क्स ने अफ्रीकी जनता के विकास का विवेचन नहीं किया। अगर हम मार्क्सवादी विचारधारा का कट्टर अनुसरण करें तो हम यह सवाल कर सकते हैं कि ऐसा कहाँ लिखा है कि अफ्रीकी जनता को आवश्यक रूप से यूरोपीय अथवा एशियाई 'आदर्श' के अनुसार विकास करना चाहिए। यूरोपीय और एशियाई उत्पादन प्रणालियों के अतिरिक्त उत्पादन प्रणाली के अन्तर्गत अफ्रीकी सम्बन्धों का एक विशेष रूप क्यों नहीं हो सकता ? अगर हम तीसरी दुनिया के विकासशील राष्ट्रों को सहायता करना चाहते हैं तो उसका मार्क्सवादी रूप यह होगा कि हम उनके सामने उनकी वास्तविक स्थिति की व्याख्या प्रस्तुत करें। और उनके विकास का भावी स्वरूप स्पष्ट करें। लेकिन इस सम्बन्ध में हम पश्चिमवासियों से अधिक जानकारी नहीं रखते। और अगर हम उस दुनिया में अग्रणी भूमिका अदा करना चाहते हैं, जो कि हमारे लिए बिल्कुल स्वाभाविक है तो इस विषय में मार्क्सवादी अनुसंधान अत्यन्त अनिवार्य है। पश्चिमी पूंजीवाद में भी कई प्रश्न निहित हैं जिनका पश्चिमी पूंजीवादी अर्थशास्त्री उत्तर नहीं दे सकते और कुछ अपवादों को छोड़कर हमने भी उनका उत्तर देने की चेष्टा नहीं की है और हमने चेष्टा की भी है तो हमारा विश्लेषण पूर्ण नहीं है।

—अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में आपने जो कुछ कहा बिल्कुल स्पष्ट है, लेकिन बौद्धिक समस्याओं के सम्बन्ध में आपने जो कहा है उसे आप पूरा कर दें।

—हाँ, मैं अर्थशास्त्र पर जोर देता हूँ क्योंकि अन्य विषयों की अपेक्षा शायद उसमें अधिक स्पष्ट और कम विवादास्पद प्रमाण मौजूद है। पर निश्चय ही यह सभी बौद्धिक क्षेत्रों की ओर संकेत देता है। मैं एक उदाहरण दूँ जिसकी प्रतिध्वनि आज भी सुनाई पड़ती है। स्तालिन-ज़दानोव के काल में विचार के इतिहास का क्रम इस प्रकार तैयार किया गया था मानो एक प्राक् मार्क्सवादी विचार था, उसके बाद एक लम्बा अन्तराल रहा, फिर अचानक मार्क्सवाद का उदय हुआ। लेकिन मार्क्सवाद का यह घन पक्ष है कि इसने यूरोप के पिछले २,००० वर्ष के विकास में जो कुछ मूल्यवान था उसे ग्रहण कर लिया—यह मैं नहीं कह रहा हूँ बल्कि लेनिन ने १९२० के आसपास के वाद-विवाद के दरम्यान इसे कहा था—संक्षेप में यह कि मार्क्सवाद के इस अनिवार्य पक्ष को बिल्कुल भुला दिया गया। अस्तित्ववाद अथवा नव-विधेयवाद के सम्बन्ध में महज़ यह कहकर कि यह बिल्कुल बेकार या निरर्थक है अथवा प्रतिक्रान्तिकारी है कोई भी तर्क को आगे नहीं बढ़ा सकता। सन् '५०-'६० के बीच मेरे सम्बन्ध में जो कुछ कहा जा रहा था यह मुझे उसकी याद दिलाता है कि मैं प्रतिक्रान्तिकारी अस्तित्ववाद के लिए बहाना ढूंढ़ने की कोशिश कर रहा था क्योंकि मैंने फ्रांसीसी अस्तित्ववाद के जन्म का सम्बन्ध प्रतिरोध आन्दोलन से जोड़ रखा था। पर वह सम्बन्ध निस्संदेह रूप से एक तथ्य है। फिर भी चूंकि मैंने इस तथ्य की स्थापना की थी, इसलिए अवसरवादी के रूप में मेरी निन्दा की गयी। प्रसंगवश प्रतिक्रान्तिकारी अस्तित्ववादी अल्जीरिया के सवाल पर कतई प्रतिक्रान्तिकारी नहीं हैं, क्योंकि इस प्रश्न पर वे वामपंथी रूप में सामने आये थे। आप अच्छी तरह जानते हैं कि १९४७ में ही मैं अस्तित्ववाद का विरोध कर रहा था। लेकिन समस्याओं का उचित प्रभाव तभी हो सकता है जब हम उस आलोचित वस्तु के सापेक्ष प्रगतिशील चरित्र को पहचानें, यानी अगर हम यह मानें कि उनका उत्थान प्रतिरोध आन्दोलन के साथ हुआ था। इस प्रकार एक वस्तुनिष्ठ विचार-विमर्श का विकास हो सकता है और शायद हम यह विश्वास भी दिला सकते हैं कि हम सही हैं। लेकिन अगर हम उग्र हो जायें और उन्हें शुद्ध प्रतिक्रान्तिकारी के रूप में ही देखें तो हम कहीं नहीं पहुँच सकेंगे और अगर हम दूसरे छोर पर चले जायें और अनालोचनात्मक दृष्टि से अस्तित्ववाद को स्वीकार कर लें तो वैसी हालत में भी हम कहीं नहीं पहुँच पायेंगे। इस प्रकार हम अपने को हंगेरी के उन युवा व्यक्तियों के बीच पायेंगे जो मार्क्सवाद से भागकर हाइडेगर अथवा सार्त्र की ओर जाते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं जबकि सार्त्र ने आज यह खोज की है कि अस्तित्ववाद की कुछ ऐसी समस्याएँ हैं जिनसे आगे की राह मार्क्सवाद की दिशा में जाकर ही मिल सकती है। और निश्चय ही आज बुडापेस्ट के युवा यह नहीं कर रहे हैं। इस प्रकार आज भद्दी और हास्यास्पद स्थितियाँ उठ खड़ी हुई हैं जिन्हें तभी बदला जा सकता है जब हम मार्क्सवादी प्रणाली की ओर मुड़ें और आज पश्चिम में जो कुछ हो रहा है उसे आलोचनात्मक दृष्टि से देखें जैसा कि मार्क्सवाद निर्देश देता है। और हम यह विश्वास न करें कि सिर्फ कम्प्यूटर का इस्तेमाल कर हम कोई आगे का कदम उठा रहे हैं। यदि हम दिमागी तौर पर स्तालिनवादी अति सरलीकृत योजनाओं के अन्तर्गत ही हों, लेकिन ख्वाब देखें कम्प्यूटर का इस्तेमाल करके आगे बढ़ जाने का, तो यह नामुमकिन है।

ऐसे व्यक्ति के उदाहरण के रूप में मैं बारतोक का जिक्र कर चुका हूँ जिसने दुनिया जीत ली थी। लेकिन मैं पूर्ण विश्वस्त हूँ कि समाजवादी संस्कृति कई ऐसे मूल्यों को जन्म देती है जिनका समान महत्त्व है। इसका जिक्र अलग है कि सह-अस्तित्व के पक्ष में चल रहे संघर्ष में बेहतर नतीजा हासिल करने के लिए प्राचीन संस्कृति के महान् मूल्यों की सहायता किस प्रकार ली जा सकती है। शर्त यह है कि उनका उचित रूप में प्रयोग किया जाय। उदाहरण के लिए, अगर हम इस प्रकार देखें कि साहित्य रचना बुनियादी तौर पर स्वतन्त्रता के लिए जनतांत्रिक लड़ाई है तो हम यह समझ सकेंगे कि पुश्किन से लेकर चेखव तक को १९वीं शताब्दी के रूसी साहित्य के भव्य विकास ने किस प्रकार हथियार का काम किया। आज यूरोप एवम् अमरीका में लोग छल-साधित जनतंत्र के अ-जनतान्त्रिक चरित्र के बारे में काफी कुछ जान चुके हैं। मैं समझता हूँ कि आने वाले वर्षों में यह समस्या अपनी ज़बर्दस्त भूमिका अदा करेगी। ऐसा नहीं कि पश्चिमी देश अचानक समाजवादी क्रान्ति के पथ पर बढ़ चलेंगे। ऐसा समझना हास्यास्पद होगा। पर छल-साधित जनतन्त्र के अ-जनतान्त्रिक चरित्र के कारण उसके प्रति असंतोष विस्तृत पैमाने पर प्रकट हो रहा है और वे सच्चे जनतन्त्र की दिशा में कोई राह निकालने की कोशिश करेंगे। इस प्रकार के आन्दोलन में हम अग्रणी सिद्धान्तकार हो सकते हैं, लेकिन तब तक ऐसा नहीं संभव है जब तक पश्चिम में सूक्ष्म आर्थिक जोड़-तोड़ चल रहा हो और दूसरी ओर ऐसे लोग हों जो नौकरशाही प्रपंच के साथ चल रहे हों अथवा वस्तु को ऊपर-ऊपर शोभनीय बनाना चाह रहे हों। आशा है दृढ़ होकर मेरे ऐसा कहने से आप नाराज़ नहीं हो रहे होंगे। लेकिन इसे ऐसा कहा जाना चाहिए और कार्य रूप दिया जाना चाहिए, अन्यथा सह-अस्तित्व के अन्तर्गत वर्ग-युद्ध में हम विजयी नहीं हो सकते।

—प्रो० लुकाच, फिर मैं यह समझूँ कि आपका रुख यह है कि मार्क्सवाद के अन्तर्गत विभिन्न प्रवृत्तियों के लिए स्वतन्त्रता और उनके बीच संघर्ष की गुंजायश होनी चाहिए।

—यह मेरा विश्वास है और तत्त्व-मीमांसा में मैंने कहा भी है कि मनुष्य एक प्रत्युत्तरदायी प्राणी है। मानव-संस्कृति द्वारा आज तक जो भी निर्माण हुआ है उसके पीछे आन्तरिक मनोवैज्ञानिक प्रेरणा नहीं रही है, अन्य कारण जो भी रहा हो, किन्तु आरम्भ से ही हुआ यह कि लोगों ने समाज के अन्तर्गत उठने वाले प्रश्नों का उत्तर देने की चेष्टा की है। और हम जिसे मानव-संस्कृति कहते हैं, वह इन्हीं उत्तरों की शृंखला है। पर इस संस्कृति का अधिकांश लुप्त हो चुका है, क्योंकि लोगों ने समाज में उठे प्रश्नों का जो उत्तर दिया था, वह सामयिक अथवा अनुपयुक्त था। पर उनमें से कुछ की सार्थकता आज भी है। 'इलियट' का वह अंश, जहाँ प्रियम हेक्टर के मृत शरीर को वापस माँगने एचिलीज के निकट जाता है, और फिर उनके बीच का वार्तालाप, जो मृत शरीर को वापस लौटाने के समय होता है, आज भी नैतिक दृष्टिकोण से उदाहरणीय है।

और यह सिर्फ कविता के साथ ही लागू नहीं होता। अगर आप विज्ञान के इतिहास को देखें तो पायेंगे कि अधिकांश बड़े-बड़े अन्वेषण कई व्यक्तियों द्वारा एक ही अवधि में हुए हैं। और आज भी विवाद बना हुआ है कि 'डिफरेंशियल' और 'इण्टिगरल' कलनगणित की खोज न्यूटन ने की थी अथवा लाइबनीज़ ने और वे सभी लोग, जो उस अवधि के इतिहास की जानकारी रखते हैं, यह जानते हैं कि पासकाल, और अन्य लोग भी, इस खोज से काफी जुड़े थे। क्यों? इसलिए कि उस अवधि के उत्पादन-सम्बन्ध नव-भौतिकी की आवश्यकता की ओर संकेत कर रहे थे। दूसरी ओर नव-भौतिकी ने, यानी वह जो गैलीलियो से जुड़ी थी, जो गति को भौतिकी का केन्द्र मानता था, गति की माप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए नये गणित की माँग की। यह आवश्यकता न्यूटन अथवा लाइबनीज़ जैसे अनेक व्यक्तियों को इस नये गणित की खोज के रास्ते की ओर ले गयी। उन्होंने उसकी खोज कर ली, लेकिन बहुत सम्भव है कि उसी अवधि में तीस या चालीस और लोग उसकी खोज कर रहे हों। वर्तमान काल में मार्क्सवाद की उचित समझदारी की माँग सामाजिक आवश्यकता के रूप में उठ खड़ी हुई है। और अमेरिका से साइबेरिया तक के लोग इस आवश्यकता की पूर्ति चाहते हैं। इन सिद्धान्तों में से कौन सन्तोषप्रद साबित होगा और कौन नहीं, इसे स्थापित करने के सम्बन्ध में आपस की आलोचना के अलावा और किसी कसौटी को हममें से कोई नहीं जानता। ऐसी कोई न्याय सभा नहीं है जो अन्तिम रूप से यह घोषणा कर सके कि 'क्ष' सही है। सम्भवतः ऐसा हो ही नहीं सकता।

अतः मेरी यह राय है कि इसी तरह हमें प्रत्येक क्षेत्र में आगे बढ़ना चाहिए और विशेषकर उस क्षेत्र में जहाँ पूर्व निकष स्थापित करना बहुत कठिन हो। आज एक नये किस्म का साहित्य विकास की प्रक्रिया में है और इस नये साहित्य की रचना, जैसा कि हमने सोल्ज़ेनित्सिन पर विचार करते हुए अपने लेख में तर्क दिया था, रूढ़िवादी अवधि की आलोचना के बिना सम्भव नहीं है। आखिर, आज हंगेरी में ३० से अधिक की उम्र का कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसका पूर्ण जीवन और चरित्र उस अवधि में उसकी गतिविधि से सम्बन्धित निर्णायक प्रश्न से जुड़ा न हो। इसके बिना साहित्यिक कृति के दायरे में कोई भी अपने वर्तमान चरित्र अथवा कार्यों की उचित व्याख्या नहीं कर सकता है। हम यह स्मरण रखें कि बालज़ाक ने सर्वप्रथम पुनरुद्धार काल की व्याख्या की। जो भी बालज़ाक की कृतियों की जानकारी रखता है, उसे इसका ज्ञान है कि बालज़ाक हर बार साम्राज्य-काल तक पहुँचते हैं और अगर उन बूढ़े लोगों को देखें जो यह पता करने की कोशिश कर रहे हैं कि उन्होंने उस अवधि के पहले क्या किया था तो हम बालज़ाक को क्रान्ति तक पहुँचते देखते हैं, क्योंकि उस चरित्र ने जो रुख अपनाया, वह अधिकांशतः इस पर निर्भर था कि क्रान्ति की अवधि में उसकी क्या गतिविधि रही। यह बिल्कुल स्वाभाविक लगता है, लेकिन आपको स्मरण होगा कि मेरे इस विचार के कारण उन्होंने मेरे साथ कैसा व्यवहार किया। हमारा साहित्य इसी प्रकार की समस्याओं से भरा है, यानी साहित्य मात्र की यह समस्या है, लेकिन ऐसी समस्याएँ हल की जा सकती हैं, और अवश्य की जानी चाहिएँ।

बात यह है कि मैं ऐसा विश्वास नहीं करता कि नाटक नाम की ऐसी कोई वस्तु है जिसकी सफलता और असफलता किसी जनवादी गणतंत्र को उखाड़ फेंक सकती है अथवा झकझोर सकती है। यह तर्क हास्यास्पद है कि संकट उनकी गलतियों से पैदा न होकर उनके प्रति होने वाली प्रतिक्रिया से पैदा होता है और वह भी साहित्यिक अथवा कलात्मक प्रतिक्रिया से। यह प्रश्न सह-अस्तित्व से बिल्कुल निकट रूप से सम्बद्ध है, क्योंकि समाजवादी देशों में ऐसा बहुत-कुछ है, जो यहाँ मौजूद अच्छे गुणों के उचित प्रभाव में बाधक है। कोई भी साहित्यिक कृति गलत रोशनी में सामने लायी जा सकती है, अगर उस पर नौकरशाही पद्धति से विचार किया जाय। और अन्तर्राष्ट्रीय जनमत में एक गलत किस्म का समीकरण पैदा हो सकता है, जो आम राजनीतिक गणना के आधार पर एक हद तक सोल्ज़ेनित्सिन को पास्तरनाक के साथ गिनती कर दे, यद्यपि वह पास्तरनाक के बिल्कुल उलटा पड़ता है। इसके ठीक विपरीत उसका प्रभाव पड़ना चाहिए था और शायद वैसा होता अगर वह अपूर्ण रीति अस्तित्व में न होती, जो दो विरोधी तत्त्वों को एक बना देती है। कोई ऐसा कारण नहीं दीखता कि विभिन्न तत्त्वों के सह-अस्तित्व को, जिनके बीच गम्भीर विचार-विमर्श चल रहे हों, हम बाधित करें। कोई भी एक व्यक्ति का मेल प्रत्येक दूसरे व्यक्ति से नहीं बिठा सकता। हालाँकि आज ऐसा प्रतीत हो रहा है कि हमारे शिविर के अन्तर्गत मत-वैभिन्य नहीं रह गया है। यह कोई हल नहीं हुआ। इसे हम दूसरी तरह की तिकड़म ही कह सकते हैं। हमें तीव्र विचार-विमर्श की आवश्यकता है, वैसे विचार-विमर्श की जिसका कोई प्रशासकीय उद्देश्य न हो। अगर हम सह-अस्तित्व के अन्तर्गत अपने संघर्ष में परिणाम हासिल करना चाहते हैं तो सांस्कृतिक जीवन में हमें उस स्तर पर पहुँचना होगा।

—यह सबकी जानकारी में है कि सह-अस्तित्व के विरोधी भी हैं और वे केवल उग्रवादियों में, अत्याचारियों में और पूंजीवादी देशों के नव-फासिस्टों में ही नहीं हैं। हाल का चीनी उदाहरण हमारे सामने है। और दुर्भाग्य से आज, जबकि हम सह-अस्तित्व की बात कर रहे हैं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वियतनाम में एक क्रूर युद्ध लड़ा जा रहा है, यद्यपि पूरे विश्व में इसके विरुद्ध एक संघर्ष चल रहा है। प्रो० लुकाच, उन सिद्धान्तों के बारे में आप क्या सोचते हैं जो सह-अस्तित्व का विरोध करते हैं; उनसे हमें किस प्रकार लड़ना चाहिए और ऐसे संघर्ष की संभावना क्या है ? वियतनाम के संदर्भ में भी।

—यह एक बहुत ही जटिल प्रश्न है। आरम्भ में मैंने जो कहा था शायद वह आपको स्मरण होगा कि अणु-युद्ध की कुछ विशेषताएँ हैं जो तीसरे महायुद्ध के विस्फोट को रोकती हैं। लेकिन वे युद्ध के कारणों को खत्म नहीं करती हैं। अमरीका साम्राज्यवादी शक्ति बनने से अपने को महज इसलिए नहीं रोक सका है कि उसे अणु-युद्ध का खतरा है। आपने शायद देखा होगा कि अमरीकी नीति वियतनाम युद्ध के संदर्भ में सोवियत संघ की भूमिका और चीन की भूमिका पर कितनी सावधानी से विचार करती है। अगर अणु-अस्त्र न होते तो वियतनाम में आज से बहुत पहले विश्वयुद्ध छिड़ गया होता। आज संतुलन अस्थिर है। लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि अमरीका की वियतनाम नीति के विरुद्ध हमें दृढ़ता से और सैद्धान्तिक उद्देश्य से लड़ना चाहिए। आखिर, यह क्यों हो रहा है ? अठारहवीं शताब्दी में जब से ब्रिटेन का प्रभाव भारत में बढ़ा तभी से प्रत्येक औपनिवेशिक सत्ता की मूल नीति रही है सम्बन्धित देश के अत्यंत प्रतिक्रियावादी वर्गों के साथ संधि कायम कर उनकी मदद से स्थानीय मुक्ति आंदोलनों का दमन करना। अमरीका की वियतनाम नीति को अगर आप देखें तो आप अठारहवीं सदी के वारेन हेस्टिंग्स तथा अन्य औपनिवेशिक नीतिज्ञों की नीति की अक्षरशः आवृत्ति पायेंगे क्योंकि उपनिवेश बसाने वाले के लिए, अगर वे उपनिवेश बसाना चाहते हैं, तो क्रूर होना उनकी बाध्यता है। इसके अतिरिक्त वे और कुछ कर ही नहीं सकते। मेरी राय में वियतनाम प्रश्न का सम्बन्ध सर्वप्रथम इस बात से नहीं है कि वियतनाम की जनता किस प्रकार (अपनी विभाजन रेखा समाप्त कर) एक होगी बल्कि इस तथ्य से है कि वियतनाम में वे यह देखने के लिए लड़ाई लड़ रहे हैं कि वह जनता, जो आज अपने को मुक्त कर रही है, कब अपना कार्य-भार सँभालने का अधिकार प्राप्त कर सकेगी। बहुत-कुछ जो आज हम नहीं देख रहे हैं उसे देखा जाना चाहिए। सिर्फ वह सोचने का जोड़-तोड़ वाला ढंग, जिसके सहारे हम अपने साथ सहानुभूति रखने वाले को प्रगतिशील कह देते हैं, और सहानुभूति न रखने वाले को इसके विपरीत प्रतिक्रियावादी के नाम से पुकारते हैं—हमें कहीं नहीं ले जाएगा। क्षमा करें, अनेक ऐसे विषय हैं जिसके संदर्भ में कोई भी उतना ही कम समाजवादी है जितना कि दूसरा। सच्चाई यह है कि इन देशों में कई नये प्रश्न उठे हैं जिनके हल में कई वर्ष लग जाएँगे शायद शताब्दियाँ भी। हमें यह स्मरण रखने की आवश्यकता है कि आज के अफ्रीकी देशों की सीमाएँ भूतपूर्व औपनिवेशिक शक्तियों के हितों द्वारा निर्धारित की गयी थीं। इस जनता में राष्ट्र-सम्बन्धी विचार और राष्ट्र के अस्तित्व-सम्बन्धी विचार ने कोई रूप नहीं लिया है। उपनिवेशीकरण ने उन पड़ोसी जातियों का विभाजन कर दिया जिनकी जीवन पद्धति समान थी। केनिया में रहने वाले सोमाली जन अन्य सोमाली जनों के साथ मिलकर एक होंगे या नहीं, इसे सोमाली जनता पर छोड़ दिया जाना चाहिए। अन्य कोई इसे हल नहीं कर सकता। अमरीकी औपनिवेशिक नीति का मुकाबला पूरी दुनिया के पैमाने पर जनतांत्रिक आत्मनिर्णय की नीति के सहारे किया जाना चाहिए। स्तालिन के काल में जो नहीं किया गया अगर हम उसकी पूर्ति कर सकें और गंभीर वैज्ञानिक कार्यों को आगे बढ़ा सकें तभी हम इस जनता को आर्थिक एवं राजनीतिक सलाह देने के योग्य होंगे। वैसी सलाह जो सार्थक हो, पर वैसी नहीं जो किसी यूरोपीय देश की राजधानी में बैठकर सोची गयी हो बल्कि वह जो किसी विशिष्ट जनता के आर्थिक विकास को अभिव्यक्ति देती हो। आज एक ऐसा मौका है जब, हम आज तक के विश्व के इतिहास में जो कुछ भी हुआ है उससे कहीं महत् भूमिका अदा कर सकते हैं। और यह केवल औपनिवेशिक जनता के संदर्भ में ही सच नहीं है बल्कि यूरोप और अमरीका के भी संदर्भ में, क्योंकि इसी अवधि में यूरोप और अमरीका दोनों एक विरोधी रूप लेने की प्रक्रिया में हैं। इन विरोधों के प्रायः वैशिष्ट्य की परिभाषा है इनका चीनी चरित्र। जहाँ तक इनके स्वरूप का सवाल है वे अमरीकी घटनाओं में से एक होने का स्मरण दिलाते हैं, और जहाँ तक उनके विषय का सम्बन्ध है उन पर बहुत हद तक चीनी सिद्धान्त का प्रभाव है। क्यों ? "क्या किया जाना चाहिए" शीर्षक के अन्तर्गत लेनिन ने १९०३ में लिखा कि अराजकता, जिसका प्रभाव उनके जमाने में काफी था, हमारी अपनी अवसरवादी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गलतियों की सजा है। मुझे पूरा विश्वास है कि इस कथन में लेनिन ने एक आम, गम्भीर और सुदूरव्यापी सत्य को अभिव्यक्ति दी थी। चीनी प्रभाव, जो आज पूरे यूरोप में फैल गया है, हमारे सिद्धान्त की कार्यनीतिगत कमी और हमारी रूढ़िवादिता की सजा है। अठारह-वर्षीय एक उत्साही अमरीकी अथवा अन्य पश्चिमी युवा आज की पेचीदा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति में अपने प्रश्नों का उत्तर नहीं पा सकता है जो उसके विरोध की भावनाओं को अभिव्यक्ति देता है। अतः वह सोचता है कि माओ में उसे उत्तर मिल जायगा। उदाहरण के लिए मैं यह कहना चाहता हूँ कि अपनी पुरानी गलतियों को खत्म कर और मूल मार्क्सवादी प्रणाली की ओर वापस जाकर हम न केवल विदेश में अपने प्रभाव की शक्ति को प्रत्यक्ष रूप से बल देंगे बल्कि अपने देश के अन्तर्गत भी यह हमें उस स्थिति में पहुँचा देगी जहाँ से हम अपने कतिपय साधनों का संचालन कर सकें जिसका अगर उचित सम्प्रेषण हो तो उसका प्रभाव विदेश में भी होगा। निश्चय ही आप मेरा अर्थ समझ रहे हैं। अगर हम अपनी पुरानी गलतियों को खत्म कर और कार्यनीतियों के आधार पर सिद्धान्त का निर्माण बंद कर मार्क्सवादी सिद्धान्तों से कार्यनीतियाँ निकालें तो इसका प्रभाव संस्कृति पर होगा और इससे भी अधिक संस्कृति के आगे कई राजनीतिक क्षेत्रों पर भी इसका प्रभाव पड़ेगा।

—कुछ ही दिनों पहले ऐसा कहा गया है कि हमें छह या आठ वियतनाम की आवश्यकता है। हम इस चीनी मत से अरसे से अवगत रहे हैं कि महायुद्ध के पश्चात् अपेक्षया अल्पकाल में ही नयी सभ्यता उठ खड़ी होगी। क्या यह मत अथवा आमतौर पर—अभी मैं और अच्छा शब्द नहीं सोच पा रहा हूँ—दुस्साहसिकता और अतिक्रान्तिकारिता, जिसे तीसरी दुनिया की दीनावस्था में पर्याप्त पोषण मिल रहा है, सह-अस्तित्व को खतरे में डालता है ?

—मैं नहीं समझता कि इसे कोई गम्भीर खतरा है यद्यपि यह सच है कि लोग यह नहीं पहचानना चाहते हैं कि अणु अस्त्रों के परिणामस्वरूप एक बिलकुल नयी स्थिति विकसित हो गयी है। इस नयी स्थिति को मैं इस प्रकार समझता हूँ: अगर हम अतीत के किसी युद्ध में १० किलोमीटर तक मार करने वाली बन्दूक इस्तेमाल करते और अगर कोई १५ किलोमीटर की मार करने वाली बन्दूक की खोज कर लेता तो ऐसी हालत में वह अपनी बन्दूक की सहायता से १० किलोमीटर की बन्दूक को बर्बाद कर बिना किसी कुरबानी के जीत हासिल कर लेता। अणु युद्ध में यह स्थिति नहीं होती। अणु युद्ध में कमोबेश दोनों तरफ की बर्बादी होती है। यही कारण है कि तर्कसंगत अनुमान हमें बतलाता है कि बड़ी शक्तियों के बीच अणु युद्ध की वास्तविक सम्भावना नहीं है। यही कारण है कि अमरीकी प्रेस यह खबर नहीं कर रहे हैं कि वियतनाम में अमरीकी हवाई जहाज सोवियत प्रक्षेपकों द्वारा बर्बाद किये जा रहे हैं। अमरीकी यह दिखला रहे हैं कि मानो उनकी दृष्टि इस पर नहीं गयी। ये तथ्य काफी महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि वे यह प्रकट करते हैं कि आज युद्ध एक सीमा के अन्तर्गत लड़ा जा रहा है। मसलन, दक्षिण अमेरिका में आज पक्षधर युद्ध चल रहा है इसका यह अर्थ नहीं कि वह विश्वव्यापी युद्ध की दिशा में फैल जायगा। यहाँ मैं यह जोड़ना चाहता हूँ कि मैं इस छह या आठ वियतनाम के सिद्धान्त के प्रति किंचित् संदिग्ध हूँ क्योंकि वास्तविक पक्षधर युद्ध शुद्ध संकल्प का परिणाम नहीं है। अगर एक विस्तृत हिस्सा, जिसमें किसानों की बहुलता अथवा प्रधानता हो, यह महसूस करता है कि वे अब उस प्रकार नहीं रह सकते जिस प्रकार रहते आ रहे थे और यह कि अपना इस नियति के साथ समझौता कर आगे नहीं रह सकने की अपेक्षा वे अपना जीवन जोखिम में डालना पसन्द करेंगे तो ऐसी हालत में पक्षधर युद्ध की शुरुआत होती है। अगर स्थिति ऐसी नहीं है तो भले ही इने-गिने वीर, ईमानदार व्यक्ति अपने को जोखिम में डाल देंगे और खत्म हो जायंगे परन्तु एक पक्षधर युद्ध के रूप में आप संघर्ष शुरू नहीं कर सकेंगे। ऐसी हालत में वह पक्षधर युद्ध बुर्जुआ क्रान्ति के सिवा और कुछ नहीं होगा या शायद उस बुर्जुआ क्रान्ति के लिए आवरण मात्र होगा जिसे समाजवादी क्रान्ति के रूप में रूपान्तरित किया जा रहा है। मैं समझता हूँ कि दक्षिण अमेरिका में इसी प्रकार की क्रान्ति का कार्यक्रम है, और यह हो भी सकता है। लेकिन यह नहीं हो सकता कि किसी वीर के गिर्द कोई छोटा दल पक्षधर युद्ध आरम्भ कर सकता है। इसके विपरीत कृषक वर्ग की अवस्था में सुधार के लिए चलाये गये आन्दोलन को, जिसमें अन्य निम्न वर्गों के लोग भी शामिल हों, क्रान्ति में रूपान्तरित किया जा सकता है और उस क्रान्ति में पक्षधर युद्ध महत्त्वपूर्ण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूमिका अदा कर सकता है।

यहाँ हमारा सम्बन्ध जनता के विद्रोह और औपनिवेशिक उत्पीड़न से नहीं है, लेकिन यह एक आम प्रश्न है जिसका सम्बन्ध आज हमारी सांस्कृतिक समस्या से है। आज के स्वार्थ-साधित पूंजीवाद के अन्तर्गत मजदूरी में वृद्धि हुई है। काम के घंटे कम किये गये हैं और इसके बावजूद आज मजदूर वर्ग का जीवन बदतर पूंजीवादी उत्पीड़न के ज़माने की अपेक्षा अधिक अर्थहीन हो गया है।

—सह-अस्तित्व के अन्तर्गत लड़ाई में, जिसे हम संशोधित वर्ग संघर्ष समझते हैं, हमारी भूमिका निर्णायक है क्योंकि निश्चित रूप से सार्थक जीवन की दिशा में मानवता समाजवाद के अलावा कोई और रास्ता न तो देख पाती है और न उस जीवन की उम्मीद कर पाती है। यद्यपि हम समाजवादी संशयपूर्ण ढंग से ही ऐसा कहते हैं।

—हम इससे आगे जाने की शुरुआत कर रहे हैं। सम्पूर्ण पश्चिमी साहित्य इस बात का संकेत देता है कि आज की जो स्थिति है उसमें मनुष्य सार्थक जीवन जीने की संभावना में अपनी आस्था खो चुका है। लेकिन मैं यह विश्वास नहीं करता कि मनुष्य सार्थक जीवन जीने की मांग का हक सदा के लिए त्याग देगा। मैं ऐसा निराशावादी नहीं हूँ। लेकिन जब तक हम इस निरर्थक पूंजीवादी जीवन के सम्मुख एक सार्थक जीवन का रूप स्पष्ट रूप में न खड़ा करें तब तक इस बौद्धिक आन्दोलन का आगे बढ़ना कठिन होगा। आरम्भ में मैंने सन् '२० से '३० की अवधि की बात कही थी। मसलन, जर्मन बुद्धिजीवियों ने क्यों भूख-पीड़ित रूस के साथ सहानुभूति प्रकट की थी ? क्योंकि उन्हें गहरे रूप में यह विश्वास था कि यद्यपि वे स्वयं एक अर्थहीन जीवन व्यतीत कर रहे थे जबकि दूसरी ओर लोग रूस में भले ही भूख से पीड़ित हों लेकिन जिसके लिए वे जी और लड़ रहे थे वह सार्थक था। इसका प्रचार निश्चय ही स्थूल ढंग से नहीं किया जा सकता। यह कहते हुए लेख लिखना कि जीवन का यह ढंग सार्थक है और वह निरर्थक हमें कहीं नहीं पहुँचायेगा। जब किसान और मजदूर इस तथ्य के प्रति जागरूक हो जायँगे कि वे जो अपने लिए काम कर रहे हैं वह पूरे विश्व के लिए है या उसका सम्बन्ध पूरे विश्व से है, जब व्यक्तिगत सफलता एक सार्थक जीवन के निर्माण में सहायक के रूप में समझी जायगी तभी हम पश्चिम की अंधेरी गली, पूंजीवादी अंधेरी गली के बाहर उन्हें राह दिखला सकते हैं जो आज बाकायदा हमसे ऐसी उम्मीद कर रहे हैं। मैं समझता हूँ इसका सम्बन्ध कला और दर्शन के सारे प्रश्नों से है और भविष्य में यह समस्या हमारे सामने आयेगी। यानी ऐसा नहीं कि कल या परसों ही ऐसा हो जायगा बल्कि पाँच या दस वर्ष बाद। हमें उस क्षण के लिए तैयार होना है जब एक पूरी बदली हुई दुनिया में, बिलकुल बदली हुई परिस्थितियों के अन्तर्गत हम प्रभावशाली ढंग से मार्क्सवाद को प्रस्तुत कर सकें—जो एकमात्र ऐसा सिद्धान्त है जो इन सामाजिक अन्तर्विरोधों के बाहर एक निश्चित राह का ज्ञान देता है।

अनुवादक : **प्रेमेन्द्र**

['न्यू हंगेरियन क्वार्टर्ली'—२ (१९६८) से साभार।]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलेक्सांदेर सेंकोविच की पाँच कविताएँ

: १ :

कंदील जल रही है, लट्ठे तड़क रहे हैं
एक रूसी काठ-झोंपड़ी में।
ज़ार लिख रहा है एक किताब शासन-कला पर
ज़ार लिख रहा है एक किताब ख़ुद पर।
इतनी मेहनत से थका लिया है ख़ुद को उसने
कि वह प्रभु यीशु-सा दीखने लगा है
मगर कागज़ के नग्न चौकोर पर पड़ा
स्याही का धब्बा
लगता है मानो हो जल्लाद का ठीहा।
और उसके हाथों की नसें सूजी हुई हैं
वह जानता है बहुत-से चेहरे, याद हैं उसे
बहुत-सी तारीखें।
वह गिनता है अपने अक्षर
जैसे कोई गिनता हो सैनिक, लड़ाई से पहले।
वे क़तई मज़बूत काठी के नहीं हैं
मगर उनका कार्य-भार—वह बहुत बड़ा है—
उन्हें कोई लड़ाई नहीं जीतनी है,
उन्हें जीतनी हैं शताब्दियाँ ज़ार के लिए।
पूर्ण विराम डूब गये हैं गोलों की तरह।
उनका समय अभी आने वाला है···[१]
लिख रहा है ज़ार, पंक्तियाँ फिसलती आ रही हैं
उसके राजसी कलम के नीचे से।
ज़ार लिख रहा है आने वाली पीढ़ियों के लिए
सौंपता हुआ अपना अनुभव भावी आततायियों को।
ख़ुश्क हैं मगर जलते हुए लट्ठों की तड़क
जैसे ज़ार पर चलती हुई गोलियाँ। ●

१. पूर्णविराम किसी भी निर्णय की पूर्णता का प्रतीक है, जबकि तीन बिन्दुओं का अर्थ है सेंसर द्वारा प्रतिबन्ध।

: २ :

कितने समस्वर हैं सारे रंग
हरे, नीले, लाल···
गूँगेपन ने—उस महान परिकल्पना ने—
कर दिया है उन्हें सगोत्र।
कल्पना कीजिये मैं रहस्य जान जाऊँ
और मैं उन्हें वाणियाँ दे दूँ।
लाल रंग चीख़ना शुरू कर देगा
ख़ून के भय से।
और हमें विपदा की आशंका होगी
और चीज़ें साधारण नहीं रह जाएँगी।
और मैं यह सब बर्दाश्त नहीं कर पाऊँगा
और मुझे अपना जादू-टोना रोक देना होगा।
रंग फिर से हो जाएँगे गूँगे,
भूलकर अपनी हताशा
पुनः एक बार आकर चुप्पी अचल हो जाएगी
गहरे तालाब में पानी की तरह।
सूर्य खोल देगा अपनी पंखुरियाँ
वह मेरा सच्चा मित्र बन जाएगा
और रेत की तरह चुप-चुप
सारे रंग विलीन हो जाएँगे सफ़ेदी में। ●

: ३ :

सर्दी के मौसम और रात में
रटते हुए बारम्बार पाठ
मैंने सीखी एक भाषा पूरब की
ताकि समझ सकूँ तुम्हें आद्यन्त।
और तुम सोयी थी···किस शताब्दी में
किन प्रज्ञाओं से घिरी हुई?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुम्हारी पलकों ने हरकत की
ज्यों समुद्री घोंघे के किनारों ने ।
तुम्हें जल्दी उठना होगा
और तुम मंद-मंद साँसें लेती सोती रही ।
किस सागर-शैया पर
तुम्हारी आत्मा बन गयी मोती ?
किन्तु तुम्हारी वह वाणी···वह मुझसे दूर
खिसकती रही,
मेरी समझ से दूर ।
तुम्हारे होंठों पर मधुर थी वह
मगर मेरे मुँह में तिक्त
मैं बैठे-बैठे घोखता रहा
गूँगी किताबों के पन्ने ।
लेकिन बर्फ़ के टीले की तरह
उसने लगा दिया ढेर
अपनी वर्णमाला का ।
मैं पुचकारता रहा उसे जैसे जानवर को,
और जब तक मुझ पर विश्वास से पूर्ण
उसने चाट नहीं लिये मेरे होंठ,
मैं सोया नहीं । ●

: ४ :

एक अंधा सतर्कता के साथ
ठकठकाता हुआ ज़मीन बढ़ा जा रहा था
पटरी के किनारे-किनारे
चाँद ने—अति-आकार और ताम्रवर्ण चाँद ने—
लगा दी है आग
बादलों में ।
बग़ल से
रगड़ती हुई एक लड़की गुज़र गयी है—
जो देगी या तो सुख
या विपदा···
उसने हर एक तारे को महसूस करना चाहा
अपनी अंगुलि से
जैसे पढ़ते समय अंधे महसूसते हैं
अक्षर ।
हम नहीं जानते कसी होती है यह इच्छा ।
अक्सर ही हम अंधे हो जाते हैं चकाचौंध से ।
लेकिन वह तारे को ले सकता है अपनी
हथेलियों में
परखने
उसका रूप,
गंध,
भार ।
और वह जान सकता है तमाम चीज़ों के माप
रात और दिन का अंतर ।
होमर इसी तरह पैदा होते हैं
और लोग ताकते रह जाते हैं । ●

: ५ :

हवाएँ मरती हैं—और भी अधिक शांति छा
जाती है
बादल मरते हैं—बरसात होती है
रातें मरती हैं—आकाश और भी हल्का हो
जाता है
आदमी मरते हैं—धरती अधिक भारी हो
जाती है । ●

अनुवादक : गिरधर राठी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निकोलाइ ज़िनोव्येव की तीन कविताएँ

: १ :

माँ, संतरे और मैं

कितना कम देखा है मैंने जीवन में !
कितना कम···
मैं इस फले हुए संसार में उस तरह रहना चाहता हूँ
जैसे माँ रहती है ।
मई में उसने मुझे मेरी आँखें दीं
और आज वह मेरी चाय के लिए संतरे लाई है।
इस वक्त मैं कितना उदास हूँ,
कितना भरा हुआ
मेरी आवाज़ चुप्पी में डूबती है,
कितने बोझिलपन से
कितना कम होता हूँ मैं अकेला माँ के साथ !
कितना कम···
मैं कवि नहीं हूँ, और न नागरिक,
मैं उसका बेटा हूँ।
इस वक्त मैं क्या कुछ नहीं चाहूँगा
और कितना-सा···
मैं इस फैले हुए संसार में उस तरह रहना चाहता हूँ
जैसे माँ रहती है
गिरजाघर की तरह पूरी सफ़ेद
वह मेरे सामने खड़ी है
ओह, उसे हमेशा इसी तरह गिरजाघर की तरह
सफ़ेद
मेरे सामने खड़ी रहने दो !

अपनी माँ से मैं प्रार्थना करता हूँ, प्रकट और छिपकर
मैं प्रार्थना करता हूँ,
एकाग्रता से,
उद्विग्न होकर,
छटपटाहट से !
मुझे न तो झिड़की मिलेगी
और न मदद
बस, वह एक उसाँस भरेगी,
समझ जाएगी
और मुझे अँकवार में ले लेगी···
माँ मेरे लिए संतरे छील रही है
उनसे मुझमें कैसी तीखी मिठास-सी भर जाती है,
वे मुझे ग़मगीन कर देते हैं
उसका चेहरा व्यथा से भरा हुआ उतरा है मुझमें
कितने उलाहने के साथ···
उसका चेहरा मेरे जीवन-भर मेरा एक्स-रे ले रहा है
कमरे में अकेला मैं
माँ को अर्पित एक प्रार्थनागीत गाता हूँ
मैं कवि नहीं हूँ और न नागरिक
मैं माँ का बेटा हूँ
मेज़पोश पर आख़िरी संतरा रह गया था
कितना कम होता हूँ मैं अकेला माँ के साथ···
एक प्रार्थनागीत
माँ के लिए ! •

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: २ :

सफ़ेद ईश्वर का गीत

कभी-कभी रात में नेग्लिका स्ट्रीट पर
हम तमाम वास्तविक चीज़ों के प्रति बहरे बने खड़े
रहे
ईश्वर तुम्हें गिरती बर्फ़ के रेशे समर्पित करता है
मैं तुम्हें अपनी कविताएँ समर्पित करता हूँ ।

हमारे लिए एक बिचौलिए की तरह
तर्क से टक्कर लेती हुई
खूबसूरत आखिरी ट्राम खड़खड़ाती हुई गुजर गई
अपनी पाँतों को तुम्हें समर्पित करती हुई।

हम जैसे कि पुरातन काल से
एक विचित्र कर्त्तव्य-भाव ओढ़े हुए हैं
जहाँ आकाश पृथ्वी पर गिरता है
उसे चुप्पी समर्पित करता हुआ ।

ओ मेरे सफ़ेद ईश्वर, सर्वशक्तिमान बर्फ़ !
अँधेरे में हमने उसकी प्रार्थना की
यह माँगते हुए वह उस सब पर सफ़ेदी छिड़क दे
ढँक दे हौले से जो दुनिया में काला है ।

सफेद होना भयानकतम दुर्भाग्य है—
कहा जाता है कि चीज़ों को सफ़ेद बनाओ ।
यदि कोई काला ईश्वर होता

तो बहुत डरावना होता ।
सफ़ेद होना बड़ा ख़तरनाक है
कितनी आसानी से दाग़ लग जाता है
वसंत का इन्तज़ार फाँसी की तरह हो रहा है
जिसमें सूरज लाल जल्लाद की तरह है ।

सफ़ेद होना—जैसे फैलकर गिर जाना
वहाँ, ऊपर
अपना जीवन प्रारम्भ करता हुआ
बर्फ़ का हर ज़र्रा
उम्मीद करता है कि वह समूचा चौराहा ढँक सकेगा
और अब—अब तुम बर्फ़ हो, क्षितिज तक सफ़ेद,
तुम बेजान पड़े हो पीठ के बल गिरे हुए
आकाश में अब तुम्हारा अस्तित्व नहीं है
तुम्हें पृथ्वी को दे दिया गया है ।

वाष्प बनते हुए-से तुम चले जाओगे
लेकिन फिर भी पिछले वर्ष की तरह
अगले जाड़े में बर्फ़ के ज़र्रे
खटखटाएँगे कहीं पर किसी का
हृदय ।

अनुवादक : विष्णु खरे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: ३ :

एक अजीब प्रार्थना

ईश्वर, मुझ शक्ति दो कि प्रेम से उबर सकूं
और फिर कभी प्रेम न करूँ
आलिंगन को तोड़ सकूं
और पत्थर बनकर अलग हो सकूं।

ईश्वर, मैं समय पर वापस न आऊँ
ईश्वर, मुझे एक बार फिर क्षमा न मिले
कि असह्य को सह सकूं
जिस चीज़ को चाहता हूँ उससे घृणा करने तक
उतर आऊँ।

इस शाश्वत सलीब—उसकी छाया को
मेरा पीछा करने दो सड़ने तक

ईश्वर, रात को मेरे लिए बाज भेज दो
मेरे सारे संदेहों को वे चींथ-चींथ कर तार-तार
कर दें।
किन्तु मौन है ईश्वर प्राचीन पापों के लिए
उसके अस्तित्व में संदेह करने के लिए
ईश्वर हर एक को प्रेम की सज़ा देता है
ताकि परिश्रम झेलते हुए हम विश्वास करना सीख
जाएँ।

किन्तु यह ऐसा होने से,
यदि ईश्वर इतना क्रूर है
तो मैं फिर उससे प्रार्थना करता हूँ
ईश्वर, इतनी शक्ति दो कि प्रेम न कर सकूं। •

अनुवादक : विष्णु खरे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मार्क श्चेग्लोव : एक प्रतिभाशाली रूसी समालोचक

व. लक्शिन

प्रत्येक पीढ़ी में कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनका कृतित्व सामान्य लगता है और रचनाएं अल्प और अपूर्ण प्रतीत होती हैं किन्तु उनके व्यक्तित्व के प्रभाव की परिधि असाधारण रूप से विशाल होती है। उनकी साहित्यिक उपलब्धियों से स्वतंत्र इस धरातल पर उनकी उपस्थिति मात्र जीवन को सरस और विवेकपूर्ण बनाती है और साथ ही मन के ऊपर एक स्फूर्तिमय प्रभाव छोड़ती है। स्वयं मृत्यु भी उनके इस प्रभाव को सीमित नहीं कर पाती अपितु लगता है कि वह उसको और भी गहरा बना देती है एवं अविज्ञात रूप से इन व्यक्तियों के कर्म और वाणी की एक परम्परित प्रतिक्रिया-शृंखला जुड़ती चली जाती है।

मार्कश्चेग्लोव को दिवंगत हुए आज दस वर्ष से अधिक हो गये हैं और उनकी चाल, शब्द एवं मुद्राओं को मानस में प्रत्यक्ष करने के लिए थोड़ा-बहुत प्रयास करना पड़ता है किन्तु उनकी पुस्तक खोलते ही उनका चिर-परिचित स्वर मेरे कानों में गूंजने लगता है। यह स्वर किसी उपन्यास के पात्र-बिम्ब का स्वर नहीं है किन्तु उनका अनाविल रूप से नैसर्गिक एवं बीच-बीच में खाँसता हुआ स्वर है। यह स्वर कहीं स्वप्नाविष्ट भावावेश से पुलकित, तो कहीं विक्षुब्ध व्यंग्य से प्रखर, तो कहीं चिंतन भारान्वित और ऊर्जस्वित हो जाता है। लेखक की मौलिकता एवं सत्यता की पहचान भी इसी बात से होती है कि उसकी वाणी मुद्रित पंक्तियों के पीछे से स्पष्ट सुनी जा सकती अथवा वह किन्हीं श्रम-साध्य वागाडम्बरों से घुट जाती है।

मार्क का प्रथम महत्त्वपूर्ण लेख सन् १९५३ के सितम्बर में प्रकाशित हुआ था और सन् १९५६ के सितम्बर को वे इस संसार से चल बसे। तीन वर्ष का समय साहित्य के इतिहास में एक बहुत छोटी अवधि होती है किन्तु इन तीन वर्षों के पीछे मार्क के जीवन की समस्त साधना है। इसीलिए उनका प्रभाव आज भी स्पष्ट रूप से लक्षणीय है।

सन् १९५३ वसन्त में उन्होंने अपनी एक सामान्य नीली कापी में लिखा—"मेरा अपने साहित्यिक कर्म के प्रति कुछ इस प्रकार का दृष्टिकोण है कि जब तक 'वह बात' नहीं हो पाती—अर्थात् जब तक मेरा इस विशाल साम्राज्य में कोई स्थान नहीं बन पाता तब तक अप्रतिहत रूप से मुझे ज्ञानार्जन करके विवेक प्राप्त कर लेना चाहिए। यह उसी प्रकार है जैसे कि कोई व्यक्ति जिसे सड़क पार करके उस ओर आगे चलना हो, यातायात की बाधा के कारण इस ओर आगे चलने में समय का उपयोग कर रहा हो।"

यह बात उन्होंने जीवन के उस मोड़ पर कही थी जो कि उनको साहित्य की ओर लाया।

वैसे तो हम पहले भी अपने संकाय की गलियों में, क्लोक-रूम में, मध्यावकाश में, विद्यार्थियों के घूर्णावर्तों में मिलते रहते थे किन्तु उनसे परिचय नहीं हुआ था। प्रोफेसर गुज़्दी के अध्ययनकक्ष के झुटपुट प्रकाश में, जिनमें चित्रों की सुनहरी चौखटें (फ्रेमें) और चित्रों के रंग दिपते रहते थे, विशाल पर्वताकार पुस्तक-राशियों के मध्य, एक सेमिनार में हमारा प्रथम परिचय हुआ। यह सेमिनार वयोवृद्ध प्रोफेसर की साहित्य-सेवाओं के सन्मान में उनके घर पर ही हुआ करता था। पुस्तकें दीवारों को ढँककर मेजों पर, सोफों पर, स्टूलों पर, फर्श पर उमड़ी पड़ती थीं और उस प्रकोष्ठ का स्वामी एक कोमल ऊनी कोट पहने एक सेनापति की दृष्टि से अपनी दुर्दम पुस्तक-वाहिनी का निरीक्षण करता—किसी पुस्तक को खोजता हुआ—और विद्यार्थी तब तक अपना

श्री व. लक्शिन 'नोवी मीर' में साहित्य-समीक्षा के संपादक थे। कुछ महीने पहले वे उक्त पत्रिका के प्रधान संपादक त्वार्दोवस्की के साथ ही संपादक मंडल से अलग कर दिये गये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थान ग्रहण करते।

सेमिनार के दिन घर-भर की कुर्सियाँ उनके कमरे में घसीट ली जातीं और मेजें भी और इस पर भी जब जगह की कमी पड़ती तो देर से आने वालों को रेकों पर, सोफ़ों पर, या जहाँ जगह मिले वहाँ पर स्थान बनाना पड़ता। इस स्थान की एक और सुविधा यह थी कि किसी नीरस व्याख्यान के समय दीवार पर टँगे चित्रों को देखने का, किसी पत्रिका के पन्ने पलटने का या किसी मित्र से अपनी बातें करने का अवसर मिल जाता था क्योंकि पुस्तकों के विशाल ढेरों की ओट में प्रोफेसर सभी को नहीं देख पाते थे। मार्क मुझसे आठ साल बड़े थे। विद्यार्थियों की अवस्था में आठ वर्ष का अन्तराल महत्त्वपूर्ण होता है किन्तु मार्क ने इस बात को मुझे कभी अनुभव नहीं होने दिया। तालस्ताय के 'जीवित शव' (झिवोइत्रूप) के ऊपर उनसे एक बार इन्हीं सेमिनारों में वाद-विवाद छिड़ गया—फेद्या प्रोतासोव के सम्बन्ध में। बाद में उनके एक प्रकाशित पत्र से ज्ञात हुआ कि फेद्या प्रोतासोव उनका प्रिय ही नहीं अपितु प्राणप्रिय पात्र है। मेरे लिए भी फेद्या प्रोतासोव विशेष महत्त्व रखता है।

मार्क मुझे अच्छे लगे और उनके व्यक्तित्व ने मुझे अपनी ओर आकर्षित किया। वे अपनी बैसाखी को एक ओर करके अपनी काया को उस पर टिका देते। दूर से वे रोग द्वारा विकृत, दुःखी व्यक्ति लगते थे किन्तु पास आकर उनसे दो शब्द बोलते ही उनका समस्त दुर्भाग्य अदृश्य हो जाता था—उनकी बैसाखी और उस पर झुका हुआ शरीर—और रह जाता था केवल सुन्दर मुख, सजीव और बुद्धिमान् आँखें, एक सरल सहज भाव, किसी हास्यपूर्ण परिस्थिति की तत्क्षण प्रतिक्रिया की क्षमता और फिर अपनी गम्भीर भावना में लीन हो जाना। वे एक पौरुषमय उदात्त सौन्दर्य से दीप्त थे और मैंने अनायास ही अपने को उनका अनुकरण करते पाया।

वे गम्भीर रोग से पीड़ित थे—दुखी थे किन्तु उनमें शीघ्र ही उल्लसित आनन्द में विभोर होने की क्षमता थी। उन्हें लोगों का संग प्रिय था, नये परिचयों और योजनाओं में उनकी असाधारण रुचि थी। घर से चुपचाप खिसककर उनको किसी मित्र के यहाँ अतिथि बनने में तनिक भी संकोच नहीं होता था चाहे इसके लिए उन्हें नगर के एक छोर से दूसरे छोर ही क्यों न जाना पड़े। किसी भी निमंत्रण को वह कभी अस्वीकार नहीं करते थे। हाँ, रोग के कारण किसी असाधारण परिस्थिति में वह कहते—'आज मैं जरा संचरणशील नहीं हूँ' और इसका अर्थ होता था कि उनके पैरों ने बिलकुल जवाब दे दिया है।

खाने-पीने का मजा जो उनके साथ आता था वह शायद ही किसी व्यक्ति के साथ आता हो। वे जीवन के लघुतम सुखों पर अनन्त आनन्द में लीन हो जाते थे। उनकी बाल-सुलभ उत्कण्ठा, जीवन के लघु सुखों की प्रतीक्षा बड़ी ही संक्रामक होती थी। किन्तु यह सब किसी गम्भीर साहित्य-चर्चा की भूमिका होती थी। एक बार दोस्तोव्स्की ने 'कर्मा-जोव बन्धु' में बालक अल्योशा और इवान को घर की बाड़ के बाहर पहुँचाते हुए कहा था कि रूसी बालक जीवन-जगत् के मूलभूत प्रश्नों की ओर तुरन्त आकर्षित होते हैं—कैसे जीना चाहिए? किस पर विश्वास करना चाहिए? किसकी आराधना करनी चाहिए?

सन् ५४ का साल आया। जाने कौन-से द्वार उस वर्ष खुल गए थे, सभी लोग किसी महान् वस्तु की मानों उत्कट प्रतीक्षा में थे, एक-दूसरे से बड़ी तत्परता से विवादरत थे··· जाने कौन-सा नवीन सुरभिहरण समीरण बह रहा था···मन में आता था कि उन सब बातों को लिख लूँ, याद कर लूँ। पर क्यों? किसलिए? क्या उस समय मेरे मन में यह बात कभी आ सकती थी कि एक दिन मैं इन दिनों के संस्मरण कागज़ पर लिखूंगा?

जिन दिनों मैं मार्क के समीप आया उन्हीं दिनों मार्क के लेख 'नयी दुनिया' (नोवी मीर) में छपते थे। उन्होंने सन् ५३ के साहित्य के विद्यार्थी पर कैसा प्रभाव डाला उनके विषय में बाद में बताऊँगा। उनके बारे में अभी थोड़ी देर पहले तक गम्भीर एवं वैदुष्यपूर्ण चर्चाएँ चल रही थीं—साहित्य का आधार (बेस) और आधेय (सुपरस्ट्रक्चर) से क्या सम्बन्ध है? साहित्य में सत् और असत् के संघर्ष का दिग्दर्शन अनिवार्य है अथवा नहीं, वर्गगत पात्र की सशक्त सृष्टि असिद्ध हुई या नहीं—फिर आवेगमय शब्दों की बौछार ···युवा रुचि और युवा वितृष्णा और अन्त में वे संवेदनशील क्षण··· !

एक बार मैं एक पत्रिका को चलते-चलते देख रहा था कि उसमें मुझे मार्क का एक लेख 'संगीत संगत के बिना' दिखाई पड़ा। मुडगेर पर कोहनी टिकाकर मैं इस लेख को—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपन्यास अथवा कहानी को नहीं अपितु पुस्तक-समीक्षा स्तम्भ के अन्तर्गत एक साधारण लेख को—पढ़ता ही रह गया। पढ़ते-पढ़ते कभी आनन्द से विभोर हो उठता, कभी सहमत होता, कभी विस्मित तो कभी ज़ोर से हँस पड़ता। फिर मैंने अपने सहपाठियों के साथ उस लेख के तीक्ष्ण एवं हास्यतरल अंशों को कई बार पढ़ा। वाह! क्या बात है! इसको कहते हैं समीक्षा! और सबसे अधिक चमत्कारी बात यह थी कि यह लेख हमारे ही एक सहपाठी ने लिखा था जो कि कक्षा में हमारे ही साथ बैठता था, उन्हीं पाठ्यपुस्तकों को पढ़ता था और उन्हीं परीक्षाओं को देता था जिन्हें कि हम दिया करते थे। वह प्रो० पोस्पेलोव के आगे परीक्षाओं में वैसे ही घबराता था जैसे कि हम सब। कितने आश्चर्य की बात है कि यह समीक्षा उसकी लेखनी से निकली है।

जब मैं मार्क के निकट सम्पर्क में आया तब इस पहेली का पता न लगा सका कि वह कब लिखते हैं। मैंने उन्हें कभी भी काम करते नहीं पाया। वह बहुत लिखते थे और बहुत प्रकाशित करवाते थे, किन्तु उनके लेख उनके मित्रों के लिए नितान्त अप्रत्याशित होते थे। यह उनकी विनम्रता थी अथवा अन्धविश्वास, मार्क ने कभी नहीं बताया कि वे क्या लिख रहे हैं अथवा क्या लिखने जा रहे हैं। उनको उसके विषय में जिज्ञासा करना अच्छा नहीं लगता था।

जैसे ही कोई उनकी माँ के साथ उनके संकरे अध्ययन-कक्ष में—जोकि पहले कभी स्नानागार था—प्रवेश करता वे बड़ी प्रसन्नता के साथ और इस बात से बिना चिढ़े कि उनके लेखन में बाधा पड़ी अपने लिखे हुए कागज एक ओर रख देते और कहते—

"बहुत अच्छा हुआ कि आप आ गये···थोड़ी गपशप करेंगे···विश्वविद्यालय के क्या नये समाचार हैं?···हमारे बुढ़ऊ कैसे हैं?" वह प्रो० गुज्दी के विषय में पूछते।

इसका अर्थ यह नहीं कि वह अपने साहित्यिक क्रिया-कलाप को किसी रहस्यमय वातावरण से आवेष्टित रखते थे। इसके विपरीत वह कई बार सहलेखन का निमन्त्रण देते—

"क्या तुम नहीं पाते कि एमिलीव पर आलोचना लिखने का समय आ गया है। लेख ही नहीं अपितु एक पुस्तक। आओ साथ लिखें।" या "मुझसे दोस्तोव्स्की के विषय में लेख माँगा गया है···पता नहीं चल रहा कि कहाँ से शुरू करूँ ···किस छोर को पकड़ूँ? यदि दोनों साथ काम करें तो कैसा रहेगा?" किन्तु इस सहलेखनत्व से मैंने मना कर दिया क्योंकि मैं किसी के साथ मिलकर नहीं लिख पाता हूँ। मार्क के मन में फिर भी किसी के साथ मिलकर लिखने का आकर्षण बना रहा और उनके लेख युवक साहित्यकारों—जैसे सुरेत्सेव, तुर्बिनी—के साथ लिखे मिलते हैं।

मार्क के विषय में अनेक छोटी-छोटी घटनाएँ आज भी मेरी स्मृति में तैर रही हैं जिनके पीछे से उनका निश्छल मानव-रूप झाँकता है। उनको अपने विषय में ऐसे इतिहास बखान करने का शौक था जिसमें वह 'हीरो' से बिलकुल नहीं लगते थे। एक बार उन्होंने मुझे एक घटना सुनाई—

"रास्ते में फिसलन थी इसलिए मुझे प्रो० गुज्दी के सेमिनार पहुँचने में लगभग बीस मिनट की देर हो गई। यह मेरा पहला ही सेमिनार था···अस्तु घण्टी बजाई···दरवाजा खुला—'आप किसे चाहते हैं?'

'निकोलाई कालीनिकोविच को' मैंने नम्रता से अपना चिर-परिचित हैट उठाते हुए कहा।

'आइए, तशरीफ़ रखिये। निकोलाई कालीनिकोविच इस समय व्यस्त हैं—थोड़ी प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।" मुझे बताया गया।

'कोई बात नहीं, प्रतीक्षा कर रहा हूँ,' मैंने विनयपूर्वक कहा। मुझे एक सजे कमरे में पत्र-पत्रिकाओं की मेज के पास एक गद्देदार गोल कुर्सी पर बिठा दिया गया।

'ताजा पत्रिकाएँ हैं! कॉफी पियेंगे?'

मुझे आश्चर्य हुआ किन्तु मना करने की सामर्थ्य मेरे पास नहीं थी। कॉफी पीता हुआ और चित्रों को देखता हुआ सोच रहा था कि वास्तव में यहाँ पर विद्यार्थियों का इतने स्नेह और सम्मान से स्वागत होता है! थोड़ी-थोड़ी देर में मुझसे पूछा जा रहा था कि किसी चीज़ की आवश्यकता तो नहीं है? और साथ ही आश्वासन दिया जा रहा था कि निकोलाई कालीनिकोविच शीघ्र ही निवृत्त हो जाएँगे। मुझे भी कोई विशेष जल्दी नहीं थी। अन्ततः कॉरीडर में पगध्वनि सुनाई पड़ी और कई नमस्कारों के स्वर गूंजे। द्वार खुला और प्रोफेसर सीधे आकर कहने लगे—'क्षमा कीजिए—मैंने आपको प्रतीक्षा करने के लिए बाध्य किया। अभी हाल ही में विद्यार्थियों से निवृत्त हुआ हूँ···मुझे किससे बात करने का गौरव मिला है? किस प्रकाशन गृह से?' मैंने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हकलाते हुए कहा—'मैं किसी प्रकाशन गृह से नहीं आया हूँ। वास्तव में मैं आपका विद्यार्थी हूँ और कल ही मैंने आपके सेमिनार में नाम लिखवाया है।'

कुछ समय तक एक भारी मौन छा गया। प्रोफेसर का चेहरा सफेद पड़ गया और दरवाजे की ओर लौटे। थोड़ी देर तक अपनी हथेली से अपनी टाँट सहलाते हुए बोले—क्रोध से भरकर—'तो दो घण्टे से यहाँ पर बैठे क्या कर रहे थे··· बैठे हुए लोगों को बेवकूफ बनाते रहे···।'

और इस प्रकार इस शुभ घटना से प्रोफेसर के साथ मेरा प्रथम परिचय हुआ। मार्क ने एक दीर्घ निःश्वास के साथ कहा।

निकोलाई कालीनिकोविच यद्यपि शीघ्र ही गरम हो जाते थे किन्तु स्वभाव से आशुतोष थे और मन में कोई बात नहीं रखते थे। बाद में वे मार्क से अत्यन्त स्नेह करने लगे थे और मार्क अनेक बातों के लिए उनके आभारी थे। मार्क की प्रथम समीक्षा उन्हीं के द्वारा अनुशंसित होकर प्रकाशित हुई थी। वैसे तो हमारे प्रोफेसर निकोलाई कालीनिकोविच गुज्दी का स्वभाव हम सबके प्रति उदार और वात्सल्यपूर्ण था किंतु उनमें एक बात यह थी कि वह विद्यार्थियों के व्यक्तिगत जीवन के विषय में बारंबार प्रश्न तो करते थे किन्तु उनके द्वारा दिये गये उत्तरों को भूल जाते थे। प्रत्येक मंगलवार को मार्क द्वारा लिखकर लाये गए और पढ़कर सुनाये गए लेखों को सुनकर वह गद्गद हो जाते और अन्त में पूछते—"अच्छा तो मार्क अलेक्सान्द्रोविच, मैं बारंबार भूल जाता हूँ···आप कितने साल के हैं? आपको यह रीढ़ का यक्ष्मा कब हुआ था? अब इलाज कैसा चल रहा है?"

"निकोलई कालिनिकोविच, मैंने आपको पिछली बार बताया तो था!"

"अरे हां!" प्रोफेसर कहते और समझ जाते कि बारंबार मार्क को अपने विषय में बताना अच्छा नहीं लगता।

कदाचित् अब मार्क अलेक्सान्द्रोविच श्चेग्लोव के विषय में बताना उपयुक्त होगा—

मार्क अलेक्सान्द्रोविच श्चेग्लोव का जन्म २७ अक्तूबर १९२५ को हुआ था। आजीवन वह अपने शैशव की स्मृतियाँ अपने हृदय में संजोये रहे। प्रशान्त और हरीतिमा से आच्छन्न वह नन्हा-सा नगर···चतुर्दिक शाद्वल उद्यान···। मार्क के माता-पिता एक प्रान्तीय नाट्य मण्डली में कलाकार थे और अपने कार्य की प्रकृति के अनुसार उनको अपने परिवार—पत्नी और पुत्र—के साथ स्थान-स्थान पर घूमना पड़ता था। जन्म के दो वर्ष बाद ही मार्क को मेरुदण्ड का यक्ष्मा हो गया था और तब से उनका सारा जीवन—इस अस्पताल से उस अस्पताल, इस सेनेटोरियम से उस सेनेटोरियम भटकना··· जिप्सम के पलस्तर···रोग-शैय्या···घर के सहज जीवन के कुछ क्षण···पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ की छलनामयी आशा···और बीमारी का पुनः प्रखर होकर बिस्तर पर पटक देना रह गया था। साथ ही मार्क के घर में भी सब प्रकार कुशल नहीं थी। मार्क के पिता अलेक्सान्द्र सरगेयेविच श्चेग्लोव बड़े ही प्रतिभाशाली व्यक्ति थे किन्तु अपने-आपको पूर्ण रूप से पा नहीं सके। उन्होंने अपने जीवन के तीसरे दशक में मास्को की "यथार्थवादी रंगशाला" में काम आरम्भ किया। थोड़ा बहुत सृजनात्मक काम भी किया, ए० एन० कवि नाम से कविताएँ भी लिखीं जो कि कदाचित् बच्चों की पत्रिकाओं "विज्जू" या "छोटी चिड़िया" (चिझ) में प्रकाशित भी हुई, किन्तु शीघ्र ही उन्होंने अपनी गृहस्थी छोड़ दी और माँ को ही मार्क का लालन-पालन करना पड़ा।

रुग्णता की विवशता के कारण मार्क को बचपन से ही पढ़ने की बड़ी आदत थी और उन्होंने बहुत पढ़ा—अदम्य पिपासा से पढ़ा और आनन्द लेकर पढ़ा। एक मधुर स्वप्न के समान उनकी भी आशाएँ थीं कि अन्य बालकों की तरह वह भी स्कूल जाएँ। उनकी डायरी के स्वल्प साक्ष्य के अनुसार उनका अध्ययन कुछ इस प्रकार चला—

सन् २७ से सन् ३५ तक—आठ साल—विभिन्न अस्पतालों में रहकर जैसे-तैसे दूसरी कक्षा पास की। सन् ३५ के अन्त में अस्पताल से घर लौटा और सन् ३६ में तीसरी और चौथी कक्षा घर पर पढ़कर ही पास की। पाँचवीं कक्षा में सोवियत प्रान्तीय स्कूल में प्रविष्ट हुआ किन्तु रीढ़ में यक्ष्मा की प्रक्रिया तीव्र हो जाने के कारण स्कूल छोड़ना पड़ा और इसके फलस्वरूप छठी और सातवीं कक्षा घर पर पढ़कर ही पास करनी पड़ीं। सन् चालीस में मास्को से बाहर एक टी० बी० अस्पताल में भर्ती किया गया जो कि मुइतीश नामक पर्वत पर स्थित है और वहीं से मैंने आठवीं कक्षा पास की। युद्ध के कारण वह अस्पताल, जिसमें मैं भर्ती था, खाली करवाया गया और यूराल ले जाया गया, इसलिए नवीं कक्षा मैंने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वहीं पर चेल्याविन पत्राचार हाई स्कूल से पास की। युद्ध संकट टल जाने पर फिर हमारे अस्पताल को अपने पूर्व स्थान पर लाया गया और सन् तेंतालीस की शरद् ऋतु में ज्वेनी गोरद टी०बी० अस्पताल में रखा गया जहां से मुझे सन् ४५ में ही छुट्टी मिल सकी। उसी वर्ष मास्को के रेल के डिब्बे बनाने वाली फैक्टरी के कामगर युवकों के हाई स्कूल "१९०५ क्रान्ति स्मारक" में प्रवेश लिया और वहीं से दसवीं कक्षा पास की।

यह तो डायरी के पन्नों का बाह्य घटना विवरण मात्र है किन्तु पहले इस बालक, फिर किशोर और फिर इस युवक के अन्तर में कौन-कौन सी घटनाएँ घटीं—उसके मन पर क्या बीती—उसका साक्षी यह उसकी मां के नाम एक पत्र है—

"मेरी प्यारी, अभागी अम्मां !

मैं तेरे समक्ष अपरिहार्य रूप से अपराधी हूँ। मुझे अपनी भूलों के विषय में फिर से बात उठाने में लज्जा आती है किन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मां के रूप में--नहीं—बल्कि एक साधारण मानवी के रूप में तू मेरी इन भूलों की क्षम्यता मान लेगी। तू देखती नहीं है कि अस्पताल की चार-दीवारी और चतुर्दिक बीमारियों का बीभत्स वातावरण किस प्रकार समस्त प्राण-शिराओं को झकझोर देता है···और फिर जबकि स्वस्थ व्यक्ति भी कभी-कभी उद्भ्रान्त हो जाता है··· जब कि प्रत्येक विवेक की आवाज गूंगी हो जाती है तो मैं इन बातों से किस प्रकार बच सकता हूं। और फिर, तू तो जानती ही है कि मुझे कभी-कभी घोर उदासी जकड़ लिया करती है। मुझे, एक ऐसे व्यक्ति को जो कि संगीत स्वरारोह सुनकर स्तब्ध रह जाता है, जो कि भावपूर्ण वाल्ट्ज नृत्य का प्रेमी है, जो कि गीतिकाव्य पर अपने प्राण न्योछावर करता है और जिसका कि रोम-रोम कवि है, ऐसी निदारुण यन्त्रणा और दुर्गन्धित जीवन का अभिशाप मिला है। तू सोच तो, अम्मां, यह अन्याय कितनी मार्मिक यन्त्रणा और कितना विक्षोभ उत्पन्न कर सकता है। तू मुझसे दृढ़ता और आत्मबल की अपेक्षा करती है किन्तु बता तो सही कि प्रकृति ने मुझे किस दृढ़ता और किस बल का वरदान दिया है ? तू जब इन सब बातों पर विचार करेगी तो निश्चय ही मुझे पूरी तरह क्षमा कर देगी।

सस्नेह, तेरा मार्क"

दुनिया में ऐसे लोग होते हैं जो कि आत्मबल और धीरता की शिक्षा तो देते हैं किन्तु स्वयं किसी पहली ही विपत्ति के सामने भाग खड़े होते हैं। मार्क ने अपने जीवन की एक घटना का वर्णन किया जो उनके विषय में बहुत कुछ बताती है (प्रवेश परीक्षाओं के दिनों में मार्क की बीमारी पूरे जोर पर थी) :

"मेरी अध्ययन की इतनी प्रखर लालसा थी कि मैं लग-भग घिसटता हुआ विश्वविद्यालय की प्रवेश-परीक्षाएं देने गया और जब बिलकुल ही खाट से लग गया तो शरद् तक परीक्षाएँ स्थगित करने की प्रार्थना की और भीषण शारीरिक यन्त्रणा और अविस्मरणीय मानसिक व्यथा के बावजूद मैंने वह परीक्षाएँ दीं।" जिस दिन निबन्ध लेखन का परीक्षा पत्र था उस दिन मार्क की तबियत बहुत ज्यादा खराब थी और वे बैठ भी नहीं सकते थे अतएव उन्होंने आडीटोरियम के एक कोने में जाकर कुर्सी पर लेट कर लिखा। महिला परीक्षक मार्क को देख न पायी और जब एक कापी कम पड़ने के कारण खोजा गया तो मार्क को लेटे-लेटे लिखते पाया गया। वह लिखने में इतने तन्मय थे कि उनको पता भी न चला कि समाप्ति की घण्टी कब बज गयी। इस परीक्षा के पश्चात् मार्क बिलकुल ही खाट से लग गये।

अस्तु, मार्क को अपने कार्य में सफलता मिल गयी—चाहे पत्राचार पाठ्यक्रम में ही सही, उनका भाषा-विज्ञान संकाय में प्रवेश हो गया (रूस में साहित्य भी भाषा विज्ञान संकाय में पढ़ाया जाता है)। मार्क ने विश्वविद्यालय में अदम्य लगन और अद्वितीय मानसिक ऊर्जा के साथ साहित्यिक ज्ञान एवं अन्तर्दृष्टि अर्जन करना आरम्भ कर दिया। ऐसा प्रतीत होता था मानो वे अपने जीवन के दुख और रुग्णता के दुर्भाग्य से प्रतिशोध लेने के लिए पढ़ रहे हैं। हमारे साथ उन्होंने लेटिन भाषा के प्रसिद्ध लेखक त्सेजार की पुस्तक "दि बेलो गेलिको" के प्रसिद्ध अध्याय "तीरेत्स की घटनाओं के सम्बन्ध में" के अनुवाद में पसीना बहाया, हमारे ही साथ उन्होंने गोर्की की कहानी "बुढ़िया इज़रगिल" का ध्वन्यात्मक ट्रान्स-क्रिप्शन सीखा और निकोलाई इवानोविच लिबान के योग्य निर्देशन में अपना प्रथम मौलिक लेख "लमोनोसोव और जेरझाविन के शोक गीत" लिखा।

विश्वविद्यालय मार्क के जीवन में एक नया परिवर्तन लाया—नये मित्र, नये साथी, व्याख्यान, विवाद, विमर्श, परिचय। साधारण विद्यार्थी जीवन उनको असाधारण रूप से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भास्वर और पूर्ण लगता था।

मार्क बचपन से ही कविता लिखते थे और अब तक उनकी कविता की कई कापियाँ भर गयीं थीं किन्तु विश्व-विद्यालय का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन उनके इस कवि कर्म में बाधा पहुँचाता था। कहीं-कहीं उनके क्लास नोटों के मध्य थोड़ी-सी छन्दमय पंक्तियाँ मिल जाया करती थीं जिनमें कुछ ऐसी भी होती थीं—

मैं स्नेह विकल—
यह रूप सकल,
लिखूं कागज पर
या ध्वनिमय क्रीड़ागारों पर,
या हिमाच्छन्न विस्तारों पर !

इन बाल-सुलभ भोली पंक्तियों में एक विशेषता है जो कि मार्क की समस्त कृतियों में परिलक्षित होती है और वह है उनके भावों की सत्यता और अकृत्रिमता। विद्यार्थी जीवन का यह केवल समारम्भ था—अभी उनके सामने जीवन के नवीन हर्ष और नवीन शोक···गम्भीर रुग्णता और पोलिवानोव का अस्पताल···बीमारी के बिस्तरों पर दी गयीं परीक्षाएं···पुनः आरोग्य लाभ के मधुर स्वप्न—मास्को पुनरागत होने के हर्षाकुल उल्लास और प्रोफेसर गुज्दी के वे चिरन्तन प्रश्न "कितनी उमर है आपकी ?", "पिताजी क्या काम करते हैं" इत्यादि थे। मार्क की माँ ने मुझे बताया कि मास्को लौटकर आना उनके लिए कितने गम्भीर और महान् आनन्द का विषय था। आमरण विमोहित करने वाले इस नगर को पुनः अच्छी तरह से देखने के लिए वे केवल पायजामा और चमड़े की जाकिट पहिने, सिर पर अपने पिता की पुरानी टोपी ओढ़े और गले में लाल शाल डाले बाहर निकल पड़े। मैं उनके उस रूप की स्पष्ट कल्पना कर पा रहा हूँ कि किस तरह वह प्रकाशमय दिनों में अपनी बैसाखी के सहारे अपने सिर को एक ओर से दूसरी ओर घुमाते हुए, सड़क पर चलने वाले प्रत्येक व्यक्ति को, जो कि उनके विकलांग शरीर को करुणापूर्ण दृष्टि से देखता होगा, देखकर स्नेह से मुस्कराते हुए चले जा रहे होंगे। उनको मास्को से एक विशेष प्रकार का करुण कोमल प्रेम था। मास्को के साथ न जाने उनकी कितनी मर्म-व्यथाएँ, आशाएँ जुड़ी हुई थीं। इनमें मातृभूमि के प्रति अखण्ड प्रेम की भावना थी जो कि इस नगर के शौर्य के कारण लोगों की स्मृति में ताजा थी, जिस नगर ने हाल ही में महानतम संकट को पार करके अपने गौरव को अक्षुण्ण रखा था। उन्होंने अपनी डायरी में लिखा—'मास्को इस संसार का सबसे गीतिमय और साथ ही सबसे महाकाव्यात्मक उल्लास से परिपूर्ण नगर है।"

जब मेरे हाथों में मार्क की डायरी पड़ी जो कि आजकल "एक विद्यार्थी की कापियाँ" नाम से प्रसिद्ध है तो मैं एक बार पुनः आश्वस्त हो गया कि इस व्यक्ति को कितनी समृद्ध प्रतिभा का वरदान मिला था। उनकी इस डायरी में हम इस शती के चौथे दशक के एक ओजस्वी 'कमसोमोल' युवक को देखते हैं, सामाजिक न्याय में ज्वलन्त आस्था रखने वाले एक आदर्शवादी और एक रोमाण्टिक व्यक्ति को देखते हैं, अपने देश के प्रति एक गम्भीर समर्पण भावना से अन्वित और साथ ही बीमारी की चिन्ताओं से आकुल-व्याकुल एक मानव को देखते हैं।

हो सकता है कि बीमारी के कारण उद्बुद्ध एकाकीपन की भावना ने उनकी अनुभूतियों में इतनी तीव्रता और यथार्थता ला दी हो। कभी-कभी तो वे अपनी उच्छ्वसित चरमानुभूतियों को उनकी पराकाष्ठा पर ले जाते हैं। यद्यपि उनकी किशोर विचारणा एवं भावना अकलंक होती है, किन्तु उनमें एक व्यक्ति की संवेदनशीलता है जो कि आसपास के लोगों से सौगुनी प्रखर है, जिसे कि शब्द, ध्वनि, रूप और रंग द्वारा भाव-सम्प्रेषण का चमत्कारी वरदान मिला है और जो कि पीछे से गम्भीर मेधा की माँग करते हुए अपने को अभिभूत करने वाली अनुभूतियों से पाठक को अपना लेता है।

महायुद्ध के उपरान्त मार्क परिवार के लिए जीवन दूभर हो गया। माँ अक्सर बीमार रहती थी और काम पर नहीं जा सकती थी। मार्क अपने लेखन एवं अपनी कविताओं द्वारा जीविकोपार्जन करते थे। कई जगह काम भी किया, किन्तु सफलता नहीं मिली और शरीर ने भी साथ नहीं दिया। अस्तु, येनकेन प्रकारेण जीवनयापन होता रहा।

जब मार्क प्रख्यात आलोचक हो गये तब समय-समय पर यह आक्षेप सुने गये कि उनका जीवन-विषयक अनुभव व्यापक नहीं है। इस प्रकार की बातें वे लोग करते थे जिन्हें कि मार्क के जीवनानुभवों का सहस्रांश भी प्राप्त नहीं हुआ था। ये लोग कृत्रिम भावना से कन्धे उचकाकर कहते—"क्या करें, बीमारी भी तो ऐसी है।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या मार्क जीवन नहीं समझते थे ? वे जोकि जीवन-भर इस अस्पताल से उस अस्पताल भटकते रहे और सैकड़ों जीवनों के दुखों को सुनते-समझते रहे ? उनकी उम्र में इन अनुभवों को प्राप्त करने का अवसर कम ही लोगों को मिला होगा। उन्होंने तीव्र अभाव को सहा, शीत को सहा, रोग को सहा, एकाकीपन को सहा और मानवीय अवलम्ब और संवेदना को जीवन-भर नहीं जाना कि वह कैसी होती है ?

मार्क के जीवनानुभव कम नहीं थे—खासकर एक ऐसे व्यक्ति के, जो कि इतनी गम्भीर मेधा रखता था जिसमें इतनी गहरी संवेदनशीलता थी कि प्रत्येक देखी-सुनी बात को और व्यक्ति को पूरी तरह से आत्मसात कर लेता हो। गम्भीरता व्यापकता की क्षतिपूर्ति कर देती है।

और कभी-कभी इसके विपरीत भी देखा जाता है। क्या दोब्रोल्यूबोव—जिसका लालन-पालन एक पादरी के घर हुआ और शिक्षा-दीक्षा एक गिरजे की सेमिनरी में हुई और फिर जो सीधा पीटरबर्ग के विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हो गया और तत्पश्चात् आमरण 'समसामयिक' (सोव्रेमेनिक) पत्रिका के सम्पादन-कक्ष से बिना बाहर निकले लिखता रहा—के जीवन-अनुभव व्यापक थे ! क्या पिसारोव जीवन के व्यापक अनुभवों से गुजरा था जिसका समस्त जीवन सामन्तवादी वातावरण में व्यतीत हुआ, जो कि फिर पाँच वर्ष पीटरबर्ग की जेल में रहा और अन्त में अट्ठाईस साल की उम्र में समुद्र में नहाता हुआ एक दुखद मृत्यु को प्राप्त हुआ ! ऐसे व्यक्ति के लिये जिसने कि लेखक के जीवनानुभव के विषय में एक छिछली धारणा बनी रखी है, इस प्रकार की भ्रान्ति हो जाना अनिवार्य है, किन्तु समीक्षा साहित्य के क्लासिक इस प्रकार के आक्षेपों से अपने लेखकों की रक्षा करते हैं क्योंकि वे अभी तक अमर हैं। मार्क ने अपने लघु जीवन में विराट् और गम्भीर अनुभव प्राप्त किये और कौन इस बात से अस्वीकार कर सकता है कि उनके समसामयिकता के तीव्र बोध ने उन्हें ग्रन्थिल ज्ञान की जड़ता से सर्वदा दूर रखा एवं उनको जन-जीवन की समस्याओं और हितों के प्रति चैतन्य रखा। मार्क ने अपने संक्षिप्त जीवन में बहुत-कुछ भोगा और सहा—जीवन से लालसामय प्रेम किया, उसका निरीक्षण करना सीखा, मानव के अन्तर को और उसके समाज की गतिविधि को अपनी अन्तःप्रवेशिनी दृष्टि से देखा। इसीलिए उनकी समीक्षाओं में अपनी सत्यता के कारण सीधी चोट करने वाले शब्द आये। उनकी प्रखर जिजीविषा निम्नलिखित पंक्तियों में स्पष्ट है—

"मेरे लिए, वास्तव में, प्रत्येक जीवन और समस्त जीवन एक नित्य नवीन वस्तु है। जो कुछ भी मेरे चारों ओर है और जो कुछ भी हो रहा है उसे मैं अनन्त काल तक अपलक और अथक दृष्टि से देखता रह सकता हूँ। जीवन की अणोरणीयान और महतोमहीयान सभी वस्तुओं में मुझे गजब की रुचि है। इतनी सारी जीवनगाथाएँ, इतनी घटनाएँ···इतने परिवर्तन, इतना रूप, इतना रंग और अन्त में इतने सारे प्राणी ! मैं जीवन से इतना गहन प्रेम करता हूँ कि संसार का कोई भी दर्शन—कोई भी जटिल-सूक्ष्म उपाय मेरे जीवन में इस अखण्ड आस्था को नष्ट नहीं कर सकता। प्रत्येक चैतन्य कोशिका और प्रोटोप्लाज्म की तरह केवल एक ही वस्तु से डरता हूँ—वह है मृत्यु ! मेरे लिए साधारणतया जीवन में मात्र एक ही दोष है—वह यह कि जीवन अपने काल में सीमित है। मैं एटम बम की रत्ती-भर परवाह नहीं करता···उस पर थूकता हूँ···उसमें केवल यही चीज़ भयानक है कि वह मनुष्य को मार देता है। यदि मैं किसी प्रकार से मृत्यु की लपेट में आ भी जाऊँ तब भी उस पर विश्वास नहीं करूँगा, क्योंकि मैं अपने अन्तिम क्षण तक जीवन और जिजीविषा से परिप्लुत रहूँगा। यह मेरा अविचल विश्वास उस नरक के बावजूद बना हुआ है जो कि इस नक्षत्र पर समय-समय पर शासन करने लगता है। मैं जानता हूँ कि मेरी यह भावना और मेरे यह शब्द आदिकालीन हैं, बालिश हैं, किन्तु यह मेरी अन्तरात्मा की पुकार है। मैं इनको इस खुले दरवाजे से झंझा की तरह टूटकर सामने से आने वाले या आड़े गुज़रने वाले प्रत्येक व्यक्ति के आगे सिद्ध कर सकता हूँ कि मेरी भवता और भवितव्यता अद्वितीय और विशिष्ट है।"

जीवन से प्रेम करने के लिए और उसके प्रत्येक क्षण को बहुमूल्य समझने के लिए कई बार मृत्यु के कगार पर जाना जरूरी है।

जीवन के दुर्दिनों में मार्क ने 'कमसोमोल' से सहायता के लिए प्रार्थना की कि कोई सवैतनिक साहित्यिक काम उनको दिया जाए, नहीं तो उनको अध्ययन छोड़ना पड़ेगा। कमसोमोल और विश्वविद्यालय ने उनको छात्रवृत्ति देकर नियमित विद्यार्थी के रूप में स्थान दिया और साथ ही यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुमति भी दे दी कि वे घर पर लेटे-लेटे भी पढ़ सकते हैं। पॉलिवान अस्पताल में प्रोफेसर लोग उनकी परीक्षा लेने के लिये आये। उनके सहपाठी मित्रगण भी प्रायः उनसे मिलने जाया करते थे। मार्क सर्वदा ही इस बात का बड़ी कृतज्ञता से स्मरण करते थे। एक बार तो वे जीवन से बिलकुल हताश हो गये, क्योंकि यूनिवर्सिटी की पढ़ाई के बीच में ही उनका पक्षाघात लगभग गर्दन तक आ गया था···"फिर भी मेरे चारों ओर वसन्त है" उन्होंने लिखा।

सन् '५३ में उनकी बीमारी कुछ हल्की पड़ी और वे पुनः विद्यार्थी जीवन की लय में लीन हो गये। उन्होंने ताल्सताँय के उपन्यास 'इवाम इलिच की मृत्यु' पर शोध-प्रबन्ध लिखकर उच्चतम गौरव के साथ स्नातक की उपाधि प्राप्त की। प्रबन्ध के लिए इस विषय को उन्होंने क्यों चुना? इसीलिए कि इसमें उनकी आशाहीन रुग्णता को चुनौती है और आश्वस्त कामना है कि वे बीमारी पर विजयी होंगे।

मार्क को मस्ती, मज़ाक, मौज की दावतें, मैत्रीपूर्ण वार्तालाप-गोष्ठियाँ एवं मध्य रात्रि के बाद के गीत बहुत पसन्द थे। उन अन्तिम तीन वर्षों में जबकि मैं उन्हें अत्यन्त घनिष्ठता से जानने लगा था वे कैद से उन्मुक्त विस्तार पर छूटे हुए व्यक्ति-से प्रतीत हुए जोकि जीवन के समस्त आनन्द दोनों हाथों से समेट लेना चाहता हो—एक विलास-प्रिय तुच्छ जीव के अर्थ में नहीं अपितु एक उदात्त मानवीय अर्थ में जैसे कि अपने प्रिय कर्म करने का आनन्द, मैत्री का आनन्द··· स्नेह का आनन्द, मान का आनन्द। वे एक किशोर की तरह जीवन की परिपूर्णता की ओर दौड़ रहे थे, जीवन को उसकी पूरी गहरायी से जी रहे थे। उनका बस चलता तो वे संसार का इस छोर से उस छोर तक भ्रमण कर डालते, सब-कुछ देख लेते, सबका स्वाद चख लेते, किन्तु इसके विपरीत उनके पीछे भीषण रुग्णता का भय-प्रेत दबे-पाँवों चलता रहता था। उन्होंने अपनी अदम्य जिजीविषा को कविताओं में अभिव्यक्त किया है—

मैं अब इन जीवित—
श्वासों का
प्रश्वासों का,
अभ्यस्त हुआ।
पागल-सा
लालायित मैं
इस जीवन का।
मैंने कविता से—
आकाशी तारकदल से
प्राणों के
उत्तुंग सूक्ष्म व्यापारों से
प्रणय किया।
जब पाश बँधे
मेरे इन रुग्ण दुःखों का
तब विद्वेषी मेरे जीवन हे!
देना वर,
करुणा की चितवन का।

उनकी यह जिजीविषा कृत्रिम नहीं थी—ज़बरदस्ती तपाई हुई आशावादिता नहीं थी। मार्क ने विह्वल अवसाद, हिमानी नैराश्य और करुण लालसा के क्षण भोगे थे, किन्तु कभी अपने भाग्य को नहीं कोसा। उनकी मानसिक सुकुमारता उनकी आत्मीयता एवं निश्छलता पर आश्रित थी।

बीमारी के कारण मार्क प्रकृति के प्रति अत्यन्त ही संवेदनशील थे। उन्हें वर्ष के ऋतु-परिवर्तन की प्रखर अनुभूति होती थी। शीतकालीन झंझावात, ऊजड़ हिमाच्छन्न विस्तार, वासन्ती सूर्य और ग्रीष्मकालीन मेघ—सभी उनको प्रिय थे। कभी-कभी वर्षा के दिनों में सड़क पर चलते हुए और फिसलकर गिरने के डर से नीचे देखते हुए वे रुक जाते और आकाश को देखकर पुलकित होते और फिर निम्नलिखित पंक्तियाँ मुखर हो जातीं—

पानी बरस चुका—
वह सब पड़ा सुनाई
जो था दूर रहा!
जो कि मकानों के
इन छतों के औ'
घरबारों के
पार रहा!
मैं घर से निकलकर
बाहर गया ठहर।
साँसें लेने का साहस
नहीं पाता कर—क्योंकि
आकाश और धरा के अन्तरस्वर
सुनाई पड़ते हैं मिलकर!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्याय के वे प्रबल पक्षधर थे। मिथ्याचार, धूर्तता और क्रूरता के प्रति तत्काल विद्रोह करते थे। व्यावहारिक बुद्धिमत्ता और वणिग्वृत्ति उनके लिए सर्वथा अज्ञात वस्तुएँ थीं।

एक बार हम रात के दो बजे एक दावत खाकर लौट रहे थे। किरोव्स्की फाटक के पास तीन व्यक्ति खड़े थे—दो युवक और एक युवती। युवती ने उन दोनों में से एक से कुछ कहा, जिसको सुनकर उस युवक ने उसके (उस युवती के) गाल पर कसके एक थप्पड़ मारा। मार्क ने आव देखा न ताव और बैसाखी के लम्बे-चौड़े हाथ बढ़ाते उस युवक पर क्रोध से चिल्लाते हुए टूट पड़े, किन्तु छाती में धक्का लगने से धड़ाम से पटरी पर गिर पड़े। उनकी बैसाखी टूट गई। मैंने जब उस युवक पर आक्रमण किया तो उसने भाग जाने में ही कुशल समझी, क्योंकि इतने में हमारे पीछे चलने वाले अन्य साथी भी दौड़कर हमारे पास आ गए थे। मार्क को टैक्सी में डालकर हम लोग घर लाए।

दूसरे दिन मार्क घर पर उदास बैठे हुए थे। उनकी टूटी हुई बैसाखी कोने में रखी हुई थी और वे स्वयं एक एटलस के पन्ने पलट रहे थे। माँ की ओर कनखियों से देखते हुए मुझसे बोले—"अब तो बिलकुल ही हिम्मत हार गया हूँ, बिना बैसाखी के मेरा जीवन दूभर हो गया है। जाने कैसे कम्बख्त इस जंगले में फँसकर टूट गई।"

मैं दौड़कर दवाइयों की दुकान से उनके लिए नई बैसाखी ले आया। वे पुलकित हो गए और बैसाखी के सहारे एक-दो लम्बे डग भरते हुए बोले—

"कुछ भी हो, हमने उन लोगों की थोड़ी-बहुत पिटाई तो कर ही दी।"

मार्क यथार्थवाद के अविचल समर्थक थे किन्तु उनको जीवन की सपाटबयानी पसन्द नहीं थी।

गर्मी की छुट्टियों में एक बार वे मुझसे मिले और बोले—"जानते हो कि चेखव के 'चेरी की वाटिका' में क्या महत्त्वपूर्ण है? सूक्ष्म मनोविज्ञान या जीवन्त यथार्थ नहीं—"

"तो फिर क्या है?" मैंने पूछा।

"स्वयं चेरी की वाटिका", उन्होंने उत्तर दिया।

"चेखव के इस गीतिमय नाटक के पात्र उस जाते हुए—समाप्त होते हुए 'भद्रलोक के नीड़' की रमणीयता की अभिव्यंजना करते हैं। चेखव ने अपने इस करुणाकलित नाटक के प्रत्येक दृश्य की पृष्ठभूमि में रानेव्स्की भवन के वातायनों के पार यह वाटिका लगाई है जो इतनी सुन्दर है कि जिससे सुन्दर संसार की कोई भी वस्तु नहीं है। इस वाटिका के वे अरुण कम्पित किसलयदल, पक्षियों का कल कलरव और फिर कुल्हाड़ियों द्वारा कटकर गिरने का वह हृदयविदारक शब्द और सबसे अधिक इस वाटिका की प्राण 'आन्या'—हँसती, गाती, रोती वह मांसल 'आन्या', यह सब एक अनुपम करुणानुरागमयी सृष्टि है।

यह वाटिका नहीं है अपितु जीवन का समस्त हर्ष-विषाद है, प्रणय का प्रकाश एवं संगीत है, भविष्य का अरुणोदय है। इस प्रकार चेखव ने यथार्थ जीवन से नाटक की विषयवस्तु को ग्रहण किया है।

मार्क जीवन के प्रात्यहिक यथार्थ को लेखक की कल्पना का विषय मानते थे न कि उसकी रचना का गुण। काव्यरूप की सुन्दरता, शालीनता एवं मौलिकता उनको मुग्ध कर देती थी। उन्होंने ओ' हेनरी का एक उद्धरण अपनी नोट-बुक में लिख रखा था—

"कल्पना साहित्य को सत्य बोलने के लिए दिया गया एकमात्र आधार है।"

प्रत्येक गम्भीर समीक्षक के पास, चाहे वह किसी भी विषय पर क्यों न लिखे, एक अपना स्वयं का आधारभूत दर्शन होता है जिसको वह कभी प्रकट रूप से तो कभी प्रच्छन्न रूप से किन्तु असाधारण दृढ़ता के साथ अपनी समीक्षाओं में अभिव्यक्त करता है क्योंकि यह उसके व्यक्तित्व का अविच्छिन्न अंग होता है। इसी को बेलिन्स्की समीक्षक की सृजनशीलता की मूल प्रेरणा कहा करते थे। मार्क श्चेग्लोव की यह मूल प्रेरणा थी—

"कला मानवता की अभिव्यक्ति है।"

कला प्रवीणता के लिए संघर्ष नहीं (Struggle for mastery)—उन दिनों यह शब्द बहुत प्रचलित था—अपितु कला एक ऐसा संघर्ष है जो कि मानवोन्मुखी है। मार्क श्चेग्लोव ने समीक्षक को साहित्य से गद्गद विह्वल हो जाने की क्षमता प्रदान की।

साहित्य द्वारा मानव-जीवन—सामाजिक एवं व्यक्तिगत—का प्रतिबिम्बन एवं मानव की समस्याएँ—ये थे उनकी आलोचना के तत्त्व।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वे केवल एक ही विचार से बचते थे और वह है साहित्य को जीवन से छुट्टी समझना। कहा जा सकता है कि इस प्रकार की समीक्षा में एकांगिता आ जाती है। हो सकता है—किन्तु उसमें औदात्यपूर्ण महान् गुण नहीं है क्या ?

अपनी मूल प्रणति के अनुसार मार्क श्चेग्लोव साहित्य के इतिहासकार थे। वे रूसी साहित्य की उन्नीसवीं शती के विशेषज्ञ थे और इस तथ्य का प्रभाव उनके समस्त कृतित्व पर पड़ा है। उन्होंने अपनी समीक्षाओं में आलोचना को ऐतिहासिक दृष्टि प्रदान की।

वे आलोचना और साहित्य के इतिहास को एक-दूसरे के समीप लाये एवं उन्होंने परम्परागत (Classical) एवं समसामयिक साहित्य के समीक्षण में व्यवधान को तोड़कर उसको एक अविच्छिन्न प्रक्रिया के रूप में देखा। समसामयिक साहित्य के मूल्यांकन में उन्होंने उन्हीं मानदण्डों का प्रयोग किया जिनसे कि वास्तविक साहित्य का मूल्य आँका जाता है। उन्होंने समीक्षा के क्षेत्र में दो विभिन्न मानदण्डों का व्यामोह त्याग दिया—पहला उच्च मानदण्ड जो कि परम्परागत प्रतिष्ठित साहित्य (Classical literature) के लिए है और दूसरा कृपामय सरल मानदण्ड जो कि समसामयिक साहित्य के लिए है।

उनके गम्भीर साहित्यिक संस्कारों ने, तालसतॉय, च्यूचेव, उस्पेन्स्की और चेखव की कृतियों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्ययन ने उनकी आलोचना को व्यापकत्व एवं गुरुत्व प्रदान किया था। उनकी क्लासिकल साहित्य की समीक्षाएँ ग्रन्थ-भार-भारान्वित एवं शास्त्रीय शुष्कता से मुक्त सद्यता एवं उत्फुल्लता से अनुश्वसित हैं—'पाठकों की जनता' द्वारा ग्राह्य हैं।

मार्क श्चेग्लोव किसी भी विषय पर पूर्णाधिकार प्राप्त करने के कारण विशेषज्ञों का बड़ा आदर करते थे, किन्तु साहित्य में संकीर्ण विशेषज्ञों को वह व्यंग्यपूर्ण उपहास की दृष्टि से देखते थे। वह कहते थे कि ऐसे लोग अपनी असामर्थ्य को अपनी विशेषज्ञता के पाखण्ड से छिपाना चाहते हैं।

अपने भावोच्छ्वासों को पूर्ण स्वतंत्रता देकर एवं पाठकों को अपनी गम्भीर भावप्रवणता एवं मौलिक चिन्तना द्वारा संक्रमित करते हुए मार्क बड़ी ही तल्लीनता से लिखते थे। यदि कोई किताब उनको वास्तव में अच्छी लगती तो वे कृतिकार के संसार में अपने-आपको भूलकर खो जाते और उनके अपने शब्दों में लेखक का स्वर गूँजने लगता—चाहे वह तालसतॉय हों, इसेनिन हों या लियोनोव। वे अपने शारीरिक संवेदन द्वारा ही लेखक के भाषा-वैशिष्ट्य एवं जीवन-दर्शन को अभिव्यक्त कर देते थे (उनकी भावयित्री प्रतिभा असाधारण थी)। फिर भी यह कहना सत्य नहीं होगा कि उनकी आलोचना अन्ततः केवल सौन्दर्यमूलक ही रह जाती थी। उनकी आलोचनाओं के माध्यम से नयी पुस्तकों द्वारा जनमानस में नवीन प्रेरणा का संचार होता था। उनके बहुत-से विवेचन प्रचार-मीमांसा (Publicist tritings) के आदर्श बन गये हैं।

लियोनिड लियोनोव के 'रूसी वन' के ऊपर लिखे गये लेख में ग्रात्सिआन्स्की के चरित्र का विश्लेषण स्मरणीय है जो कि किसी भी प्रकार के सामाजिक नादानुकरण (Social mimicry) के प्रति विस्फोटक घृणा अभिव्यक्त करता है।

विश्वविद्यालय से सीधे समीक्षक बनने के कारण मार्क में एक छात्रावासी विद्यार्थी की ऊष्म उत्कटता एवं स्पष्टता थी। वह साहित्य में बड़े-छोटे का विचार नहीं रखते थे। पूर्वाग्रहों और पक्षधरता से मुक्त होने के कारण उनके शब्दों को स्वाधीनता की शक्ति मिल गयी थी।

"साहित्य के बड़े-से-बड़े नाम भी अपनी पूर्वकृत साहित्य-सेवाओं के बल पर अपनी दीन विषयवस्तु वाली नयी पुस्तक की आलोचनात्मक न्याय से रक्षा नहीं कर सकते।" ये शब्द चेर्निशेव ने अपने 'साहित्य में सत्यवादिता' नामक लेख में कहे थे। उनकी इस कामना के प्रति मार्क सर्वदा निष्ठावान रहे और न्यायसंगत कठोर-से-कठोर शब्द कहने में भी नहीं चूके। पता नहीं यह लेखकों को प्रिय लगता था अथवा नहीं किन्तु समीक्षक की प्रतिष्ठा एवं उसके ईमानदार होने का गौरव जनता की दृष्टि में अवश्य ही बढ़ जाता था। मार्क का कभी-कभी साधारण पुस्तकों की समीक्षा से पाला पड़ता—ऐसी पुस्तकों से जो कि उनके विवेचन के लिए सर्वथा अयोग्य थीं किन्तु वे बड़े धैर्य से उन पर लिखते। वे इसको अपनी 'साहित्यिक मजदूरी' कहते थे। पर जब उनके समक्ष कोई ऐसी रचना आती जो कि वास्तव में गम्भीर साहित्य विवेचन की आवश्यकता रखती है, तब उनकी लेखनी में एक नवीन ऊर्जा का संचार हो जाता। मार्क को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना के लिए कोई समसामयिक पुस्तक नहीं मिल पाती तो वे थोड़ा पीछे मुड़कर ऐसी पुस्तक छाँट लेते जिसका मूल्यांकन ठीक प्रकार नहीं हो पाया हो अथवा जो विस्मृत हो गयी हो। मार्क के 'हमारे समय में इसेनिन', 'अलेक्सान्द्र ग्रिन के जहाज' और 'ब्लॉक विषयक विवाद' इसी प्रकार के लेख हैं। इन लेखों ने पाठकों की चेतना में उपर्युक्त लेखकों की पुनःप्रतिष्ठा कर दी।

"हमारी समाजवादी संस्कृति अपने पैरों पर दृढ़ता से खड़ी है और वह इस महान् क्रान्ति के एक भी मानवीय साक्षी की उपेक्षा नहीं कर सकती—विशेषकर ऐसे चैतन्य और निस्पृह लेखक की कविताओं की जैसे कि इसेनिन।"

मार्क श्चेग्लोव ने बहुत थोड़ी उम्र पायी और यह कहना कठिन है कि उनकी प्रतिभा का विकास आगे किस दिशा में होता, किन्तु मैं सोचता हूँ कि वे सर्वदा ही अपनी उस गम्भीर साहित्यिक संवेदना एवं समर्थ सम्प्रेषणा, ईमानदारी एवं निस्पृहता को सुरक्षित रखते जो कि उनकी सभी महत्त्वपूर्णता कृतियों के लक्षण हैं।

उनकी अन्तिम पुस्तक जो कि उन्होंने ने रेल में पढ़ी थी, एक उपन्यास था—'केवल रोटी से ही नहीं जो कि उसी समय एक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था; किन्तु वे पुस्तक को समाप्त करके उस पर कुछ लिख नहीं पाये।

मार्क के बिना ही इस संसार में—काव्य और कथा के क्षेत्र में—नूतन प्रतिभाओं ने पदार्पण किया और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित हुईं। उनके बिना ही पाठकों ने एतमातोव और बुइकोव को जाना,—जालुइगिन और बेलोव, सेमिन और दोम्ब्रोव्स्की, अस्ताफ़ेव और बाक्लानोव को पढ़ा। और बड़े लेखकों की बात ही दूसरी है। यदि वे जीवित होते तो इन सब लेखकों पर लिखते और हम सबसे अच्छा लिखते।

मार्क की मृत्यु के पश्चात् एक के बाद एक उनके लेख प्रकाश में आये। उनमें समीक्षाएँ, निबन्ध, शोध-प्रबन्ध, रेखाचित्र सभी कुछ थे और देर तक उनके मरणोपरान्त प्रकाशनों का प्रवाह चलता रहा। उनमें ग्रिन और इवानोव पर लेख, क्रोसेव्स्की के पोलिश क्लासिक की भूमिका, ताल्सताय और चेर्तकोवी के पत्रव्यवहार की भूमिका 'नयी दुनिया (नोवो मीर), 'जन मैत्री' (द्रुझबा नारोदोव), 'युवक प्रहरी' (मलादाया ग्वार्दिया) के लिए लिखे गये लेख, उनके अन्य शोध-निबन्ध—'साधारण काव्य', 'विवरण की विश्वसनीयता' (Authenticity of the details), 'आधुनिक नाटकों में यथार्थ' थे। इन सबको मार्क अपनी आँखों से मुद्रित रूप में नहीं देख पाये। वे जीवित नहीं थे किन्तु प्रतीत होता था कि वे साहित्यिक गतिविधियों के प्रति चैतन्य हैं, जागरूक हैं एवं साहित्यिक घटनाओं पर प्रतिक्रिया करते जा रहे हैं।

मार्क के दिवंगत होने पर उनकी माँ ने उनके अन्तिम क्षणों की व्यथा-गाथा सुनाई। यह मेरा दुर्भाग्य है कि उनके अन्तिम दिनों में मैं उनके पास नहीं था। वे उस समय 'अनापा' नगर में थे। आरम्भ में उनको यह स्थान अच्छा नहीं लगा—उदास, धूलभरा, ऊबभरा और गर्म···। किन्तु ऊँचे चट्टानी किनारों पर चढ़कर समुद्र के विराट् परिदृश्य, एवं उसके अनावृत रूप को देखकर वह प्रसन्न हो गये। समुद्र की अनन्त नीलिमा एवं उसके तट पर हलके पीले और गुलाबी रंगों की क्रीड़ा ने उनको अपनी किसी प्रिय वस्तु का स्मरण करा दिया।

एक बार वह मोटरबोट पर समुद्र में सैर कर रहे थे। वे नौका के नासिका भाग पर खड़े समुद्र के फेनिल जल का उसके द्वारा विदीर्ण होना देख रहे थे। नमकीन पानी के छपाके और फुहारें उन पर पड़ रही थीं। घर पर वह प्रसन्न मनःस्थिति में लौटे, किन्तु रात्रि को किसी भी प्रकार सो नहीं सके। सिर में थोड़ा दर्द था। रात-भर नगर से गाने की आवाज़ आती रही—"Oh Johnny, it is a boy for me."

दूसरे दिन वह सवेरे ही नहाकर लावरोव की कहानियों पर समीक्षा लिखने बैठे—समुद्र-तट की सिकता पर···सूर्य के प्रकाश में···। वे लिखे हुए शब्दों को ठीक तरह से देख नहीं पा रहे थे—समझे कि कदाचित ऐसा सूर्य के प्रकाश के कारण हो। जिस समय माँ लौटकर आई तो मार्क के आस-पास पड़ौसी घिरे हुए थे। उनकी तबीयत अचानक खराब हो गयी और वह सोफ़े पर लेटे पानी-पानी चिल्ला रहे थे। सन्ध्या तक उनको तीव्र ज्वर हो आया और फिर उनके अन्तिम तीन दिनों की निदारुण यन्त्रणा आरम्भ हो गयी।

अस्पताल में रोग का निदान तत्काल नहीं हो सका। पहले समझ गया कि उनके उदर में विषाक्त तत्त्व उत्पन्न (Food poisoning) हो गये हैं और उनको पेट की औषधि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दी जाने लगी। माँ बेचारी जलती धूप में खनिज जल (Mineral water) की खोज में इधर-उधर दौड़ती रही। डॉक्टर ने उसकी माँग की थी। बाद में पता चला कि उनको 'मेनिंजाइटिस' है। स्ट्रेप्टोमाइसिन का इन्जेक्शन दिया गया। दूसरे दिन शाम तक तबीयत कुछ ठीक हुई और वे यहाँ तक सोचने लगे कि शीघ्र ही उनको अस्पताल से छुट्टी मिल जायेगी। उन्होंने माँ से घर के कपड़े लाने के लिए कहा। दूसरे दिन सवेरे जब माँ अस्पताल आईं तो उनको बरामदे में एक भीषण रूप से घबराई हुई चीख सुनाई दी—'न्यान्या' (sister)! यह मार्क की आवाज़ थी—हृदयविदारक आवाज़ और उनके लिए असाधारण रूप से ऊँची। उनकी हालत एक-दम गिर गयी। दर्द से खोपड़ी फटी जा रही थी। पता नहीं उस समय अनापा शहर में स्ट्रेप्टोमाइसिन नहीं थी कि डॉक्टर लोग रीढ़ की हड्डी में उसका इन्जेक्शन देने का निर्णय नहीं कर सके, जैसा करने की उस समय तत्काल आवश्यकता थी। केवल एकमात्र उपाय था—नोवोरसोइस्क के अस्पताल में तत्काल ले जाया जाय।

बड़ी ही कठिनाई से ड्राइवर को वहाँ मोटर ले जाने के लिये प्रस्तुत किया गया। नर्स ने सरकारी कम्बल—जिसमें उनको लपेटकर ले जाना था—देने से इन्कार कर दिया। बड़ी मुश्किल से उसको मनाया गया। अब डॉक्टर महोदय किसी मीटिंग में थे। छुट्टी कौन दे? साढ़े नौ बज गये···रात घिर आयी···किन्तु डॉक्टर साहब का पता नहीं था। अन्ततः जब डॉक्टर साहब आये और माँ ने उनकी इस बात की निन्दा की तो डॉक्टर महोदय बोले—"क्या आप समझती हैं कि हम लोग फालतू समय व्यतीत करते हैं?"

"आप तेन्द्रयाकोव की पुस्तक 'दचके' पढ़िये"—माँ ने उनसे डाँटते हुए कहा। आखिर वह मार्क जैसे साहित्यकार की माँ था।

और जब रास्ते में दचके खाती मोटर में अपने एकमात्र प्रिय पुत्र का सिर दोनों हाथ से गोद में रखे हुए माँ ने यह घटना मार्क को सुनाई तो मरणासन्न पुत्र के मुख से जैसे-तैसे ये शब्द निकल पाये—"हाँ, अम्माँ, तू इन लोगों को साहित्य से पीट!"

वास्तव में मेरे लिए उनके ये शब्द समस्त मार्क थे। ०

मूल रूसी से अनुवाद
सुरेन्द्र शर्मा

['नोवो मीर' अंक ५, १९६९ से साभार]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुमार विमल की चार कविताएँ

: १ :

जन्म-शताब्दियों वाला वर्ष

आज जब मेरे देश के सम्भ्रांत लोग—
गुरुओं महात्माओं की जन्मशताब्दियाँ मनाने के
धंधे में लग रहे हैं
मैं एक अदना आदमी की भूख का पर्व मनाने के लिए
अपने वक्त की सबसे भद्दी गाली ईजाद करने में
व्यस्त हूं।

वे लोग कितने खुश हैं
जो अब भी
खूबसूरत लिपियों में
अपनी प्रेमिकाओं को पत्र लिखते हैं
या प्रिय-जनों को
नए वर्ष की शुभकामनाएँ भेजते हैं।

मेरे लिए भाषा का इस्तेमाल केवल
गालियाँ ईजाद करने के लिए रह गया है।

गालियाँ—
उन सम्भ्रान्त लोगों के लिए
जो ठीक दिशा में दौड़ते हुए
अदना आदमी का रास्ता रोकने के लिए
गुरुओं-महात्माओं की अश्लील मूर्तियाँ गढ़ रहे हैं
किन्तु भूख के पाँव इतने सशक्त होते हैं
मूर्तियाँ तोड़कर निकल जाते हैं
सम्भ्रान्त लोगों के लिए गालियाँ छोड़ जाते हैं।

ज़ाहिर है गालियाँ गोलियाँ नहीं होतीं
फिर भी सम्भ्रान्त लोग—
इन गालियों से इतने पीड़ित हैं
कि अपनी सुरक्षा के लिए गोलियाँ जुटा रहे हैं।

: २ :

एक छोटी-सी लड़ाई

मुझे लड़नी है एक छोटी-सी लड़ाई
एक झूठी लड़ाई में मैं इतना थक गया हूँ
कि किसी बड़ी लड़ाई के काबिल नहीं रहा।

मुझे लड़ना नहीं अब—
किसी छोटे कद वाले आदमी के इशारे पर—
जो अपना क़द लम्बा करने के लिए
पूरे देश को युद्ध में झोंक देता है।

मुझे लड़ना नहीं—
किसी प्रतीक के लिए
किसी नाम के लिए
किसी बड़े प्रोग्राम के लिए
मुझे लड़नी है एक छोटी-सी लड़ाई
छोटे लोगों के लिए
छोटी बातों के लिए।

मुझे लड़ना है एक मामूली क्लर्क के लिए
जो बिना 'चार्ज शीट' के मुअत्तिल हो जाता है
जो पेट में 'अल्सर' का दर्द लिए
जेबों में न्याय की अर्जी की प्रतिलिपियाँ भरकर
नौकरशाही के फौलादी दरवाज़े
अपनी कमज़ोर मुट्ठियों से खटखटाता है।

मुझे लड़ना है—
जनतन्त्र में उग रहे बनतन्त्र के ख़िलाफ़
जिसमें एक गेंडानुमा आदमी दनदनाता है।

मुझे लड़ना है—
अपनी ही कविताओं के बिम्बों के ख़िलाफ़
जिनके अंधेरे में मुझसे—
ज़िन्दगी का उजाला छूट जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: ३ :

मुक्ति के दस्तावेज़

मैं एक ऐसी व्यवस्था में जीता हूँ
जहाँ मुक्त ज़िन्दगी की तमाम संभावनाएँ
सफेद आतंक से भरी इमारतों के कोनों में
नन्हें खरगोशों की तरह दुबकी पड़ी हैं।
और मुक्ति के लिए छटपटाता मेरा मन—
वामपंथी राजनीति के तीन शिविरों में भटकता है
और हर शिविर से—
मुक्ति का एक दस्तावेज़ लेकर लौटता है।

और अब—
शिविर-दर-शिविर भटकने के बाद
कुछ ऐसा हो गया है
कि मुझसे मेरा बहुत-कुछ खो गया है
मसलन कई प्रिय शब्दों के अर्थ
चीज़ों के नाम
सम्बन्धों का बोध
और कुछ-कुछ अपनी पहचान।

अब तो हर आस्था गहरे संशय को जन्म देती है
और नया विश्वास अनेकों डर जगाता है

संशय और छोटे-छोटे डरों के बीच जूझता मैं—
जब कभी हताश हो जाता हूँ
तो न किसी शिविर की ओर दौड़ सकता हूँ
न ही किसी दस्तावेज़ में अर्थ भर पाता हूँ।

अब तो अपने स्नायुतंत्र में छटपटाहट ले
इस व्यवस्था पर—
केवल एक क्रूर अट्टहास कर सकता हूँ।

: ४ :

दीवार के इस पार, उस पार

सुरक्षा की एक छोटी-सी चाहत में
नींद और जागरण के बीच भटकते हुए
हर रात मैंने की हैं अनेक यात्राएँ
हर यात्रा के अंत पर मिलती है मुझे
धरती से आसमान तक उठी हुई
एक अभेद्य काली दीवार,
जिससे टकराकर हताश
मैं लौटा हूँ बार-बार।
किन्तु अचानक मिल गया है मुझे एक जादूई मंत्र
जिससे खुल गया है मेरे लिए
दीवार के उस पार का तंत्र।
जब से पहुँचा हूँ दीवार के इस पार
मेरे शरीर में रच गया है समझौतों का ज़हर
मेरी शिराओं में बहने लगा है चापलूसी का रक्त
मैं महसूस करता हूँ—
निकट आ गया है मेरी कुत्ताफ़ज़ीहत का वक्त
मुझे अच्छी लगने लगी हैं
देश-भक्त कवियों की कविताएँ
गुदाज़-जिस्म सम्भ्रांत महिलाएँ
अफ़सरनुमा लोगों के फूहड़ लतीफे
और ज़िन्दगी में तरक्की करने के तरीके।
मेरे परिचितों की सूची में हो रही है
तरक्कीपसंद लोगों की भरमार,
जिनकी एक जेब में अमरीका का वीज़ा
दूसरी में माओ की लाल किताब।
इस रहस्यमय तंत्र में
जब मैं मरूँगा एक कुत्ते की मौत
तो दीवार के इस पार
कोई नहीं करेगा मेरी लाश को स्वीकार।
हाँ, दीवार के उस पार
तराई के जंगलों में
ठिठुरती रातों में भटकते हुए
गुरिल्ला नौजवानों का एक दस्ता
मेरी मौत पर रखेगा एक छोटा-सा प्रस्ताव—
कि आदमी ने जाने हैं अब तक जितने ज़हर
उनमें सबसे अधिक घातक है
सुरक्षा की एक छोटी-सी चाहत का ज़हर। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी साहित्य पर समाजवादी विचारधारा का प्रभाव : दो महायुद्धों (१९१९-३९) के बीच

शिवदानसिंह चौहान

मुझे जब १९१९ से लेकर १९३९ तक २० वर्ष के हिन्दी साहित्य पर समाजवादी विचारधारा के प्रभाव का आकलन करते हुए एक लेख लिखने को कहा गया तो मेरे सम्मुख एक सच्ची समस्या उठ खड़ी हुई।

मैं अभी तक नहीं समझ सका हूँ कि इस अन्वेषण का प्रारम्भ बिन्दु १९१९ का वर्ष ही क्यों चुना गया। इसका १९१७ की महान् अक्तूबर समाजवादी क्रान्ति के रूप में घटित उस विश्वव्यापी महत्त्व की घटना से भी कोई सम-क्रमिक सम्बन्ध नहीं बैठता, जिसने अपने क्रान्तिकारी प्रभाव द्वारा मानव-इतिहास के संपूर्ण दिशाकोण को ही बदल दिया। न ही इसका सम्बन्ध किसी ऐसी देशीय घटना से है जिसने भारत के शहरी बुद्धिजीवियों या विशाल भारतीय जनसमूह को अपनी सामाजिक-राजनीतिक माँगों या आर्थिक उद्देश्यों के हेतु समाजवाद की ओर प्रेरित किया हो।

हम जानते हैं कि उस समय तक ये अभिलाषाएँ और उद्देश्य अत्यन्त अपरिभाषित, अनिश्चित और कुहरिल थे। यहाँ तक कि रौलट ऐक्ट का प्रकाशन और जन असन्तोष को भड़काने वाला १९१९ में जलियाँवाला बाग का भयंकर कत्लेआम भी इतना दंश पैदा नहीं कर पाए कि राष्ट्रीय लक्ष्य के रूप में 'पूर्ण स्वाधीनता' को अंगीकार किया जाता। इसके स्थान पर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने असहयोग के उस प्रसिद्ध प्रस्ताव को ही पारित किया, जो गांधीजी के अनुसार 'शुद्धिकरण का आन्दोलन' था। गांधीजी के अनुसार असहयोग आन्दोलन वस्तुतः सामाजिक बहिष्कार की एक अत्यन्त प्राचीन विधि थी, जिसे जाति-नियमों का उल्लंघन करने वालों के विरुद्ध प्रयोग में लाया जाता था। उन्हीं के शब्दों में—

"यह (असहयोग) जाति से ही सम्बद्ध था। यह एक ऐसा भयंकर दण्ड विधान है जिसे अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से प्रयुक्त किया जाता था। यह इस विचार पर आधारित है कि समूह बहिष्कृत व्यक्ति की कोई सहायता या सेवा नहीं करेगा।"

इस सन्दर्भ में 'बहिष्कृत' अंग्रेज थे, जिन्होंने स्वयं को उपरिजातीय बना लिया था और भारतीय जाति-तंत्र के सूचीस्तम्भ के शिखर पर अपने को प्रतिष्ठित कर लिया था।

मैं इस बात को रेखांकित करना चाहता हूँ कि १९१९ के बौद्धिक वातावरण में, जबकि 'साध्य' पूर्णतया अपरिभाषित था और 'साधन' जाति-व्यवस्था के भयंकर परिगठन की चालू विधियों से ग्रहण किये जा रहे थे, हिन्दी साहित्य पर समाजवादी विचारधारा के प्रभाव की खोज बेतुका प्रयास होगा। तत्कालीन हिन्दी साहित्य अपनी विशिष्ट स्थिति और विकास-गति के कारण समय की सामाजिक जागरूकता और राजनीतिक अभिलाषाओं के विकास-स्तरों को प्रतिबिम्बित न करके ब्राह्मण पुनरुत्थानवाद की अधोगामी प्रवृत्तियों को प्रतिफलित कर रहा था, जिसे मंगलभाषित शब्दों में हिन्दू राष्ट्रवाद की संज्ञा दी जाती है।

आत्मौचित्यवादी दृष्टि से अनुकूलित हमारे मस्तिष्क को यह तथ्यात्मक कथन सहज स्वीकार्य नहीं हो सकता, अतः इसे और अधिक समीप से देखना होगा। भारत और विश्व के साहित्य-सन्दर्भ में रखकर यदि हिन्दी-साहित्य और हिन्दी-लेखकों के विश्व-दृष्टिकोण का वस्तुगत अध्ययन किया जाय तो यह तथ्योद्घाटन होगा कि विश्व के अन्य भागों में उदित उन नये विचारों और साहित्यिक आन्दोलनों के प्रति अभिमुखता में हिन्दी लेखक हमेशा पिछड़ा रहा है, जो, या तो आत्म-सजगता के कारण उत्पन्न आध्यात्मिक संकट से या मानव-स्थिति की वास्तविकता की गहरी समझ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से, उदित होती शक्तियों और ऐतिहासिक अनिवार्यता के प्रभाव स्वरूप समाज में मानव-सम्बन्धों, विचारों और सोच के तरीकों में हुए नये परिवर्तनों से, उत्पन्न होते हैं। इसीलिए अफलातूनी अर्थ में न सही, हिन्दी लेखक सत्य से दुगुना दूर है क्योंकि समसामयिक ब्राह्मण पुनरुत्थान का अनजाने ही प्रवक्ता होने के कारण उसने पूर्वजानुरूप मनोवेगों तथा अपवित्रीकरण-ग्रन्थि पर आधारित परम्परागत सामाजिक-धार्मिक मूल्य-व्यवस्था की लक्षण-समष्टि को आत्मसात कर लिया जिसके कारण अपनी सहजवृत्ति से वह उन सभी नवीन विचारों, जीवन-प्रणालियों और व्यवहार के तरीकों से नाक-भौं सिकोड़ता है जो उसकी परंपरागत धारणाओं से मेल नहीं खाते। भ्रम की इस मानसिक अवस्था में ये सब उसे परकीय, विरोधात्मक और उस 'महान् भारतीय समाज और उसकी प्राचीन संस्कृति' के लिए गम्भीर खतरा प्रतीत होते हैं, जिसे अन्य पुनरुत्थानवादियों की भाँति वह भी 'जाति-व्यवस्था वाला हिन्दू समाज' समझता है। लेकिन कोई भी व्यक्ति या समाज स्वयं को बाह्य प्रभावों से अलग नहीं रख सकता। अतएव बदलती सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों के दबाव में जब उसे उन बाहरी नवीन विचारों या मानव-व्यवहार और नैतिकता की नवीन धारणाओं को स्वीकार करना पड़ता है तो वह भी अन्य पुनरुत्थानवादियों की तरह या शहरी बुद्धिजीवियों की तरह उनका इस हद तक समंजन करता है कि समस्त सत्व व्यावहारिक रूप से समाप्त हो जाता है, केवल बाहरी रूप-रंग ही बच रहता है। अतः हिन्दी लेखक स्वभावतः सत्य से दूर जा पड़ता है।

मुझे आश्चर्य होता है कि मुझ समेत सभी हिन्दी लेखक अचेतनतः एक अपराध-ग्रन्थि से ग्रसित हैं क्योंकि उन्होंने सामूहिक रूप से स्वयं अपने जीवन, अपने लोगों को परित्यक्त करने जैसा अपराध किया है; अपनी मातृभाषाओं—मैथिली, मगही, भोजपुरी, बघेली, अवधी, बुन्देलखण्डी, ब्रज, हरियाणी, राजस्थानी, पहाड़ी, पंजाबी और अनेकों को हिंदी के उस समसामयिक रूप के लिए त्याग दिया है जिसे अंग्रेजों के संरक्षण में उनकी 'बाँटो और शासन करो' की नीति में सहयोग देने के लिए विकसित किया गया था और जिसके निर्माण में जहाँ तक सम्भव हुआ, सचेत रूप से उन सभी फारसी, अरबी और उर्दू व्युत्पत्ति के शब्दों को, जोकि उस समय तक उत्तरी भारत के शिक्षित हिन्दू और मुसलमान दोनों की परिनिष्ठित और नगरीय बोलचाल एवं साहित्यिक अभिव्यक्ति का सुन्दर माध्यम बन चुके थे, बाहर निकालकर उनके स्थान पर संस्कृत जैसी मृत भाषा के अप्रचलित पुरातन शब्दों को रखा गया। यह ब्राह्मण पुनरुत्थानवाद के अग्रणी नेताओं के अनुकूल था क्योंकि वे समझ गये थे कि अब गुप्त काल या शंकराचार्य के उत्थान-काल की तरह संस्कृत भाषा को पुनरुत्थानवाद का अस्त्र नहीं बनाया जा सकता। अब ब्राह्मण पुनरुत्थानवाद के लिए वे क्षेत्रीय भाषाओं का उपयोग नहीं कर सकते थे (जैसा कि १६वीं और १७वीं शताब्दी में जबरदस्ती किया गया था), क्योंकि समतावादी मुगल शासन के दौरान निम्न जातियाँ जाति-व्यवस्था की अमानवीयता के प्रति जागरूक हो चुकी थीं और कबीर, रैदास, दादू, नानक जैसे अपने कवि-सन्तों द्वारा सिखाई 'ईश्वर के सम्मुख मानव की समानता' की अवधारणा को लेकर फिर उठने वाली उच्च जाति के विरोध में उठ खड़ी हुई थीं। लेकिन १९वीं शताब्दी की बदली हुई परिस्थितियों में, जबकि एक अंग्रेजी शिक्षित वर्ग उभरकर सामने आ गया था और उर्दू कम-से-कम उत्तरी भारत की सम्पर्क-भाषा के रूप में विकसित हो गई थी, ब्राह्मण पुनरुत्थानवाद उत्तरी भारत की किसी भी क्षेत्रीय भाषा को अपना हथियार नहीं बना सकता था। उसे एक ऐसी भाषा की आवश्यकता थी (भले ही कृत्रिम रूप से बनाई जाय) जिसमें राष्ट्रीय स्तर पर कम-से-कम उच्च शहरी जातियों व उत्तर भारत के हिन्दुओं की भाषा बनने की सामर्थ्य हो, जिससे कि उन्हें उर्दू का विरोध करने के लिए फुसलाया जा सके तथा साथ ही इस नई भाषा के द्वारा उन्हें उस पौराणिक और रमणीय अतीत की अनोखी दुनिया में ले जाया जा सके जहाँ काल और इतिहास का कोई अस्तित्व नहीं है। भारतीय पुनरुत्थानवादियों की कामना थी कि आंतरिक सुख की इस निर्जीव जड़ मनःस्थिति में जाति-व्यवस्था फिर से अबाध शासन कर सकेगी जिसमें सह-मानवों से एकदम असम्पृक्त होकर आत्म-महानता और मोक्ष-प्राप्ति ही परम मूल्यवान होंगे, साथ ही हिन्दू समाज अंग्रेजी शिक्षा या मुस्लिम समतावाद के उदारवादी प्रभाव द्वारा अपवित्र होने से बच जायगा। प्रत्यक्षतः यह ब्राह्मण पुनरुत्थान तथाकथित 'सुधारवादी आंदोलन' के अतिरिक्त अन्य रूप धारण इसलिए नहीं कर सकता था क्योंकि हिन्दू समाज के पतनशील ढाँचे की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनिवार्य उपज सैकड़ों ऐसी अमानवीय विसंगतियाँ थीं जिन्हें किसी दकियानूसी कुतर्क या प्राचीन धर्मग्रन्थों के आधार पर भी संगत नहीं ठहराया जा सकता था; अतः उनका विरोध करना या कम-से-कम उन्हें औपचारिक रूप से परित्यक्त करना इसलिए भी आवश्यक हो गया था जिससे कि इस सुधार से हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज कम पुराणपंथी, कम बर्बर दिखाई पड़े। अंग्रेजी और उर्दू बौद्धिक प्रत्यावर्तन की इस प्रक्रिया के लिए उपयोगी नहीं हो सकती थीं क्योंकि दोनों ही भाषाएँ समान रूप से ईसाइयों, मुसलमानों व अन्य म्लेच्छों द्वारा प्रयुक्त की जाती थीं, जो इस प्रकार के प्रतिक्रियावादी कदम को समर्थन देने के लिए वैचारिक स्तर पर तैयार नहीं हो सकते थे। इन्हीं सब कारणों से हिन्दी और हिन्दी आंदोलन ने अपने प्रारम्भ काल से ही एक 'पवित्रतावादी', मुस्लिम-विरोधी, उर्दू-विरोधी, अंग्रेज़ी-विरोधी रुख अपनाया।

निश्चय ही, प्रारम्भ में हिन्दी लेखक उत्तर भारत के जनसामान्य की विभिन्न मातृभाषाओं को साहित्यिक विकास के मौलिक अधिकार से वंचित कर देने के अपराध में शरीक नहीं था, क्योंकि अभी तक हिन्दी में कोई साहित्य नहीं था। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी माध्यम से साहित्य-रचना करने वाले तथाकथित हिन्दी क्षेत्र के प्रतिभाशाली युवा हिंदू लेखकों के उदय से पूर्व ही पुनरुत्थानवादी शक्तियाँ इन भाषाओं को बहिष्कृत कर चुकी थीं। लेकिन अपने अभिभावकों के चुनाव को मौन स्वीकृति देकर व उसे ही स्वयं अपनाकर वे भी उस अपराध में सम्मिलित हो गये। हुआ यह कि घरों में विभिन्न मातृभाषाओं का प्रयोग करने पर भी उन्होंने हिन्दी को ही लेखन का माध्यम बनाया। व्यवहार के इस द्विभाजन ने उनमें 'खण्डित व्यक्तित्व' को पनपाया जो आज तक निरन्तर उनकी चेतना के विभिन्न स्तरों में अपने को प्रस्फुटित करता रहा है। प्रारम्भिक काल में तो हिन्दी लेखक गद्य और पद्य लेखन के माध्यम स्वरूप हिंदी और ब्रजभाषा के गुण-दोषों के अपरिणामी विवाद में उलझे रहे, लेकिन सरकारी संरक्षण, मुद्रण और प्रकाशन की सुविधाएँ तथा रोज़गार के अवसर उसी में उपलब्ध होने के कारण अंततः हिंदी को ही चुना गया। लेकिन इस चुनाव ने प्रारम्भ के उनके सृजनात्मक प्रयासों को असफल बना दिया क्योंकि लगभग ४० वर्ष तक हिंदी लेखकों की कम-से-कम दो पीढ़ियों को वाक्य-विन्यास, शब्दों और मुहावरों के व्याकरण-सम्मत प्रयोग की समस्या से संघर्ष करना पड़ा—ऐसी समस्याएँ जिनका सामना अपढ़ बच्चों तक को जटिल विचारों को अभिव्यक्त करने में नहीं करना पड़ता, यदि वे अपनी मातृभाषा में करें तो।

अतः एक ओर आधुनिक विचारों और वैज्ञानिक चिंतन की दुनिया के सत्य से दुगुनी दूर; दूसरी ओर अपने लोगों की जीवंत और स्पंदित भाषाओं के विश्व से कटे, तथा साथ ही निर्माण की अल्पायु में ही ब्राह्मण पुनरुत्थानवाद के भँवर में फँस जाने से, हिंदी लेखकों की विश्वदृष्टि बाधित, विकृत, अंतर्विरोधों से ग्रसित और पूर्णतया पुनरुत्थानवादी मनोवृत्ति से प्रतिबंधित हो गई। इसका प्रभाव माध्यम पर भी पड़ा—उसका शब्द-ज्ञान, उसकी संरचना, उसका बिम्बविधान, अलंकार और स्वप्न-चित्र पुनरुत्थानवाद की भावना व रूढ़िवादी भाव-पद्धतियों से आच्छादित हो गये।

हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास की पृष्ठभूमि का यह विस्तृत परीक्षण यह समझने के लिए आवश्यक था कि क्यों नवीन विचारों और घटनाओं के प्रति हिंदी लेखकों की प्रतिक्रिया इतनी विलंबित और परिधीय है।

इस समझ के बिना, मुझे संदेह है कि कोई इस बात की व्याख्या कर सकता है कि क्यों सर टॉमस मूर, विलियम मॉरिस व अन्य अनेकों के 'काल्पनिक समाजवाद' के दर्शन के विरुद्ध 'वैज्ञानिक समाजवाद' के व्यापक प्रतिपादक कार्ल मार्क्स और फ्रैडरिक एंगेल्स के विचारों ने १९वीं शताब्दी के भारतीय बुद्धिजीवियों की कल्पना को नहीं झकझोरा। इन विचारों ने यूरोप के सभी देशों के श्रमिक-वर्गों को आलोड़ित किया; ऐसे नये साहित्यिक रुझानों और आंदोलनों को जन्म दिया जिन्होंने यथार्थ के कलात्मक प्रतिफलन की यथार्थवादी प्रणाली पर अत्यधिक बल दिया तथा मानव-शोषण पर आधारित संग्रहणशील पूंजीवादी व्यवस्था की असमानताओं व अत्याचारों को उजागर करते हुए मानवतावाद की नवीन अवधारणा को सामने रखा और श्रमजीवियों को उनकी वास्तविक परिस्थितियों एवं भवितव्य का बोध कराया। यह तर्क भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि उस समय भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग संख्या में अत्यल्प था और समाजवाद के दर्शन तक उसकी स्वतंत्र पहुँच नहीं थी।

लेकिन इस पृष्ठभूमि और हिन्दी लेखक के इस सामान्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनोविज्ञान और बौद्धिक लक्षण-समष्टि की इस समझ के बिना न तो यह बात समझी जा सकती है न व्याख्यायित की जा सकती है कि क्यों संपूर्ण विश्व के मानव-मस्तिष्क को झकझोर देने वाली १९१७ की महान् अक्तूबर समाजवादी क्रांति की महान् घटना ने प्रेमचंद और शायद निराला को छोड़ शेष हिंदी लेखकों को प्रभावित नहीं किया और क्यों हिंदी का लेखक इस घटना के क्रांतिकारी संदेश के प्रति अगले डेढ़ दशक तक उदासीन और प्रतिक्रियारहित बना रहा। डेढ़ दशक पश्चात् जब स्वाधीनता का क्रांतिकारी आंदोलन, सिविल नाफरमानी आंदोलन, किसान और मज़दूर संघर्ष, मेरठ षड्यंत्र और जवाहरलाल नेहरू द्वारा समाजवाद की वकालत ने जन-सामान्य की मनःस्थिति को पूर्णतया बदल दिया व पुनरुत्थानवाद के प्रसार को कम-से-कम कुछ काल तक के लिए रोक दिया; जब छायावादी कविता अरण्य-रोदन के समान लगने लगी, समाजवादी विचारधारा पर आधारित प्रगतिशील लेखक आंदोलन का उदय हुआ। छायावादी कविता ने व्यक्ति पर बल देने वाले १९वीं शताब्दी के पाश्चात्य स्वच्छंदतावाद और व्यक्ति की भूमिका का विरोध करने वाले ब्राह्मण पुराणवाद-पुनरुत्थानवाद (जिसे रहस्यवाद भी कहा जा सकता है) के तत्त्वों का व्यर्थ सामंजस्य करने का प्रयास किया। जैसा कि स्वाभाविक भी था, इन विरोधों के समंजन में वह असफल रहा और फलतः असंगत हो गया। साधारण शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि निराला, पंत, प्रसाद और महादेवी जैसी प्रथम श्रेणी की प्रतिभाओं के होते हुए भी छायावादी धारा सार्वभौमिक महत्त्व की महान् कविता उत्पन्न करने में असफल रही। उनकी इस असफलता ने भी किसी हद तक चौथे दशक के मध्य में उन्हें अपने सृजनात्मक संकट का समाजवादी विचारधारा में समाधान ढूंढ़ने की ओर प्रेरित किया। लेकिन उनका यह प्रयास मात्रा और गुण में असमान था।

कुछ आलोचक निराला की तीसरे दशक के प्रारम्भ की कविताओं में भी समाजवादी प्रभाव के तत्त्वों की खोज का सुझाव दे सकते हैं। इस तरह की १९२० में लिखित 'बादल राग' कविता है जिसमें कवि ने बादल को क्रान्ति का अग्रदूत चित्रित किया है और झुलसी पृथ्वी पर, सूखे बाल-वृक्षों पर, शोषण की चक्की में जिनका शरीर सूखकर काँटा हो गया है उन किसानों पर वर्षा करने के लिए उससे मनुहार की है। १९२१ में लिखित दूसरी प्रसिद्ध कविता 'भिक्षुक' है जिसमें निराला ने एक भिखारी की हृदय-विदारक दरिद्रता और दुर्दशा चित्रित की है, जो अपने दो बच्चों के साथ फेंकी हुई 'पत्तल' से रोटी के टुकड़ों के लिए कुत्तों से होड़ लगाने को बाध्य हो गए हैं। हालाँकि ये कविताएँ सामान्य छायावादी गति और मनःस्थिति से अलगाव की सूचना देती हैं, इनसे इस बात का कोई संकेत नहीं मिलता कि समाजवादी विचारधारा के प्रभाव ने कवि को जनसाधारण की दुर्दशा को सहानुभूति से देखने की ओर प्रेरित किया है। अधिक-से-अधिक हम कह सकते हैं कि यह एक संक्रमणशील प्रभाव था (यदि ऐसा था तो), क्योंकि इसी काल में निराला ने अनेक ऐसी लम्बी कविताएँ भी लिखी हैं जिनमें राजनीतिक समस्याओं के प्रति पुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण अपनाया गया है, यथा कवि मुस्लिम शासकों की सेवा में संलग्न हिन्दुओं के विश्वासघात पर, उनकी उस अकर्मण्यता और पुंसत्वहीनता पर जिसने उन्हें पराधीन बना दिया, विलाप करता है। 'जागो फिर एक बार', 'यमुना के प्रति', 'छत्रपति शिवाजी का एक पत्र' और अन्य अनेक ऐसी कविताएँ हैं जो हिन्दुओं की महिमा व पराक्रम काल की विरहाकुल स्मृतियों से भरी पड़ी हैं, साथ ही जो हिन्दू मिथकीय बिम्बों और प्रतीकों से मंडित हैं। और जिस बात की हम मार्क्सवादियों ने उपेक्षा की है, शायद ये कविताएँ उस विशिष्ट घटना काल को समझने का सूत्र प्रदान कर सकती हैं और इन प्रश्नों का सही उत्तर दे सकने में सहायक हो सकती हैं कि कैसे हिन्दी साहित्य में समाजवादी विचारधारा के प्रभाव का समंजन और विकृतीकरण किया गया और क्यों अभी तक हिन्दी में सुसंगत धर्मनिरपेक्ष और जनवादी भावना से अनुप्राणित साहित्य नहीं लिखा गया। छायावादी कवियों ने समाजवादी विचारधारा को अंगीकार करने के पश्चात् अगले दशक में भी जन-समूह की सामाजिक और आर्थिक मुक्ति के समाजवादी तरीकों तथा व्यक्ति की आध्यात्मिक मुक्ति के तथाकथित वेदान्ती तरीकों में काल्पनिक संवाद कराकर अपनी 'विरुद्धों के सामंजस्य' की परम्परागत मनःस्थिति का परिचय दिया और इसीलिए पुनः वे किसी सार्वभौमिक संगति व महत्त्व के महान् काव्य का सृजन करने में असफल रहे। दुर्भाग्य से मुझ समेत समस्त मार्क्सवादी समीक्षक इन प्रयासों की अर्थहीनता और साहित्यिक मानदण्डों तथा सौन्दर्य-विषयक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवधारणाओं की बेहूदगी को देखने में असमर्थ रहे तथा बिना यह समझे कि जीवन और समाज सम्बन्धी पुनरुत्थानवादी और समाजवादी दृष्टिकोणों में मूलभूत विरोध है, हमने इनका अभिनन्दन किया।

चौथे दशक के अन्तिम चरण में जबकि हिन्दी में प्रगतिशील आन्दोलन का प्रभुत्व था, निराला ने 'भिक्षुक' कविता की परम्परा में कुछ और कविताएँ लिखीं, जिनमें 'वह तोड़ती पत्थर' सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इसमें जून के असह्य गर्मी के दिनों में सड़क-निर्माण कार्य हेतु पत्थर तोड़ती हुई युवा स्त्री का सशक्त रेखाचित्र है। वर्ग-विभक्त समाज के प्रति उसके रोष को अत्यन्त सूक्ष्मता से कलात्मक व्यंजना द्वारा कवि ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—कवि की ओर देखकर सड़क पार स्थित धनवान व्यक्ति के प्रासाद की ओर वह अत्यन्त उद्धत दृष्टि से देखती है और उसकी पेशानी से पसीने की बूंदें टपकती हैं और फिर वह अपना काम शुरू कर देती है—मानो अनुच्चारित ही उसने उद्घोषित किया हो—"मैं तोड़ती पत्थर।" इस कविता में निश्चित रूप से शोषितों की वर्ग-सचेतन उद्धत मनःस्थिति प्रतिबिम्बित हुई है, जिसे कवि ने अत्यन्त सफलता से पहचाना है। यह कविता सहज मानवीय सहानुभूति से आगे जाती है जिसे शायद कवि ने गरीबों के प्रति दया और हितैषिता की परम्परागत और अपमानजनक दृष्टियों से अपने मोहभंग के बाद अर्जित किया है। दो वर्ष पूर्व १९३५ में लिखित 'दान' कविता कवि के इस मोहभंग का विवरण प्रस्तुत करती है।

जयशंकर प्रसाद के ऊपर समाजवादी विचारधारा का प्रभाव बहुत स्पष्ट नहीं है। अपने महाकाव्य 'कामायनी' के 'स्वप्न' और 'संघर्ष' सर्गों में प्रसाद ने प्रलय की दन्तकथा को लाक्षणिक रूप में विश्वास या श्रद्धा और तर्क या बुद्धि के संघर्ष रूप में प्रस्तुत किया है और विस्तार से दिखाया है कि कैसे 'बुद्धि' का प्रतिनिधित्व करने वाली इड़ा विज्ञान की सहायता से आधुनिक सुविधाओं से लैस, उद्योगों और शिल्प-कलाओं से स्पन्दित एक ऐसे मनोवांछित महानगर का निर्माण करती है, जो सभी को जीवन-निर्वाह के साधन प्रदान करने वाले सामाजिक नियमों से चालित है और मनु जिसके प्रजापति हैं। किन्तु यह भौतिकतावादी सभ्यता लालच, स्वार्थों के संघर्ष तथा दूसरी बुराइयों को जन्म देती है, लोग विद्रोह कर देते हैं, शहर ध्वस्त हो जाता है, मनु अन्ततः सांत्वना और मोक्ष के लिए स्वयं को श्रद्धा की उपशामक बाँहों में समर्पित कर देता है और दोनों नगर को त्यागकर आन्तरिक आनन्द की आध्यात्मिक दुनिया में प्रवेश करते हैं। पौराणिक बिम्ब-योजना और पौराणिक समाधानों के प्रति इस पूर्वग्रह पर किसी को भी आश्चर्य होगा कि कैसे २०वीं शताब्दी का कोई कवि कल्पना की मनमानी क्रिया में संलग्न हो सकता है और मनमाने ढंग से मस्तिष्क की ज्ञानात्मक क्रिया का द्विभागीकरण करके यह प्रदर्शित कर सकता है कि एक विरोध और संघर्ष की ओर ले जाती है और दूसरी शान्ति तथा सुख की गारन्टी देती है। कुछ आलोचकों द्वारा अपने भोले मन में इन दो सर्गों में समाजवादी विचारधारा का प्रभाव ढूंढने की बात का अधिक-से-अधिक यही अर्थ हो सकता है कि जीवन के प्रति पुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण रखने वाले किसी भी व्यक्ति की तरह वैज्ञानिक समाजवादी विचारधारा के प्रति प्रसाद की प्रतिक्रिया भी सर्वथा नकारात्मक है। लेकिन अपने उपन्यास 'कंकाल' में प्रसाद ने, समाजवादी विचारधारा के प्रभाव-स्वरूप न सही, अधिक सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाया है। हिन्दू समाज की ऊँची जातियों द्वारा प्रेम को सम्मान्य भाव नहीं समझा गया और इसीलिए उसे कभी भी 'कर्त्तव्य' या विवाह के विधि-विधान के सम्मुख अधिक महत्त्व नहीं मिल सका। लेकिन कंकाल की तारा इस अमानवीय परम्परा को तोड़ती है और उस व्यक्ति के साथ रहती है जिसे वह प्यार करती है। लेकिन उसके इस साहसिक कदम का 'प्रगतिशील और मानवतावादी' प्रभाव इसलिए क्षीण हो जाता है कि वह उस निम्न जाति से सम्बन्धित है जिसने कभी भी ऊँची जातियों द्वारा कठोरता से चालित अमानवीकृत नैतिकता की धारणाओं को स्वीकार नहीं किया। शायद प्रसाद किसी ऐसी उच्च जाति की लड़की की कल्पना नहीं कर सकते थे जो किसी भी अन्य विचार से प्रेम की उच्चता को प्रतिपादित करे।

अमूर्त रूप में ही सही, समाजवादी विचारधारा के प्रति सुमित्रानन्दन पन्त की प्रतिक्रिया अधिक सकारात्मक थी। वे ऐसे कवि हैं जो उस दुनिया में रहे हैं जहाँ यथार्थ के अनगढ़, भद्दे, वीभत्स पक्षों का अस्तित्व न होकर केवल अच्छाई, सुन्दरता और प्रकाश का ही साम्राज्य है। इस प्रकार की काल्पनिक दुनिया में जीता हुआ ही कवि चौथे दशक में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मार्क्स से प्रभावित हुआ। मार्क्सवादी विश्वदृष्टि को अपनाने से पूर्व उसका गहन अध्ययन करने वालों में शायद वे सबसे पहले कवि हैं। अन्वेषण के अन्तर्गत काल के पिछले चार या पाँच वर्षों के मध्य पन्त ने ऐसी अनेक कविताएँ लिखीं जिन पर समाजवादी विचारधारा के प्रभाव को स्पष्ट देखा जा सकता है। ये कविताएँ 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' नामक तीन काव्य-संग्रहों में संग्रहीत हैं। इनमें से अनेक कविताओं में उन्होंने मार्क्सवादी विचारधारा को सत्यापित किया है, समाजवादी समाज के निर्माण में श्रमिक-वर्ग के योग को स्पष्ट किया है और परम्परागत सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक मूल्यों पर प्रश्न-चिह्न लगाये हैं। विशेष रूप से 'ग्राम्या' में, वे अपनी विचार और कल्पना की दुनिया से निकलकर कालाकांकर के वास्तविक पुरुषों और स्त्रियों के सम्पर्क में आए और उनके समूह या व्यक्ति व्यवहार के कुछ सुन्दर शब्द-चित्र खींचे हैं। समस्त व्यापार में अपने सहगामियों के व्यापक दु:खों के प्रति कवि में सहज सहानुभूति विद्यमान है। लेकिन कल्पनाजीवी कवि के लिए यथार्थ की दुनिया में यह प्रवास काफी अधिक था और इसीलिए वह अपनी उस कल्पना की दुनिया में लौट गया जहाँ संघर्षों और अन्तर्विरोधों का कोई अस्तित्व नहीं है; जहाँ पुनरुत्थानवाद और समाजवाद मिलकर एक हो जाते हैं; जहाँ पुराणपंथ और विज्ञान अपनी चारित्रिक बुराइयों को छोड़कर, पूर्ण मानवीकृत रूप धारण कर हाथ-में-हाथ डालकर प्रकाश और आनन्द के स्वर्ग पर आरोहण करते हैं। यह बात बेतुकी अवश्य लग सकती है, लेकिन इससे स्पष्ट होता है कि कैसे परम्परा में निमज्जित मस्तिष्क अपनी अभिरुचियों को नहीं त्याग सकता और वास्तविक को यथार्थ रूप में स्वीकार नहीं कर सकता।

चौथे दशक के अन्त में छायावादी प्रवाह में दिनकर, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और बच्चन जैसे बड़े कवि उभरकर सामने आए। 'दिनकर' ने 'क्रान्ति' के गीत गाए, हालाँकि उसकी राय में यह ध्वंस और विनाश की एक ऐसी आदिम शक्ति है जो एक ही वेग में जीवन और समाज की समस्त बुराइयों, पीड़ाओं और लूटमार को समाप्त कर देगी। लेकिन यह दृष्टिकोण समाजवादी विचारधारा के प्रभाव-स्वरूप उतना नहीं था, जितना आक्रामक राष्ट्रवाद के कारण था, जो कभी भी समाजवाद समेत उस सभी के विरुद्ध अन्ध-घृणा में परिवर्तित हो सकता था जो हिन्दू समाज के बाहर का हो; क्योंकि पुनरुत्थानवादी कल्पना के तत्त्व उनकी कविताओं की भाषा की मूल संरचना में विद्यमान हैं। यही बात बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के सम्बन्ध में भी सत्य है, जो कवि ही नहीं अपितु राष्ट्रीय स्वाधीनता और श्रमिक-वर्ग के संघर्षों में सक्रिय भागीदार थे। उनकी 'जूठे पत्ते', 'नरक-विधान' और 'विप्लवगान' कविताएँ समाजवादी चेतना को उतना प्रदर्शित नहीं करतीं जितना आक्रामक राष्ट्रवादी क्रोध के विस्फोट को।

बच्चन एक भिन्न श्रेणी का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके पूर्ववर्तियों का हिन्दी भाषा के संस्कृतीकरण पर इतना अधिक आग्रह था कि वह कभी भी सामान्य जन के लिए सहज ग्राह्य नहीं हो सकती थी। प्रेमचन्द के समान बच्चन भी उस उदार कायस्थ जाति से थे जिसे उसकी प्रबुद्धता और व्यापक दृष्टि के कारण पुनरुदित उच्च जातियाँ अछूतों के समकक्ष समझती थीं। अत: बच्चन अपने काव्य में न तो अपवित्रीकरण-ग्रन्थि से पीड़ित हो सकते थे और न ही ब्राह्मण पुनरुत्थानवाद से प्रभावित। अत: व्यवहार में उन्होंने यथार्थ के प्रति हिन्दी कविता और भाषा के दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन किया। उनकी भाषा जन-सामान्य की बोलचाल के तरीकों और अनुभवों से युक्त भाषा है। उसमें न तो 'पवित्रतावाद' के लिए कोई प्रयास है और न ही अरबी और फारसी व्युत्पत्ति के शब्दों का ही बहिष्कार है। 'मधु-शाला' और 'मधुकलश' की कविताएँ खुले रूप में हिन्दू और मुस्लिम कट्टरपंथ, ब्राह्मण नैतिकता, जातिव्यवस्था की अमानवीयता और सामाजिक विधि-निषेधों का मजाक उड़ाती हैं। 'निशा निमंत्रण' जैसी कविताओं में प्रगति-चेता दृष्टि मिलती है। उनकी दृष्टि में किसी भी प्रकार का रहस्यवाद या रूढ़िवाद नहीं था। कवि धर्म, वर्ग, जाति, वर्ण पर आधारित हर प्रकार के भेदभाव के विरुद्ध लड़ा और जन सामान्य की अभिलाषाओं को वाणी देते हुए उचित मानवीय आधार पर मानव-सम्बन्धों को गठित करने की उसने माँग की। यदि मानव के प्रति, मानव-सम्बन्धों के प्रति किसी दृष्टिकोण को ही कवि द्वारा समाजवादी विचारधारा के अंगीकार की कसौटी माना जाय तो पुरानी पीढ़ी के लोगों में बच्चन ही एकमात्र ऐसे कवि हैं जो इस पर खरे उतरते हैं, भले ही उन्होंने मार्क्सवाद का उतना परिश्रमपूर्ण अध्ययन न किया हो, जितना पंत ने। इस कवि के सम्बन्ध में एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्य उल्लेखनीय बात यह भी है कि आयु के साथ उसने भावनात्मक या वैचारिक स्तर पर पुराणपंथी रूढ़िवादिता की ओर प्रत्यावर्तन नहीं किया, जो कि पुनरुत्थानवादी बन्धन से अपने को पूर्णतया मुक्त न कर सकने वाले कवियों की स्वाभाविक परिणति थी। आयु के साथ के मानसिक अनुभव और ज्ञान की सीमाओं का विस्तार हुआ है, उसकी सहानुभूति का दायरा बढ़ा है और, चाहे उसकी काव्यात्मक संवेदना में ह्रास हुआ हो, लेकिन दृष्टिकोण निश्चित रूप से आधुनिकीकृत और मानवीय होता गया है।

चौथे दशक के अन्त में हिन्दी साहित्य को समाजवादी विन्यास प्रदान करने वाला प्रगतिशील लेखकों का आंदोलन भी, अपने उन अगणित उत्साही युवा कवियों में से, जिन्होंने इस आन्दोलन में सम्मिलित होकर अपनी क्रान्तिकारी कविताओं के माध्यम से जन-सामान्य की, बेहतर व्यवहार और बेहतर जीवन की आशाओं और अभिलाषाओं को अत्यन्त भावप्रवणता से प्रतिबिम्बित किया, कोई भी बड़े महत्त्व का कवि पैदा नहीं कर पाया। इनमें से कुछ में वैसे लक्षण अवश्य विद्यमान थे किन्तु उनकी प्रतिभा अन्वेषण के अन्तर्गत इस काल के पश्चात् ही फलीभूत हुई।

अब हम कथा-साहित्य पर आते हैं। जैसा कि सर्वविदित है, हिन्दी कथा-साहित्य में उपन्यासकार और कहानीकार के रूप में प्रेमचन्द सबसे महत्त्वपूर्ण लेखक हैं। उनकी विभिन्न कृतियों के या उनके मूल्य-निर्धारण के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है या फिर उन्हें विश्व-साहित्य के असाधारण प्रतिभासम्पन्न साहित्यकारों की श्रेणी में रखने में मतान्तर हो सकता है, परन्तु यदि लेखन-काल और कृतियों में चित्रित सामाजिक जीवन के व्यापक आयामों के संपूर्ण संदर्भों में विचार करें तो उनकी महानता के सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते। उनकी यथार्थ के प्रति सहज प्रवृत्ति थी। लेकिन, चूंकि प्रेमचन्द प्रचलित अर्थ में प्रतिभावान नहीं थे, इसलिए उनकी यह यथार्थवादी प्रवृत्ति क्षीण या समाप्त हो सकती थी यदि उन्होंने जनसामान्य से अपना सम्पर्क न बनाये रखा होता, या जीवन पर्यन्त आने वाली भ्रान्तियों को दूर न किया होता, या अपने-आपको पुनरुत्थान के प्रचलित बहाव में बहने से बचाये न रखा होता। यही कारण है कि उन्होंने भारतीय जीवन की वास्तविकता, सामाजिक असमानता, स्तम्भित कर देने वाली जड़ता, नैतिक भ्रष्टाचार, अमानवीय व लौह-जकड़ वाली वर्णवादी जाति-व्यवस्था तथा इस सबके साथ-ही-साथ दलित और शोषित लोगों के हृदय में सुलगते असंतोष व कभी-कभार उसकी बाह्य परिणति को अत्यन्त यथार्थवादी ढंग से चित्रित किया। प्रेमचन्द के प्रथम दो उपन्यास, 'वरदान' और 'प्रतिज्ञा' साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त निम्न-कोटि के नमूने हैं तथा अस्पष्ट व अपरिपक्व विचारों के कारण अत्यन्त महत्त्वहीन हैं। लेकिन अपने तीसरे उपन्यास 'सेवासदन' में एक वास्तविक समस्या को अत्यन्त स्पष्टता से प्रस्तुत किया है कि कैसे एक हिन्दू स्त्री पर-गमन के संदेह में निज पति द्वारा परित्यक्त होकर वेश्यालय की शरण लेती है। इस तरह की बर्बर स्थितियाँ दुहरे मानदण्ड वाले हिन्दू समाज की अपनी विशिष्टताएँ हैं, जिसके नियम पर-गमन के अपराध या उसके सन्देह मात्र पर स्त्री के प्रति अत्यन्त कठोर हैं, लेकिन वे इसका कोई भी मानवीय निदान प्रस्तुत नहीं करते। हालाँकि प्रेमचन्द अपनी अपवित्रीकरण-ग्रन्थि से न उबर सकने के कारण न तो इस समस्या का निदान ही प्रस्तुत कर पाये और न ही उसके पति गजधर को अपनी पत्नी को लौटा लेने के लिए झुका पाए। उन्होंने केवल अन्याय को तीखे शब्दों में उजागर ही किया, वे गजधर द्वारा यह स्वीकार न करा पाये कि उसका सन्देह वस्तुतः गलत था और इससे कितना बड़ा अन्याय हुआ था। उपन्यास में कुंवर साहब नाम का पात्र, जो कि कार्यपालिका का सदस्य भी है, इस बात को स्वीकार करता है कि अवैध-क्षेत्रों का अस्तित्व इसलिए है क्योंकि जनसाधारण का शोषण करने वाले जमींदारों, नौकरशाहों, पूंजीपतियों और धनवान लोगों का अस्तित्व है। यदि शोषण को समाप्त कर दिया जाय तो ये अवैध क्षेत्र भी समाप्त हो जायेंगे। यह उपन्यास महान् अक्तूबर क्रान्ति के तत्काल बाद १९१८ में प्रकाशित हुआ। हालाँकि उपन्यास में क्रान्ति का कोई जिक्र नहीं है लेकिन हिन्दू स्त्री के उत्पीड़न के प्रति गहरी संवेदना व आत्मीयता इस बात का प्रमाण है कि समाजवादी क्रान्ति का मुक्तिदायी प्रभाव प्रेमचन्द की हृत्तन्त्री को छू गया था।

किसान समस्या को लेकर चलने वाले उपन्यास 'प्रेमाश्रम' में यह और अधिक स्पष्ट हो गया। यह उपन्यास १९१८-१९ ई० में लिखा गया था और १९२२ में प्रकाशित हुआ। उपन्यास के केन्द्र-स्थल गाँव में जमींदार ज्ञानशंकर और उसका प्रबन्धक गौस खाँ अपने काश्तकार किसानों की अत्यन्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्दयता से लूटमार और दमन करते हैं। इससे किसानों में क्रोध और प्रतिकार की भावना पनपती है जिसकी परिणति हिंसा में होती है। गाँव की चरागाह में गौस खां मनोहर की पत्नी को पीट देता है जिस पर अत्यन्त शान्तिप्रिय मनोहर भी उसकी हत्या कर डालता है और परिणामस्वरूप गाँव में पुलिस राज का भयंकर आतंक व दमन प्रारम्भ हो जाता है। बर्तानिया में शिक्षित व मानव मात्र के प्रति सम्मान के विचारों से प्रभावित प्रेमशंकर (ज्ञानशंकर का भाई) इस घटना से दुःखी होकर किसानों की उन्नति के लिए प्रेमाश्रम की स्थापना करता है। मनोहर का पुत्र बलराज वर्ग-सचेत किसान है। वह किसान और मज़दूर राज्य के विचार से अत्यन्त प्रभावित है तथा अत्यन्त उत्साह से रूसी क्रान्ति की बात करता है, उसके अनुसार केवल वही इस सम्पूर्ण अन्याय को समाप्त कर सकती है। हालाँकि प्रेमचन्द ने मनोहर और उसके वृद्ध मित्र कादिर की तुलना में बलराज के चरित्र को आदर्श रूप में नहीं उभारा है, लेकिन तत्कालीन हिन्दी साहित्य में इस प्रकार के वर्ग सचेत पात्र को लाना ही अपने-आपमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात है—प्रेमशंकर का चरित्र। उसके द्वारा किसान समस्याओं के लिए प्रस्तुत गांधीवादी समाधान अवश्य हवाई है, किन्तु उसका भारत से बाहर शिक्षित होना व अधिक विकसित और मानवीय दृष्टिकोण अपनाना उल्लेख्य है। यह बात रेखांकित करने की है कि 'प्रेमाश्रम' हिन्दी का पहला उपन्यास है जिसमें न केवल जाति-विभाजन और उसकी बुराइयों का ही चित्रण किया गया है अपितु उससे आगे अन्याय और शोषण के मूल वर्ग-विभाजन और वर्ग-संघर्ष का भी चित्रण है। अतः यह सामाजिक यथार्थ के उस नवीन आयाम के ग्रहण को प्रदर्शित करता है जिसे अक्तूबर क्रान्ति और समाजवादी विचारधारा ने संभव बनाया था।

'निर्मला' और 'कायाकल्प' के पश्चात् १९२७-२८ में लिखे अपने उपन्यास 'रंगभूमि' में प्रेमचन्द ने फिर से वर्ग-संघर्ष की समस्या को उठाया है। 'रंगभूमि' में पूंजीवादी औद्योगीकरण के प्रसार व ग्राम्यजीवन पर उसके घातक और विषैले प्रभावों को दिखाने का प्रयास है। मेरे विचार से इस समस्या को अत्यन्त कृत्रिम ढंग से उठाना और अंधे किसान सूरदास (जिसकी ज़मीन पूंजीपति जॉन सेवक उद्योग के लिए लेना चाहता है) द्वारा संघर्ष का नेतृत्व कराना, एक प्रकार के कृत्रिम वातावरण का निर्माण करता है। ऐसा लगता है कि काल के प्रवाह में, तथा मशीन, मशीन-निर्मित सामान व सामान्यतः संपूर्ण औद्योगीकरण को शंका की दृष्टि से देखने वाली गांधीवादी विचारधारा के प्रचार-प्रसार के कारण प्रेमचन्द पर अक्तूबर क्रांति का प्रभाव क्षीण या धुंधला हो गया, जिसने उनपर ग्राम्यजीवन की अनिवार्य अच्छाई की परम्परागत भारतीय दृष्टि को गहरा दिया। सामंतवाद में अनेक बुराइयों के होते हुए भी सामंती सामाजिक सम्बन्धों के प्रति प्रेमचन्द का मानसिक लगाव इस उपन्यास में स्पष्ट हो जाता है। लेकिन ये भ्रम चौथे दशक में ही समाप्त हो गये और प्रेमचन्द ने अपने अंतिम महत्त्वपूर्ण उपन्यास 'गोदान' में किसान समस्या को फिर से उठाया। उसी समय विदेशों में अध्ययन के दौरान मार्क्सवाद के प्रभाव में आये युवक राष्ट्रभक्तों ने स्वाधीनता के राष्ट्रीय आंदोलन को गांधीवादी सीमाओं में बद्ध कर देने का विरोध किया था। इस उपन्यास में प्रेमचन्द सम्पूर्ण भारतीय परिस्थिति पर एक यथार्थवादी की तरह दृष्टि डालते हैं और होरी, धनिया, गोबर, झुनिया (सभी खेतिहर) जैसे जीवंत; तथा ज़मींदार अमरपालसिंह, उद्योगपति खन्ना व अन्य अनेक सशक्त पात्रों का निर्माण करते हैं। ये पात्र अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व भी करते हैं और विभिन्न वर्ग-सम्बन्धों, दृष्टिकोणों व नैतिकता को संपूर्णता में प्रतिबिंबित करते हैं। यहाँ प्रेमचन्द कोई कृत्रिम या आरोपित समाधान नहीं खोजते अपितु उपन्यास की दुखान्त परिणति यह प्रभाव छोड़ती है कि शोषक और शोषित वर्गों के विरोधी हितों के बीच कोई भी समझौता नहीं हो सकता, न ही इसका कोई अल्पकालिक समाधान संभव है।

यहीं से हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में प्रगतिशील आंदोलन का प्रारम्भ होता है। यह आंदोलन चौथे दशक के सशक्त किसान आंदोलनों और श्रमिक-संघर्षों का परिणाम था। आंदोलन के उत्थान में सहायक दूसरे कारण थे—जवाहरलाल नेहरू द्वारा स्वाधीनता संघर्ष के सामाजिक और आर्थिक उद्देश्यों को समाजवादी शब्दावली में परिभाषित किया जाना; समाजवादी व साम्यवादी गुटों को मिलाकर एक समाजवादी दल की स्थापना; दल का नेतृत्व ब्रितानिया और अमेरिका में शिक्षित उन युवक बुद्धिजीवियों के हाथ में होना जो इस बात के प्रति पूर्ण जागरूक थे कि जर्मनी,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इटली, स्पेन और जापान में उभरता हुआ फासिज्म शांति, स्वतन्त्रता और प्रगति के लिए सबसे बड़ा खतरा है।

समाजवादी विचारधारा के इस प्रभाव के कारण स्वभावतः विचारों में टकराव प्रारम्भ हुआ। यह टकराव और संघर्ष जीवन के सभी क्षेत्रों में फैल गया। साहित्य में इस संघर्ष ने प्रगतिशील विचारों के विरोध का रूप धारण किया। प्रगतिशील लेखकों का प्रथम घोषणा-पत्र कुछ युवक लेखकों द्वारा १९३५ में लन्दन में तैयार किया गया। उसी वर्ष दिसम्बर के अंत में इलाहाबाद में 'भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' का गठन किया गया और उस ऐतिहासिक दस्तावेज पर प्रेमचन्द, फिराक, निराला, पंत जैसे प्रसिद्ध हिन्दी और उर्दू के लेखकों ने हस्ताक्षर किये। घोषणा-पत्र ने भारतीय समाज में हो रहे महान् परिवर्तनों पर प्रकाश डाला और लेखकों से आग्रह किया कि वे रहस्यवाद और झूठी आध्यात्मिकता या पतनशील अंधविश्वासों और विचारों में शरण न खोजकर इन क्रांतिकारी परिवर्तनों को अभिव्यक्ति प्रदान करें। उस सबको, जो निष्क्रियता, उदासीनता, पलायनवाद या अंधविश्वासों को जन्म देता था, प्रतिक्रियावादी करार दिया गया और उस सबको जो बौद्धिकता की भावना, साहस व प्राचीन मान्यताओं को तर्क के आधार पर परीक्षित और विश्लेषित करने की भावना पैदा करे—प्रगतिशील स्वीकार किया गया। टैगोर, जवाहरलाल नेहरू, जयप्रकाश नारायण, आचार्य नरेन्द्रदेव और भारतीय भाषाओं के महत्त्वपूर्ण लेखकों ने इस आन्दोलन का हृदय से स्वागत किया। विशेषकर उदीयमान युवक लेखकों ने इस आंदोलन में अत्यन्त उत्साह दिखाया। लेकिन सरकार इस आंदोलन पर बरस पड़ी, ब्रिटिश नियंत्रित व स्थानीय बूर्जुआ प्रेस ने इसे मॉस्को-प्रेरित चित्रित किया तथा हिन्दू कट्टरपंथ के अगुआ व पुनरुत्थान की भावना से अनुप्राणित रूढ़िवादी लेखकों ने इसे 'भारतीय-संस्कृति-विरोधी' आंदोलन कहा। अप्रैल १९३६ में लखनऊ में प्रगतिशील लेखक संघ का प्रथम अधिवेशन जब प्रेमचन्द की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ तो प्रेमचन्द को 'घृणा के प्रचारक' कहकर उनकी निन्दा करते हुए अनेक लेख हिन्दी पत्रिकाओं में छपे जिनमें उनकी कहानियों और उपन्यासों से दृष्टांत देकर यह सिद्ध किया गया था कि कैसे प्रेमचन्द ब्राह्मणों के पावन आधिपत्य को चुनौती देने वाले नीची जातियों के पात्रों को जान-बूझकर चुनते हैं और ब्राह्मण पात्रों को भ्रष्टाचारी, निर्दयी व अन्धविश्वासी रूप में चित्रित करते हैं। उसी प्रकार १९३६ में इलाहाबाद में हुए हिन्दी-उर्दू प्रगतिशील लेखकों के अधिवेशन में पठित मेरा लम्बा लेख—जिसमें मैंने हिन्दी में पहले-पहल साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या की थी—जब १९३७ में 'विशाल भारत' में प्रकाशित हुआ तो हिन्दी की अग्रणी पत्रिकाओं में हिन्दी के जाने-माने लेखकों द्वारा लिखित लगभग एक दर्जन लेख सामने आए जिनमें एक उग्र पुकार थी कि हिन्दी में प्रगतिशील साहित्य के सृजन का मेरा कार्यक्रम वस्तुतः भारतीय संस्कृति को ध्वस्त करने का ही एक प्रयास था। इससे एक विवाद और टकराव का प्रारम्भ हुआ। लखनऊ से पंत ने 'रूपाभ', नरोत्तम नागर ने 'उच्छृंखल' तथा इलाहाबाद से मैंने 'प्रभा' नामक पत्रिका का प्रकाशन किया। नई और पुरानी पीढ़ी के बहुत-से गण्यमान लेखकों ने इन पत्रिकाओं में सहयोग व योगदान दिया। राहुल सांकृत्यायन, नरेन्द्र शर्मा, यशपाल, रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, रामवृक्ष बेनीपुरी और अन्य अनेक लेखक भी इस संघर्ष में सम्मिलित हो गए जिन्होंने प्रतिक्रिया के घातक आक्रमणों का डटकर मुकाबला किया। 'प्रगतिशील लेखक संघ' की शाखाएँ अन्य शैक्षिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी फैल गईं। द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ तक प्रगतिशील आंदोलन हिन्दी में अत्यन्त प्रभावशाली प्रवृत्ति बन चुका था। यह गतिशील प्रभाव १९४७ की राजनीतिक स्वाधीनता तक बना रहा।

हिन्दी साहित्य और साहित्यकारों पर समाजवादी विचारधारा के इस प्रभाव ने उन्हें पुनरुत्थानवाद की प्रतिक्रियावादी विचारधारा से मुक्त किया और किसी हद तक जनसाधारण के यथार्थ जीवन व उनकी समस्याओं को प्रतिबिम्बित किया। इस प्रभाव की शक्ति का अंत तो अभी नहीं हुआ, किन्तु आंदोलन का प्रभाव मन्द और असंगठित हो गया है। इस मंदता और असंगठन के कारण का विवेचन इस समीक्षा की सीमा के बाहर है और एक स्वतंत्र अध्ययन की अपेक्षा रखता है।

[यह निबंध मूलतः 'नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय', नई दिल्ली के लिए लिखा गया था।]

अनुवादक : कर्णसिंह चौहान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इंसान की विमुक्ति तथा कला की अनिवार्यता

मार्क्सवादी-लेनिनवादी संस्कृति-विज्ञान तथा सौन्दर्यदर्शन की चिरन्तन आधुनिकता

रमेश कुन्तलमेघ

अपने सम्पूर्ण दीप्तिमान सूर्य को 'देखने' के लिए छोटे तथा स्वच्छ दर्पण अनिवार्य होते हैं !

इसलिए वस्तुओं और सम्बन्धों और घटनाओं वाले अपने संसार तथा समाज की सम्पूर्णता के सन्दर्भ में ही हम अपनी सामाजिक चेतना, अपने वैयक्तिक अनुभव तथा अपनी पूरी मौलिक प्रकृति को हासिल करते हैं। इसलिए मार्क्सवादी-लेनिनवादी द्वन्द्वन्याय की केन्द्रीय धुरी **'सम्पूर्णीकरण'** (टोटलाइजेशन) की धारणा है। यह धारणा एक सीमित अनुभव या कुछ घटनाओं को लेकर **सामान्यीकरण** नहीं करती, बल्कि अनेक सत्यों की सम्पूर्णता के साथ एक सत्य का समन्वय करती है। एक ताजी मिसाल लें। आज हम वियतनामी युद्ध के कारणों पर जब विचार करते हैं तो अस्तित्ववादी इसे मनुष्य की हिंसावृत्ति का प्रमुख कारण बताते हैं, अध्यात्मवादी वेटिकन पोप ईश्वर-कोप का प्रतिफल बताते हैं, निक्सन कम्युनिस्टों की घुसपैठ बताते हैं और माओ त्से-तुंग अमरीकी साम्राज्यवाद से जनता का लोकयुद्ध बताते हैं। अतः इनमें सत्य और भ्रान्ति मिल गई हैं, अंतर्मुखी और बहिर्मुखी तत्त्वों का अलगाव हो गया है, और विश्व की सम्पूर्णता से कटाव और जोड़ाव भी हो गया है। इसलिए पहले तो एक विश्व दृष्टिकोण अनिवार्य है, दूसरे अनेक सत्यों एवं गल्पों के संघर्ष को समझना जरूरी है, और तीसरे प्रमुख कारण और मूल निर्णय की खोज कर पाना अपेक्षित है। **कारणता** हमेशा **व्याख्या** से जुड़ी है और तथ्यों की व्याख्या में कई कारणों को लिया जा सकता है। लेकिन अंततोगत्वा एक बड़ा निर्णायक कारण ही व्याख्या के परस्पर विरुद्ध और पृथक् तत्त्वों को भी जोड़ सकता है और **निष्कर्ष** निकाल सकता है। ऐसी विश्लेषण-पद्धति द्वन्द्वन्याय कहलाती है। यह पद्धति 'कारण' के बजाय 'अन्तर्विरोध' का इस्तेमाल करती है। **अन्तर्विरोध** : अर्थात् प्रकृति या समाज, या मनुष्य को गतिशील बनाने वाला अन्तर-सम्बन्ध तथा अन्तर-दशा ! अतः द्वन्द्वन्याय के अनुसार विकास अन्तर्विरोधों के द्वारा ही होता है। इनमें से प्रमुख तथा केन्द्रीय अन्तर्विरोध सम्पूर्णता से बँधा होता है। इस तरह व्याख्या को वैज्ञानिक तथा सही तथा मूल्यपूर्ण बनाने के लिए सम्पूर्णीकरण जरूरी है।

द्वन्द्वन्याय वाली सम्पूर्णीकरण की धारणा अमूर्त और वैश्वक, अटल और अचल, शाश्वत और अद्वैत न होकर विचार और पदार्थ, अंतर्मुखी और बहिर्मुखी, चेतना और सत्ता, चिंतन और कर्म आदि की अर्थात् **परस्पर विरुद्धों की 'एकता'** पर केन्द्रित है। आदर्शवादी धारणा **परस्पर समानों की एकता पर** आश्रित होने के कारण केवल ब्रह्म और आत्मा की, चैतन्य और भावना की, शक्ति और माया की द्वन्द्वहीनता तथा समरसता की बात करती है। इस तरह यह महामाया निर्लिप्त 'विशुद्ध' पर टिकी है। विशुद्ध विचार की यह धारणा एक ओर शरीर को अधम अपावन मानती है तो दूसरी ओर चिदंश रस को ब्रह्मानंदसहोदर। अतः इस धारणा में जीवशास्त्रीय अनुकृति अथवा रहस्यपरक आवृत्ति ही मिलेगी। इसलिए यह धारणा मूर्त ऐतिहासिक **वस्तु** और उसके कलावस्तु में सौंदर्यतात्त्विक **प्रतिबिंब** को रीति तथा रस, शरीर तथा आत्मा, जड़ तथा चेतना, भोग तथा आनन्द की विभक्ति से खंडित कर देती है। यह प्रतिवादी प्रकार की वस्तुओं को जड़ तथा भौतिक मानने का नतीजा है। अतः विशुद्धि मूलतः आवृत्ति है और मानवीय चेतना तथा सामाजिक यथार्थता का चिरंतन द्वैत बनाये रखती है। किन्तु मार्क्सवाद अमूर्त धारणाओं के माध्यम से, चिंतन की विशुद्ध गति के अनुमान की जो प्रारम्भिक उपेक्षा करता आ रहा था उसे सबसे पहले तो लेनिन ने दूर किया, फिर माओ-त्से तुंग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने; और हाल में सार्त्र ने। लेनिन ने अनुभववाद-आलोचना के प्रसंग में बताया कि धारणाएँ बिंबों के सामान्यीकरण की उच्चतर दशाएँ हैं जो चेतना से मिलकर चिंतन बनती हैं। अतः बिम्ब (इमेज), चिंतन (थाट), विचार (आइडिया) और धारणा (कान्सेप्ट) मनुष्य के द्वारा यथार्थता के प्रतिबिंब अथवा पुनरुत्पादन अथवा पुनर्नव्यता के रूप-प्रतिरूप हैं। अतएव धारणा और विचार मनुष्य के संज्ञान तथा अभिज्ञान की समस्या से जुड़े हैं। लेनिन ने स्पष्ट किया कि धारणाएँ अचल-अटल न होकर निरन्तर गतिशील और सतत परिवर्तनशील हैं; अन्यथा वे जीवन को प्रतिबिंबित ही नहीं कर सकतीं। इस सूत्र को माओ ने आगे बढ़ाते हुए बताया कि किसी समाज-व्यवस्था के नींवाधार (बेस) तथा सुपरिगठन (सुपरस्ट्रक्चर) के बीच पृथक् और विशुद्ध ढंग के बिंब-प्रतिबिंबवादी कारण-संबंध न होकर अंतर्विरोध हैं। पहले बहुधा विचारों को एकतरफा भौतिक आधार का प्रतिबिंब माना जाता था अर्थात् नींवाधार द्वारा सुपरिगठन को प्रभावित करने की एकपक्षीय बात ही उठती थी। किन्तु अब यह पाया गया कि सुपरिगठन तथा नींवाधार के बीच भी अन्तर्विरोध हैं; और सुपरिगठन अर्थात् **विचार** भी नींवाधार पर प्रतिक्रिया कर सकते हैं। अतः बिंब-प्रतिबिंबवाद का अगला कदम यह हुआ कि विचार भी कर्म तथा अभ्यास में कायान्तरित होकर **भौतिक शक्ति** बन सकते हैं। इसका नतीजा यह भी निकला कि भौतिक आधार के बदलने पर विचार स्वतः ही तदनुकूल रूपांतरित नहीं हो जाते बल्कि वे रूढ़ियों और आदतों, परंपराओं और संस्कारों के रूप में मानवीय चेतना में गहराई तक धँसे होते हैं। मार्क्स ने स्वावलम्बी विचारों अर्थात् नींवाधार से विच्छिन्न विचारों को कतई मंजूर नहीं किया था। किन्तु जब समाजवादी नींवाधार में भी विचारों की समस्या तथा मनुष्य की विमुक्ति की समस्या उठी तो यह प्रस्थापना भी हुई कि एक समाजवादी नींवाधार पर पूंजीवादी सुपरिगठन के संवर्धित होने के भी वास्तविक अंदेशे मौजूद हैं। इस बीज का सूत्रपात लेनिन ने ही किया था — जब उन्होंने बाहरी **प्रतीति** (एपीयरेंस) से **सारत्व** (एशेंस) को, और **आकस्मिक** से **नियम** को पहचानने की बात कही थी। सुपरिगठन का क्षेत्र चेतना एवं संस्कृति का क्षेत्र है। यह प्रतीति का क्षेत्र है। अतः प्रतीतियों के जो धारणा रूप बनते हैं—उनको सामाजिक संबंधों की सम्पूर्णता से संबद्ध करके ही,—उनसे नियम (जनरलाइज़ेशन) हासिल हो सकते हैं। नींवाधार के सामाजिक संबंधों को बदलने के साथ ही सुपरिगठन के मानवीय संबंध अपने-आप नहीं बदल जाते। इसलिए **सामाजिक क्रान्ति** के बाद **सांस्कृतिक क्रान्ति** इतिहास का नियम और विकास का धर्म है; अन्यथा मानवीय विमुक्ति पुनः एक भ्रम बन जाएगी। अतः क्रांति को नींवाधार पर जाकर ही नहीं रुक जाना चाहिए अर्थात् केवल सम्पत्ति के उन्मूलन में ही इतिश्री नहीं मान लेनी चाहिए; बल्कि संस्कृति के क्षेत्रों तक क्रांति का सूर्य चमकना चाहिए। अतः हम द्वंद्वन्याय (डाइलेक्टिक्स) के विश्व-दृष्टिकोण को अंगीकार करते हैं, उसके अन्तर्विरोधात्मक सम्पूर्णीकरण के आलोक में विकास और मनुष्य की समस्याएँ जाँचते हैं, तथा उसके केवल द्वंद्वात्मक भौतिकवादी रूप के द्वारा ही अन्तर्विरोधों को दूर कर सकते हैं। अतः द्वंद्वन्याय ही सही विमुक्ति है।

द्वंद्वात्मक भौतिकवादी धारणा में कार्यकारणन्याय वाली यांत्रिक बाण जैसी गति का स्थान 'एकता-संघर्ष-सामंजस्य' वाली शंख जैसी गति ले लेती है जो स्वतः ऊर्जित है। आदर्शवादी विचारधारा में संस्कृति में केवल एकता और समन्वय, पार्थक्य और समरसता की बात होती है अर्थात् उसके अंतर्गत **संस्कृति** में या तो एकपक्षीय **रिनेसाँ** की धारणा होगी अथवा **अराजकता** की! लेकिन द्वंद्वात्मक भौतिकवादी धारणा के वृत्त में संस्कृति में रूप और विषय का, व्यक्ति और वर्ग का एक चिरंतन द्वन्द्व स्वीकृत है जिसकी वजह से संस्कृति के आकृतिबंध में कभी **क्रांति** होती है तो कभी **अराजकता**; कभी संस्कृति अर्थात् सुपरिगठन (के गुण) समाज-व्यवस्था (मात्रा) को बदल देता है तो कभी बिना नींवाधार को बदले ही विचार 'अगली लम्बी छलाँग' (कल्चरल लीप) लगा लेते हैं; कभी समाजव्यवस्था में परिवर्तन हो जाता है किन्तु संस्कृति पिछड़ी रह जाती है। अतः विचारों के इतिहास में संस्कृति के ऐसे गतिवाद के गम्भीर अनुशीलन का अभी भी इन्तज़ार है। सार्त्र ने इस ओर द्वंद्वात्मक तर्क की पद्धति से यकुम कदम उठाया है। उन्होंने सामान्यीकरणों पर आधारित सूक्ष्म **'सम्पूर्णीकरण'** अर्थात् कोरे सैद्धांतिक चिंतन को नामंजूर किया है क्योंकि यहाँ मनुष्य के अनुभव तथा चिंतन का **'आंतरिकीकरण'** (इंटारियोराइज़ेशन) नहीं हो पाता। अतः सार्त्र द्वंद्वन्याय को अभिकर्ता के दृष्टिकोण से भी देखना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शुरू करते हैं। अब संस्कृति का सर्वांगीण वेश बदलता है। अब, एक विशिष्ट स्थिति में, किसी नेपोलियन तथा इस नेपोलियन के बीच परिवर्तन आ जाता है; अब हम सूक्ष्म के बजाय मूर्त 'सम्पूर्णीकरण' की भूमि पर आते हैं और कोई नेपोलियन के बजाय यह नेपोलियन उपस्थित पाते हैं। अतः अनेक नेपोलियनों की सम्भावना की अमूर्त निश्चयता के स्थान पर विशिष्टता की धुरी पर यही साक्षात्-जीवंत-बूर्जुआ एकल नेपोलियन मिला जो फ्रांसीसी क्रांति को उत्कर्ष तक ले गया। इस भाँति हम देखते हैं कि एंगेल्स ने आर्थिक एकलवाद को निरर्थक, अमूर्त तथा फूहड़ कहा है; तथा अस्तित्व-धर्मा मार्क्सवादी सार्त्र ने एकल सही विचार तथा वास्तविक कर्त्ता की विलक्षणता को खोजा है। अतः हम देखते हैं कि केवल सामान्य आर्थिक दशाओं को अथवा मात्र आदर्श सद्-भावनापूर्ण विचारों को इतिहासांदोलक भूमिका नसीब नहीं होती। इसके लिए अन्तर्मुखी-बहिर्मुखी के बीच के अन्योन्यान्य संबंध होना आवश्यक हैं। फ्रेंज़ मेहरिंग ने द्वंद्वन्याय को भौतिकवाद से पृथक् करके उसे मात्र इतिहास-दर्शन (ऐतिहासिक भौतिकवाद के बजाय) बना दिया था, प्रकृति के द्वंद्वन्याय को पृथक् कर दिया था तथा मार्क्स को एंगेल्स से जुदा कर दिया था। रोज़ा लुक्सेमबर्ग ने मात्र व्यक्तिमत्ता के आधार पर, संघर्ष को नकारकर, पूंजीवादी व्यवस्था के आकस्मिक विघटन और शोषित जनों के आकस्मिक उभार की मिथकल्पना की थी। यही गलती सार्त्र भी कहीं कर रहे हैं। अतः मार्क्सवाद-लेनिनवाद में से हम मार्क्स से लेनिन को, लेनिन से माओ को, माओ से चे को और चे से हो को पृथक् करके बचकानापन और संशोधनवाद का शिकार बनेंगे। मार्क्सवाद-लेनिनवाद तो आद्यन्त एक विश्वदृष्टिकोण है तथा उसकी समसामयिकता सापेक्ष्य एवं चिरंतन है। अतः जो विचार (यः विचारधारक अभिकर्त्ता) यथार्थ ऐतिहासिक शक्तियों को प्रतिबिंबित करते हैं, तथा उनसे अनुकूलित होते हैं, वे ही अमूर्त से मांसल तथा वैश्वक से विशिष्ट हो जाते हैं अर्थात् व्यवहार एवं अभ्यास में वे साक्ष्य एवं प्रमाण बन जाते हैं। आर्ष कसौटी 'व्यवहार' (प्राक्सिस) की ही है। तब ऐसे तपे एवं कर्मठ विचारों के लिए ही कहा जाता है कि वे 'भौतिक-शक्ति' बन जाते हैं। तब—कथन एवं विश्वास के बजाय—उनकी कसौटी कर्म होती है। अगर ऐसे विचार किसी कलाकार के हैं अथवा कलाकृति में हैं तब उसमें समाज निथारा और निहोरा जाता है। जब समाज के बेहद संत्रस्त वर्ग धुंधले ढंग से ही जागरूक होने लगते हैं तब मनुष्य की प्रकृति में भी विचित्र मनोसामाजिक परिवर्तन होता है; तब पुराने मूल्य, पुराना मनोविज्ञान और पुरानी जीवनदृष्टि निरर्थक लगने लगती है; तब नये प्रकार के विचार जन्म लेते हैं और मनुष्य में चिति (साइके) का नया स्नायु-जाल फैलता है। लेकिन 'सही विचार' कैसे आते हैं, यह ज्ञान के समाजशास्त्र का क्षेत्र है। माओ और चे ने इस पर कुछ सैद्धांतिक प्रस्थापनाएँ की हैं: पहले की जनता के बीच के अन्तर्विरोधों को लेकर; तो दूसरे की क्रांतिकारी के त्याग एवं उत्सर्ग को लेकर।

विचार भौतिक शक्ति ही नहीं, 'बिम्ब' भी हो जाते हैं अर्थात् विचार एक अनुभव को गहराते तथा अभिज्ञान को चमकाते हैं। तब ऐसे बिम्बात्मक विचार 'विषय' या 'विषयवस्तु' (कान्टेन्ट) में भी रूपायित हो जाते हैं। अतः कला सामाजिक चेतना का ही एक रूपबंध है। यह रूपबंध इस कलाकृति में मूर्त होता है तथा इसी प्रकृति की 'वस्तुओं' अथवा हमारे यथार्थजगत् का 'प्रतिबिंब' होता है। किन्तु स्वयं प्रकृति की वस्तुएँ मनुष्य के दिमाग तथा प्रत्यक्षीकरण के बाहर होती हैं तथा यथार्थ-जगत् का अस्तित्व मानवीय चेतना से स्वतंत्र होता है। फलतः मूर्त ऐतिहासिक वस्तु का कलात्मक प्रतिबिंब देशकाल बहिर्भूत भी होता है। कला में प्रतिबिंब की 'वस्तु' तथा 'विधि' दोनों ही ऐसी हैं कि कलाकृति में वह (प्रतिबिंब ही) वस्तु का सृजन करता है, पुनरुत्पादन करता है, प्रक्षेपण करता है जिससे अन्ततोगत्वा वही मूल एवं मूर्त वस्तु बिंब-कल्पना की वस्तु बन जाती है। अतः कला सामाजिक चेतना का वह स्वरूप एवं प्रतिबिंब बन जाती है जो एक साथ अतीत का पुनरुत्पादन, वर्तमान का प्रत्यक्षण तथा भविष्य का प्रक्षेपण करती है। क्यों? और; कैसे??

हम संपूर्ण बाहरी यथार्थता के वस्तुलक्ष्यी पक्ष अर्थात् 'दर्पण' तथा मानवीय चेतना के आत्मलक्ष्यी पक्ष अर्थात् 'दीपक' के सद्यःप्राकृतिक महारूपक के द्वारा ही रचना एवं कर्म के सूत्रों को पकड़ सकते हैं। किंतु यह भी स्पष्ट होने लगता है कि चेतना और वस्तुलक्ष्यी यथार्थता के बीच बिंब-प्रतिबिंब-न्याय वाला सीधा, सहज एवं विकासवादी संबंध नहीं है। इनके बीच किंचित् अंतर्विरोध भी हैं। कुछ उदाहरण लें: चेतना अर्थात् सुपरिगठन के धरातल पर एक ही संपूर्णबंध (अर्थात् संस्कृति) कला और विज्ञान, धर्म और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनीति, सौंदर्य और नैतिकता, कानून और दर्शन आदि के नाना रूपों में प्रतिबिंबित होता है। कुछ रूपों में प्रतीति ज्यादा तथा सारत्व अवगुण्ठित होता है, तो कुछ में सारत्व ज्यादा और प्रतीति क्षीण। अतः इस धरातल पर अभी तक यह कम स्पष्ट हो सका है कि ये विचारधारात्मक रूप आपस में किस मात्रा तक घुलें-मिलें कि आधार वाले रूप का विषय तत्त्व न बदले अर्थात् किस तरह दर्शन कलात्मक दर्शन या राजनीति राजनीतिक अर्थरचना, या नैतिकता वैज्ञानिक नैतिकता ही बनी रहे। द्वंद्वन्याय ने कला को एकांतिकता से विमुक्त कर दिया है। लेकिन सुपरिगठन के अपने विविध-बहुल स्वरूपों की परस्पर एकता तथा विभेद की अपेक्षित छानबीन नहीं हुई है। इस क्षेत्र में हम "**अस्मिता (आइडेंटिटी) एवं अन्तर (डिफ्रेंस) की एकता**" अर्थात् कांट्रेडिक्शन को लागू करके थोड़ा-सा आगे बढ़े हैं। कभी कला और दर्शन में अस्मिता कायम हो जाती है, तो किसी चरण में कला और राजनीति में विरोध; किसी अवस्था में कला और विज्ञान में अस्मिता स्थापित होती है तो किसी स्थिति में धर्म एवं सौंदर्य में निषेध। इसका मतलब यह हुआ कि सामाजिक चेतना की संपूर्णता में जो अभिनव गुणात्मक परिवर्तन हो रहा है उसका प्रभावक आंतरिकीकरण नहीं हो सका है। यह कारण भी हो सकता है कि पूरे सुपरिगठन का तदनुसार कायाकल्प नहीं हुआ हो। यह सही है कि मूलाधार की अपेक्षा सुपरिगठन देर से तथा परोक्ष ढंग से ही बदलता है; और पूरी तरह एक साथ नहीं बदलता। अतएव उसके अंगों में से कभी राजनीति बदल जाती है तो कला पिछड़ जाती है; कभी विज्ञान छलाँग लगा जाता है तो नैतिकता स्तब्ध हो जाती है; कभी ओपेरा समुन्नत हो जाता है तो महाकाव्य मर जाता है। इसके अलावा कभी-कभी तो सुपरिगठन के अंगों के बीच भी रूप-विषयवस्तु के-जैसे द्वंद्व कायम हो जाते हैं; उदाहरणार्थ, राजनाति का रूप कानूनी तथा विषयवस्तु नैतिक हो जाती है (धनात्मक); कला का रूप सौंदर्यात्मक तथा विषयवस्तु धार्मिक हो जाती है (धनात्मक-ऋणात्मक); धर्म का रूप कानूनी तथा विषयवस्तु राजनीतिक हो जाती है (ऋणात्मक); इत्यादि-इत्यादि। अलबत्ता इनका असर आश्चर्यपूर्ण होता है क्योंकि ये अर्धमिश्रित रूप विचारधारा के अंतर्विरोध छिपा या खुला डालते हैं। वास्तव में ये विचित्र रूपायन गुणात्मक परिवर्तनों की बारीकी तथा नवीनता का अंगीकार करते हैं। अतः इस नज़रिये से कबीर या तुलसी, निराला या मुक्तिबोध आदि के रचना-संसारों को परखने पर नितांत नयेपन का उन्मेष होगा। मार्क्सवादी लेनिनवादी सौंदर्यदर्शन तथा सौंदर्यविज्ञान को ये प्रबल सम-सामयिक नई चुनौतियाँ मिली हैं क्योंकि अब तो यह राज़ खुल गया है कि चेतना के क्षेत्र में बिंब-प्रतिबिंब न्याय का प्रकृतवाद, तथा नींवाधार-सुपरिगठन के बीच कारण-कार्य न्याय का विकासवाद लागू करने पर हम आगे भी संस्कृति एवं समाज में पल्लवग्राहिता तथा प्रतीतिमाया की तोतारटंत 'भ्रांति' में उलझे रहेंगे। अतः अर्नस्ट फिशर ने कलारूप में सीधे **विचारधारा** के अनुप्रवेश से तथा सुशाने लैंगर और ग्रोम्ब्रिच ने कलारूप में **भ्रांतिमंडल** (रेल्म आफ़ इल्यूज़न) के समावेश से आगाह किया है।

नींवाधार-सुपरिगठन का अभियंता रूपक वास्तुकला के ठोस तथा दृश्य क्षेत्र का है। अतः पाकविद्या के अनिर्वचनीय तथा उपभोग्य स्वाद (रस) के रूपक से तो यह ऊँचा तथा श्रेष्ठ है ही! किंतु द्वंद्वात्मक विश्लेषण के ज्यादा अनुकूल यह रूपक नहीं पड़ा। शायद इस रूपक के कारण ही (बाद में) मार्क्सवादी सौंदर्यविज्ञान में 'संघर्ष और एकता' के बजाय 'समन्वय और एकता' पर गलत बल दिया जाता रहा जिससे कलाकार के वर्गीय चरित्र और उसके आत्म-संघर्ष के बीच सारे महीन सूत्र टूटते चले गये हैं। यही नहीं; कला एवं संस्कृति के क्षेत्र में सामाजिक वर्ग संबंधी आर्थिक वर्ग की धारणा ही छिछले ढंग से छापी गई है। अतः कला-कार के चरित्र की तरह कला के वर्गीय चरित्र की अनुमिति बहुत छिछली हुई है। फलस्वरूप समसामयिक मार्क्सवाद ने इस क्षेत्र में भी क्रांतभेदन किया है।

जोसेफ़ स्तालिन ने पुरानी मार्क्सवादी प्रस्थापना करते हुए कहा था कि समाजवाद कायम हो जाने के बाद वर्गयुद्ध समाप्त हो जाता है। सोवियत संघ में समाजवाद के नींवा-धार को सुरक्षित रखने के लिए स्तालिन ने सुपरिगठन को भारी नुकसान पहुँचाया। अब यह भी माना जाता है कि अगर सोवियत संघ तथा पूर्वी यूरोप के लोक-जनतंत्र 'सांस्कृतिक क्रांति' को कर लिये होते तो क्रांति के पश्चात् की नौकरशाही का केन्द्रीयकरण, अनावश्यक हिंसाओं का आतंक, विचारविवाद (पोलेमिक्स) की गलाघोंटाई, व्यक्तिपूजा की बुराई आदि नहीं आ पातीं। फलतः कला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवं संस्कृति में निर्जीवता भी नहीं आती। किंतु यह नहीं हुआ। स्तालिन के विपरीत ख्रुश्चोव ने सुपरिगठन की मरम्मत करने में नींवाधार को ही तोड़ने-फोड़ने में कामयाबी पाई। सामाजिक क्रांति के बाद सांस्कृतिक क्रांति की ऐतिहासिक निश्चयता से गुज़रने पर समाजवादी चीन ने पाया कि समाजवाद कायम हो जाने के बाद भी एक अनवरत वर्ग-युद्ध जारी रहता है। अतएव अब 'वर्ग' (क्लास) की धारणा केवल वंशानुगतिक न होकर आचार-विचारपरक हो गई। आर्थिक वर्ग, सामाजिक वर्ग तथा जन्मजात वर्गीय व्यक्ति के आगे का यह चरण संपूर्ण संस्कृति तथा चेतना के प्रभामंडल रूपान्तरित कर देता है। "वर्ग की परिभाषा मानसिक दशा से की जाती है, और मानसिक दशा का उद्घाटन आचरण में होता है।"[1] पहले के गरीब किसान शक्ति द्वारा भ्रष्ट हो जाते हैं और एक भूतपूर्व ज़मींदार एक सम्मानित सर्वहारा हो सकता है (तोल्सतोय)। अतः केवल पूर्वजीवनी निर्णायक नहीं है। व्यक्ति को तो यही साबित करना है कि आज उसकी अभिवृत्ति एक सर्वहारा की है। जब भ्रष्ट बूर्ज्वा शासनों पर समाजवादी व्यवस्था की जीत होती है तब—मध्यवर्ती चरण में—शासन चलाने के लिए, शिक्षा-प्रसार के लिए, उद्योगों को चालू रखने के लिए कर्मियों की कमी होती है। निम्न वर्गों में शिक्षा और प्रशिक्षण की इस कमी से निम्न बूर्ज्वा तथा मध्य वर्ग के लोग ही यह आरम्भिक आपूर्ति करते हैं और यह 'मिथ्या चेतना' ग्रहण कर लेते हैं कि वे तिलिस्म से समाजवादी हो गये हैं जबकि बूर्ज्वा व्यक्तिवाद और गैर-राजनीतिक चेतना उन पर हावी बनी रहती है। अतः संक्रांति-चरण में शक्ति, विशेषाधिकार या शिक्षा की निधि ही वर्ग-विभेद का आधार बन जाती है। अतः सुपरिगठन में **राज्य** की नौकरशाही को उलटने-पलटने तथा **पार्टी** की प्राधिकारी नौकरशाही को खत्म करने का काम भी सांस्कृतिक क्रांति को करना पड़ता है। सांस्कृतिक क्रांति का विस्फोट नींवाधार पर न होकर सुपरिगठन के धरातल पर होता है जिससे 'वर्ग' की धारणा आजकल आर्थिक एवं सामाजिक संदर्भों से परे एक सांस्कृतिक कैटेगरी हो गई है। अतः 'संस्कृति' के क्षेत्र में केवल साहित्यिक, कलात्मक तथा वैज्ञानिक ज्ञान ही नहीं आता, बल्कि मानवीय आचरण तथा सार्वजनिक नैतिकता भी आती है। अतः वर्गीय चरित्र का अनुमापन आर्थिक-सामाजिक भूमि से संक्रमित होकर नैतिक-सांस्कृतिक धरातल पर अभिषेकित हो गया है। अतः माओ ने क्रांति को शाश्वत चरित्र, तथा वर्ग-संघर्ष को निरन्तर विकास प्रदान किया है। कुछ पूर्ववर्ती मार्क्सवादी प्रस्थापनाओं में संस्कृति को किसी वर्ग का भोला-भाला और अवचेतन स्राव माना जाता था। आज वही संस्कृति सोची-समझी तथा सचेतन प्रतिबद्धता साबित हुई है। अतः "आज चीन में वर्ग-संघर्ष वस्तुतः बुराई के खिलाफ़ संघर्ष है। दूसरे शब्दों में, वर्ग मनुष्य के बाहर तथा इर्द-गिर्द न होकर उसके अभ्यंतर में है। यह वह शाश्वत पैशाचिक प्रलोभन है जिससे मनुष्य को चिरन्तन लड़ाई लड़नी है।"[2] अतः अगर लेनिन ने अपने विश्लेषण को **'सामाजार्थिक रूपायन'** (Ekonomische Gesellschhafts formation) की मार्क्सीय धारणा से समारम्भ किया तो माओ ने 'सामाजासांस्कृतिक रूपायन' की अनिवार्यता से। केन्द्र का यह बंकिम मोड़ आगे भी चीन तथा रूस जैसे भूतपूर्व पिछड़े देशों में कृषि-क्रान्ति तथा कृषि-संस्कृति की कई पहेलियाँ सुलझा सकेगा। सांस्कृतिक क्रांति का लक्ष्य "कृषक चीन—मानवीयतया अक्षत और संश्लिष्ट, भोले और निष्कलंक चीन—को गँवारू तथा कारीगर समाज से एक टैक्नोलॉजिकल समाज में इस ढंग से छलांग लगवाना है कि वह कम्युनिज़्म के अपरिहार्य निम्न-बुर्जुआ-चरण से न गुज़रे। संक्षेप में, किसान को—कृषक समाज के समग्र आदमी को—टैक्नोलॉजिकल स्वतन्त्रता उपलब्ध कराना है। यह एक गरीब, पैबन्दलगे, लगभग दीनहीन किन्तु मानवीय दृष्टि से अक्षत मनुष्य के साथ मिलकर टैक्नोलॉजिकल स्वतंत्रता प्राप्त करना है।...सांस्कृतिक क्रांति की यूतोपिया एक भविष्यवादी वैज्ञानिक उपन्यास की सभ्यता होगी जो किसानों से आबाद रही।"[3] अतएव अनगढ़ गरीबी और दस्तकारी वाले समाज से—निम्न-बुर्जुआ चरण से गुज़रे बिना—सीधे टैक्नोलॉजिकल सभ्यता की विवेकशीलता में आ जाना अब एक यूतोपियन यथार्थता है। वर्गसंघर्ष और सांस्कृतिक संघर्ष की एकता की यह बिल्कुल नई और अद्वितीय मिसाल है।

लेनिन की संस्कृति संबंधी वैज्ञानिक प्रस्थापनाएँ भी बेहद आंदोलक हुई हैं। बहुधा पार्टी की थीसिसों, पार्टी-साहित्य और पार्टी पेम्फलेटों के विशेष प्रबंधन को लेकर उन्होंने **'बड़ी मशीन के एक पुर्जे'** का जो रूपक दिया था

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसको लेकर असंगत विवाद उठाये गए। गोर्की के साथी लेनिन ही ने एक ओर क्रांति और रोमांटिकवाद को, तथा दूसरी ओर समाजवाद और यथार्थवाद को एकत्र करने का एकांशक वा अद्वितीय मॉडल अंकुरित किया था; मोत्मार्ट, वाग्नर और तोल्सतोय जैसे कलाकारों के सांस्कृतिक पैटर्नों को सर्वप्रथम उद्घाटित करके यह स्पष्ट किया था किस तरह एक बूर्ज्वा संस्कृति में **एक** नहीं, बल्कि **दो** संस्कृतियाँ होती हैं; और **क्रांति** के साथ **संस्कृति** को जोड़कर 'सांस्कृतिक क्रांति' का 'आर्केटाइपल' आदर्श भी पेश किया था। लेनिन ने ही यह घोषणा की थी कि समाजवादी राज्य **पूँजीवादी व्यवस्था** में उत्पन्न संस्कृति को मुसल्लम नामंजूर नहीं करता। समाजवादी संस्कृति पूँजीवादी व्यवस्था में पनपे विज्ञान, तकनालॉजी, ज्ञान और कलादि को उस सीमा तक ग्रहण करती है जिस सीमा तक वह **सामूहिकवाद** के लिए खतरा न हो। इसी बिन्दु पर उन्होंने सबसे पहले **ऐतिहासिक** अतीत की सम्पूर्ण सांस्कृतिक विरासत पर महारत हासिल करने की आधुनिक सर्वहारा आवश्यकता को उजागर किया था ताकि **सांस्कृतिक मूढ़ता** से जो युद्ध छेड़ा जाय वह लोगों में वर्ग-संघर्ष की पूरक **सांस्कृतिक क्रांति** की शमा जला दे। द्रष्टा लेनिन ने ही उस यूतोपिया का सही स्वप्न देखा है, जब सभी श्रमिक सर्वहारा जन शनैः-शनैः बौद्धिकों में रूपायित हो सकेंगे। इस तरह लेनिन ने ही सांस्कृतिक क्रांति (वर्ग-संघर्ष) और अन्तर्राष्ट्रीय कामगर (मानवतावाद) की ऐतिहासिक धारणाओं के द्वंद्वैक्य वाले संकेत दिये हैं जिन्हें 'येनान्फोरम में वार्ता' (माओ), 'मानवतावाद तथा वर्ग-चेतना' (लुकाच), 'समाजवाद तथा मनुष्य' (चे गुएवारा) जैसे संलेखों में हजारों फूलों के रूप में पुष्पित किया गया है। यहीं एकतान व्यापार खुलता है।

इस बिंदु से मार्क्सवादी संस्कृति-दर्शन तथा सौंदर्यविज्ञान में कई आंदोलक त्रिज्याएँ निकली हैं। मुक्ति-युद्ध में जूझते हुए समाज के लिए चे गुएवारा कहते हैं कि उसे पूरे-का-पूरा एक महान् शिक्षा-शिविर में बदल दिया जाना चाहिए जहाँ भौतिक प्रोत्साहन का स्थान नैतिक प्रोत्साहन, तथा लाभ का स्थान बलिदान ले ले। अधम गरीबी की अवस्था में केवल शरीर ही कलंकित नहीं होता बल्कि सम्पूर्ण मानसिक जगत् और स्नायुचक्रों की प्रतिक्रिया भी विकृत और कुंठित हो जाती है। दमन तथा संत्रास के विश्वासघाती तथा भ्रष्ट एवं स्वार्थांध वातावरण में आदर्शवादी मूर्ख प्रतीत होने लगते हैं, मूल्य पाखंड के पर्याय हो जाते हैं, मुखौटों के बीच असलियत की पहचान नामुमकिन हो जाती है और पतन के सामंतीय-पूँजीवादी संस्कार छद्म मनोविज्ञान में ढलकर अवसरवादी **अनुभववाद** बन जाते हैं। अतः ऐसे पर्यावरण में सौन्दर्यबोध के सिद्धांतों तथा उससे ज्यादा सौंदर्यभाव के बोध पर असर होता है। यहाँ ही तो अनुभव के अतिक्रमण (Transcendence of experience) की समस्या उठती है। यह मार्क्सवादी **स्थिति-अतिक्रमण'** (de passement) है। इसका सारत्व अमल, व्यवहार अभ्यास (प्राक्सिस) में घनीभूत है। प्रेक्सिस तो द्वंद्वात्मक आवश्यकता का उद्घाटन करता है जब विविध उपलब्ध संभावनाओं के बीच में से एक व्यक्ति अपने निजी स्वभाव का **स्वतन्त्र चुनाव** करता है। यह चुनाव ही अनुभव का अतिक्रमण कराता है, चेतना को सामाजिक चेतना में तबदील करता है, अनुकृति को कलाकृति में रूपांतरित करता है और श्रम का रचना में कायान्तरण कर देता है। अतः मार्क्सवादी 'चाहिए'-पन (ought-ness) नैतिक कर्तव्य से भिन्न एक सौन्दर्यसामाजिक अन्तर्वर्ग (केटेगरी) है क्योंकि यह मानवीय अस्तित्व की तात्त्विक संभावना है। यह गैर-यूतोपियन है और यह सौन्दर्यनैतिक है। संपूर्ण मानवीय अस्तित्व को प्रभावित करने वाला 'परिवर्तन' तो ऐसा गुणात्मक परिवर्तन है जो समस्त व्यवस्था को ही बदल दे। ऐसा गुणात्मक परिवर्तन ही स्वतन्त्र हो सकता है। ऐसा गुणात्मक परिवर्तन ही मानवीय विमुक्ति ला सकता है अर्थात् मानवीय गुणबोधकता (सेंसिबिलिटी) एवं संवेदन-शीलता (सेंसिटिविटी) की विमुक्ति! हर्बर्ट मार्क्यूस कहते हैं कि स्थापित समाजों की संवृद्धि तथा उन्नति के साथ भी तो मानवीय अस्तित्व की असहनीय दशाओं को परिवर्तित किया जा सकता है (अर्थात् यहाँ मूल व्यवस्था नहीं बदलती) किन्तु यह तो मात्रात्मक परिवर्तन है। भारत में पेट-भराऊ सूखी रोटी और साँसचलाऊ रोज़गारी ही जीवन योग्य मानवीय दशा पैदा कर देती है। यह गुणात्मक **परिवर्तन** तो अवश्य है, लेकिन **स्वतंत्रता** नहीं है। नई स्वतन्त्रता **नई आवश्यकताओं** तथा **नई संतुष्टियों** के द्वारा प्रतिफलित होती है। पूंजीवादी समाज की आवश्यकताएँ वैयक्तिक, आक्रामक और दमनकारी हैं। इसकी संतुष्टियाँ भी बेशर्म उपभोक्तावाद (कंज़ूमरिज़्म) पर टिकी हैं—इफ़रात

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का उपभोग तथा ऐश व मजे का छिछला भोग ! अतः मार्क्यूस के अनुसार इस समाज में दमन के लिए अनेक संस्थाएँ और विधियाँ हैं जो मनुष्य का चेतन तथा अवचेतन दोनों ही नियन्त्रित करती हैं क्योंकि वे वास्तविक आवश्यकताओं की तृप्ति करती हैं तथा सम्भावित आवश्यकताओं पर शासन करती हैं। अतः विप्लवी सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता का दमन केवल चेतन के नियन्त्रण द्वारा ही नहीं होता, बल्कि अवचेतन के संचालन द्वारा भी होता है। अतः स्थापित समाज में भौतिक और सांस्कृतिक आवश्यकताओं की जो तुष्टि होती है वह भी व्यवस्था की जरूरतों तथा हितों के मुताबिक ही होती है, अर्थात् अति उत्पादन—अति लाभ—अति उपभोग के त्रिकोण के अन्तर्गत ! 'आवश्यक' की सीमा मानवीय है, किन्तु 'अतिशय' अमानवीय है। गरीब आवश्यक के बिना **पदावनत** होते हैं और उसे पाकर मानवीय हो जाते हैं। अमीर अतिशय के कारण **अमानुषिक** होते हैं। अतः अगर अमीरों तथा उनकी अतिशयता का विलयन हो जाय तो गरीब मानवीय हो जाते हैं। अतः सामाजिक अग्रगमन उपभोग (कंज़म्पशन) के द्वारा अर्थात् मुनाफ़ों (अमेरिका) और समृद्धि (सोवियत संघ) के द्वारा न आकर तकनीकी तथा मानवीय दक्षताओं से आता है, जब 'आवश्यक' तो प्रदान किया ही जाता है तथा 'अतिरिक्त' वर्जित हो जाता है। 'अतिरिक्त' लाभ और शोषण का, तथा भोग और विलास का हेतु है। अतिरिक्त ही अमेरिका के अतिसमृद्ध समाज को युद्ध निष्ठ समाज में बदल चुका है। वह युद्ध-निष्ठ समाज दुनिया के सभी कोनों में विमुक्ति के खिलाफ़ लड़ता है तथा आतंक और गुलामी फैलाता है। अतिरिक्त में उत्पादन और विनाश की एकता है। अतिरिक्त के बजाय आवश्यक से जुड़ने की प्रक्रिया मनुष्य और तकनालाजी के सम्बन्धों की सांस्कृतिक छानबीन भी तो है। अतः बिना अति उत्पादन के भी तकनालाजिकल उन्नति हो सकती है, बिना निम्न-बुर्जुआ संस्कृति के दौर के भी गरीब आदमी तकनालाजिकल स्वतन्त्रता पा सकता है। अतः आत्मनिर्भर प्राक्सिस की द्वंद्वात्मक आवश्यकता हमें विमुक्त कर सकती है; अर्थात् गरीबी और उन्नति की एकता कायम की जा सकती है, दस्तकारी और न्यूक्लियर तकनालाजी के स्तर मिलाये जा सकते हैं। कितनी सही और वास्तविक यूतोपिया है यह ! यह सांस्कृतिक क्रान्ति द्वारा यथार्थ बना दी गई है।

अतएव सांस्कृतिक क्रांति उस पूंजीवादी तख्त को उलट देती है जो मनुष्य तथा वस्तुओं को पहले तो एक ही सतह पर रखता है, उसके बाद वस्तुओं को मनुष्य से ज्यादा महत्त्वपूर्ण तथा उससे स्वाधीन बना देता है। फलतः एक रेफ्रिजेरेटर एक सोहणे बच्चे से ज्यादा प्यारा हो जाता है, दहेज एक युवा नारी से ज्यादा प्रभावशाली हो जाता है, कपड़े-गहने निश्छल सौंदर्य से ज्यादा गुणवान हो जाते हैं। इस तरह उपभोग का मायाजाल हमारी मानवीय चेतना और नैतिक दायित्व का पूर्णतः दमन कर डालता है। अतः उपभोग—विशुद्ध उपभोग—में केवल अतिरिक्त लाभ और स्वार्थ रहता है जो बेहद व्यक्तिवादी, बेहद अराजनैतिक, बेहद अमानवीयकृत और बेहद निर्दय है। बहुणी उपभोक्तावाद से हमारी लड़ाई का सीधा मतलब दलन-दमन की संस्थाओं एवं प्रणालियों का उन्मूलन करना है अर्थात् दासता से विमुक्ति है, अर्थात् संस्कृति-उपभोक्ता [फिल्म, टेलिविजन, रंगीन पत्रिकाएँ, रेडियो सेट, पाकेट बुक, आदि] से संस्कृति-भोक्ता बनना है। अमीरों के अतिरिक्त को विसर्जित करने पर गरीबी का आवश्यक रह जाता है। ऐसी **गरीबी** में स्वभावतः **शुचिता** का समावेश है। अतः आज की दुनिया में (चीन और वियतनाम और क्यूबा की तरह) गरीबी एवं शुचिता की अस्मिता ही मनुष्य की नार्मल दशा होनी चाहिए। यही उस दमन के उच्छेदन का समसामयिक मार्ग है जो हमारे अस्तित्व की गहराई वाले सामन्तीय-पूंजीवादी संस्कार में धँस गया है, क्योंकि पुरानी आवश्यकताओं तथा पुरानी तुष्टियों ने हममें दमनकारी समाज का एक आभ्यंतरिक पुनरुत्पादन भी कर डाला है। दमन के सातत्य को कैसे रोका जाए ? दमन की संस्थाओं तथा पद्धतियों ने हमारे भारतीय समाज में अमीरों के द्वारा गरीबों का शोषण, अतिरिक्त के द्वारा आवश्यक का भ्रष्टाचार फैलाया है। इसलिए हम अपने दैनिक जीवन में रोज़ ही बड़े-बड़े आतंक और अन्याय, लूट और लिप्सा, शोषण और नीचता देखते अथवा भोगते हैं किन्तु सामूहिक सूत्र का गायागान नहीं हो पाता। अतः गरीबी और शुचिता की मैत्री के बजाय अमीरी और भ्रष्टाचार की मैत्री ही चहुँव्यापी है। इसका एक कारण हमारी सामन्तीय संस्कृति में त्रासदी का निषेध तथा इतिहासबोध की अनुपस्थिति रही है। किन्तु अपने वर्तमान में कुछ दूजी बात भी है। राजनैतिक आजादी के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाद आर्थिक गुलामी के शोषणपंजे मज़बूती से फैलाने के लिए सत्ताधारी वर्ग तथा मोनोपली-बुर्जुआ-वर्गों ने साधारण एवं मध्यवर्गीय लोगों का शनैः-शनैः—देशभक्ति तथा दहशत का छद्म इस्तेमाल करके—**"अवराजनैतिकीकरण"** कर डाला। अतः सन् पैंसठ तक जनता बिलकुल उदासीन, बुद्धिजीवी बेहद अहंपूजक, तथा राजनैतिक पार्टियाँ बेहद अवसरवादी हो चुकी थीं। संस्थाओं एवं पद्धतियों द्वारा दमन-दलन ने मानवीय चेतना और सामाजिक यथार्थता को अनेक मिथकीय भ्रान्तियों में जकड़ डाला। हम यही देखते हैं कि आधुनिक व्यवस्था के सुपरिगठन की प्राथमिक एवं तात्त्विक शक्ति **राजनीति** है जो दैनिक है। इसलिए सुपरि-गठन में **विचारधारा** (ideology) को केन्द्रीय धुरी मिली है। इसी प्रकार नींवाधार की बुनियादी शक्ति **अर्थरचना** है। कोई भी नया फेनामेना या सांस्कृतिक पैटर्न राजनीति से तटस्थ होकर अराजक एवं निरर्थक हो जाता है। अतः सामूहिक तथा सांस्कृतिक चेतना को खत्म करने के लिए अवराजनैतिकीकरण कर दो, और उसे जाग्रत करने के लिए **'भ्रुवान्तीकरण'** कर दो!! जनचित्त तो आज संस्कृति के राजनैतिक दर्शन वाले रूप से ही आन्दोलित हो सकता है क्योंकि राजनैतिक गुटबाज़ी और कूटनैतिक तिकड़म के आगे कानून और व्यवस्था, कला और धर्म तो निचली कोटि के अनुत्पादक प्रकार्य हैं। इसी तरह दूसरी प्रक्रिया मंडी-बाज़ार की चली—**'अवसांस्कृतीकरण'** की। संस्कृति के क्षेत्र में फिल्में, कामुक अफ़साने, जासूसी उपन्यास और पश्चिमी उपभोक्तावाद ने हमें निज-संस्कृति-विहीन बना डाला।

इसलिए अब मौन बहुसंख्यक अवराजनैतिकीकृत तथा अवसांस्कृतिकीकृत हैं। अतः वे मात्र तत्काल में जिन्दा हैं। वे अभी भी सामाजिक परिवर्तन तथा वैचारिक क्रान्ति में प्रतिबद्ध सहभागी बनने के योग्य ही नहीं रहे। यह भयानक बात सुपरिगठन के धरातल पर घटी है।

नींवाधार के धरातल पर स्वार्थ और शोषण, लाभ और उपभोग, सम्पत्ति और सत्ता के परिवेश में गरीब पदावनत हुए तथा श्रीमन्त अमानवीय बने। उक्त परिवेश की पद्धतियाँ ही ऐसी हैं कि व्यक्तिवाद और गैर-राजनैतिकीकरण के उन्मेष के साथ-साथ **'अमानवीयकरण'** भी होता है अर्थात् सामान्य सामाजिक संबंध और विमुक्तिकारक सौन्दर्य-सांस्कृतिक चेतना का उच्छेदन होने लगता है। अतः यहाँ सामान्य मनोविज्ञान और सामाजिक जीवन ही निरर्थक एवं अराजक हो जाता है। अतः जीवन पर अधोमुखी और निकृष्ट पक्ष का आतंक गालिब हो जाता है।' इंसान पर आतंक, संत्रास, अत्याचार, नृशंसता, अकेलेपन, आत्म-निर्वासन, पशुता, कायरता आदि की अंधी कुज्झटिका छा जाती है। इसके सहवर्तन में ही आदमी का **'पाशविकीकरण'** भी होता जाता है। पाशविकीकरण में प्रेम का स्थान घृणा, दया का स्थान जुल्म, सत्य का स्थान नृशंस शक्ति, सौंदर्य का स्थान लालसा, नैतिकता का स्थान एब्सर्ड उच्छृंखलता ले लेती है। अतः आजकल पुलिस अफसर, या डाक्टर या घनी भौंहों वाले नेता, या निरंकुश बुद्धिजीवी या नगरसेठ झट् से पलक मारते अथवा फट् से चुटकी बजाते ही किसी की हत्या अथवा बर्बादी कर सकते हैं। कुछ छोटी-सी बातें हैं जो दो माहों में पंजाब के हमारे छोटे-से शहर जालंधर में घटीं। पहले एक नक्सली क्रान्तिकारी युवक दयासिंह को पुलिस ने रात में सरहिन्द नहर पर लेजाकर गोली से उड़ा दिया और रात-भर गीदड़ों द्वारा लाश को खाने के लिए छोड़कर डाकू के मुठभेड़ में मारे जाने की सरकारी घोषणा की। एक दूसरी वारदात में एक बस-ड्राइवर सोहनसिंह पर इतने अत्याचार किये गए कि वह मर गया। पोस्टमार्टम की रिपोर्ट से पता चला कि (सेक्स प्रतिद्वन्द्विता के कारण) पुलिस ने लाठियों से उसके अंडकोश कुचल डाले थे, गुदा से डंडा ठूँसा था जिससे गुर्दा (किडनी) फट गया। एक तीसरी घटना के अनुसार एक युवा कवि अवतारसिंह 'पाश' को डकैती और हत्या के मामलों में गिरफ्तार किया गया है। आजकल ऐसी अनेक खबरें सुनाई पड़ रही हैं जिनमें किसी-न-किसी बहाने विद्रोही युवा गिरफ्तार किए जा रहे हैं। पहले की राजभक्त तथा आज की देशभक्त भारतीय पुलिस के लिए तो भगतसिंह और चन्द्रशेखर आजाद, डाकू मानसिंह और ठग नटवरलाल, दयासिंह और ड्राइवर सोहन सिंह, सभी एक तरह के मुज़रिम हैं। यह प्रशासन के अवराजनैतिकीकरण का वेदांती उदाहरण है। अतः इस दमन और घुटन से विमुक्ति कैसे हो? हमारे मानवीय अस्तित्व की गहराइयों में धँसे इस दमन और आतंक से हम कैसे विमुक्त हों?? हम क्या करें??? उफ़···!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हाँ, पाशविकीकरण और अवराजनैतिकीकरण के केंद्रों से ही बलिदानपूर्ण मानवीयकरण तथा क्रांतिकारी ध्रुवीकरण का महान् पुनर्जन्म भी होता है ! दमन और आतंक के इस नैरंतर्य से हमारा पहला विच्छेद ही चेतना के साथ हमारा पहला अनुप्रवेश भी है ! और, यह एक दीर्घकालिक आत्मसंघर्ष भी है ! !

अत: व्यवस्था के अंतर्गत ही जो प्रतिवादी शक्तियाँ आविर्भूत हो रही हैं, केवल वे ही हमारी मानवीय विमुक्ति कर सकती हैं। इन शक्तियों से जुड़ने की समस्या **'स्थिति के अतिक्रमण'** (depassement) की समस्या है। यदि **अनुभव** का अतिक्रमण हमें निर्वैयक्तिक बनाता है और **समाज** का अतिक्रमण हमें नया बनाता है, तो **वर्तमान** का अतिक्रमण हमें भविष्य से जोड़ता है। अत: 'मानवीय संवेदनशीलता और गुणबोधकता की विमुक्ति निजी नहीं है; बल्कि वह मानवीय अस्तित्व तथा उसके पर्यावरण का रूपांतर करने वाली एक शक्ति है।'[४]

इसलिए 'विमुक्ति-बोध' का तात्पर्य मानवीय सृजनात्मकता एवं चेतनता की अस्मिता है। और इसलिए 'कला' (सुपरिगठन का एक अप्रधान रूप) **संपूर्ण** मानवीय अस्तित्व तथा सत्व के लिए आवश्यक है, क्योंकि यह नई आवश्यकताओं एवं संवेदनशील तृप्तियों के द्वारा हमें विमुक्त करती है। यह निश्चय है कि दासता अथवा विमुक्ति के लिए कला और मनोविज्ञान सामाजिक दृष्टि से अनिवार्य साधन बने रहेंगे। यह भी तय है कि आज कला ऐतिहासिक परिवर्तन का कमंक नहीं हो सकती। (सुपरिगठन के अंतर्गत मध्य काल में यह कार्य **धर्म** ने किया था; आज **राजनीति** करती है)। किन्तु आज भी कला सुपरिगठन की एक मानवीय ईंट है; आज भी मानवीय संवेदनशीलता के विकास का प्रतिबिंब है और आज भी यह संस्कृति का सुंदर कमल तथा विचारधारा की भावोच्छल अंतर्धारा है। अत: कला की आवश्यकता ही हमें वह स्वतंत्रता देती है जो एक विमुक्त तथा श्रेष्ठतर मानवीय अस्तित्व को प्राप्त करे; जो उत्पादन-शक्तियों के साथ-साथ सृजनात्मक कल्पना द्वारा समाज का निर्माण भी कर सके। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि तकनीक और कला, कार्य और क्रीड़ा, उत्पादन और रचना आदि किसी एक ऐसे बिंदु पर अभिमुख हो सकती हैं जहाँ इनके विभेद विसर्जित होने लगें। यह तभी वास्तविक हो सकता है जब कला एक ओर तो संस्कृति तथा विचारधारा (सुपरिगठन) का आवश्यक सहखंड बने; दूसरी ओर पूंजीवादी शोषण और मुनाफाखोरी के हुक्मों से बरी हो जाये तथा तीसरी ओर एक साथ (सहवर्ती) तकनीक और क्रीड़ा हो जाए ! यही विमुक्त मनुष्य के लिए कला की आवश्यकता होगी ! ! इस तरह विमुक्ति में कला (सौन्दर्य) और कौशल (टैकनोलॉजी) का समभाग कायम हो सकेगा। समाज और प्रकृति के अंतर्गत मनुष्यों तथा वस्तुओं की छिपी क्षमताओं के उद्घाटन से कला टैकनोलॉजी के समीप जा सकती है, तथा टैकनोलॉजी क्रीड़ा भी बन सकती है। अत: नये समाज को एक कलाकृत्य रूप में भी देखा जा सकता है (मार्क्यूज़)। हर्बर्ट मार्क्यूज़ की इस धारणा के समानांतर ज्योर्जी लुकाश् ने कहा है कि 'संपूर्ण मनुष्य' ही 'मनुष्य की सपूर्णता' में शनै:-शनै: रूपांतरित होता जाता है। अत वे अरिस्तोतलीय कैथार्सिस के डायोनीशियन वृत्त के असमान मार्क्सीय वृत्त के 'अपोलोकैथार्सिस' की प्रस्थापना करते हैं। इस भाँति अंततोगत्वा 'पार्टी मशीन का पुर्जा' बनने वाली पैम्फलैट-लेखन की कला की सीमित एवं सही धारणा की गलत व्याख्या समाप्त होती है और कला सांस्कृतिक क्रांति का एक दीपक तथा एक दर्पण बनकर अभिषेकित होती है जिसके द्वारा मनुष्य वर्ग तथा समाज के दमनों से विमुक्त होने की तैयारी कर सकता है। अत: समाज का टैकनोलॉजिकल एवं सौंदर्यात्त्विक पुनर्निर्माण सहवर्ती ढंग से हो सकता है अगर पूंजीवादी निर्धन न्यूनता तथा समृद्ध अतिरिक्तता, शोषण और मुनाफे से विमुक्त हुआ जाय।

और, इसके लिए वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था का समूल उच्छेदन ही पहली तथा महत्तम शर्त है ताकि पूर्ण गुणात्मक परिवर्तन हो।

इसके लिए विकलांग मनोवृत्तियों तथा जीर्ण-शीर्ण चेतना का भंजन करना ही होगा। इसके लिए नई, अतिक्रांत तथा प्रतिद्वंद्वी मूल्यों के प्रति संवेदना तथा जागरूकता को उन्मीलित करना ही होगा। इसका अर्थ यह है कि पहले मर्यादित विचार की कीमत ली जाती थी। अब विद्रोही विचार की कीमत त्याग और बलिदान, क्रांति और त्रासदी से अनिवार्यत: चुकानी पड़ेगी। अत: अब विचार और भावना विलास और विनोद न होकर, अभ्यास तथा आचरण की कसौटी पर, द्वंद्वात्मक आवश्यकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कला के संस्कृति और विचारधारा का अंग होने का, कला के दर्पण और दीपक होने का, अस्त्र और अलंकार होने का मार्क्सीय आदर्श यही है। अतः सामाजिक शिल्प में कला एक दैश्वक ईंट है : नींवाधार के सुपरिगठन की एक कल्पनाधर्मी मूर्त ईंट !!

नींवाधार-सुपरिगठन के इस विराट् रूपक में न तो कोई बिंब-प्रतिबिंब न्याय वाला संबंध है (अर्थात् सुपरिगठन अकेला बिंब नहीं है); और न ही बीज-फूल वाला विकास-वाद है; बल्कि इसमें अंतर्विरोध भी है जिसकी अभिव्यक्ति 'स्वतः गतिवाद' (auto-dynamism) द्वारा होती है। मार्क्स की इस घुरीण धारणा को लेनिन ने विकसित करके बताया कि 'प्रक्रिया' में छलाँग भी लग जाती है तो सूत्रभंग भी हो जाता है। सुपरिगठन अगर भौतिक तथा विचार-धारात्मक झीना आवरण उढ़ाता है तो उसे अनावरण करने वाला द्रष्टा भी होता है। सुपरिगठन ही मनुष्य की समस्या तथा सौंदर्यबोधात्मक यथार्थता की समस्या उठाता है। सुपरि-गठन के द्वारा ही मनुष्य वर्तमान तथा तात्कालिक अनुभव का अतिक्रमण करता है। सुपरिगठन ही विप्लवी सामाजिक परिवर्तन की अंतर्मुखी आवश्यकता की छटपटाहट को ज्ञान-गोचरीभूत करता है। सुपरिगठन ही चेतना तथा सृजनात्मकता को विमुक्त करता है।

नींवाधार इतना प्रत्यक्ष और सरल नहीं होता। सुपरि-गठन ज्यादा प्रतीत और प्रत्यक्ष होता है। अतः अर्थतत्त्व छिपा होता है; और राजनीति तत्त्व में छद्म एवं कला रूपों में फांतासी छा जाती है। जिस तरह विशिष्ट सामा-जार्थिक चरणों में उत्पादन-संबंध प्रमुख होते हैं उसी तरह विशिष्ट ऐतिहासिक नींवाधार के अंतर्गत सुपरिगठन में भी उसके किसी एक अंग की व्यापकता तथा प्रमुखता हो जाती है। मध्यकाल में यह भूमिका धर्म की थी तो आज विज्ञान की। किन्तु सुपरिगठन में लोक जीवन की सामाजिक चेतना की प्राथमिक अभिव्यक्ति राजनीति ही है। कभी-कभी तो यह भ्रांति छा जाती है कि मध्यकाल में नींवाधार-सुपरिगठन दोनों में धर्म का प्रभुत्व है और आधुनिक युग में दोनों में अर्थ का अधिकार है। सुपरिगठन में उसके किसी एक रूप के प्रभुत्व के कारण विज्ञान, नीति, कानून, दर्शन आदि में उसी एक ही विषयवस्तु का नाना रूपों में अप्रत्यक्ष प्रक्षेपण हो जाया करता है। मध्यकाल में मानों धर्मतत्त्व ही कला, विज्ञान, मनोविज्ञान, दर्शन, अर्थशास्त्र, नीति, कानून आदि के विविध रूपों में मुखर हो उठा था। इस स्थिति पर मार्क्स-वादी संस्कृति-विज्ञान को बारीकी से ग़ौर करना होगा क्योंकि राष्ट्रीय इतिहास तथा सांस्कृतिक परंपरा में यह चुनौती और पहेली है। ऐसी अवस्था का मतलब यह हो सकता है कि सामाजिक चेतना में थोड़ी-बहुत उथल-पुथल नज़र आ रही थी, किन्तु मूलरूपेण नींवाधार के उत्पादन-संबंध अचल रहे। अतः सांस्कृतिक अंगड़ाई सामाजिक क्रांति में छन नहीं पायी और गहराई से प्रभावित नहीं कर पायी क्योंकि मनुष्य का संपूर्ण अस्तित्व एक पक्षीय हो गया है अर्थात् संपूर्ण अस्तित्व का संपूर्ण पक्षों में प्रसार नहीं हुआ जिससे नई आव-श्यकताएँ तथा नवीन संवेदनाएं उद्भूत नहीं हो पाईं। इसलिए यथार्थता का प्रत्यक्षीकरण यथासंभव (यथावत् के बजाय) का अतिक्रमण करके फांतासी हो गया। फलतः विचार (आइडिया) एक मूर्त भौतिक शक्ति के बजाय मिथ्या फान्तासी (की शक्ति) में रूपांतरित हो गया। अतएव समकालीन यथार्थता अद्भुत और विद्रूप, उदात्त और भोंडी, का द्वंद्वचित्र होकर भी आती है।

एक स्थिति और भी है। विशिष्ट सामाजार्थिक आकृति-बंध के अंतर्गत सुपरिगठन के ही आपसी अंगों के बीच पूरक मैत्री अथवा अविरोधी (non-antagonistic) अंतर हो जाते हैं। पहले कला और कानून के बीच अन्तर था (कवि निरंकुश था तथा काव्य व्याकरण बहिर्भूत था) तो आज कला और राजनीति के बीच यह हालत है। यहाँ माध्यम का स्वभाव भी असर डालता है, किन्तु वर्गों के आपसी अंतर्विरोधों का प्रभाव भी प्रकट होता है। कवि तथा वर्ग के विश्वदृष्टि-कोण (वर्ल्ड-व्यू) की देन भी हैं, ऐसे अविरोधी अंतर्विरोध !

ये अंतर्विरोध जब किसी प्रमुख संस्कृति रूप (धर्म या राजनीति) के कुरुक्षेत्र में सक्रिय होते हैं तब वे घटनाओं तथा कलाकृतियों, दोनों के स्वरूपों एवं शैलियों की संरचना भी करते हैं। भक्तिकालीन महाकाव्य एवं लीलापद, भक्ति-उपासना (मधुर या मर्यादावादी) एवं कृषक-विद्रोह (छत्र-पति शिवाजी और गुरु गोबिंदसिंह) आदि ऐसे विपरीत प्रतीयमान घटक हैं, जिनके सारसत्व एक हैं। अतः हमें मार्क्सवादी कलाशास्त्र एवं संस्कृति-विज्ञान में कला और धर्म की सम्बन्धता के साथ साथ राजनीति और दर्शन के अंतर्वर्गों (केटेगरीज़) को भी जोड़ना ही होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम इससे कैसे इन्कार कर सकते हैं कि एक ही सम्पूर्ण यथार्थता के पुनरुत्पादन अथवा प्रतिबिंब सुपरिगठन के अनेक रूपों में—भिन्न-भिन्न माध्यमों से गुज़रने पर— भिन्न-भिन्न पड़ेंगे। हम कहें चुके हैं कि यह संज्ञान और अभिज्ञान की समस्या है। यह दोहरी प्रक्रिया है। यदि एक ओर मनुष्य पर बाहरी दुनिया का प्रभाव पड़ता है तो दूसरी ओर बाहरी दुनिया पर मनुष्य का प्रभाव भी पड़ता है। यह दूसरा प्रभाव मनुष्य की व्यावहारिक क्रियात्मकता (प्रेक्टिकल ऐक्टिविटी) है। इसलिए एक ही यथार्थता का प्रतिबिंब राजनीतिशास्त्र और काव्य पर, दर्शन और मनोविज्ञान पर भिन्न-भिन्न पड़ेगा। अतः ये कई प्रतिबिंब मिलकर ही सामाजिक यथार्थता एवं मानवीय दशा की समग्रता रचते हैं। अतः मार्क्सवादी सौंदर्यदर्शन को सम्पूर्ण सामाजिक यथार्थता तथा ऐस्थेटिक यथार्थता की अस्मिता (आइडेंटिटी) ढूंढनी ही पड़ती है। यह भी ध्यातव्य है कि यथार्थता का राजनैतिक प्रतिबिंब कलात्मक प्रतिबिंब से ऊँचा हो सकता है; अथवा उसका दार्शनिक प्रतिबिंब नैतिक प्रतिबिंब से श्रेष्ठतर हो सकता है। यह गुणात्मक तुलना है। इसलिए सौंदर्यबोध एवं कला में मार्क्सवाद ऐन्द्रियिक प्रतिबिंब से आगे उन विवेकशील निर्णयों का हाशिया भी जोड़ता है जो विश्व के बहिर्भूत कर्मठ रूप हैं। अतः भारतीय संस्कृति का 'आधुनिकताबोध' इतना अधिक अमूर्त एवं एकांगी हो गया है कि वह दर्शन तथा विज्ञान, अर्थशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र के आधुनिकता-प्रत्ययों से संगति नहीं जोड़ सका। स्वयं कार्लमार्क्स ने कला एवं सौंदर्यशास्त्र के लिए प्रत्यक्षीकरण की दो दृष्टियों का अनुमोदन किया था। फरवरी, १८४८ की फ्रांसीसी क्रांति की बाबत किताबों पर तफ़सिरा करते हुए, घटनाओं एवं इंसानों के चित्रण की सच्चाई के बारे में, उन्होंने लिखा था: "यथार्थता में रैफेलवादी सौंदर्यदृष्टि का परित्याग और रेम्ब्राँवादी सौंदर्यदृष्टि का ग्रहण किया जाए।" उनका आशय यह था कि रैफेलवादी सौंदर्यदृष्टि में सभी चित्रात्मक सच्चाई गायब हो जाती है क्योंकि उसमें शान-शौकत और आवश्यक वस्तुओं की अलंकृति का अंकन होता है जिससे वास्तविक स्वरूप प्रायः लुप्त हो जाता है। लेकिन रेम्ब्राँवादी सौंदर्यदृष्टि अपने चटकीले रंगों में घटनाओं और घटनापूर्ण लोगों का अंकन करके, अनावश्यक सजावट का परित्याग करती हुई, 'सजीव' मानवीय गुण झलका देती है।[५] इस अछूती और अनूठी दिशादृष्टि का परिवर्धन तथा संस्कार होना अभी शेष है। इसके ज़रिये कला-इतिहास में रुचि (टेस्ट) एवं शैली (स्टाइल) की द्वंद्वात्मक संबंधता भी ढूंढ़ी जा सकती है।

इसी के साथ एक पहलू और भी अनछुआ-सा रह गया है। जिस तरह यथार्थता से मनुष्य के राजनीतिक या दार्शनिक सम्बन्ध भिन्न-भिन्न होते हैं, उसी तरह सौंदर्यतात्त्विक सम्बन्ध भी विलक्षण होते हैं। यूं सौंदर्यतात्त्विक सम्बन्ध ज्यादा आदिम हैं। प्राचीन मिस्र, ग्रीस, या चीन या भारत में इन सम्बन्धों में स्पष्ट अन्तर तथा आकृतिबंध वाला ऐक्य भी मिलेगा। इस दृष्टि से हमें लोकतात्त्विक मिथकों, परी-कथाओं तथा निजंधरों आदि का अनुशीलन करना होगा ताकि मानवीय अतर्लोक समझा जा सके। इस दृष्टि से जार्ज थाम्पसन ने प्राचीन यूनानी समाज का, तथा देवराज चन्नण, आर० एस० शर्मा, डी० डी० कोसाम्बी आदि ने प्राचीन भारतीय समाज का अध्ययन करके आंदोलक हाशिये उद्घाटित किये हैं। कबीलों के विघटित होने की स्थिति में धार्मिक मिथकों तथा परी-कथाओं में काफ़ी वैषम्य (कट्रास्ट) था। कुलों (क्लान) की परम्परा कायम होने पर मिथकों तथा निजंधरों (लीजेण्ड्स) के बीच भेद करना मुश्किल हो गया; तथा आरम्भिक वर्गों के रच-रचाव की कुछ परिस्थितियों में निजंधर और इतिहास के अन्तर धुंधले हुए। अतएव यथार्थता के 'कलात्मक बिंबों' के मार्क्सीय अध्ययन की अनेकानेक दिशाएँ खुलना अभी भी शेष हैं।

उपरली बहस में शुरू से लेकर आखिर तक एक महासूत्र समस्याओं का निवारक बनकर खुलता हुआ मिल सकता है। वह है, पद्धति की समस्या का! इस क्षेत्र में सत्य की प्राप्ति तथा मूल्य की खोज 'उपागम' (एप्रोच) तथा 'पद्धति' (मेथड) के द्वारा ही हो सकती है। पद्धति की समस्या मार्क्सीय विज्ञान में व्यवहार या अमल (praxis) की समस्या बनकर उभरी है। इसे सार्त्र ने मूलतः स्थिति के अतिक्रमण (de passement) से संलग्न किया है। पद्धति की समस्या कलाकृति में रूप एवं विषयवस्तु का, समाजदर्शनों में सिद्धांत (थियौरी) एवं अमल (प्रेक्टिस) का, राजनीति में क्रांति एवं जड़ता का, किसी विचार में दर्शन एवं विज्ञान का संघर्षी सामंजस्य उपस्थित करती है। इसी समस्या को अंगीकृत करने के कारण मार्क्सवादी फिलासफी भी है तथा आइडियोलाजी भी; विज्ञान भी है तथा समाजविज्ञान भी; सिद्धांत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भीहै तथा अमल भी। इतनी विविधता तथा समग्रता का असली कारण यह है कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद समाज एवं प्रकृति के पृथक् अंगों या खण्डों के बजाय **सम्पूर्ण** पर अधिष्ठित है। अतः वह एक सिद्धांत के बजाय कई सिद्धांतों का महापुंज है जो हमारे समाज की सभी गतिविधियों तथा क्रियाओं की, द्वंद्वात्मक भौतिकवादी पद्धति से व्याख्या करके आगामी गति एवं दिशा का निर्देश भी करता है। यह एक द्वंद्वात्मक कानून है कि 'सम्पूर्ण' (अंशी) हमेशा 'अंशों' या खण्डों के कुल जोड़ से **अतिरिक्त** भी होता है। इसीलिए अपनी समाज-व्यवस्था के विराट् या समग्र सत्यों की उपलब्धि उसके विभिन्न अंशों एवं पक्षों के पृथक्-पृथक्, नन्हें-नन्हें सत्यों से कतई नहीं हो सकती। उसके लिए आधुनिक युग के एक विराट् प्रमुख दर्शन की ज़रूरत है। केवल मार्क्सवाद-लेनिनवाद ही ऐसा विराट् तथा प्रमुख दर्शन और विज्ञान है जिसका एक सम्पूर्ण पद्धतिशास्त्र (मेथडालाजी) तथा विश्व दृष्टिकोण है।

पद्धति में दृष्टिकोण या उपागम (एप्रोच) की महत्ता है। यही परिणाम की यथार्थता और सत्यता, प्रामाणिकता और निश्चयता को तय करता है। अतः **दृष्टिकोण** एवं **पद्धति** मार्क्सवादी संस्कृति-विज्ञान तथा सौंदर्यदर्शन की दो आजानुबाँहें हैं। **पद्धति की समस्या** ही तो बैलगाड़ी और अपोलो-११ की तकनालाजी की, हथकरघे और कम्प्यूटर के संचालन की, अलंकार और व्याकरण की समस्याओं के रूप ग्रहण करती है। यह समस्या नृत्य में मुद्रा की, काव्य में रीति की, नाट्य में अभिनय की, तथा साहित्य में रूप की समस्या है। अतः जब तक किसी एक उपागम का आधार नहीं होता, तब तक पद्धति का मौलिक तथा सिद्ध प्रयोग या नियमन नहीं हो सकता। जब तक उपागम के साथ विश्व-दृष्टिकोण नहीं जुड़ता तब तक कर्म या कृति सार्थक, उपयोगी और जीवितम् नहीं बन पाती। पद्धति व दृष्टिकोण के द्वारा ही—**क्रीड़ा** (खेलकूद) तथा **लीला** (दैवी भ्रामक क्रीड़ा), **रचना** (मानवीय सहज क्रिया) तथा **श्रम** (उत्पादन क्रिया) आदि को तात्त्विक सम्बन्ध के, एवं एक मानवीय चेतना के, एक सूत्र में गूँथा जा सकता है। ये माध्यमों तथा विधियों के जरिये बदलते हुए एक **विषय** के प्रतिरूप हैं। यथार्थता को कलाकृति में किस तरह से प्रतिबिंबित एवं प्रतिप्रस्तुत किया जाय, यह कलाकार के उपागम एवं दृष्टिकोण की, तथा माध्यम को ढालने वाली पद्धति की समस्या है। इसीलिए कला में पद्धति एक सिद्धांत (एप्रोच, आउटलुक, वर्ल्डव्यू, प्वाइण्ट ऑफ़ व्यू) है।··· रोमान्तिकता या यथार्थता एक बिंदु पर आकर पद्धति भी बन जाती हैं, यद्यपि वे सिद्धांत भी हैं।

प्रत्येक **कलात्मक पद्धति** का अपना एक **संदर्शन** (विज़न) होता है और वह पद्धति अपनी **भाषा** की भी तलाश करती है। पद्धति द्वारा मानवीय व्यवहार तथा कलासामग्री के परिष्कार का भी एक **अभिज्ञान** होता है। किन्तु मार्क्सवादी सौंदर्यदर्शन में पद्धति को भी गुरुगम्भीर बनाने की जो कठमुल्ला आदत डाली गई है उससे फार्म (रूप) तथा संरचना (स्ट्रक्चर) को अपार क्षति हुई है। हम एक ही प्रमेय (आब्जेक्ट) अथवा संघटना (फेनामेना) को यथार्थवादी विवरण, अथवा रोमांतिक भावावेग, अथवा आधुनिक बौद्धिकता की दृष्टि से पेश कर सकते हैं। अतः एक ही विषयवस्तु में दृष्टिकोण एवं पद्धति की भिन्नता रूप-शैली की भिन्नता में परिलक्षित होती है।

किन्तु पद्धति को केवल रीतिपरक कौशलों एवं कुशलताओं में ही नहीं जकड़ा जा सकता। पद्धति तो यथार्थता के प्रत्यक्षीकरण से नई आवश्यकताओं को संबद्ध करने की अनवरत चेष्टा है। अतः यह संयोग (चांस) के अपवाद के बजाय चयन (च्वाइस) के विवेक को प्रमुखता देती है। अतः पद्धति एक अमूर्त आदर्श (आइडियल) का मूर्त प्रारूप (मॉडल) में कायाकल्प (मेटामार्फोसिस) करती है। उपर्युक्त बातों को नज़रंदाज़ करके कभी मार्क्सवादी सौंदर्यदर्शन में केवल इसी प्रस्थापना का बोलबाला रहा था कि **विषयवस्तु** (कान्टेन्ट) ही **रूप** (फार्म) का निर्धारण करती है तथा रूप उस पर नितांत आश्रित है। किन्तु यहाँ इनकी 'संघर्ष-में-एकता' की अवस्था को विच्छिन्न करके बिंब-प्रतिबिंबवाद में पनाह ली जाती है जिससे एक ओर तो कलारचना का बाहरी रूप ऊबड़खाबड़ होता रहा है तथा दूसरी ओर आंतरिक कथ्य भी नारों एवं अमूर्त टाइपों में प्रभावहीन होता रहा है। केवल यही नहीं हुआ। अवसर रूप की उपेक्षा की गई क्योंकि **दृष्टिकोण-पद्धति के सातत्य** में से पद्धति को अलग-थलग कर डाला गया। आवेश के एक क्षण में रचा गया प्रगीत; कौशलसिद्धि के दस वर्षों में चित्रित किया गया लियोनार्दो-द-विंची कृत 'ईसा का प्रीतिभोज'; कई पीढ़ियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक कई हज़ार हाथों द्वारा निर्मित किया गया खजुराहो का मंदिर-मंडल; शताब्दियों से पुनरावृत्त तथा प्रचुर किया गया भरतनाट्यम् अथवा मणिपुरी रास का रूप—इन सबमें एक एकान्तिक व्यक्ति से लेकर कारीगरों के एक या कई समूहों का, एक क्षण से लेकर एक युग का, तथा एक नितांत स्वयंप्रकाश्य पद्धति से लेकर एक विराट् तकनालाजी का समावेश होता है। अतएव हमें एक और सूत्र मिलता है: **पद्धति** और **संरचना** (स्ट्रक्चर) के आपसी संबंध भी माध्यम की नई प्राकृतिक गुणात्मक शक्तियों का अन्वेषण करते हैं। इस क्षेत्र में मार्क्सीय संरचनावाद लेवी स्ट्रास-सम्मत संरचनावाद से ज्यादा संवर्द्धित है। पहले तो दृष्टिकोण में **प्रवृत्त्यात्मकता** (टेंडेन्शियसनेस) के प्रकट रूप को इतना तूल दिया जाता रहा कि घटना, चरित्र, वातावरण आदि सभी नीरस तथा यांत्रिक बन गए। इसलिए "सैकड़ों फूलों को फूलने दो" का रूपक कला में, तथा "हजारों चिंतनों को तर्कवितर्क करने दो" का रूपक विज्ञान में लागू करने की चेष्टा हुई। किन्तु इसे भी छोड़ दिया गया। अतः **प्रवृत्त्यात्मकता** और **विलक्षणता** की एकता कैसे की जाय, कैसे प्रवृत्त्यात्मकता का अप्रत्यक्ष ढंग से परिपाचन किया जाय, आदि मार्क्सवादी सौंदर्य विज्ञान की समस्याएँ हैं जो आत्माभिव्यंजना एवं प्रोपेगंडा के विरोधी कांट्रेडिक्शन को उच्चतर विचारधारात्मक धरातल पर समाप्त नहीं कर पाई हैं, बल्कि उल्टे स्वयं उलझती गई हैं। मुमकिन है कि इसकी एक वजह यह भी हो कि कई कलाकार सिद्धान्त रूप में तो सजे-धजे होते हैं किन्तु मानवीय व्यवहार की दृष्टि से बिल्कुल छिछले तथा अपने ही सिद्धान्त के प्रतिरोधी (भले ही अवचेतन ढंग से हों) निकलते हैं। अतः वे जीवन के सत्यों तथा कला के वैचारिक सत्यों की मैत्री नहीं कर पाते। अतः इस अभ्यासी धरातल से ही उनके संज्ञान तथा अभिज्ञान के धुंधले तथा संधे होने की शुरुआत होती है। सार्त्र ने अपनी एक पुस्तक **'दि प्राब्लेम आफ़ मेथड'** में इस समस्या को उठाया है। यद्यपि हम उनके दृष्टिकोण से अनेक तरह से असहमत हैं, फिर भी उन्होंने एक 'सम्पूर्ण' का परिदृश्य (पर्स्पेक्टिव) दिया है। सुशाने लैंगर ने मिथकरचनात्मक दृष्टिकोण से विषयवस्तु को अनुभूति (फीलिंग) से, तथा रूप को अनुभूति के बिंब (इमेज) से प्रतिपादित करके 'अनुभूति—रूप की एकता' स्थापित की है जिससे कलाकृति का एक (अर्नस्ट कैसीरर सम्मत) **'प्रतीकात्मक रूप'** (सिम्बालिक फार्म) में अभिषेक हुआ। इस स्थापना से दूर तक सहमत होकर आगे बहुत-कुछ हासिल किया जा सकता है।

रूप तथा विषयवस्तु की एकता में अन्य कई अन्तर्विरोध हैं। वस्तु (आब्जेक्ट) ही **रूप** के उत्पादन का निमित्त होता है। अतः अगर **रूप** के विचार को प्लेटोनिक ढंग से **एक परिपूर्ण रूप** में ढालने की भ्रान्ति पर विश्वास कर लिया जाए तो वस्तु **समय** से बहिर्भूत हो जाती है। तब रूप समय का अतिक्रमण कर सकता है। इस खतरनाक प्रस्थापना में ही रूढ़िवाद छिपा है। काल और रूप के ये सम्बन्ध अनुकृति में चुकते-चुकते कृति को ही तहस-नहस कर डालते हैं। आवृत्ति और अनुकृति का नतीजा नीरसता, एकरसता, स्तब्धता, निष्क्रियता होते-होते अन्ततोगत्वा निरर्थकता और अराजकता होता है जो अन्त में सृजनात्मकता को प्रतिक्रियावादी बना डालता है। अतः निरन्तरता को चिरन्तनता की भ्रान्ति में बदल दिया जाता है। इतिहास में स्वर्णयुग की अथवा कला में कालजयी कृति की धारणाओं की संगति अगर यथार्थता के साथ नहीं बैठाई गई तो वह पारलौकिकता से संलग्न होकर पुनः इतिहास के बाहर हो जाती हैं। इतिहास के बाहर की इस अचलता की लम्बी भारतीय यंत्रणा, आतंक, अव्यवस्था और अन्धता को हम भोग ही रहे हैं! यह तो इतिहास की अनुपस्थिति के बोध की कल्पवल्ली है: रूढ़िवाद तथा प्रतिक्रियावाद के पारिजातों से खिली हुई!!

रूप एवं विषयवस्तु की एक दूजी विचित्रता तब प्रकट होती है जब इन दोनों के बीच एकता के बजाय अस्मिता (आइडेंटिटी) मंजूर की जाए। यह उपरली पहेली का ही एक दूसरा हाशिया है। यह रोमांटिक सौंदर्यदृष्टि का दोष है जिसके मुताबिक अमूर्त तथा अनुभूत भाव—माध्यम की प्रकृति तथा सीमा तथा अनुशासन पर पूर्णविधेन दिग्विजय पाकर— हूबहू, कोरमकोर, अपरिवर्तनीय अर्थात् अपने मूल-रूप में मूर्त तथा अभिव्यक्त हो सकता है। इसी तरह क्लासिकल दृष्टि का भी दोष है जिसके अनुसार रूप के अनुशासन तथा नैपुण्य के समानुपात से कोई मामूली भाव भी बिल्कुल बदलकर श्रेष्ठ बनाया जा सकता है।

लेकिन रूप-विषयवस्तु की एकता का एक गूढ़ द्वंद्वात्मक अन्तर तब उद्घाटित होता है जब मुक्तिबोध प्रसाद की **'कामायनी'** में वर्णित तंत्रसाधना, शैवानन्दवादी मोक्ष आदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से खुल्लमखुल्ला असहमत होकर—'सहृदयत्व' का निषेध करके—तन्मयीभवन को चुनौती देते हैं, तथा उन्हें कलात्मक कमज़ोरियाँ बताते हैं। यहाँ वे एक प्रतिबद्ध पाठक के रूप में कवि की प्रत्यक्ष दार्शनिक प्रतिबद्धता (कमिटमेंट) को—कलात्मकता के ही नाम पर अस्वीकारते हैं। स्पष्ट है कि यहाँ कला-इतिहास में रुचि (टेस्ट) के बजाय चिन्तन (थाट) पर आग्रह हुआ है।

इसी क्रान्तदर्शी परिस्थिति की व्याख्या की लम्बी प्रतीक्षा थी। बर्टोल्ट ब्रेष्ट ने इसे **'परकीयकरण-प्रभावन'** (ऐलियेनेशन इफेक्ट) की संज्ञा दी। इस तरह मध्यकालीन **'साधारणीकरण'** और सहृदय आशंसक की धारणा को खंड-खंड करती हुई **'परकीयकरण'** और प्रतिबद्ध आशंसक की मार्क्सीय धारणा के जन्म ने भरत से लेकर जगन्नाथ तक के, और अरस्तू से लेकर रिचार्ड्स तक के सौंदर्यचक्रों की धुरी तोड़ दी। यह एक महत्तम सौंदर्यबोधात्मक क्रान्ति है।

ब्रेष्ट के अनुसार जब गोएथे और शिलर यह मानते हैं कि प्रकृति के सौंदर्य तथा कला के सौंदर्य में एकता है तो वे गलत हैं, क्योंकि इनके बीच स्पष्ट अन्तर्विरोध है। अतः कलाकृति के संदर्शन और प्रदर्शन के बीच कलाकार और श्रोता, अथवा नाटककार और दर्शक के बीच भी **एकता** [सहृदयत्व (अभिनवगुप्त), निर्वैयक्तिकता (कांट), निर्लिप्तता (क्रोचे)] के बजाय **अन्तर** होता है। इसी तरह पात्रों तथा दर्शकों की विचारधाराएँ भी विभिन्न हैं क्योंकि कला की जन्मभूमि तो सुपरिगठन की विचारधारा का पालना है। अतः कला में रूप-वस्तु के बीच ही नहीं, कलाकार-आशंसक के बीच भी एकताभेद के उभयात्मक द्वन्द्व चलते हैं। अतः कलाशंसा में आशंसक को समाधिस्थ न होकर पार्टिसिपेट करना है। मूलतः विभिन्न सामाजिक समूहों के बीच कला की आशंसा की असली स्थिति यही है अर्थात् आशंसक समाधिस्थ न होकर सक्रिय सहभागी है और मनोविकारातीत **'सहृदय'** न होकर एक प्रतिबद्ध **'असहमत'** है। अतः वह **साधारणीकरण-भावन** के बजाय **परकीयकरण-प्रभावन** के वृत्त में बँधता है। इस तरह यहाँ (सहृदयाह्लाद एवं तदाकारत्व के बजाय) बौद्धिक चिंतना तथा वर्गीय विभेद है। आगे तो ब्रेष्ट ने यह प्रस्थापना भी की कि श्रेष्ठ महाकाव्यों एवं नाटकों का केवल भावलोक ही नहीं होता, बल्कि उनका सामाजसांस्कृतिक तथा सामाजराजनैतिक चरित्र भी होता है। अतः केवल कुछ परिगणित भावों (त्रास एवं करुणा) तक ही सीमित रहकर आधुनिक मनुष्य अरिस्तोतेलीय 'कैथार्सिस' द्वारा उपचारित हो ही नहीं सकता। उसका मनोसौंदर्यात्मक निदान तो 'परकीयकरण-भावन' द्वारा ही हो सकेगा। परकीयकरण में केवल **तदनुभूति** (empathy) ही नहीं होती बल्कि **विस्मय** (astonishment) भी होता है जो तदाकारत्व के बजाय परत्व एवं दूरत्व वाली ऐलियेनेशन की प्रक्रिया को संचारित करता है। अतः परकीयकरण-प्रभावन द्वारा तात्कालिक यथास्थिति से 'असंबद्ध' (dissociate) हुआ जाता है। यह **'अतिक्रमण'** (transcendence) की प्राथमिक अवस्था भी है।

अब पुनः एक नई पहेली खुलती है : प्रतिबद्ध चिंतनभेद के रहते हुए भी सहमति की। अगर वैष्णव हज़ारी प्रसाद द्विवेदी कम्युनिस्ट शोलोखोव कृत 'धीरे बहो दोन, रे!' की मार्क्सवादी दुनिया की प्रशंसा करें; अथवा मार्क्सवादी नामवरसिंह वारिसशाह की 'हीर' में सूफ़ी करुणा की आशंसा करें; अथवा ज्योर्ज़ी लुकाश रैफेल की 'मैडोन्ना' अथवा एल ग्रिको कृत 'ईसा को सूली' जैसे चित्रों की अनुशंसा करें तो रूप-वस्तु के अन्तर एक विलक्षण गहराई में खुलते हैं। यहाँ दो स्थितियाँ हैं। पहली स्थिति में 'सत्य' की समस्या है। कृतियों के कलात्मक सत्यों से आशंसक असहमत हैं; तथापि वे उनकी आशंसा करते हैं। ज़ाहिर है कि यहाँ कृति के कलात्मक सत्य पाठकों की नज़रों में निजी 'तथ्य' अथवा पूर्वाग्रही 'यथार्थ' होकर ही प्रस्तुत होंगे। अतः पाठक कलाकार के शैल्पिक कौशल की, अथवा अभिव्यक्ति की ईमानदारी की आशंसा कर रहे होते हैं। तथापि जब आशंसक और कलाकार के घोषित विश्वास भिन्न-भिन्न हों, और तब भी पाठक कृति के कलात्मक सत्यों की भी प्रशंसा करें, तब कहीं-न-कहीं वे पाठकगण रूप से संबद्ध होकर स्वयं को विषयवस्तु से भरसक असंपृक्त कर रहे हैं। यह तब होता है जब एक भावयित्र कलाकार की हैसियत से पाठक कृति के कारयित्र कलाकार से हृदयसंवाद करने की **मिथ्याचेतना** के प्रभामंडल में चमत्कृत हो जाता है। तब वह अमूर्तीकरण (एब्सट्रैक्शन) के द्वारा कलाकार की अनुभूति से तादात्म्य करने को उद्धत होता है। इसीलिए भट्टनायक ने एक निष्ठावान पाठक को पार्वती-शिव की संभोग-क्रीड़ा चित्रित करने वाले महाकवि कालिदास से तदाकृत तो कराया है; किन्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमूर्तीकरणों अर्थात् मात्र कान्ताभाव एवं मात्र रति के द्वारा। अतः स्पष्ट है कि यद्यपि पाठक कलाकृति की **'विशिष्टता'** (पर्टीकुलेरिटी) में तल्लीन है तथापि वह उसके **सामान्य** प्रकथनों का खंडनात्मक विश्लेषण नहीं कर रहा है। यह सत्य के प्रति पाठक के औसत कलात्मक एप्रोच का नमूना है जहाँ वह कृति के सत्यों तथा अपने दार्शनिक सत्यों की तुलना नहीं करता; बल्कि 'विशिष्ट' कृति के कलात्मक सत्यों के अवगुंठनों को स्वाभ्यास से अनावृत्त करता हुआ वैश्वक मानवीय संवेदना तथा सामाजिक यथार्थता की वास्तविक भूमि पर आता है। ये स्थितियाँ **'कला के इतिहास'** में यथार्थता के 'ऐतिहासिक रूपों' तथा कृति के 'प्रतीकात्मक रूपों' के बीच रुचि एवं निर्णय की समस्याएँ उठाती हैं। इसीलिए हम कला के इतिहास में विश्वदृष्टिकोण के आधार पर ही भिन्न-भिन्न युगों में, अथवा भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों से, मूल्यांकन करते हैं। इस मूल्यांकन-चक्र में हम 'रुचि के इतिहास' तथा 'ज्ञान के इतिहास' को भी गूंथकर एक सम्पूर्ण सौंदर्यदर्शन एवं सौंदर्यविज्ञान का पैटर्न प्राप्त कर लेते हैं। इसलिए **पद्धति** और दृष्टिकोण और संरचना के मार्क्सीय भेद-प्रभेद विकसित होते चले जाना चाहिए।

ऐतिहासिक नींवाधार-सुपरिगठन की द्वंद्वात्मक **एकता** के पूर्व अगर कोई ऐसा चरण रहा हो जब समाजव्यवस्था में इन दोनों का अंतर पृथक् न हो पाया हो, तब उसके संदर्भ में मनुष्य और समाज के, श्रम और सृजन के, व्यक्ति और समूह के आश्चर्यजनक संबंधों का उन्मीलन होगा। मार्क्सवाद-लेनिनवाद ने इस सांस्कृतिक नृतत्त्वशास्त्र का भी उद्घाटन किया है।

ऊपर की स्थिति श्रम-विभाजन के पहले अवश्य ही प्राक्-इतिहास में थी। इस क्षेत्र में मार्क्सवादी पद्धतिशास्त्र ने **मनुष्य की समस्या** को उठाया है तथा यहाँ उसकी अद्वितीय उपलब्धियाँ आर्थिक से ज्यादा सौंदर्यतात्त्विक हैं।

उस आदिम अवस्था में मानवता का शैशव था और मनुष्य की जैविक इन्द्रियों को शनैः-शनैः मानव स्वभाववर्ती बनाया जा रहा था। उस समय मानवीय सत्ता का वैभव अधिसंचित (एकुमुलेट) हो रहा था। उस चरण में (स्पष्ट श्रम-विभाजन न होने के कारण) यदि एक ओर 'मनुष्य' **प्राकृतिक** था, तो दूसरी ओर 'श्रम' भी **सामूहिक एवं सामान्य** था। अतः उस व्यवस्था में मनुष्य 'सामूहिक' था (समाजवादी नहीं); और 'प्राकृतिक' भी। उस सुपरिगठन-नींवाधार की अभेदक अवस्था में वह अपनी आत्म-क्रियात्मकता को प्रकृति में प्रतिबिंबित करता था। अतः वह आत्म-निर्वासित (सेल्फ-ऐलियेनेटेड) भी नहीं था। उस चरण में मनुष्य की मूल-प्रवृत्ति अधिग्रहणपरक (एक्विजीटिव) नहीं थी; बल्कि सृजनात्मक तथा सहयोगात्मक थी। उस चरण में मनुष्य का अपने पर्यावरण के साथ सौंदर्यबोधात्मक एवं रहस्यविस्मयात्मक सामंजस्य था। अतएव ऐसे आदिम समाजों में मनुष्य का प्रत्यक्षीकरण ही **मिथकवित्वपूर्ण** (माइथो-पोइक) था। उसमें आर्थिक एवं सौंदर्यतात्त्विक, सौंदर्यतात्त्विक एवं जादुई, जादुई एवं कर्मकांडी, कर्मकांडी एवं सौंदर्यतात्त्विक क्रियात्मकताएँ अन्तर्ग्रथित थीं। उन समाजों में अर्थतत्त्व (मूलाधार) तथा सौंदर्यतत्त्व (सुपरिगठन) की केन्द्रीय अस्मिता थी। यह श्रमविभाजन के पूर्ववर्ती संपूर्ण मानवीय अस्तित्व तथा संपूर्ण मानवीय सत्ता की उस सामूहिक विमुक्ति की प्रोमेथियन गाथा है जब कला ही विमुक्ति थी। विमुक्ति—चेतनता तथा सृजनात्मकता के अर्थ में!

अतः उन समाजों में कला का संबंध मानवीय गर्भाधान से भी था तो खेतों की प्रजनन-उर्वरता से भी; बर्तन सजाने से भी था और गुफा खोदने से भी। अतः सौंदर्यबोधात्मक और आर्थिक और संस्कारित—तीनों एक थे। तकनीक और कला एकैक थी। समाज और व्यक्ति एक थे। समाज और कलाकृति एक थी। तब कला का तथा मनुष्य का सुपरिगठन से अलगाव अथवा नींवाधार से अंतर्विरोध नहीं था। तब कला नींवाधार तथा सुपरिगठन, दोनों का एक समान अंग थी अर्थात् भौतिक शक्ति विचारों को जगाती थी तथा विचार भौतिक शक्ति होते थे। इसलिए कला के उद्गम में मार्क्सवादी सौंदर्यविज्ञान श्रम तथा कर्मकांड, कर्म तथा रचना, कार्य तथा चिंतन की द्वंद्वात्मक भूमिका प्रस्तुत करता है। इसीलिए कला को हमेशा **अन्य** विचारधारात्मक रूपों से गूंथे रहता है।

अतएव मार्क्सवादी सौंदर्यविज्ञान में पद्धति की यह शाश्वत समस्या आज भी मौजूद है कि आर्थिक घटकों तथा सुपरिगठन के प्रमुख स्वरूपों से कला की वसी आदिम एकता को किस भाँति उपलब्ध किया जाय! किन्तु आज इतिहास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के विकास में—सुपरिगठन के आविर्भाव के साथ-साथ—कला और अर्थतत्त्व की 'अस्मिता' का दर्जा 'अंतर्विरोध' ने ले लिया है। अलबत्ता आदिम समाजों की परिस्थितियों में कला तथा कामतत्त्व की अस्मिता (फ्रायडवाद), कला और जादू या कर्मकाण्ड की अस्मिता (कैसीरर) आदि की स्थापनाएँ भी हुई हैं। लेकिन कला तथा श्रम (लेबर) की अस्मिता (मार्क्सवाद-लेनिनवाद) ही एक विश्वैतिहासिक संदर्शन रूप में व्यापक तौर पर प्रमाणित हुई है।···श्रम के कारण कला और तकनीक का, वर्ग और वर्ग का, नींवाधार और सुपरिगठन का जो विभाजन हुआ है उसने अस्तित्व (being) तथा भाविता (becoming), अस्मिता (identity) तथा आत्म-परकीयकरण (self-alienation) की समस्याएँ भी पैदा की हैं।

आधुनिक समाजों में **आत्म-परकीयकरण** या **आत्म-निर्वासन** की समस्या जबर्दस्त है। हमारे लेख में यह अंतिम समस्या है। मार्क्सवादी दर्शन तथा विज्ञान में तो इसके धनात्मक तथा ऋणात्मक, दोनों पक्ष लिये गये हैं, लेकिन मार्क्सवादी सौंदर्यदर्शन तथा सौंदर्यविज्ञान में इसे एक निषेध-परक संघटना के रूप में ही बेहद लिया गया है; जबकि उसे एक सृजनात्मक सिद्धांत के रूप में (उर्फ़ as a creative principle के रूप में) बेहद कम उभारा गया है। अतएव आत्म-परकीयकरण (आत्म-निर्वासन) की दशा को एक सृजनात्मक दशा में बदलना भी सबसे महान् समसामयिक चुनौती है।

इसे समझने के लिए दो हाशिये चाहिए। आदिम समाज में कला और अर्थतत्त्व, श्रम और सर्जना की अस्मिता के हाशिये को हम स्पष्ट कर चुके हैं। अस्मिताओं में अंतर विकसित होने पर परकीयकरण का आविर्भाव होने लगता है।

दूसरे हाशिये के लिए हमें पहले नवयुवक श्री कार्ल मार्क्स की कलाकार-विषयक धारणा परखनी होगी। उनके मानस में सोफोक्लीज़, यूरीपिडस और ईस्किलस जैसे यूनानी नाटककारों; होमर, दान्ते और गोइथे जैसे महाकवियों; शेक्सपियर और शिलर जैसे रंगमंच-कर्मियों; तथा लियोनार्दो, रैफेल और रेम्ब्राँ जैसे चित्रकारों के क्लासिक एवं रिनैसाँधर्मी नायक-बिंब थे। अतः उन्होंने प्रत्येक कलाकार को एक 'संपूर्ण मनुष्य' के रूप में ही प्रतिरूपित किया है। उनका यह संपूर्ण मनुष्य ही उनके संपूर्ण 'सामाजार्थिक रूपायन' (सोशियो-इकोनामिक फार्मेशन) की धारणा से संबद्ध हुआ है।

आदिम साम्यवादी अवस्था में उन्होंने प्रत्येक मनुष्य को 'कलाकार' और 'श्रमिक' पाया था। अतः उन्होंने **'प्रत्येक मनुष्य एक कलाकार, तथा प्रत्येक कलाकार एक संपूर्ण मनुष्य, तथा प्रत्येक संपूर्ण मनुष्य एक श्रमिक कलाकार'** के त्रिभुज की संरचना की। इसके द्वारा उन्होंने कलात्मक, सृजनात्मक तथा आर्थिक उत्पादकता के बीच सामंजस्य की यूटोपिया रची जिसे चे और सार्त्र और मार्क्यूस ने संभावना की कैटेगरी सिद्ध किया।

इस तरह प्रागैतिहासिक आदिम समाज और रिनैसाँई संस्कृति की धारणाओं के कांत संयोग से मार्क्स ने एक सर्वज्ञ तथा श्रमिक, संपूर्ण तथा सर्वकर्त्ता कलाकार का मॉडल प्रस्तुत किया। इस प्रारूप (मॉडल) में श्रम तथा सृजन के बीच ऐक्य है। लेकिन इतिहास के चरण में श्रम का विभाजन होते ही पहले तो कलाकार एक **'विशेषज्ञ'** (स्पेशलिस्ट) तथा **'अभ्यासी'** (एक्सपर्ट [कारीगर]) बना। फिर आधुनिक पूंजीवादी आकृतिबंध में एक अमूर्त वस्तु (एब्सट्रैक्ट थिंग) होकर **'आत्म-निर्वासित'** हो गया। इसी उपक्रम में कुछ विशिष्ट एवं अभ्यासी व्यक्ति तो कलाकार हो गये तथा बाकी सारे जनसमूह में कलात्मक क्षमताओं का दमन हो गया। अतएव एक स्तर पर कलाकार एवं कलाकृति के बीच तथा दूसरे स्तर पर कलाकार एवं जनता के बीच परकीय-करण (एलियेनेशन) बढ़ा। यह दुधारी चपेट है।

तो, यह दुहरा आत्म-परकीयकरण है। पहला तो इस-लिए हुआ कि कलाकार सर्वाभ्यासी के बजाय मात्र विशेषज्ञ बन गया। अतः जिस तरह कोई कारीगर मजदूर बनकर अपने कौशल की निजता खोकर फैक्टरी में मात्र एक नीरस कर्म की जीवनपर्यन्त नकलें या आवृत्तियाँ किया करता है, मशीन का गुलाम हो जाता है, अपने श्रम में वैयक्तिक आवेग को खो देता है तथा अंत में मनुष्य के बजाय 'चीज' या माल बन जाता है (सारांश में आत्म-निर्वासित हो जाता है); उसी तरह कलाकार—दूसरे ढंग से कलात्मक कृत्य में —आत्मपरकीय हो जाता है। कलाकार का आत्म-परकीय-करण इसलिए होता है कि मनुष्य तथा प्रकृति के संघ के रूप में, अथवा मनुष्य तथा समाज के सामंजस्य के रूप में, 'व्यवस्था' चकनाचूर हो गई है; कलाकृति रुपयों में निराकृत (एब्सट्रैक्ट) हो गई है; तथा कलाकार निजड़ा और अजनबी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो गया है। अंततोगत्वा वह केवल एक अकेले अजनबी 'विशेषज्ञ' में संकुचित हो गया है। हमारे अधिकांश कला-कर्मी तो कला को मनोरुचि (हॉबी) से ज्यादा दर्जा देने की शक्ति एवं सम्भावना तक खो चुके हैं। शेष जनसमूह में भी उसकी आर्केटाइपल कलात्मक क्षमताओं का दमन हो गया है क्योंकि गरीबी और शुचिता के स्थान पर गरीबी और भ्रष्टाचार की एकता हो चुकी है, तथा दमन की संस्थाओं एवं पद्धतियों ने नई मानवीय दिशाओं को कुचल डाला है। फलतः आत्म-परकीयकरण के साथ-साथ एक ओर **अव-मानवीयकरण** (डि-ह्यूमेनाइज़ेशन) तथा **अव-वैयक्तीकरण** (डि-पर्सनलाइज़ेशन) की दशाएँ जुड़ी हैं तो दूसरी ओर **पाशविकीकरण** (ब्रूटलाइज़ेशन), **अव-राजनैतिकीकरण** (डि-पोलिटिकलाइज़ेशन), दासता (सर्वीच्यूड), इफ़रात (सुपरफ्लुअस) तथा छिछले (सुपरफ़ीशियल) की स्थितियाँ फैली हैं। अतः आत्म-परकीयकरण की दशा में मनुष्य ने स्वयं को, तथा प्रकृति एवं समाज को रूपांतरित करने की स्वतंत्रता खोकर गुलामी की बेड़ियाँ पहन लीं। आत्म-परकीयकरण गुलामी की वह दशा है जब मनुष्य कार्य की प्रक्रिया (प्रोसेस) तथा श्रम की प्रपत्ति (प्रोडक्ट) दोनों पर से अपना अधिकार तथा अनुराग खो देता है। तदनुसार कलाकार भी कला-माध्यमों की पद्धति तथा कला की विषयवस्तु के विवेकशील निष्कर्षों (मूल्यों) का अपना संज्ञान तथा अभिज्ञान खो देता है। इन्हें खोकर वह फूहड़ता (एब्सर्डिटी) तथा अविवेकशीलता (इर्रेशनलिटी) की अंधी दुनिया में अकेला निरर्थक सिसीफसियन कर्म करता हुआ संत्रास (हॉरर) तथा व्यथा (सफ़रिंग) भोगता है। जिस तरह परकीयकरण या निर्वासन की भौतिक अभिव्यक्ति में आर्थिक शोषण की प्रक्रिया है, उसी तरह उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति में सामाजिक चेतना के ऐतिहासिक प्रत्यक्षीकरण का विलयन है। आज कलाकार एक विशेषज्ञ बन गया है, तथा कलाकृति एक बाज़ारू माल (कमोडिटी)। इसलिए कलाकार कब, क्यों और कैसे पुनः विशेषज्ञ से सर्वज्ञ या सम्पूर्ण हो सकता है अर्थात् सुपरिगठन की व्यापकता को यथाशक्ति पुनः प्राप्त कर सकता है और कलाकृति को कलात्मक मूल्यों की अमूल्यता से मंडित कर सकता है, तथा अपनी खोई स्वतंत्रता एवं विवेकशीलता को दुबारा प्राप्त कर सकता है—इनका उत्तर भी आत्म-परकीयकरण की दशा में ही अंतर्निहित है। अतः आत्म-परकीयकरण परिवर्तन का 'आंतरिक कारण' है। आत्म-परकीयकरण की दशा में दमन जितना गहरा और अतिरिक्त होता है अर्थात् आत्म-यंत्रणा जितनी तीव्र होती है, उतना ही प्रबल संघर्ष होता है अर्थात् आत्म-संघर्ष होता है। दमन-संघर्ष के इस द्वंद्व से क्रांति अथवा सृजन द्वारा एक उच्चतर स्तर पर कृति अथवा कार्य की कल्प-रचना होती है। अतः संघर्ष से विच्छुरित किया गया आत्म-परकीयकरण **नेतिकरण** की डायलेक्टिक्स है। परन्तु संघर्ष से जुड़कर यह **स्वतन्त्रता** की डायलेक्टिक्स में रूपांतरित हो जाता है।

जब आत्म-परकीयकरण की **मानवीय बंधकता** (ह्यूमन बान्डेज़) यह चेतना व्युत्पन्न करती है कि यह अवस्था शाश्वत न होकर **अन-ऐतिहासिक** (अन-हिस्टोरिकल) और **अ-प्राकृतिक** (अन-नेचुरल) है और यह बदली भी जा सकती है, तब आत्म-परकीयकरण का कायाकल्प हो जाता है अर्थात् वह प्रगति का एक **'गतिशाली एवं रचनाधर्मी सिद्धान्त'** बन जाता है।

यह मार्क्स ने अपने प्रिय कवि ईस्किलस से पाया था कि लम्बे व्यथाभोग (सफ़रिंग) से ही विवेक (विज़डम) प्राप्त होता है। अतः मानवजाति को भी आत्म-परकीयत्व की गहरी सुदीर्घ टीस सहनी होगी। इसके बाद ही वह **विवेक**, तथा स्वयं को विमुक्त करने का **संकल्प** प्राप्त कर सकेगी। इसके लिए उन्होंने सिसिफ़स की फूहड़ता के बजाय प्रोमेथिअस के **विप्लव** को परिलक्षित किया। परवर्ती मार्क्सवादी जीवन-दर्शन तथा कर्मसंघर्ष में **'क्रांति'** और **'उल्लास'** पर इतना प्रबल तथा एकांगी आग्रह हुआ कि वह कृत्रिम तथा असंगत भी लगने लगा। समसामयिक स्थिति में तो **'क्रांति'** और **'त्रासदी'** के हाशियों का भी विराट् सत्य हमें स्वीकार करना ही होगा। यह तो स्वीकार करना ही है कि अब बिना क्रांति के हमारी विमुक्ति तथा उद्धार कदापि नहीं हो सकता, किन्तु यह करुण सत्य भी स्वीकार करना होगा कि क्रान्ति का तो रास्ता ही यातना और आतंक से होकर गुज़रता है। यह **निराशा** की नहीं, अपितु **त्याग-बलिदान** की अनुभूतियाँ हैं। माओ, चे, हो जैसे दार्शनिक कर्मठों के अलावा रेमंड विलियम्स तथा लुई आल्थुज़र ने इस नवीन समसामयिक आयाम का उन्मेष किया है। यह मार्क्सवादी दर्शन के क्षेत्र में बेहद मानवीय और बेहद भावुक संसार को शामिल करने की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राणमुग्ध करने वाली दिशा है।

इस तरह अवमानवीयकरण के प्रति जागरूक एवं सक्रिय होने का संज्ञान, भोग के बजाय बलिदान की चेतना, तथा आत्मयंत्रणा के साथ आत्म-आह्लाद का उन्मेष ही हमारा आगामी **'युवानव' आधुनिकता बोध** होने जा रहा है। मार्क्स की सर्वज्ञ मनुष्य की धारणा को माओ ने सर्वांगीण संस्कृति की क्रान्ति द्वारा विकसित किया। उन्होंने एक ओर लाल (कम्युनिस्ट) तथा विशेषज्ञ की मैत्री कायम की तो दूसरी ओर कवि तथा किसान की। इसी कड़ी में चे गुएवारा ने लाल तथा गुरिल्ला तथा कवि की त्रयी बनाई। अतएव अब नये मनुष्यों की संवेदनशीलता तथा गुणग्राहकता अर्थात् मनोविज्ञान भी नितांत भिन्न है। अतः इनकी सौंदर्यबोधात्मक संचेतना भी भिन्न हो गई है। ये धारणाएँ कई व्यावहारिक प्रारूपों पर टिकी हैं; जैसे, संपूर्ण समाज को एक शिक्षा-स्कूल बना देना (माओ); संपूर्ण समाज का नैतिक पुनर्निर्माण करना (चे); संपूर्ण समाज की कलात्मक पुनर्रचना करना (मार्क्यूज)। समसामयिक नये मनुष्यों के आविर्भाव की ये कुछ साक्षात् यथार्थताएँ हैं।

जिस तरह सामाजार्थिक परिवर्तनों के माध्यम में एक **अकेला मनुष्य एक आर्थिक वर्ग** बन जाता है, उसी तरह कलात्मक माध्यम में **कलाकार** अपनी **पूरी प्रकृति** पहचानता है। यह पहचान तब पूरी होती है जब व्यक्ति का वैचारिक पुनर्जन्म हो, समाज में क्रांति हो, या संस्कृति में नवोद्धार का सूर्य दीप्तिमान हो उठे! अपनी संपूर्ण प्रकृति को पहचानने के लिए कलाकार के सामने भी पद्धति की समस्या पेश होती है। उसका दृष्टिकोण तथा उसके कृतित्व की प्रकृति मिलकर ही उसे अपनी पूरी प्रकृति की पहचान करा सकते हैं।

स्पष्ट है कि कलाकार का सर्वमान्य दृष्टिकोण या एप्रोच **मानवीय बन्धकता से 'मानवीय स्वतंत्रता' की ओर अग्रसर होता है।** और, अब इस अग्रगमन में आत्मनिर्वासन का आत्मसंघर्षी होते चले आना आवश्यक होता जा रहा है। अगर हममें तथा तुममें मानवीय स्वतंत्रता की आवश्यकता ही विलुप्त होती चली जा रही है, अगर हम कुछ सुविधाओं की प्राप्ति को ही गुणात्मक परिवर्तन का भ्रम मान लेते हैं, अगर हम संपूर्ण व्यवस्था के साथ लड़ाई को उद्धत नहीं होते, तो अस्तित्ववादी शून्यता, अंधरूढ़िवादी राष्ट्रवाद अथवा कपटी मानवतावाद स्थापित व्यवस्था के द्वारा—संस्थाओं तथा पद्धतियों के द्वारा—हमारे चेतन तथा अवचेतन, दोनों को ही नियंत्रित दास बनाए रखेगा। तब आत्म-परकीयकरण मात्र **पाशविकीकरण** की एक शाश्वत दशा बनकर ज्यादा भयानक, आतंककारी और संत्रासपूर्ण होता चला जाएगा। त्रासदी तथा बलिदान की स्वीकृति के बगैर हम समसामयिक उद्धार नहीं पा सकते और मार्क्सवाद-लेनिनवाद के अंतर्गत आत्म-परकीयकरण के भोग को क्रांतिकारी तथा सृजनात्मक नहीं बना सकते। यही हमारी चिरंतन समसामयिकता है।

अतः कलाकार अपनी रचना में अपने विश्वदृष्टिकोण से मंडलाकृत प्रत्यक्षीकरण को जितने गुण या मात्रा में खोता चला जाएगा, अपनी रचनाप्रक्रिया में उद्देश्य और परकीयकरण, विरेचन और संघर्ष आदि को जितना खोता चला जाएगा, उतना ही उसकी कला में अवमानवीयकरण से उद्भूत व्यर्थता-बोध, निरर्थकता-बोध, निष्कासन-बोध, मृत्यु-बोध, फूहड़ता-बोध, संत्रास-बोध, वेदना-बोध आदि छोटे-छोटे विचारधारात्मक बिन्दुओं में थर्राएँगे। ये सभी बोध मिलकर भी क्रांति तथा बलिदान के उन्मेष तक पहुँचने में असमर्थ हैं। यहाँ भी मार्क्सवादी जीवन-दर्शन ही हमें आगे ले जा रहा है। हमारे विश्व के लोकयुद्ध तथा गुरिल्लायुद्ध इसके ज्वलंत महान् प्रमाण हैं।

अतएव **आत्म-निर्वासन** की दशा से—संघर्ष एवं उल्लास के ज़रिये—**आत्म-पुनर्वास** (सेल्फ-एसर्शन) अर्थात् 'आत्म' की पुनर्स्थापना में ही कलाकार और इंसान अपनी सम्पूर्ण प्रकृति को स्वयंसिद्ध कर सकता है।

कभी मार्क्सवादी सौंदर्यबोधशास्त्र ने आत्म-परकीयकरण के बाल-अंकुर रोमांटिसिज़्म से लेकर ही रोपे थे। रोमांतिकवाद में मनुष्य की जो धारणा थी वह एक व्यथा-भोगी प्राणी (सफ़रिंग बीइंग) की थी। 'मनुष्य इसलिए व्यथा भोगता है क्योंकि वह संवेदनशील है; और संवेदनशील होने के कारण ही मनुष्य आवेशशील (पैशनेट) प्राणी है। आवेश इंसान की वे क्षमताएँ हैं जो लक्ष्य-प्राप्ति के लिये चेष्टारत हैं[६]।' किन्तु अब तक तो इसका वटवृक्ष व्यथा को बलिदान (सेक्रिफ़ाईस) में तथा संघर्ष को क्रांति (के उल्लास) में रूपायित कर चुका है।

अतएव यही शर्त है कि मनुष्य की सृजनात्मकता उन सामाजिक संस्थाओं तथा आवश्यकताओं से अस्मिता कायम करे जो स्थापित समाज-व्यवस्था को बदलने को कटिबद्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा प्रतिबद्ध हैं। व्यवहार तथा अमल की दृष्टि से ज्योर्ज सिमेल की उक्त स्थापना कलाकार को अनुबद्ध (इंगेज्ड) से प्रतिबद्ध (कमिटेड) बनाने की अनिवार्यता बख्शती है। आत्म-परकीयकरण की हताशा (डेस्पेअर) का ही तो आत्म-स्वाग्रह के उल्लास में परिपाक होता है। तदपि इसके लिए सामाजिक चेतना की छलाँग आवश्यक है।

कुछ समाजशास्त्री आत्मपरकीयकरण को संगठन (आर्गनाइज़ेशन) का परिणाम मानते हैं (मेक्स वेबर); तो कुछ इसे कर्मचारीतंत्र (ब्यूरोक्रेटाइज़ेशन) में ही तिरोभूत करते हैं (कार्ल मानहाइम)। किन्तु ये दोनों तो सहयोगी कारण हैं; प्रधान नहीं।

मूलतः आत्म-परकीयकरण की आंतरिक दरिद्रता और शुचिता ही आंतरिक वैभव को जन्म देती हैं ("मैनुस्क्रिप्ट्स : १८४४")। अतः आत्म-वैभव और बाह्य संघर्ष ही अवमानवीयकरण को समाप्त कर डालते हैं।

आत्मवैभव एवं बाह्य संघर्ष में ही 'संपूर्ण मनुष्य' तथा 'मनुष्य की संपूर्णता' (लुकाश्) निहित है। ऐसा निर्माण ही मार्क्सवादी-लेनिनवादी दर्शन तथा विज्ञान की सबसे विराट् तथा विशाल समस्या है—नये मनुष्य का निर्माण! मनुष्य की विमुक्ति!!

समापन के पूर्व समारम्भ, पुनश्च।

अपने सम्पूर्ण दीप्तिमान सूर्य के उगने के पहले छोटे तथा चमकीले दीपक अनिवार्य होते हैं।

ऐसी ही एक घटना हुई डिक्सन (कैलीफोर्निया) में, मई १९७० में; जब नौ वर्ष की एक छात्रा पमेलक्रास ने, स्कूली काम के रूप में, युद्धकारी राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति निक्सन को एक पत्र में लिखा कि "तुम स्कूल, कागज़, किताबों के स्थान पर युद्ध पर इतना धन क्यों खर्च करते हो?; प्रक्षेपणास्त्र वाले विधेयक को तो तुमने स्वीकृति दे दी लेकिन स्कूल-विधेयक को क्यों रोक लिया?; हवा में फैलने वाली गंदगी को रोकने के लिए तुमको कुछ करना चाहिए। अस्पतालों को भी और धन देना चाहिए।" बड़े और चतुर निक्सन ने, उसे जवाब दिया, "तुम अपने स्कूल का काम करो, तथा राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय नीतियों के बारे में निर्णय का काम राष्ट्रपति पर छोड़ दो।"

क्या आप इस उत्तर को धोखा और अंधेर नहीं मानते? क्या स्वयं अमरीकी छात्रशक्ति और युवाशक्ति इससे असहमत नहीं है?? क्या अमरीकी समृद्ध समाज ने एक स्वतन्त्र समाज को अवरुद्ध नहीं कर दिया है?

इसीलिए तो पमेलक्रास इस धरती के कोने-कोने में है। वह मेरी बिटिया है, तुम्हारी बहन है, उसकी दोस्त है, उसकी मरीज़ और उसकी गुड़िया है। वह बड़ी होने पर हिप्पी बन सकती है, अजीथा या निर्मला पंच दी कृष्णामूर्ति हो सकती है, वह एक कामगर युवती या एक सोहनी या नर्तकी हो सकती है, वह सब-कुछ हो सकती है क्योंकि भारत की गरीबी के उपनिवेश में अँधेरे के आतंक को चीरती हुई वह एक छोटा तथा चमकीला दीपक बनने की अनिवार्यता को मंजूर कर चुकी है। वह तो दीप्तिमान सूर्य का स्वागत करने वाली है, मड़ीदा दीवा है!!

पाद-टिप्पणियाँ

१. जोन राबिन्सन : 'दि कल्चरल रिवोल्यूशन इन चाइना', पृ० १५, पेंग्विन, इंगलैंड, १९६९।
२. 'दि रेड बुक एण्ड दि ग्रेट वाल' अलबर्टो मोराविया, पृ० ६०, पैंथर पेपरबैक, लंदन १९६९।
३. वही, पृ० ८०-८२।
४. इर्वेट मार्क्यूज—'लिबरेशन फ्राम दि ऐफ्लुएंट सोसायटी' लेख, पृ० १८४ डेविड कूपर द्वारा संपादित 'दि डायलेक्टिक्स आफ लिबरेशन', पेंग्विन, १९६८।
५. दे० 'कला में प्रत्यक्षीकरण : मार्क्सीय राफेलीकरण और रेम्ब्राँकरण,' पृ० ४७, —रमेश कुन्तल मेघ, 'आलोचना' पूर्णांक अक्तूबर-दिसम्बर, १९७।
६. मार्क्स : 'मेनुस्क्रिप्ट्स : १८४४'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद

सुरेन्द्र चौधरी

यह आकस्मिक नहीं हुआ कि छठे दशक की शुरुआत के साथ अस्तित्ववाद का राजनीतिक अन्तर्विरोध काफी स्पष्ट होकर सामने आ गया। हाइडेगर ने घोषित रूप से अपने दर्शन को 'सद्दर्शन' की संज्ञा देकर इस राजनीतिक अन्तर्विरोध से अपने को मुक्त कर लिया। फ्रांस में १९५२ में सार्त्र ने 'ले तां मोदर्न' में कैम्यू के ऊपर जो आक्षेप किए और उनसे जो विवाद पैदा हुआ वह इसी अन्तर्विरोध का परिणाम था। '६० में कैम्यू की मृत्यु और सार्त्र की नई घोषणा के साथ इस लंबे विवाद का अन्त हो गया। इस विवाद के अन्तिम परिणाम तक पहुँचने की यात्रा में कई पड़ाव थे। वस्तुतः इस संपूर्ण विवाद की पृष्ठभूमि उस विरोध में थी जिसमें व्यवहार और नैतिकता के सवाल को अन्तिम रूप में ये लेखक-दार्शनिक हल करना चाहते थे। साँजुपेरी और कैम्यू की मृत्यु, हाइडेगर की तटस्थता और सार्त्र की निर्णयात्मक घोषणा ने इस सवाल को स्वतः अन्तिम परिणाम की ओर पहुँचा दिया। यह अन्तिम परिणाम था अस्तित्ववादी दर्शन का समापन।

शुद्ध दार्शनिक स्तर पर फोन रिन्टेलीन और हाइडेगर का विवाद जर्मनी में लगभग इसी समय शुरू हो गया था। सार्त्र-कैम्यू के बीच का विवाद उनके राजनीतिक दृष्टिकोण की टकराहट का परिणाम था। प्रतिश्रुत साहित्य के लिए यह विवाद कोरे दार्शनिक निर्णय का विषय हो भी नहीं सकता था। स्वयं सार्त्र इस विवाद का निर्णय कोरे दार्शनिक स्तर पर नहीं करना चाहते थे।[1] यास्पर्स और कैम्यू अलग-अलग दृष्टिकोण और मंतव्य से इतिहास के कुछ निर्णयात्मक सवालों पर बहस कर रहे थे। सार्त्र की रुचि इसी विषय में अधिक थी। राइन होल्डनीबुहर ने 'फ़ेथ एण्ड हिस्टरी' में इस बहस की प्रस्तावना की अच्छी रूपरेखा प्रस्तुत की है। स्पष्ट है कि छठे दशक में आकर अस्तित्ववादियों के बीच में दर्शन की विधि, स्वतन्त्रता और मानवीय व्यवहार, इतिहास और स्वतन्त्रता तथा कुछ अन्य निर्णयात्मक विषयों पर एक लंबी बहस शुरू हो गई थी। इस बहस का केन्द्र था इतिहास और मानवीय स्वतंत्रता। यह बहस अस्तित्ववाद के संभावित विकास या परिणति की रूपरेखा स्पष्ट कर रही थी।

इस लंबे विवाद के बीच कहीं सार्त्र को खुद अपना भाववाद मानवीय स्वतंत्रता और इतिहास के संदर्भ में अधूरा और अमूर्त्त-सा मालूम पड़ रहा था। यह सही है कि जिस अभिशप्त चेतना के भीतर वे सत्ता का सार (स्वतंत्रता) सिद्ध करना चाह रहे थे उसकी ऐतिहासिक परिस्थितियाँ समकालीन जीवन की थीं। मगर यह निर्णय तब तक ऐतिहासिक नहीं हो सकता था जब तक इस 'अकारण और उद्देश्यहीन सत्ता' के बोध को वे इतिहास की भूमिका में संगत न कर लें। खुद फ्रेंच साहित्य में यूगेनी पॉतियेर से लेकर संपूर्ण वामपंथी साहित्यिक भूमिका के विरोध में पड़नेवाली ये स्थापनाएँ सार्त्र को परेशान कर रही थीं। इसी स्थिति की ओर संकेत करते हुए बोवुआ ने लिखा है—'सार्त्र ने एक भाषण साहित्य पर और दूसरा उपनिवेशवाद पर दिया[2]।' ये दोनों भाषण अगर संकलित-अनूदित होते तो उनसे उदाहरण देकर यह सिद्ध किया जा सकता था कि इस काल-खंड में सार्त्र इतिहास के निर्णयात्मक सवालों को अधिक व्यावहारिक परिप्रेक्ष्य में देखने-परखने लग गए थे।

इन सारे विवादों को यूर्गेन रूहेल ने 'कम्युनिज़्म और अस्तित्ववाद' का शांतिपूर्ण सहअस्तित्व कहा है[3]। स्पष्ट है कि इतिहास के संदर्भ में सार्त्र ने अपनी उस स्थापना को दुहराना बेमानी समझा था जिसमें 'आत्मचेतना' अनिवार्य सत्य होकर रह जाती है। अस्तित्ववादी विषयी की यह निर्वैयक्तिक आत्मचेतना इतिहास में उदाहृत होने से बार-बार रह जाती थी। इसलिए अपनी पुस्तक 'प्रॉब्लम्ज़ ऑव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेथड' में घोषित रूप में सार्त्र ने स्वीकार किया कि मार्क्सवादी दर्शन के भीतर अस्तित्ववाद एक विचारधारा है। मार्क्सवादी दर्शन के भीतर समय-समय पर स्वतंत्र विचारधाराएँ अपना अस्तित्व प्रमाणित करने के लिए संघर्ष करती रही हैं। जर्मनी में 'अन्स्टर्ब्लाक' इसके उदाहरण हैं। 'नववामपक्ष' एक ऐसी ही विचारधारा है।

स्पष्ट है कि छठे दशक में अस्तित्ववाद का व्यावहारिक संकट उसे धीरे-धीरे इतिहास के मूर्त्त दायरे में खींचकर ला रहा था। **इतिहास के इस दबाव को अस्तित्ववादी सार्त्र ने सबसे खुले रूप में स्वीकार किया।** सार्त्र का अस्तित्ववाद के 'फाइटेइज्म' से अलग होकर यह स्वीकार करना कि **'इतिहास के प्रश्न आधिभौतिक स्तर पर हल नहीं किए जा सकते'**, यह सिद्ध करता है कि इस समय में सार्त्र का संपूर्ण चिंतन अपनी व्यावहारिक परिणति की ओर सचेष्ट हो चुका था। अस्तित्ववादी दर्शन की रूपरेखा स्पष्ट करना इस लेख का उद्देश्य नहीं है। फिर भी कुछ मौलिक सवालों पर विचार किए बिना हम उसके विस्तार और परिणाम की सही व्याख्या नहीं कर सकते।

अस्तित्ववादी दर्शन में मूलतः इस वस्तुजगत् के सम्बन्ध में ही कुछ अमूर्त निष्कर्ष निकाले गए थे। वस्तुजगत् को साधारण (प्रतीयमान) दृश्यसत्ता के रूप में बदला नहीं जा सकता। ऐसा करना उसे आभास में परिणत कर देना होगा। स्पष्टतः इस रूप में वस्तुजगत् का सत्य स्वतन्त्र रूप में सिद्ध नहीं होता। यह ठीक है कि 'नववामपंथी' मार्क्सवादियों और अस्तित्ववादियों में कई विषयों पर सहमति है और कई ऐसे विषय हैं जिनका विश्लेषण दोनों ही लगभग समान द्वन्द्वात्मक विधि से करते मालूम पड़ते हैं। किन्तु, वस्तुजगत् की मूलभूत अवधारणा को लेकर उनमें कभी समानता नहीं रही। वस्तुजगत् की साधारण दृश्य सत्ता आभास से अधिक महत्त्व की नहीं मानी जा सकती। **इसी आभास जगत् की कच्ची पृष्ठभूमि पर अस्तित्ववादी आत्मचेतना का विराट् दर्शन तैयार करते हैं।** इस विराट् आत्मचेतना की इच्छाओं को वे पूर्ण स्वतंत्रता का नाम देते हैं। आश्चर्य की बात नहीं है कि स्वतंत्रता की इस धारणा को हाइडेगर और लूकाच ने समान रूप से आलोचना का विषय बनाया है।[४] इस प्रातिभासिक जगत् और चेतना के संबंध को जिस जटिल ढंग से सार्त्र ने अपनी पुस्तक 'बींग एण्ड नथिंगनेस' में देखा है उसमें **न तो जगत् का ऐतिहासिक स्वरूप ही द्वन्द्वात्मक रूप में स्पष्ट हो पाता है और न आत्मचेतना का स्वरूप ही।**

दृश्यसत्तावाद पद्धति नहीं है, विधि है। किन्तु यह पद्धति एक ओर हूसेर्ल के शुद्ध भाववाद में जाकर गुम हो गई है और दूसरी ओर सार्त्र के उभयवाद में। ज्यांवाल्ह ने अपने एक लेख में बड़ी सूक्ष्मता से, हाइडेगर के सन्दर्भ में, इन परिणतियों की ओर इशारा किया है।[५] **यहाँ आत्मचेतना बन्द सत्ता बन जाती है।** इतना ही नहीं, यहाँ विश्लेषण के क्रम में अनिवार्य और आकस्मिक का भेद भी लगभग सत्ता के सन्दर्भ में मिटा दिया जाता है। इस व्यक्तिबद्ध आत्मचेतना से सम्पूर्ण अस्तित्व की व्याख्या बेहद भ्रामक परिणाम उत्पन्न करती मालूम पड़ती है। यह आत्मचेतना इतिहास और स्वतन्त्रता दोनों के मूर्त क्षेत्र को धुंधला करती है। **सार्त्र के 'बींग एण्ड नथिंगनेस' तक के विकास में इतिहास एक सिरे से गायब है।**

इतिहास की इस क्षति का कारण उनका तात्कालिक अनुभव का दर्शन ही था। अपने इस आहत पक्ष की ओर सार्त्र का ध्यान लगभग उसी समय गया जब वे अपनी पुस्तक 'बींग एण्ड नथिंगनेस' पूरी कर रहे थे। १९४३-४६ के बीच इतिहास के प्रश्नों से वे लगातार जूझते रहे। **'वस्तुवाद और क्रांति' शीर्षक लेख इतिहास के सन्दर्भ में सार्त्र का आत्मसाक्षात्कार है।** यह लेख उनकी सप्रश्नताओं का एक लम्बा दस्तावेज़ है। मगर इस लम्बे लेख में भी उनकी उलझन साफ़ हुई मालूम नहीं पड़ती। इस दृष्टि से अल्जीरियाई स्वतन्त्रता-संग्राम और लातीनी अमरीका से उनके सम्पर्क ज्यादा महत्त्वपूर्ण कहे जाएँगे। इसी समय ब्राजील में उन्होंने 'द्वन्द्ववाद' पर कई भाषण भी दिए। अपने एक परिपत्र में उन्होंने लिखा—"यह स्वतंत्रता (अल्जीरिया की), मैं दुहराऊँगा, एक ध्रुव सत्य है। अगर कुछ अनिश्चित है तो वह फ्रांस में जनतंत्र का भविष्य है।"

इसी समय में पूंजीवादी जीवन-व्यवस्था और अर्थतंत्र से उनकी वास्तविक टकराहट शुरू हुई और इतिहास एक मूर्त, व्यावहारिक तथ्य के रूप में उनके समक्ष प्रस्तुत हुआ। मूर्त व्यवहारों के जगत् से हमारी आत्मचेतना का दुहरा सम्बन्ध होता है इसे सार्त्र तब जान पाए। इतिहास के भीतर वे उस आत्मसम्पूर्ण स्वतन्त्रता का क्षय अपनी आँखों देख रहे थे जिसके लिए वे प्रतिश्रुत थे। अल्जीरिया, लातीनी अमरीका,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अफ्रीका और भारत के मुक्ति-संग्राम के सन्दर्भ में उनकी आत्मचेतना का स्वतंत्र निर्णय निरर्थक चाहे न हुआ हो, मगर विवश ज़रूर हो गया था। यही नहीं, कई दूसरे सन्दर्भों में भी सार्त्र को ये सीमाएँ बहुत साफ़-साफ़ दीखने लगीं। युद्ध-पीड़ित फ्रांस के अनुभव तो तात्कालिक ही थे, पूरे यूरोप का आत्मसंकट भी एक आततायी अनुभव हो रहा था। ऐसी स्थिति में इतिहास को अमूर्त आत्मनिर्णय के संदर्भ में देखना उनके लिए असंभव-सा हो गया।

आदमी को अमूर्त आत्मचेतना में बदल देना जर्मन भाववाद की विशेषता रही है। सार्त्र की दार्शनिक विधि अब तक जर्मनी की ज़मीन पर ही विकसित हुई थी। वहाँ 'उत्क्षेपक आत्मचेतना' सारे विरोधों को निर्वैयक्तिक वास्तविकता (?) की ज़मीन पर हल कर लेती है। फ्रांसीसी मार्क्सवादी चिन्तक पोलित्ज़र ने अस्तित्ववादियों की आलोचना इसी विशेष सन्दर्भ में की है। उन्होंने सार्त्र की आलोचना करते हुए यह दिखलाया है कि अस्तित्ववादी अमूर्तताओं को वास्तविकता से बदलकर वास्तविक स्वतन्त्रता के सवालों से किस तरह कतरा जाया करते हैं। उनकी यह दृष्टि व्यवस्था का पोषण करती है। कैम्यू अल्जीरियायी जनता की भयावह यंत्रणाओं के सवाल से इसी तरह कतरा गया था। पोलित्ज़र ने लिखा—"अपनी नैतिक सदिच्छा के बावजूद सार्त्र का दर्शन इतिहास के जीवन्त सन्दर्भ में अधूरा ही नहीं पड़ता बल्कि एक अर्थ में इतिहास-विरोधी भी हो जाता है।"

आधुनिक मानवीय इतिहास में सत् और सत्ता का व्यवच्छेद केवल धर्म-रूपक नहीं है। वह एक ऐतिहासिक सत्य है। इस व्यवच्छेद (ऐलियनेशन) को पाटने की ज़मीन शुद्ध दर्शन में प्राप्त नहीं होती। उस छद्मदर्शन में तो शायद और भी नहीं जिसमें इतिहास को नज़रअन्दाज़ करके इस सवाल को दुहराया गया हो। आदमी का अपने सत् से अलगाव धर्म-दर्शन का एक स्वतन्त्र विषय है। हम यहाँ उस दृष्टि से इस व्यवच्छेद की व्याख्या नहीं करते। इतिहास के भीतर अलगाव की यह समस्या एक दूसरे ढंग से ग्रहण की जाती है। मार्क्स ने इतिहास के भीतर उस सबसे बड़ी घटना का संकेत किया जिसमें मनुष्य और मनुष्य से सम्बन्धित सारी वस्तुएँ समय के सन्दर्भ में आकर सिकुड़ गईं।

सार्त्र वस्तुतः स्वतन्त्रता की एक मूर्त पद्धति नहीं बना पाते, फलतः उनकी ज्ञान-मीमांसा ख़तरनाक है। इस ख़तरे की ओर मार्क्सवादी तथा अस्तित्ववाद-विरोधी चिन्तकों का ही ध्यान नहीं गया, स्वयं सार्त्र का भी ध्यान गया। उन्हें अपनी विधि को नए सिरे से परीक्षित-परिवर्तित करने की आवश्यकता भी मालूम पड़ी। 'प्रॉब्लम्ज़ ऑव मेथड' इसी आत्मसंघर्ष का परिणाम है। खैर, यहाँ हम 'एलियनेशन' के ऐतिहासिक पक्ष पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करें। सामाजिक सम्बन्धों को व्यक्तियों के सरल सम्बन्ध में बदलकर सार्त्र ने एक तरह से समाज को एक स्वतन्त्र संस्थान की हैसियत नहीं दी। वर्तमान राज्य-विभाजित, वर्ग-विभाजित समाज व्यक्तियों का सरल सम्बन्ध या समुच्चय नहीं है। वह एक स्वतन्त्र संस्थान है। लेनिन ने राज्य के सन्दर्भ में इस तथ्य को बहुत पहले ही उजागर किया था। सामाजिक अन्तर्विरोध को जिस सरल समीकरण से सार्त्र ने अब तक देखा था, उसमें ऐतिहासिक-सामाजिक विकास के अन्तर्विरोध नगण्य हो जाते थे।[६] मानवीय सत् को इस प्रकार एक निरर्थक परिणति देकर सार्त्र ने लगभग इतिहास-विरोध का परिचय दिया था।

१९४७-६० के बीच सार्त्र की इतिहास-सम्बन्धी धारणा में जो परिवर्तन हुए वे उनके फुटकल लेखों-टिप्पणियों-वक्तव्यों से स्पष्ट हो जाते हैं। यह परिवर्तन उतना आकस्मिक और सहज नहीं है जैसा वह एक नज़र में लगता है। सार्त्र अस्तित्व की वस्तुबद्धता (फ़ैक्टिसिटी) और अपनी स्वतन्त्रता की धारणा को कभी सहज रूप में संगत नहीं कर पाए। वैसे यही अन्तर्विरोध उनके बाद के विकास का कारण भी बना।

अगर मनुष्य वस्तुतः स्वतन्त्र है तो उसकी वस्तुबद्धता कोई समस्या नहीं है। और अगर आदमी अपनी सत्ता में वस्तुजगत् से बँधा हुआ है तो उसकी स्वतन्त्रता की समस्या केवल आत्मनिर्णय की समस्या नहीं रह जाती। इस सवाल पर सार्त्र ने बाद में काफ़ी गम्भीर ढंग से सोचा है। अपनी पुस्तक 'क्रीतीक द ला रेज्यों दायलेक्तीक' में वे इस सवाल से टकराते हैं। सिमोन द बोवुआ लिखती हैं—"लिसोंव्स्की की प्रेरणा से सार्त्र उस बीच मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद के सम्बन्ध की परीक्षा कर रहे थे। निश्चय ही इस रचना में सार्त्र वस्तुबद्धता और स्वतन्त्रता को इतिहास के भीतर परिभाषित करने का प्रयत्न करते हैं। मार्क्सवादी इतिहास-दर्शन की ओर उनका झुकाव इसी प्रयत्न का परिणाम है।"

आँरी लेफ़ेव्र लिखते हैं—"आधुनिक मनुष्य धीरे-धीरे, एक टेढ़े-मेढ़े रास्ते से और वस्तुओं तथा जगत् के आक्षेप से, अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भीतर के उस संकट से सचेत हुआ है जिसे हम उसका भीतरी व्यवच्छेद कह सकते हैं (discontinuous in himself)।" निश्चय ही इस व्यवच्छेद को इतिहास के माध्यम से या इतिहास पर आक्षेपित कर सार्त्र ने बाद की अपनी रचनाओं में पहचाना। उनकी पहचान का रास्ता काफी टेढ़ा-मेढ़ा है इसमें कोई सन्देह नहीं। इस पहचान की बाधाएँ भी सार्त्र के लेखन में किसी भी दूसरे अस्तित्ववादी चिन्तक की अपेक्षा अधिक हैं। मैं जब ऐसा कहता हूँ तो मेरे ध्यान में मेरल्यो-पॉन्टी विशेष रूप से आ जाता है। लूकाच ने इस पहचान को बड़ी सफ़ाई से कान्ट और बर्गसाँ के दर्शन से उदाहृत किया है और उन अन्तर्विरोधों की भी व्याख्या की है जिनके कारण यह पहचान इतिहासेतर हो गई है। सार्त्र इतिहास के बाहर से क्रमशः भीतर की ओर आते हैं। यहीं वे बर्गसाँ से अलग होते हैं।

आधुनिक मनुष्य अपने इस अलगाव को पीड़ा और विडम्बना की मिली-जुली दृष्टि से देखता है। सार्त्र, कैम्यू, साँजुपेरी, बोवुआ आदि का साहित्य इसी मिली-जुली पीड़ादायक विडम्बना का साहित्य है। यह पीड़ादायक विडम्बना सच्चे अर्थों में सार्वभौम चरित्र की हो गई है। उसे हम आधुनिक सभ्यता की पीड़ादायक विडम्बना कह सकते हैं। यह विचित्र बात है कि दर्शन में बहुत-सी अमूर्त स्थितियों के बावजूद साहित्य में इन लेखकों ने इस अनुभव को पूरे विस्तार और सामर्थ्य से व्यक्त किया है। इस अनुभव की सैद्धान्तिक व्याख्या पॉन्टी ने अपनी रचना 'सेंस एण्ड नॉनसेंस' में की है। **आत्मविरोध का यह संकट वस्तुबद्धता के कुछ नए आयाम प्रस्तुत करता है। व्यक्ति-चेतना-विश्व के सम्बन्ध में यह संकट इतिहास का आयाम है।**

सार्त्र ने मानवीय वास्तविकता को अनिवार्यता और संयोग के बीच विचित्र ढंग से विभाजित कर दिया है। हम यहाँ उस जटिल व्याख्या में नहीं पड़ेंगे। यह व्याख्या कोई स्पष्ट निष्कर्ष प्रस्तुत नहीं कर पाती। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि उनके लिए संयोग (contingency) ही स्वतन्त्रता की परिस्थिति है। वे आगे चलकर इस संयोग और तथ्यबद्धता को भी एक ही सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं।[७] परिस्थिति और प्रेरणा भी अन्ततः एक हैं। इस तरह अनिवार्यता यहाँ दो संयोगों के बीच दबी-दबी दीख पड़ती है। एक संयोग तो हमारी सम्पूर्ण सत्ता का ही है, किन्तु इस संयोग के भीतर भी हम कहीं होते हैं (देश); कभी होते हैं (काल) और किन्हीं गुणों के साथ होते हैं। सार्त्र की व्याख्या के अनुसार देश-काल-गुण की विशेषता और वैयक्तिकता अपने-आप में खुद एक संयोग है।[८] अस्तु अस्तित्ववादी अर्थ में होना अनिवार्यता और संयोग की अन्तर्क्रिया है।

इस विभाजन के साथ मानवीय वास्तविकता बड़ी भयावह हो जाती है। संत्रास इसी विभाजित मानवीय वास्तविकता की आत्मचेतना है। सार्त्र अपने साहित्य में इसे समकालीन इतिहास की पीड़ा से जोड़ने की चेष्टा करते हैं। मगर अनिवार्यता जहाँ इतिहास का आयाम है वहाँ संयोग इतिहासेतर आयाम है।

शुद्ध दार्शनिक ज़मीन पर भी अस्तित्ववाद की असंगतियाँ कम नहीं थीं। चेतना और आत्मचेतना का जैसा विराट् प्रपंच सार्त्र ने अपनी पुस्तक सत् और शून्य में खड़ा किया है उसकी तुलना में पॉन्टी का विश्लेषण अधिक परिपक्व और ग्राह्य माना गया। अस्तित्ववाद के समर्थकों को भी सार्त्र की अपेक्षा पॉन्टी का विश्लेषण अधिक ग्राह्य था। वस्तुतः उसका 'फेनोमेनॉलॉजी ऑव परसेप्शन' अधिक व्यवस्थित ग्रन्थ है। पॉन्टी सार्त्र का सहयोगी और मित्र था। मगर चतुर्थ दशक के प्रारम्भ में ही उनका चिन्तन क्रमशः अलग-अलग दिशाओं में विकसित होने लग गया था। पॉन्टी चेतना और आत्मचेतना के विभाजन को स्वीकार नहीं करता। उसने सार्त्र के आँ-स्वा (en soi) और पूर-स्वा (Pour Soi) जैसे कल्पित विभाजन को अस्वीकार करते हुए कहा—'न तो शुद्ध सत्ता की आत्मरूपता की कोई स्थिति होती है और न शुद्ध वस्तुरूपता की। अस्तित्व की गतियों में देह और मानस का संयोग हर क्षण अपनी पूर्णता ढूंढ़ता चलता है।'

मानवीय स्थिति और स्वतंत्रता का प्रकरण शायद अस्तित्ववाद का सबसे आकर्षक पहलू है। इसका प्रभाव सारी दुनिया के साहित्यशास्त्र पर और समकालीन चिंतन पर किसी-न-किसी रूप में पड़ा है। 'नववामपंथी' कहे जाने वाले मार्क्सवादी भी इससे प्रभावित हुए हैं। विश्व का युवा वर्ग सार्त्र के इसी चिंतन पक्ष से सबसे ज्यादा प्रभावित मालूम पड़ता है। मैं और मेरी स्थिति से मैं और मेरी स्वतन्त्रता तक का यह चिन्तनक्रम निश्चय ही कुछ लोगों को विशेष मालूम पड़ा। सार्वभौम की तुलना में विशेष का यह आग्रह ज़रूर नैतिक आकर्षण रखता है। व्यक्ति की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानसिकता के अनुकूल होनें के कारण भी इसका आकर्षण अधिक है। विशेष की इस विशिष्ट परिस्थिति को सरल शब्दों में यों समझा जा सकता है। ईश्वर की मृत्यु के साथ मानवीयता के सार का सार्वभौम रूप समाप्त हो गया। जो कुछ तब बच जाता है वह विशेष व्यक्ति का विशेष इतिहास है। यह विशेष व्यक्ति अपनी 'भावधारा के अनुसार स्वयं को जीता है।'[६] सार्त्र का यह तर्क इतना सरल नहीं है जितना मेरे अन्वय से मालूम पड़ता है। स्वतन्त्रता को वह आत्मपूर्ण मानता है। फिर भी यह स्वतन्त्रता परिस्थितियों से बँधी है। यह स्थापना उतनी मौलिक नहीं है। हाइडगेर ने ग्रीक चिन्तकों के अपने विश्लेषण में एनाखिमाइन्डर और परमेनाइडीज में इस अस्तित्ववादी अन्तर्दृष्टि को रेखांकित किया है।

मार्क्सवाद से अस्तित्ववाद की टकराहट के ये ही दो पक्ष हैं। अस्तित्ववाद के भाववादी रूपांतर और मार्क्सवाद से उसकी टकराहट के प्रसंग पर हम विस्तार से लिख आए हैं। अब हम उसके दूसरे पक्ष पर थोड़ा और विचार करेंगे। जैसा कि मार्जोरी ग्रीन (Grene) ने लिखा है—"(अस्तित्ववाद का) समाधान उस नैतिक मूल्य में नहीं होता जिसकी हम उससे आशा करते थे···इसके विपरीत (उनमें) हमें पुराने नैराश्य की नई अभिव्यक्तियाँ ही मिलीं।" अस्तित्ववाद की तुलना में दैनंदिन जीवन के महत्त्व और अधिकार को मार्क्सवाद अधिक व्यावहारिक पूर्णता में स्वीकार करता है। इस सम्बन्ध में हम प्रसिद्ध फ्रांसीसी दार्शनिक ज्याँ वाह्ल का एक उद्धरण प्रस्तुत करना चाहेंगे। 'फ्रांसीसी दर्शन की वर्तमान स्थिति' शीर्षक अपने निबन्ध में उन्होंने लिखा—"सत्ता के प्रकृत संकट के सन्दर्भ में स्वतन्त्रता एक अनिवार्यता बन जाती है। फिर भी हमें इस ओर से सचेत रहना चाहिए कि हमारा यह, हमारे दैनंदिन जीवन का स्वभाव बन गया है, अपना एक अलग दार्शनिक महत्त्व भी रखता है। हमारे दैनंदिन जीवन के अपने संतुलन भी हैं, अपनी संगति है और अपने सत्तात्मक (Ontological) व्यापार भी हैं। इस दैनंदिन जीवन को अप्रामाणिक (Unauthentic) कहना भारी भूल होगी। हम इस प्रकार साधारण आदमी के मूल्य और महत्त्व को नज़रअन्दाज़ करेंगे। यह मार्क्सवाद की विशेषता है कि उसमें दैनंदिन जीवन अधिक अधिकारपूर्ण ढंग से परिभाषित हुआ है।"

अस्तित्ववादी संत्रास ऐतिहासिक कोटि की धारणा नहीं है, आधिभौतिक कोटि की धारणा है। कुछ लोग भ्रम से इसका विनियोग ऐतिहासिक कोटि में करते हैं। मार्क्सवाद इस सनातन संत्रास के सन्दर्भ में व्यावहारिक जीवन के विरोधों की व्याख्या करना स्वीकार नहीं करता। लूकाच, गोल्डमैन, लेफेब्र, ऑगस्त कान्यूं जैसे कम्युनिस्ट-गैर-कम्युनिस्ट मार्क्सवादी चिन्तकों ने अस्तित्ववादी संत्रास को धर्म-दर्शन के पतन का ही रूपक माना है।

ऐतिहासिकतः कोई भी दर्शन, चाहे वह जितना भी अपूर्ण हो, इसलिए महत्त्वपूर्ण होता है कि वह अपने-आपमें एक लक्षण बन जाता है। किन्तु अस्तित्ववादी दर्शन में इस 'विशेष की ऐतिह्यता' की एक विशेष स्थिति है जिससे सामान्य व्यक्ति की पहचान लगभग असंभव हो जाती है। यह साधारण व्यक्ति अस्तित्ववादियों के अनुसार निरन्तर अपनी स्वतन्त्रता से भागनेवाला छद्म विश्वासी है, जबकि इस साधारण में ही मार्क्सवादी क्रान्ति की (और स्वतन्त्रता की भी) संभावनाएँ देखता है। यही मूलभूत विरोध उनके चिन्तन को परस्पर विरोधी दिशाओं में ले जाता है या कुछ मौलिक सवालों पर आमने-सामने ला खड़ा करता है। भोक्ता व्यक्ति की सामान्यता किसी भी स्थिति में नकारी नहीं जा सकती और न उसके उन बौद्धिक उपायों को ही नकारा जा सकता है जिनके द्वारा वह अपने अनुभवों को विश्व में प्राप्त होता है।

व्यक्ति की आन्तरिक स्थिति को अस्तित्ववादी जितने निरपेक्ष ढंग से देखते हैं उसे देखते हुए तो यही लगता है कि अस्तित्ववाद सेल्फ़ की हाइपरट्राफ़ी है। उसकी स्वतन्त्रता एक अमूर्त निर्णय है और उनका सम्पूर्ण दर्शन एक वैयक्तिक व्यामोह के अलावा और कुछ नहीं है। मगर मुक्ति के इन लँगड़े निष्कर्षों के बावजूद मानवीय नियति और परिस्थिति का जैसा ऊहापोह इनके दर्शन में है उससे हमें काफ़ी हद तक अपने को समझने में मदद मिली है। फिर भी, सार्त्र की घोषणा के बावजूद, मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद की संगति की कोई ज़मीन स्पष्टतः हमें नहीं मिलती।

(क्रमशः)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाद-टिप्पणियाँ

१. ल'एक्सप्रेस, नवंबर १९५६ में सार्त्र का साक्षात्कार।
२. सिमोन द बोवुआ, फ़ोर्स ऑव सर्कम्सटैंस, पृ० ५५६।
३. यूर्गेन रूहेल, लिटरेचर एण्ड रिवोल्यूशन (१९६९), अंग्रेज़ी अनुवाद।
४. जार्ज लूकाच, एक्जिस्तांशियलिज़्म एंड मार्क्सिज़्म, १९४८ (पेरी)।
५. ज्याँ वाह्, 'फ्रीडम एण्ड एक्जिस्टेंस इन समरीसेंट फिलॉसफीज़' —'फिलासफी एण्ड फेनॉमेनालॉजिकल रिसर्च, भाग ८, नं० ४।
६. जे० कानप्पा, 'ले'क्जिस्तांशियलिज़्म न'ए पा अ'ह्यूमनिज़्म', पृ० ७९. (पेरी, १९४७)
७. सार्त्र, बीइंग एण्ड नथिंग्नेस, पृ० ४८७ (अंग्रेज़ी अनुवाद)।
८. उपरिवत्, पृ० ३०८।
९. सार्त्र, बीइंग एण्ड नथिंग्नेस, स्वतन्त्रता-सम्बन्धी अध्याय।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रेज़ी देब्रे और सशस्त्र क्रान्ति की समस्याएँ

जोआ कारतीम

लातीनी-अमरीकी क्रांतिकारी रणनीति सम्बन्धी विचार-विमर्श में रेजिस देब्रे एक मील-स्तम्भ बन गये हैं। उनके प्रबन्ध ने पुरातनपंथी कम्युनिस्ट पार्टियों के सुधारवाद और सुधारवाद पर आक्रमण करने वाले वामपंथी समुदाय के बीच विभाजन-रेखा खींच दी। ये वामपंथी भी आपस में बँटकर दो हो गये। एक का प्रमुख उद्देश्य हो गया : गोरिल्ला दस्ते का संगठन और विकास। दूसरे पुरातनपंथी तथा मृतप्राय कम्युनिस्ट पार्टियों के अत्यन्त उग्र तत्त्वों और आरामतलब वामपंथियों को पुनःसंगठित करने में लग गये। और कम्युनिस्ट मज़दूर पार्टी अथवा क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना कर दी—मानो बिना मज़दूरों के कोई कम्युनिस्ट पार्टी भी हो सकती है या कोई कम्युनिस्ट पार्टी ऐसी भी हो सकती है जो क्रान्तिकारी न हो।

देब्रे का मुख्य उद्देश्य यह प्रदर्शित करना था कि पुरातनपंथी कम्युनिस्ट पार्टियाँ, जिनका संगठन शहरों में केन्द्रित है, सत्ता पर विजय प्राप्त करने के लिए सर्वहारा का नेतृत्व करने के योग्य नहीं हैं। लातीनी-अमरीकी वर्ग-संघर्ष की विशिष्ट अवस्था नये किस्म के हिरावल दस्ते और गोरिल्ला दस्ते की माँग करती है। लातीनी-अमरीका के क्रांतिकारी अनुभव को एक पद्धति प्रदान करने वाले इस प्रबन्ध का काफी प्रभाव दीख पड़ा। [देब्रे के इस प्रबन्ध का, जो पुस्तक रूप में 'क्रांति में क्रांति' शीर्षक से प्रकाशित हुई, आधार क्यूबा की सफल क्रांति है।] इस पुस्तक के प्रकाशन के एक ही वर्ष के भीतर ब्राज़ील के वामपंथी दो हिस्सों में बँट जाने को बाध्य हो गये। एक ने देब्रे के प्रतिपक्षी और दूसरे ने विपक्षी के रूप में अपने को परिभाषित किया।

देब्रे की इस पुस्तक के आधार पर होने वाली सैद्धान्तिक बहस की तीव्रता में कमी नहीं है। 'गोरिल्ला अथवा पार्टी' से सम्बन्धित सवाल ने सिद्धान्त और रणनीति के क्षेत्र में ध्रुवीकरण ला दिया और इसी अवस्था ने देब्रे के प्रतिपक्षी और विरोधी से आगे जाने की बाध्यता पैदा कर दी। परिणामस्वरूप देब्रे को नकारनेवाले उससे आगे नहीं जा सके, उससे आगे वे गये जिन्होंने उन्हें गम्भीरता प्रदान की।

आज के सच्चे क्रांतिकारी यह समझ रहे हैं कि अमरीकी साम्राज्यवाद के प्रभुत्व से ग्रस्त समाज में क्रांतिकारी लोकयुद्ध के कठिन रास्ते पर चलकर ही कोई विकल्प शक्ति जीत हासिल कर सकती है। इस लोकयुद्ध का सर्वोत्तम रूप गोरिल्ला 'दस्ता' है जो क्रांतिकारी जन सेना का प्रारम्भिक स्वरूप है।

प्रश्न यह उठता है कि देब्रे के प्रबन्ध को गम्भीरता प्रदान करना क्यों आवश्यक था? इसका सम्बन्ध उन व्यक्तियों से जुड़ा है जिन्होंने उसे गंभीरता प्रदान की। जिस प्रकार क्रांतिकारी सिद्धान्त के बिना कोई क्रांतिकारी कार्य नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार क्रांतिकारी कार्य के अभाव में क्रांतिकारी सिद्धान्त अर्थहीन हो जाता है। किसी सिद्धान्त को अगर कार्य में परिणत नहीं किया जाय अथवा जिसकी कार्य-परिणति समाज के आमूल परिवर्तन की दिशा में न ले जाय तो वह सिद्धान्त क्रांतिकारी सिद्धान्त नहीं है। इसके अतिरिक्त, कोई क्रांतिकारी सिद्धान्त किसी कार्य-परिणति का पूर्ण पूर्वानुमान कभी नहीं होता : जब हम उसे प्रगतिशील रूप में कार्यान्वित करते हैं तो उसकी सीमाएँ और अपूर्णता सामने आती हैं। इस प्रकार क्रांतिकारी कार्य सिद्धान्त को पुनः प्रतिपादित और सतत विकसित करता है। टुटपूंजिए बुद्धिजीवियों के गंदले दिमाग को ही दोनों में फ़र्क दिखलाई पड़ सकता है।

अतः जिन लोगों ने देब्रे के सिद्धान्त को कार्यरूप में परिणत करने की कोशिश की और उसे गम्भीरता प्रदान करने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की चेष्टा की, वे विश्वव्यापी पैमाने पर दुनिया की जनता के सबसे बड़े शत्रु अमरीकी साम्राज्यवाद से मुकाबला लेने में शोषित जनता के लड़ाकू हिरावल दस्ते, वियतनामियों के वीरतापूर्ण संघर्ष, बयूवा की क्रांति और ग्वेवारा के उदाहरण के अनुयायी थे।

पारम्परिक संगठनों की अवसरवादिता से टूटकर अलग होने वाले ब्राज़ील के क्रांतिकारियों ने देब्रे में एक विश्वसनीय पथप्रदर्शक पाया। उन्होंने देब्रे के प्रबन्ध को अक्षरशः लिया और 'क्रांति में क्रांति' पुस्तक में प्रतिपादित सिद्धान्त की सीमाओं को समझने में असमर्थ रहे। उन्हें ऐसा लगा कि क्रांति से सम्बन्धित सभी प्रमुख सैद्धान्तिक और सांगठनिक समस्याओं का यह पुस्तक उनके लिए हल प्रस्तुत करती है। उन्हें यह भी लगा कि इसे एक बार पढ़ लेने के बाद बस सिर्फ रायफल और नक्शे से लैस कामरेडों के साथ क्रांति की जा सकती है।

लेकिन समस्या इतनी सरल नहीं है। समस्या यह है कि किस प्रकार पुरातनपंथी पार्टी को नकारने के सिलसिले में हमारा सम्बन्ध मज़दूर वर्ग से न टूटे। किस प्रकार गोरिल्ला दस्ते को शोषित जनता का समर्थन प्राप्त हो जिसमें वह दस्ता सम्पूर्ण शोषित जनता का हिरावल दस्ता बन सके? किस प्रकार साम्राज्यवादी दमन के विजयी प्रतिरोध को ठोस रूप में खड़ा करने के लिए गोरिल्ला मोर्चों का एक सूत्र रचा सके। सर्वाधिक कठिन कार्य है इस 'गोरिल्ला दस्ते (foco) को तैयारी' और इस सम्बन्ध में देब्रे कोई दिलचस्प बात नहीं कहते। अपने विश्लेषण में वे हमेशा यह समझ बैठे हैं कि गोरिल्ला दस्ता हथियारबन्द और अन्य सामग्रियों से सज्जित किसी मोर्चे पर तैनात है।

१९६७ का वर्ष बोलीवियाई गोरिल्ला की अस्थायी हार और ग्वेवारा की हत्या जैसी महान् दुखांत घटना का वर्ष था। यह यकीन करना मुश्किल लग रहा है कि लातीनी-अमरीकी क्रांति के महान् नायक के कमान पर चलने वाले एक समूह ने इतनी सारी गलतियाँ एक साथ कैसे कीं। और गलतियाँ सिर्फ तैयारी में ही नहीं की गयी थीं बल्कि अवधारणा में भी थीं। कितना भी दुःखद क्यों न हो लेकिन इसे अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए कि गोरिल्ला दस्ते (foco) के समर्थन अथवा सहयोग के लिए राजनीतिक मोर्चा बनाने में ग्वेवारा ने गम्भीर राजनीतिक भूल की। इस राजनीतिक मोर्चे में सिद्धान्त और रणनीति सम्बन्धी अत्यन्त विषम विचार रखने वाला नौकरशाहीनुमा और अवसरवादी विरोधी समूह इकट्ठा हो गया था।

इन गलतियों से जो दुखान्त घटना देखने को मिली उसका पूर्वाभास देब्रे को नहीं था। और इन गोरिल्लाओं की वीरता के प्रति बोलीविया के किसानों की उदासीनता भी बेमिसाल थी। देब्रे के लिए समाज के विभिन्न वर्गों का विश्लेषण, विशिष्ट समूह की विशिष्ट समस्याओं और आवश्यकताओं, कार्यक्रम और नारों का सही निर्धारण आदि बातें बिल्कुल बेकार और महत्त्वहीन थीं। उन्होंने यह समझ रखा था कि जनता को जीतने के लिए हथियारों से लैस प्रचार एक विश्व-जनीन फार्मूला है। जब तक हाथ में रायफल लेकर कोई बात न कही जाय तब तक जनता के सामने जाकर किसी के कुछ कहने का कोई अर्थ नहीं। यह साबित करने के बदले कि सर्वहारा का कार्यक्रम तभी वास्तविक विकल्प शक्ति बन सकता है जब उसकी रक्षा हथियारों से लैस होकर की जाय और इस पर ज़ोर देने की बजाय कि सिद्धान्त और कार्य द्वन्द्वात्मक रूप में एक-दूसरे पर निर्भर हैं, देब्रे ने यह समझाया कि शासक वर्ग के दमन यन्त्र के विरुद्ध संघर्ष ही सर्वहारा क्रांति के लिए जनता को अपने पक्ष में करने का पर्याप्त साधन है। अपनी पुस्तक में वे 'सशस्त्र प्रचार' और शस्त्र का प्रचार के बीच फ़र्क नहीं दिखला सके, जिससे यह पता चलता है कि मार्क्सवादी विज्ञान को उन्होंने कम करके आँका है।

हमारा ऐसा विश्वास है कि मार्क्सवाद के वैज्ञानिक सिद्धान्तों की रोशनी में क्रांतिकारी कार्य की शुरुआत कभी भी की जा सकती है—उसका स्वरूप कितना भी आरम्भिक क्यों न हो।

द्वन्द्वात्मकता के कुछ नियम हैं। उनमें एक यह है कि सत्य ही समग्र है। इसकी रोशनी में विचार करने पर देब्रे का सिद्धान्त 'झूठा' ठहरता है क्योंकि वह असम्पूर्ण है। अवश्य ही देब्रे की आलोचना इस बिना पर नहीं की जानी चाहिए कि उसने क्या नहीं कहा बल्कि इस बिना पर कि उसने अपने सामने जो सैद्धान्तिक उद्देश्य रखा था उसे प्राप्त करने के लिए उसे क्या 'कहना आवश्यक' था।

देब्रे एक विशिष्ट किस्म के आचार्य हैं यानी वह एक मार्क्सवादी 'बुद्धिजीवी' हैं। एक मार्क्सवादी बुद्धिजीवी राजनीतिक कार्यकर्ता भी हो सकता है। देब्रे वह नहीं हैं। कोई भी बुद्धिजीवी कितना भी निरीक्षण और अध्ययन करे,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रांतिकारी समस्याओं और उद्देश्यों एवम् कार्यों से सम्बन्धित उसका मूल्यांकन हमेशा 'बाहरी' ही कहा जायगा। क्योंकि उसने उन्हें अपनी तात्कालिक समस्याओं के रूप में नहीं जिया है जिस पर उसके अपने संगठन के जीवित रहने का सवाल निर्भर हो। गोरिल्ला अथवा पार्टी, पार्टी के हथियारबन्द अंग अथवा गतिशील सामरिक महत्त्व के रूप में गोरिल्ला, ग्रामीण तथा शहरी गोरिल्ला, अतीत के अनुभव और वर्तमान की सीख—इन्हीं अवधारणाओं को लेकर बुद्धिजीवी देब्रे ने विचार किया है। देब्रे ने बहुत सारे ऐसे प्रतिपादन किये हैं जो आश्चर्य में डाल देते हैं। अपनी पुस्तक 'क्रांति में क्रांति' में पृ० ७५ पर उन्होंने एक उदाहरण दिया है कि 'पहाड़ और जंगल बुर्जुवा और किसान को सर्वहारा बना देते हैं और नगर सर्वहारा को बुर्जुवा बना देता है। यह आश्चर्य में डाल देने वाली मूर्खता है। इस कथन को आसानी से नकारा जा सकता है: पेत्रोग्राद के बुर्जुवा सर्वहारा ने अक्तूबर क्रांति की और स्पेन की नागरिक सेना दो वर्षों तक माद्रिद में फ़ासिज्म के प्रतिरोध में वीरतापूर्ण ढंग से लड़ती रही।

देब्रे द्वारा इस्तेमाल किये गये मुहावरों का जिसमें देब्रे की प्रतिपादन शैली की रूढ़िवादिता शामिल है, अक्षरशः अर्थ निकालने से गोरिल्ला दस्ते की कार्रवाई के आरम्भ से पहले की तैयारी की अवधि, स्वतःस्फूर्त जन आंदोलन की अवधारणा, हथियारबन्द प्रचार की प्रभाव-क्षमता का मूल्यांकन, सामाजिक और राजनीतिक विश्लेषण के दरम्यान वितण्डावाद और रीतिवाद और अन्ततः हिरावल दस्ता और क्रांतिकारी वर्गों के संगठन में सैन्यवाद का रूप आदि से सम्बन्धित गलत विचार फैलते हैं।

गोरिल्ला दस्ता की तैयारी की अवधि

देब्रे अपनी कृति (क्रांति में क्रांति) में कहीं भी गम्भीरता से यह सवाल नहीं खड़ा करते हैं कि गोरिल्ला दस्ते की तैयारी कैसे की जानी चाहिए और इसकी तैयारी कौन करेगा। "कार्य-पद्धति यह बतलाती है कि यह समस्या बुनियादी है।" एक तरफ तो देब्रे चीनी अथवा वियतनामी क्रांति युद्ध की तरह लातीनी-अमरीका में यांत्रिक रूप से युद्ध शुरू करने की तीव्र आलोचना करते हैं और दूसरी तरफ क्यूबा के अनुभव की हू-ब-हू नकल करने की वकालत करते हैं।

देब्रे ने 'पार्टी' और 'गोरिल्ला' को दो अमूर्त अस्तित्वों के रूप में देखा है। इसी से देब्रे की सबसे बड़ी कमज़ोरी प्रकट होती है। पारम्परिक कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा किये गए विश्वासघातों और भटकाव को पार्टी के संगठनात्मक रूप पर थोप दिया जाता है मानो उनके संगठनात्मक रूप ने ही उनमें राजनीतिक भटकाव पैदा किया है, जबकि बात इसके प्रतिकूल है। भौतिकवादी द्वन्द्वात्मकता का इस्तेमाल करने और कार्यक्रम और पार्टी, वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त और संघर्ष के व्यावहारिक ढंग की परस्पर निर्भरता का अध्ययन करने के बदले और बिना यह साबित किये कि सुधारवादी सिद्धान्त ही सुधारवादी कार्यों को 'उचित' ठहराता है, देब्रे ने पार्टी संगठन के स्वरूप से ही अवसरवादी रणनीति और टुटपूंजिए बुर्जुवा भटकाव का निष्कर्ष निकाल लिया।

हमारे सामने लेनिनवाद की स्थायी विरासत है जिसे देब्रे नहीं पचा सके हैं। यही कमी उनकी गलतियां खोलती है। वह विरासत है: वर्ग-संघर्ष की हरेक मंज़िल पर और हरेक अवस्था में क्रांतिकारी रणनीति का प्रतिपादन। लेनिन ने वर्ग-विश्लेषण, राजनीतिक लाइन की व्याख्या और हिरावल दस्ते के संगठन के स्वरूप को अलग करके कभी नहीं देखा। देब्रे ने ऐसा नहीं किया है। लेनिन संरचना और संयोग की अवस्था के बीच, विश्व पैमाने पर रणनीति के उद्देश्यों और प्रत्येक अवधि में प्रत्येक क्षेत्र के संघर्ष के विशिष्ट उद्देश्यों के बीच के फर्क को कभी नहीं भूले।

क्रांतिकारी युद्ध की सम्पूर्ण प्रक्रिया में गोरिल्ला 'दस्ता' (foco) की तैयारी का महत्त्व अन्य पहलुओं के बराबर है। यह एक आधारभूत कार्य है। देब्रे इस पर कोई जोर नहीं देते। वे इसे क्रांतिकारी प्रक्रिया की एक अवधि के रूप में नहीं लेते हैं बल्कि यह समझते हैं कि यह क्रांति के पूर्व का इतिहास है। यानी अपनी पुस्तक 'क्रांति में क्रांति' के अंत के हिस्से में वह स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि 'सैनिक दस्ता (foco) की स्थापना के बाद राजनीतिक आंदोलन की ओर बढ़ना चाहिए। अतः जिन क्रांतिकारियों के सामने यह सवाल है कि हम क्या करें? उनके लिए देब्रे का सीधा जवाब है: सैनिक 'दस्ता' बनाओ। और रणनीति सम्बन्धी इस सवाल, कि इस सैनिक दस्ता की स्थापना किस प्रकार की जाय, का भी उतना ही सीधा जवाब है: ऐसे कैडर इकट्ठा करो जिन्हें सैनिक प्रशिक्षण हो और जिनके पास धन, हथियार तथा अन्य सामग्री हो, कार्रवाई किये जाने के लिए चुने गये क्षेत्र में डिपो बनाओ,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उक्त भू-भाग की पड़ताल करो और शत्रु के पहुँचने की प्रतीक्षा करो जो तुम्हें युद्ध में रत कर दे। देब्रे यह नहीं देख पाते हैं कि कोई भी क्रांतिकारी संगठन, जो गोरिल्ला युद्ध को तेज करना चाहता है, के सामने ऐसे सवाल महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इससे भी बदतरीन स्थिति यह है कि सैनिक कार्यों के 'राजनीतिक प्रभाव' पर ही केवल जोर डालने से सैनिक संघर्ष की राजनीतिक समस्याएँ पीछे छूट जाती हैं, क्योंकि गोरिल्ला की समस्या यह जानना नहीं है कि भाड़े की सेना पर किस प्रकार गोली चलाई जाय बल्कि यह कि गोली चलाने का कार्य किस प्रकार किया जाय जिससे क्रांतिकारी वर्ग यह महसूस करे कि (१) गोली 'उसके हिरावल' दस्ते ने चलाई है और (२) वह गोरिल्ला दस्ता द्वारा चलाये जाने वाले प्रचार के हरेक स्तर पर हरेक तरह से हिस्सा ले।

सुधारवादी भीरु व्यक्तियों के लिए देब्रे का नुस्खा इस प्रकार है : हिरावल दस्ता घात लगाकर हमला करे, प्राणदण्ड दे, सम्पत्ति का अपहरण करे और राजनीतिक-सैनिक कार्यों को आगे बढ़ाये। हमारा कहना है कि समस्या को इस तरह खड़ा करना दुर्भाग्यपूर्ण है। सुधारवादियों का जवाब सशस्त्र संघर्ष नहीं है। जो इसकी तैयारी कर रहे हैं वे इसे अच्छी तरह समझते हैं। उनके सामने मुख्य कठिनाई यह नहीं है कि सशस्त्र कार्यों की शुरुआत किस प्रकार करें या गोरिल्ला कार्रवाई आरम्भ करने वाले कैडर किस प्रकार उक्त क्षेत्र में भेजे जाएँ बल्कि यह कि "एक सही और सुनिश्चित, रणनीति के अन्तर्गत यह गोरिल्ला कार्य कैसे शुरू करें।"

देब्रे ने अपनी पुस्तक में जिस तथ्य की उपेक्षा की है वह यह है कि क्रांतिकारी युद्ध के लिए तैयारी की अवधि वर्ग-संघर्ष की एक 'विशिष्ट अवस्था' है जिसके अपने नियम हैं और अपनी आवश्यकताएँ हैं और वह सर्वहारा क्रांति के ऐतिहासिक उद्देश्यों की अपने पर जवाबदेही लेने वाले राजनीतिक संगठन से यह माँग करती है कि वह मार्क्सवादी ढंग से, यानी जो वैज्ञानिक और क्रांतिकारी ढंग है, इसका संचालन करे।

गोरिल्ला दस्ता सर्वहारा हिरावल दस्ते की सामरिक गतिशील टुकड़ी है। यह वर्ग-संघर्ष का श्रेष्ठ स्तर है और इस स्तर को प्राप्त कर सर्वहारा हिरावल दस्ता यथार्थ में अपने को सर्वहारा हिरावल दस्ता के रूप में संघटित करता है। लेकिन मुख्य संघर्ष ही एकमात्र संघर्ष नहीं है और जो संगठन एकमात्र रूप से मुख्य संघर्ष को ही अपना संघर्ष मानता है वह शासक वर्गों से मुकाबले की अवधि में जन-समूह से कट जाता है, अलग-थलग हो जाता है। इसका यह अर्थ नहीं कि क्रांतिकारी संगठन को पहले प्रचलित संघर्ष के सभी रूपों में हिस्सा लेना चाहिए और बाद में चलकर, वर्ग संघर्ष के 'अंतिम क्षण' में सामरिक कार्रवाई शुरू करनी चाहिए। इस प्रकार का विचार भ्रष्ट नौकरशाहों के दिमाग की उपज ही हो सकती है जो आरामतलबी से वर्ग संघर्ष में हिस्सा लेने की इच्छा रखते हैं और सत्ता पर अधिकार करने के क्षण आने पर ही अपनी कुर्सी छोड़ना चाहते हैं। जो ऐसा सोचते हैं उनके लिए तो ऐसी कोई सत्ता नहीं है जिस पर उन्हें अधिकार करना है। जब हम इसे नकारते हैं कि क्रांतिकारी संगठन को एकमात्र रूप में सामरिक कार्रवाई की दिशा में गोरिल्ला दस्ता की कार्रवाई में ही लग जाना चाहिए तो इसका अर्थ यह है कि इसके साथ ही हम दो तरह के भटकाव को भी नकारते हैं :

(1) Putschism—blanquism अथवा सैन्यवाद को नकारते हैं जो यह समझता है कि शासक वर्ग के दमन-कारी यंत्र के निर्णायक मुकाबले का कार्य केवल हिरावल दस्ते का है जिसका अर्थ यह हुआ कि वर्ग की बजाय हिरावल दस्ता क्रांति कर सकता है।

(२) स्वेच्छावादिता (Spontaneism) को भी नकारते हैं जिसका दावा यह है कि जन समूह स्वतः गोरिल्ला दस्ता के साथ हो जायगा और गतिशील सामरिक टुकड़ी को स्वतः अपना हिरावल दस्ता मान लेगा।

ब्राज़ील में क्रांतिकारी युद्ध की तैयारी के अनुभव ने इन भटकावों के खतरे को स्पष्ट कर दिया है और उनसे बचने का रास्ता भी दिखा दिया है।

अनेक व्यक्तियों ने अपने कार्यों के दरम्यान एक बुनि-यादी सिद्धांत की उपेक्षा की है, और इनमें देब्रे भी शामिल हैं। वह सिद्धान्त यह है कि गोरिल्ला कार्य क्रांतिकारी कार्य का आरम्भ नहीं है। देब्रे की संकीर्ण व्याख्या करने वाले ही सिर्फ यह समझते हैं कि गोरिल्ला कार्रवाई के पूर्व के सारे राजनीतिक कार्य अवसरवादी हैं और इसका नतीजा बोली-विया में क्रांति करनेवाले ग्वेवारा और उनके कामरेडों को भुगतना पड़ा।

इसीलिए हमें एक ऐसे क्रांतिकारी संगठन की आवश्यकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है जो गोरिल्ला युद्ध को सम्पूर्ण जनता के युद्ध का रूप दे सके। इसका मुख्य उद्देश्य सामरिक कार्रवाई की दृष्टि से गोरिल्ला दस्ते का निर्माण करना तथा उसे विकसित करना है, लेकिन उसका व्यापक उद्देश्य है उसे समग्र जनता के युद्ध में बदल देना। इससे स्वेच्छावादिता के समर्थकों का वह दावा सिद्ध नहीं होता कि सभी प्रकार के प्रचलित संघर्ष गोरिल्ला दस्ता के लिए सहायक सिद्ध होंगे। गोरिल्ला दस्ता के सहायक तत्त्वों की सतर्क योजना होनी चाहिए, यानी हिरावल दस्ता और जनता के बीच सम्पर्क सूत्रों का निर्माण क्रांतिकारी कार्य के बुनियादी नियम के अनुसार किया जाना चाहिए। हिरावल दस्ते को जनता से कदम भर ही आगे होना चाहिए—न इससे अधिक और न कम। ऐसी बात नहीं है कि हिरावल दस्ते द्वारा संघर्ष शुरू किये जाने और आगे बढ़ाने के बाद "यह जनता का काम है" कि वह उसके साथ हो ले बल्कि हिरावल दस्ते का यह काम है कि वह अपना संगठन इस प्रकार करे कि जनता की क्रांतिकारी शक्तियों में ध्रुवीकरण पैदा हो। हिरावल दस्ते को वर्ग-संघर्ष की ठोस प्रक्रियाओं से कटकर अलग होना नहीं है, उसे आरम्भ से ही यानी गोरिल्ला दस्ते की तैयारी की अवधि से ही क्रांतिकारी वर्गों में अपना ठोस आधार बनाना है। इस ठोस आधार का रूप सांगठनिक हो अथवा राजनीतिक, लेकिन किसी भी हालत में इसे मजदूरों, किसानों और मध्यवर्ग के उस हिस्से के, जिसका स्वार्थ सर्वहारा की क्रांति से जुड़ा है, जन आंदोलन के लिए सही लाइन का प्रतिनिधित्व करना है।

हथियारबन्द प्रचार की प्रभाव-क्षमता की अतिरंजना

इस प्रकार हमने यह देखा कि देब्रे ने अपनी पुस्तक में सशस्त्र प्रचार और शस्त्र के प्रचार के बीच का भेद नहीं दिखाया है। देब्रे का कहना है: सैनिक कार्रवाई के बाद आता है सशस्त्र प्रचार का कार्य, न कि उसके पहले। मुख्य बात यह है कि वर्तमान अवस्था के अन्तर्गत सफल सैनिक कार्रवाई ही प्रचार का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रूप है (देखिये क्रांति में क्रांति, पृ० ५६)। दूसरे शब्दों में देब्रे यह कहना चाहते हैं कि हिरावल दस्ते को पहले अपनी 'सैनिक कार्रवाई' के आधार पर जनता को जीतना चाहिए और बाद में 'राजनीतिक' रूप में। शासक वर्ग के दमनकारी यंत्र के विरुद्ध अपने संघर्ष के आरम्भ में हिरावल दस्ता केवल अपने प्रति जिम्मेदार होता है। देब्रे के कथन में शायद यह भी छिपा है कि देश का किसान वहाँ के पहाड़ और जंगल की तरह महज उसका एक हिस्सा है। भाषा हथियार की होती है, केवल हथियार की। बोलीविया में कुछ ऐसा ही हुआ और वहाँ के किसान ग्वेवारा और उनके कामरेडों के वीरतापूर्ण संघर्ष को समझ नहीं सके। हालाँकि ग्वेवारा को हमेशा यह महसूस होता रहा कि उन किसानों को अपने पक्ष में जीतना आवश्यक है। इसका जिक्र ग्वेवारा ने अपनी डायरी में किया है। १९६७ के मई महीने में लिखी गयी अपनी डायरी के अंश में उन्होंने उल्लेख किया है कि उस अवधि की महत्त्वपूर्ण विशिष्टता यह थी कि उन्हें 'किसानों के सहयोग का नितांत अभाव था।' किसानों का विश्वास जीतना 'मन्द चरण और धैर्य का काम है।' सैनिक कार्रवाई की गूंज, गोरिल्ला दस्ते की लड़ाई की क्षमता, आत्मत्याग और साहस अपने आप में पर्याप्त हों भी तो वे हिरावल दस्ते के गिर्द जनता का ध्रुवीकरण करने में अयोग्य अथवा अक्षम होंगे।

न तो सैनिक सफलता के अभाव की बिना पर यांत्रिक रूप से राजनीतिक असफलता को समझ सकते हैं और न राजनीतिक असफलता ही यांत्रिक रूप से सैनिक ह्रास का कारण बतला सकती है। इन दोनों पहलुओं का आपस में द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध है। वह इस प्रकार है कि अगर सैनिक सफलता को राजनीतिक सफलता का रूप नहीं दिया गया तो वह सैनिक सफलता निरर्थक सिद्ध होती है और अगर राजनीतिक कार्य सैनिक कार्य की ओर आगे नहीं बढ़ता तो उस राजनीतिक कार्य का भी कोई मानी नहीं है।

देब्रे की मान्यता के प्रतिकूल वर्तमान अवधि में लातीनी अमरीका में चल रहे वर्ग-युद्ध की विशिष्टता यह नहीं है कि सैनिक कार्रवाई के बाद राजनीतिक कार्य किये जा रहे हैं (इस तरह की कार्रवाई को Blanquism, putschism अथवा सैन्यवाद कहते हैं) बल्कि साम्राज्यवादी और उसके स्थानीय प्रतिनिधियों के वर्ग प्रभुत्व का जहाँ जोर है उसके सम्मुख शोषित वर्ग के लिए आरम्भ से ही राजनीतिक-सैनिक संघर्ष चलाने के अलावा कोई दूसरा राजनीतिक विकल्प नहीं है। ग्वेवारा के शब्दों में अगर उन्हें 'किसानों के अपने प्राचीन सम्बन्ध से बने सहयोग' प्राप्त नहीं हैं तो ऐसी स्थिति में साम्राज्यवादी दमन यंत्र सामरिक स्तर पर गोरिल्ला दस्ते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को अपने घेरे में कर लेंगे और किसी ग्वेवारा की असीम वीरता भी उसे नहीं बचा पायेगी क्योंकि हथियारों के आँख नहीं होती।

देब्रे की गलती यह थी कि उन्होंने हथियारबंद कार्यों को अपने-आप में ही प्रचार मान लिया।

वर्ग शत्रु के दमन यंत्र के विरुद्ध मुख्य संघर्ष आरम्भ करने का अर्थ यह है कि गोरिल्ला और उनके सहयोगी वास्तव में सम्पूर्ण शोषित जनता के सम्मुख विकल्प सर्वहारा शक्ति का रूप खड़ा कर रहे हैं। शोषितों की चेतना में इस वस्तुनिष्ठ प्रक्रिया को प्रतिबिंबित होने के कई उपाय हैं। इर्द-गिर्द अगर गोरिल्ला दस्ता हो तो ऐसी संभावना है कि लोग उसका महत्त्व समझें। लेकिन शायद ऐसा संभव नहीं है कि इर्द-गिर्द के सारे लोग घायल गोरिल्ला की मदद में पहुँच जायें। संभावना कौन-सा रूप लेगी यह इस बात पर निर्भर है कि सर्वहारा किसान और किसानों की प्रत्येक श्रेणी में विभिन्न स्थानों में वर्ग-संघर्ष की वस्तुनिष्ठ अवस्था क्या है और सर्वहारा क्रांति से जुड़े वर्गों के सम्मुख हिरावल दस्ता अपने संघर्ष को किस 'रूप' में प्रस्तुत करता है।

हथियारबंद प्रचार से संबंधित देब्रे के प्रबंध की जो सबसे बड़ी विचित्रता है और जो उसके यांत्रिक और द्वंद्वात्मकता-विरोधी स्वरूप को स्पष्ट रूप से प्रकट करता है वह यह है कि वह राजनीतिक और सैनिक कार्य के बीच अमूर्त विरोध खड़ा करते हैं। और अपने इस प्रबंध को उचित ठहराने के लिए वह राजनीतिक कार्य पहले आरंभ किये जाने और बाद में सैनिक स्तर तक पहुँच जाने को असम्भव बतलाते हैं। उनके अनुसार हथियारबंद प्रचार को सैनिक कार्रवाई के पूर्व और विशिष्ट मंज़िल मानने का मतलब होगा शत्रु को अनावश्यक रूप से उकसाना·····लातीनी अमरीका के अधिकांश देशों के किसानों की मौजूदा सामाजिक, सैद्धांतिक और मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं में किसी भी प्रचार दल पर, हथियारबंद हो या न हो, निगरानी रखी जायगी और उसका पता कर खात्मा कर दिया जायगा, भले ही उसका रूप आरंभिक क्यों न हो··· (देखिए 'क्रांति में क्रांति' पृ० ५६)। इस कथन से दो सम्भावनाएँ सामने आती हैं: हथियारबंद प्रचार, जो राजनीतिक-सैनिक कार्रवाई नहीं है, से देब्रे का क्या मतलब है इसकी जाँच करना। और दूसरा यह कि गोरिल्ला युद्ध में राजनीतिक और सैनिक पहलू के बीच के संबंध का सही उत्तर न तो वह है जिसकी देब्रे तरफदारी करते हैं (यानी यह कि राजनीतिक कदम के पहले सैनिक कदम ज़रूरी है), न ही वह है जिस पर देब्रे प्रहार करते हैं (यानी यह कि राजनीतिक कार्य के बाद सैनिक कार्य आता है)। इसका सही उत्तर यह है जिसका ज़िक्र देब्रे नहीं करते हैं कि क्रांतिकारी संघर्ष आरंभ से ही राजनीतिक-सैनिक संघर्ष का मिला-जुला रूप है। ये दोनों कार्य एकबद्ध हैं। हम देब्रे की अवधारणा संबंधी भूलें ऊपर बतला चुके हैं जिससे उनकी इस गडमड स्थिति का पता मिलता है। देब्रे यह दिखला पाने में असमर्थ हैं कि सुधारवादी कम्युनिस्ट पार्टियों के अवसरवादी कार्य ही वे आधार हैं जो पार्टी के सांगठनिक रूप की अवसरवादिता का रहस्य खोलते हैं, लेकिन ऐसा करने की बजाय वे यांत्रिक रूप से संगठन के सैनिक रूप में क्रांतिकारी राजनीति खोज निकालने की चेष्टा करते हैं।

जन आंदोलन के स्वेच्छावादी रूप की अवधारणा

देब्रे के अनुसार सबसे छोटी इकाई गोरिल्ला दस्ता है जो जन सेना का आरंभिक रूप है। उनके अनुसार कोई (राजनीतिक) मोर्चा इसका संगठन नहीं करता है बल्कि गोरिल्ला दस्ता ही राष्ट्रीय क्रांतिकारी मोर्चे को रूप देता है। देब्रे का यह भी कहना है कि जो कुछ **मौजूद** है उसी के आधार पर मोर्चा बनाया जाता है, न कि केवल मुक्ति के कार्यक्रम के आधार पर। (देखिए 'क्रांति में क्रांति' पृ० ८२)

इसमें संदेह नहीं कि जन-आंदोलन के स्वेच्छावादी रूप से संबंधित संग्रह में देब्रे का यह कथन स्थान पाने योग्य है। लेकिन जैसा कि गलत विश्लेषण में अक्सर होता है, देब्रे भी गलत विकल्प से आरम्भ करते हैं।

देब्रे की इस योजना से यथार्थ कहीं ज्यादा जटिल है क्योंकि गोरिल्ला दस्ता विकसित होकर जो रूप लेगा वह कोई मोर्चा नहीं होगा बल्कि वह जन सेना होगी। और सेना सेना होती है मोर्चा नहीं।

देब्रे का तर्क हमें और आगे उलझाव की ओर ही ले जाता है। देब्रे जब यह कहते हैं कि सबसे छोटी इकाई गोरिल्ला दस्ता है तो इससे उनका मतलब यह है कि गोरिल्ला दस्ता ही हिरावल दस्ता संगठन का प्राथमिक रूप है। इसके पूर्व या इतर हिरावल दस्ता नाम की कोई चीज़ नहीं है और इसका विकास हिरावल दस्ता के रूप में तभी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो सकता है जबकि उसका अस्तित्व देहात में हो। यहाँ हमें हिरावल दस्ता की भूमिका और वर्ग की भूमिका के बीच खेदजनक उलझाव मिलता है। देब्रे यह नहीं देख पाते हैं कि यद्यपि ग्रामीण क्षेत्र में ही हिरावल दस्ता सत्ता पर अधिकार करने के लिए जनता को संगठित कर सकता है (क्योंकि इसके बाद ही मज़दूर वर्ग शहर में सत्ता पर अधिकार कर सकता है), लेकिन वह शहर ही है जहाँ वह अपना संगठन कर सकता है और हिरावल दस्ता संगठन के रूप में अपनी मोर्चाबंदी कर सकता है। जिस तरह गोरिल्ला दस्ता के बगैर किसान वर्ग अपने को क्रांति के लिए संगठित नहीं कर सकेगा, उसी प्रकार नगर में राजनीतिक-सैनिक हिरावल दस्ता के बिना सर्वहारा न तो गोरिल्ला दस्ता को सामरिक कार्रवाई को प्रभावशाली मदद पहुँचा सकता है और न हथियारबंद किसान वर्ग को ही। ऐसी स्थिति में सबसे छोटी इकाई गोरिल्ला दस्ता (foco) नहीं बल्कि हिरावल दस्ता संगठन है और गोरिल्ला दस्ते का निर्माण और विकास उसके सामरिक महत्त्व का कार्य है। हिरावल दस्ता सर्वहारा क्रांति से यथार्थ में दिलचस्पी रखने वाले वर्गों के सभी प्रकार के संघर्ष का नेतृत्व करेगा और इसी रूप में वह हिरावल दस्ता उस गोरिल्ला दस्ता को प्रभावित करेगा।

सामाजिक विश्लेषण में रूपवाद और संगठन सैन्यवाद

'क्रांति में क्रांति' पुस्तक लेनिनवादी अर्थ में रणनीति से सम्बन्धित पुस्तक है। इसका सम्बन्ध इस विषय से है कि क्रांति कैसे की जाय। 'अतः इसकी हरेक पंक्ति से इस प्रश्न के ठोस जवाब की अवश्य आशा की जानी चाहिए कि पूंजीवादी राजसत्ता को किस प्रकार गिराया जाय।'

इस पुस्तक में वे हथियारबंद संघर्ष की दो विशिष्ट युक्तियों की जाँच पेश करते हैं: (१) हथियारबंद आत्मरक्षा, (२) गोरिल्ला आश्रय। जहाँ तक केवल युक्तियों का प्रश्न है देब्रे का विश्लेषण सर्वोत्तम है। लेकिन ऐसी कोई युक्ति नहीं है जिसका सम्बन्ध रणनीति से न हो, और ऐसी कोई रणनीति नहीं है जिसका कड़ा निर्धारण प्रतिरोधी शक्तियों के स्वरूप और उनकी संघर्ष क्षमता पर निर्भर न हो। अतः यह आवश्यक है कि लातीनी-अमरीकी क्रांति की रणनीति के सन्दर्भ में देब्रे की युक्ति दृष्टि की जाँच की जाय।

युक्तियों का प्रमुख उद्देश्य होता है क्रांतिकारी प्रक्रिया के विशिष्ट स्तर पर (मंज़िल पर) संघर्ष का मुख्य रूप निश्चित करना। सैद्धान्तिक स्तर पर इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए लातीन-अमरीका के विभिन्न कम्युनिस्ट संगठनों द्वारा प्रयोग में लाई गई विभिन्न युक्तियों की कमियों का विश्लेषण करते हुए देब्रे अनुभवजनित ढंग का प्रयोग करते हैं। अपने इस ढंग में वह अवसरवादी युक्तियों को नकारते हुए आगे बढ़ते हैं और परिणामतः संघर्ष के मुख्य रूप का निर्धारण गोरिल्ला दस्ता के रूप में होता है जो क्रांतिकारी हिरावल दस्ता की सामरिक गतिशील टुकड़ी है। अगर इस अंतिम परिणाम को सही मान भी लें तो इस प्रणाली की कमज़ोरी यह है कि इससे सिर्फ यह प्रकट होता है कि क्यों अवसरवादी युक्तियां उपयोगी नहीं होतीं। और पुस्तक के अंत में पाठक को यह एहसास होता है कि गोरिल्ला युद्ध इसलिए आवश्यक है क्योंकि अन्य उपाय सफल नहीं हुए। ऐसा नहीं महसूस होता कि गोरिल्ला युद्ध सही ढंग है। ऐसा प्रभाव इसलिए पड़ता है चूंकि देब्रे सही ढंग का निर्धारण सभी भ्रामक हलों को नकारकर और सेना दस्ता के रूप में उसकी सैनिक कार्रवाई का सही विश्लेषण के माध्यम से करते हैं। लेकिन वर्ग संघर्ष के मुख्य रूप के तौर पर गोरिल्ला युद्ध के कार्य का ठोस विश्लेषण कर वह इस नतीजे पर नहीं पहुँचते।

देब्रे का सम्पूर्ण तर्क 'पार्टी या गोरिल्ला' पर केन्द्रित है। यही कारण है कि वे यह दिखाना भूल जाते हैं कि आज लातीनी अमरीका में गोरिल्ला युद्ध वर्ग संघर्ष का श्रेष्ठ रूप है।

मार्क्सवाद-लेनिनवाद एक वैज्ञानिक प्रणाली है। इसके सही प्रयोग से ही हमें सर्वहारा क्रांति की रणनीति और युक्तियों की परिभाषा मिल सकती है। सर्वहारा और उसके बन्धुओं की युक्तियों का सही निर्धारण प्रत्येक ऐतिहासिक मंज़िल के वर्ग-संघर्ष के मुख्य पहलू की वैज्ञानिक परिभाषा, मुख्य पहलू और अन्य पहलुओं की सम्मिलित अवस्था के मूल्यांकन और राष्ट्रीय एवम् अन्तर्राष्ट्रीय स्तरों पर शोषित और शोषकों के बीच विभिन्न शक्तियों के सम्बन्धों की सही समझदारी के द्वारा उचित ढंग से हो सकता है।

क्रांतिकारी मार्क्सवादियों ने जिस आधार पर पूरी मानवजाति के सबसे बड़े शत्रु अमरीकी साम्राज्यवाद से मुकाबले के लिए तथाकथित 'समाजवाद के शांतिपूर्ण रास्ते'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को तिरस्कृत कर हथियारबन्द संघर्ष को ही केवल तर्कसंगत रास्ते के रूप में स्वीकार किया उनके गम्भीर अध्ययन से ही गोरिल्ला युद्ध का ठोस आधार पाया जा सकता है। यह अवश्य दिखाया जाना चाहिए कि पारम्परिक कम्युनिस्ट पार्टियों ने क्यों इस समस्या को न समझने की ज़िद कर ली है। लेकिन यह वैज्ञानिक ढंग से दिखाया जाना चाहिए। सर्वहारा का उद्देश्य त्यागकर इन पार्टियों ने जो विश्वासघात किया है उसे सामाजिक और राजनीतिक कारण बतलाते हुए स्पष्ट किया जाना चाहिए। उनके विरुद्ध अंत तक विरोध आवश्यक है जिन्होंने वियतनाम को इस युद्ध में दुःखद रूप से अकेला छोड़ दिया है और मात्र हथियार भेजकर अपने चेहरे की लाज बचा रखी है। और यहीं देब्रे बिल्कुल सही उतरते हैं जब यह कहते हैं कि हमें अपने विरोध को अवश्य ही कार्यरूप देना चाहिए। और इसी अर्थ में 'वामपंथी' अवसरवाद के सारे 'दस्तावेजों' से देब्रे की कृति का अर्थ कई गुना बढ़ जाता है। लेकिन एक मार्क्सवादी अपना तर्क इस दृढ़ मान्यता से आरम्भ करता है कि क्रांतिकारी सिद्धान्त के अभाव में क्रांतिकारी कार्य असंभव है, एक को दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है, दोनों के सम्मिश्रण से ही समाज का क्रांतिकारी परिवर्तन संभव है। इस दृष्टि से देब्रे पारम्परिक कम्युनिस्ट पार्टियों के बुर्जुआ हो जाने को उनके राजनीतिक कार्यक्रम से कभी नहीं जोड़ पाते हैं। देब्रे का यह आग्रह, कि उनका सुधारवाद मुख्यतः शहरी जीवन की सुविधाओं और सुखों पर निर्भर है, हास्यास्पद है। पारम्परिक पार्टियों के अवसरवाद और विश्वासघात का बुनियादी कारण यह नहीं है कि वे ग्रामीण क्षेत्र में जाना नहीं चाहते हैं, या शहर में ही शत्रु के विरुद्ध संघर्ष करना पसंद करते हैं बल्कि यह कि वे मुख्य शत्रु के विरुद्ध संघर्ष नहीं करते हैं।

देब्रे में सैद्धान्तिक दृढ़ता की कमी है और यही कारण है कि वह समस्या के तल तक नहीं पहुँच पाते हैं और यही कारण है कि वह यह नहीं कह पाते हैं कि पारम्परिक कम्युनिस्ट पार्टियाँ सोवियत कूटनीति और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की उसकी रणनीति के अन्तरराष्ट्रीय यन्त्र हैं। यह हर कोई जानता है कि रूस के शासक नौकरशाह अमरीकी साम्राज्यवाद और शोषित जनता के हिरावल दस्ते के बीच मुठभेड़ को हर संभव तरीके से विध्वंस करने की कोशिश करते हैं।

परिमाणतः क्रांतिकारी रणनीति के विस्तार की मांग सिर्फ यह नहीं है कि गोरिल्ला दस्ते की सैनिक विशिष्टता की परिभाषा की जाय। बल्कि यह निर्धारण करना है कि : १. आज की ऐतिहासिक मंज़िल पर वर्ग-संघर्ष की प्रकृति क्या है, और २. जनयुद्ध के रूप में गोरिल्ला का स्वरूप निर्धारण करना है जिसका वह मुख्य एवं प्रत्यक्ष रूप है; किंतु एकमात्र अथवा पर्याप्त रूप नहीं।

१. आज के युग में अमरीकी साम्राज्यवाद द्वारा विश्व-पूंजीवाद का आर्थिक एवं राजनीतिक रूप से एकीकरण वर्ग-संघर्ष के चरित्र का निर्धारण करता है। अमरीकी साम्राज्यवाद के प्रभुत्व में पूरे विश्व का बुर्जुआ आज एक विश्व पद्धति में इस प्रकार संघटित है कि पूंजीवादी देशों के बीच बाज़ार से सम्बन्धित प्रतिरोधों को पूंजीवाद का प्रमुख केन्द्र वाशिंगटन राजनीतिक रूप से नियंत्रित करता है। लेनिन के युग की तुलना में आज की दुनिया के पूंजीवादी देशों के बीच जो धुरी योग है उसमें नया तत्त्व यह है कि साम्राज्यवादी देशों के बीच राष्ट्रीय प्रतिरोधात्मक तत्त्व नहीं रह गये हैं, जिसका नतीजा यह है कि सभी साम्राज्यवादी देश अमरीकी साम्राज्यवाद के नेतृत्व के अधीन एक ही खेमे में हैं। फ्रांस का राष्ट्रपति अपने को फ्रांसीसी पूंजीवाद का हिमायती कह सकता है, परन्तु यह तो वर्ग-संघर्ष का पूरक पहलू है, क्योंकि फ्रांसीसी पूंजीवाद और अमरीकी पूंजीवाद के बीच का अन्तर्विरोध कभी प्रतिरोधात्मक नहीं होगा। चूंकि विभिन्न साम्राज्यवादी देशों के बीच अमरीकी साम्राज्यवाद के साथ प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष धुरी-योग के कारण प्रतिरोधात्मक तत्त्व समाप्त हो गये हैं; इसलिए साम्राज्यवादी देशों के बीच आपस में कभी युद्ध नहीं होगा। १९१४-१८ और १९३९-४५ के प्रथम एवं द्वितीय विश्वयुद्ध की तरह विभिन्न पूंजीवादी देशों के बीच के अन्तर्विरोध विश्व धुरी-योग पर हावी नहीं होंगे। अतः पूंजीवादी देशों के दमन-यंत्र का विनाश 'स्वतः' नहीं होगा। दूसरे शब्दों में यह विनाश तब तक नहीं होगा जब तक क्रांतिकारी जन-सेना प्रत्यक्ष रूप से उसमें हिस्सा न ले। कब्ल इसके कि अमरीकी साम्राज्यवाद द्वारा विश्व पूंजीवाद का एकीकरण कर दिया जाय, सर्वहारा अपने को निरस्त्र ढंग से शस्त्र-सज्जित कर ले। यानी पहले वह अपना राजनीतिक संगठन बनाये और अपने राजनीतिक संघर्ष को और एक हद तक निरस्त्र हिंसा को विकसित करे, तब हथियारबंद होने और सत्ता पर अधिकार करने के लिए अपने देश के प्रमुख

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्गों का सामाजिक, राजनीतिक और सैनिक रूप से खात्मा कर स्थिति का लाभ उठाये। १८७१ में पेरिस कम्यून में, १९१७ में रूस में, १९१८ में जर्मनी और हंगेरी में, १९४४-४५ में चीन में, १९४४-४५ में वियतनाम में, १९४२-४५ में युगोस्लाविया में यही हुआ।

इस प्रकार आज के साम्राज्यवादी पूंजीवाद का राजनीतिक-सैनिक एकीकरण तीसरे अन्तरराष्ट्रीय ज़माने के साम्राज्यवाद की अपेक्षा गुणात्मक रूप में विशिष्ट है। उस ज़माने के साम्राज्यवाद की विशिष्टता थी 'विश्व बाज़ार' का एकीकरण और साम्राज्यवादी देशों में आपस की बेरोक प्रतियोगिता, जबकि आज हम 'संगठित प्रतियोगिता' देख रहे हैं जिसके अन्तर्गत और कुशल ढंग से शोषण किया जाता है। सामाजिक उत्पादक शक्तियों की दृष्टि से बहु-साम्राज्यवाद और एक-साम्राज्यवाद जैसी दो मंज़िल के बीच का फर्क स्पष्ट है : अन्तर-साम्राज्यवादी संघर्ष के युग में उत्पादक शक्तियाँ वे थीं जो औद्योगिक क्रांति और भारी मशीन के आगमन से गतिशील हुई थीं। आज के युग में, जो अमरीकी साम्राज्यवाद द्वारा पूंजीवादी शोषण की एकीकृत विश्व पद्धति का युग है, इलेक्ट्रानिक, न्युक्लीयर और साइबरनेटिक की क्रांति ने अमरीकी आधिपत्य के लिए भौतिक अवस्थाओं का निर्माण कर दिया है। न्यूक्लीयर ब्लैकमेल और आटोमेशन ने सभी साम्राज्यवादी देशों को अमरीकी साम्राज्यवाद के अंगूठे के नीचे कर दिया है। राष्ट्रवादी पूंजीवाद इस प्रक्रिया को कतई नहीं बदल सकता। इसके साथ ही साम्राज्यवाद के साथ 'शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व' की रणनीति ने पूरे विश्व की शोषित जनता को मानव जाति के सबसे बड़े दुश्मन के विरुद्ध संघर्ष में 'दुखद रूप से अकेला' छोड़ दिया है। ऐसी ही रणनीति के आधार पर आज की दुनिया में अमरीकी साम्राज्यवाद और उसकी राष्ट्रीय कठपुतली सरकार और शोषित जनता और उनके सहयोगी सर्वहारा राज्यों के बीच विशिष्ट मुकाबले में सोवियत संघ पार्श्व में जा खड़ा हुआ है।

हमारे युग में पुलिस (जो शोषकों के लिए शोषितों से अपने वर्ग-स्वार्थ की आंतरिक रक्षा का एक यंत्र है) और सेना (जो एक बुर्जुआ राज्य के लिए दूसरे बुर्जुआ राज्य से बाहरी रक्षा का यंत्र है और संकट की घड़ी में ही अपने ही राष्ट्र के शोषितों के खिलाफ शोषक की रक्षा का भी यंत्र बनता है) के बीच का भेद मिट गया है। आज पूंजीवादी देशों में पुलिस और सेना के बीच केवल वर्दी और हथियार का फर्क रह गया है।

संक्षेप में लेनिन के युग में पूरी शोषित जनता के लिए विकल्प शक्ति स्थापित करने का सर्वहारा का ऐतिहासिक उद्देश्य बुनियादी तौर पर सैनिक उद्देश्य नहीं था। उस युग में 'ठीक समय पर' पूंजी की सत्ता के खिलाफ आक्रमण के योग्य मज़दूर वर्ग के पेशेवर राजनीतिक लड़ाकुओं का ठोस क्रांतिकारी संगठन ही पर्याप्त था। यह क्षण तभी आ सकता था जब अन्तर-साम्राज्यवादी युद्ध में बुर्जुवा सेना का खातमा हो गया होता। आज जबकि ऐतिहासिक रूप में अन्तर-साम्राज्यवादी युद्ध की सम्भावना समाप्त हो चुकी है, लातीन-अमरीका में विकल्प सर्वहारा शक्ति के लिए आरम्भ से ही राजनीतिक-सैनिक संघर्ष की आवश्यकता है जिसका मुख्य रूप हथियारबंद वर्ग-संघर्ष है।

२. गोरिल्ला युद्ध पूरी जनता का युद्ध है। गोरिल्ला दस्ता उसका मुख्य और प्रभावशाली रूप है इसलिए नहीं कि गाँव की अपेक्षा शहर में पकड़ा जाना आसान है, इसलिए भी नहीं कि गांवों में सर्वहारा बना देने का जादुई गुण है और शहर में बुर्जुवा बना देने के गुण हैं, इसलिए भी नहीं कि पहले अर्द्ध-सामन्तवाद से किसानों को मुक्त किया जाना चाहिए और तभी सर्वहारा के ऐतिहासिक हितों की चिन्ता की जा सकती है, बल्कि इसलिए कि आज लातीन-अमरीका में चल रहे वर्ग-संघर्ष की वस्तुगत अवस्थाओं में क्रान्तिकारी हिरावल दस्ते की प्रथम आवश्यकता है गाँवों में अपनी शक्ति संचय करने की, जिससे बाद में शहरों में राज्यसत्ता पर विजय हासिल की जा सके। यह स्पष्टीकरण आवश्यक है इसलिए कि अधिकांश लोग यह नहीं समझ पाते हैं कि क्यों रणनीति को सर्वप्रथम गाँवों के क्षेत्र में विकसित करना चाहिए, न कि शहरों में। और रणनीति और युक्ति को गड्डमड्ड कर देखने वाले कुछ कामरेड ऐसे हैं जो यह समझते हैं कि गाँवों में ही संघर्ष के उत्तम रूप का विकास हो सकता है क्योंकि ब्राजील में किसानों की संख्या सर्वहारा की अपेक्षा कहीं ज्यादा है। यह विचार एक तरफ क्रान्ति के चरित्र और वर्ग-विरोध तथा आज के युग के मुख्य उद्देश्य और दूसरी तरफ इस उद्देश्य की प्राप्ति के साधन (युक्ति) के बीच भ्रांति प्रकट करता है। यह सर्वहारा क्रान्ति है, और किसान ब्राजीली क्रांति में उस सर्वहारा का मुख्य अंग है। और आज के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युग का मुख्य उद्देश्य है हथियारबन्द संघर्ष के ज़रिये विकल्प मजदूर-शक्ति खड़ा करना जिसका रूप होगा क्रांतिकारी जन-सेना। इस उद्देश्य की प्राप्ति का माध्यम होगा गोरिल्ला दस्ता जो आगे चलकर गोरिल्ला युद्ध का रूप लेगा। अतः युक्ति के लिहाज से हिरावल दस्ता संगठन को अपनी मुख्य टुकड़ी गाँवों में भेजनी चाहिए। परिणामस्वरूप लातीन अमरीका में जनता के क्रान्तिकारी संगठन की शुरुआत गाँवों में ही हो सकती है। आज के ब्राजील की अपेक्षा १९१७ के रूस में किसान और सर्वहारा के बीच सांख्यिकी अनुपात में फर्क होने के बावजूद रणनीति सम्बन्धी भूमिका सर्वहारा के ही हाथ थी, जैसा कि सदा होता है, और वर्ग-संघर्ष की मंजिल में भी दूसरी थी।

परिणामस्वरूप गोरिल्ला दस्ता किसानों के लिए ही संघर्ष का उत्तम रूप नहीं है बल्कि पूर्ण शोषित जनता के लिए है। गोरिल्ला दस्ते की स्थापना देहात में करने का यह अर्थ नहीं है कि किसान सर्वहारा से अधिक क्रान्तिकारी है। (ऐसा समझना दक्षिण-पंथी और टुटपुंजिया विचार है जो मार्क्सवादी प्रणाली और विज्ञान की गहरी अनभिज्ञता प्रकट करता है।) हमारे संघर्ष की विशिष्ट अवस्था में सामाजिक संरचना के सबसे कमज़ोर सम्पर्क सूत्र को विध्वंस करने का सही माध्यम है गोरिल्ला कार्य। यह तथ्य कि बुर्जुवा राज्य सत्ता का सूत्र गाँवों में कमजोर होता है, एक राजनीतिक-सैनिक तथ्य है जो उन अवस्थाओं को प्रकट करता है जिनमें वर्ग-प्रभुत्व चरितार्थ होता है या ऐसा कहें कि उन अवस्थाओं को प्रकट करता है जिनमें शोषितों के दमन का यन्त्र प्रभावशाली रूप लेता है। पूंजीवाद के विषम विकास का निम्न स्तर देहात में दिखाई पड़ता है या जैसा कि गुंदर-फ्रैंक का कहना है कि देहात 'अर्द्ध-विकास' का सबसे विकसित रूप प्रकट करता है।

यह विश्वास करना कि संघर्ष का मुख्य रूप देहात में जन्म लेता है, क्योंकि आज सर्वहारा की बजाय किसान अधिक क्रान्तिकारी है, अधिकांश वामपंथी लड़ाकू कामरेडों की भ्रांति में फँस जाना है। वे कामरेड बुर्जुवा सिद्धान्त 'अर्थवाद' से अपने को पूरी तरह नहीं तोड़ सके हैं, इसलिए ऐसा कह रहे हैं। 'अर्थवाद' का सार है राजनीतिक और आर्थिक संघर्ष की धारा को कार्यरूप में गलत दिशा देना और सैद्धान्तिक और राजनीतिक चेतना को क्षति पहुँचाने की हद तक आर्थिक नियतिवाद की अतिरंजना करना। नतीजतन 'अर्थवाद' मार्क्सवादी विज्ञान पर बुर्जुवा 'विज्ञानवाद' के प्रभाव की अभिव्यक्ति है।

क्रांतिकारी सिद्धान्त के स्तर पर यह कहना उतना ही गलत है कि संघर्ष का मुख्य रूप देहात में जन्म लेगा क्योंकि किसान अधिक क्रांतिकारी हैं, जितना यह कहना कि उसका मुख्य रूप नगर में जन्म लेगा क्योंकि सर्वहारा किसान से अधिक क्रांतिकारी है। राजनीति और अर्थशास्त्र के बीच की भ्रांति की झलक दोनों उदाहरणों में समान रूप से मिलती है क्योंकि संघर्ष के मुख्य रूप का निर्धारण पद्धति (शासन) के सबसे कमजोर सम्पर्क सूत्र के आधार पर होता है न कि क्रांति के चरित्र के सम्बन्ध में अटकलबाजियाँ करने से।

यह सर्वहारा क्रांति तभी पूरी होगी जब सर्वहारा नगरों में राजसत्ता पर अधिकार कर लेगा और पूरी शोषित जनता का नेतृत्व करते हुए समाजवाद का निर्माण शुरू करेगा। लेकिन हमारी समस्या तो क्रांति की शुरुआत करने की है, क्रांतिकारी जनसेना के संगठन की है। गोरिल्ला दस्ते के कार्य के ज़रिये ही यह सम्भव है क्योंकि वह सर्वहारा हिरावल दस्ता संगठन की सामरिक महत्व की टुकड़ी है जो देहात में पद्धति (शासन) के सबसे कमज़ोर सम्पर्क-सूत्र के विरुद्ध आक्रमण को दिशा देता है। देहात में इस गोरिल्ला दस्ते को रूप देने का अर्थ है कि जन-सेना देहात में ही संगठित की जा सकती है। सबसे कमजोर सम्पर्क-सूत्र के संदर्भ में औद्योगिक उत्पादन के सामाजिक-आर्थिक भार और राजनीतिक-सैनिक प्रभुत्व को गडमड करना लेनिनवाद को तिलांजलि देना है। इस प्रकार जब अवसरवादी यह कहते हैं कि आज हमारा उद्देश्य शहरों में स्थिर होना चाहिए क्योंकि वहां औद्योगिक उत्पादन का भार अधिक है तो वे यह भूल जाते हैं कि क्योंकि शहरों में सामाजिक-आर्थिक दबाव सबसे ज्यादा है इसलिए बुर्जुवा की सरकार उन शहरों में ही अपने दमन यंत्र का भी इस्तेमाल भारी पैमाने पर करेगी। शायद अवसरवादियों की भ्रांति इस तथ्य से ज्यादा झलकती है कि वे दूसरे स्तर के दबाव का मुकाबला करने के न तो अभ्यस्त हैं और न करने की इच्छा-शक्ति रखते हैं।

अनुवादक : प्रेमेन्द्र

['न्यू लेफ़्ट रिव्यू'—५६, जनवरी-फरवरी १९७० के अंक से साभार।]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रासंगिकी

साम्प्रदायिकता और साम्प्रदायिक दंगे

प्रभात कुमार त्रिपाठी

सांप्रदायिक दंगों को लेकर की जाने वाली बहसों में जो सबसे बड़ी गलती की जाती है वह यह है कि इनमें सांप्रदायिकता के ऊपर ज्यादा ज़ोर दिया जाता है और दंगों पर कम। अगर ज़रा भी ठंडे दिल से सोचा जाये तो यह समझते देर न लगेगी कि दंगावाली प्रवृत्ति सांप्रदायिकता का चेहरा पहनकर सामने आती है और निदान करने वाले रोग की जड़ों को समझने में भूल करते हैं। रांची से लेकर अहमदाबाद तक जो कुछ भी हुआ या होता रहता है, उसके पीछे सांप्रदायिकता का ज़हर काम नहीं कर रहा था—यह मानना भूल है, लेकिन यह मानना कि हिंदू-मुसलमान के बीच सांप्रदायिक सद्भाव के वातावरण से सब-कुछ ठीक हो जाने वाला है—एक दूसरी बड़ी भूल है।

सांप्रदायिकता के ज़हर और उसके परिणामों के ऊपर सोचते हुए, आज सबसे ज्यादा ज़रूरत इस बात की है कि हम भीड़ और व्यक्ति की मानसिकता को समझने की कोशिश करें। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि सांप्रदायिकता की भावना व्यक्ति में दंगों के पहले और दंगों के बाद भी होती है। लेकिन, वह दंगों में तभी बदल पाती है जब व्यक्ति का विवेक, भीड़ की उत्तेजना का अंश हो जाता है। यह आकस्मिक नहीं है कि दंगा करने वाली भीड़, गुंडा-नेतृत्व की अनुगामिनी होती है और वह न केवल हिंदू-मुस्लिम सांप्रदायिकता के तथाकथित पुराने ज़हर के द्वारा उत्तेजित की जा सकती है, बल्कि भीड़ को उकसाने के लिए किसी भी समय कोई भी ज़हर पैदा किया जा सकता है। अक्सर यह मानने में मुझे संकोच होता रहा है कि हिन्दू-मस्लिम सांप्रदायिकता, हज़ार वर्षों के इतिहास का ज़हर छिपाये है और दंगे सिर्फ इसी कारण होते हैं। मेरे इस संकोच के कारण हैं क्योंकि बिलकुल नये ज़हर के द्वारा भीड़ को उकसाया जा सकता है। बम्बई में शिवसेना के कारनामे, असम में असमियों और बंगालियों के झगड़े और मुंगेली में सवर्णों और हरिजनों की लड़ाई—हिंदू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता के कारण पैदा हुई दुर्घटनाएँ नहीं थीं।

सिर्फ हिंदू-मुसलमान के बीच की साम्प्रदायिकता के कारण ही अगर दंगे हो जाते हों तो फिलवक्त उनके बीच किसी 'पूरी एकता' की बात किताबी और काल्पनिक है। वस्तुस्थिति यह है कि हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच इतनी एकता हर वक्त रही है जितनी एकता दो विभिन्न सम्प्रदायों के व्यक्तियों में हो सकती है। हिन्दुस्तान के जन-जीवन को आत्मीयता से देखने पर यह बात प्रमाणित होती है कि अपने दैनिक व्यवहारों में हिन्दू-मुस्लिम कितने घुले-मिले हैं।

दरअसल साम्प्रदायिक दंगों को लेकर हिन्दू-मुस्लिम की एकता की बात बार-बार उठाने वाले लोग बेहद चालाक लोग हैं। यह बात एक साधारण-से-साधारण आदमी भी महसूस करता है कि अपने दैनिक-व्यवहारों में हिन्दू-मुस्लिम उतने एक हैं, जितने कि हिन्दू और हिन्दू और मुसलमान और मुसलमान भी नहीं हैं। इसकी तुलना में प्रान्तीयता और भाषा सम्बन्धी अलगाव की भावना ज्यादा प्रबल है। कुछ दिन पहले मैंने राजमोहन झा की एक कहानी 'बीच का समय' पढ़ी थी। इस कहानी में दंगे की अवधि को लेकर हिंदू पात्र के मन में अलगाव की जो पीड़ा बताई गयी है, उससे यह बात साबित होती है कि आम तौर पर हिन्दू और मुसलमान दोनों यह अलगाव महसूस नहीं करते रहते हैं और दंगे के बाद अकस्मात ही उन्हें यह महसूस होने लगता है कि वे दो भिन्न दुनियाओं के लोग हैं।

मैंने पहले भी कहा है कि एकता की बात उठाने वाले लोग काफी चालाक हैं। इस तरह की चालाकी करने वालों में हिन्दुस्तान के राजनेता प्रमुख रहे हैं। पिछले बाईस वर्षों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साम्प्रदायिकता की भावना को व्यक्तिगत धार्मिकता से अलग कर, कौमी दंगों में परिवर्तित कर देने का मुख्य श्रेय, राजनेताओं को ही है। राजनेताओं का एक वर्ग है जो अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के नाम पर मुसलमानों को भारतीय जीवन की मुख्य धारा से काटकर रखने की चालाक कोशिश करता रहा है। गोकि यह सच है कि स्वतन्त्रता के बाद से लेकर अब तक मुसलमानों के मन में असुरक्षा की भावना लगातार बढ़ती रही है, लेकिन इस असुरक्षा के आतंक को अलगाव के अस्त्र से नहीं काटा जा सकता।

नेताओं का एक दूसरा वर्ग भी है जो अपनी दकियानूस और मध्ययुगीन मानसिकता को ढाँकने के लिए भारतीयकरण के चालाक मुहावरे का उपयोग करता है। यह वर्ग खतरनाक है क्योंकि यह सम्प्रदाय-विशेष की व्यक्तिगत धार्मिकता को, अभारतीय होने का प्रमाण मान सकता है और मनवा भी सकता है। मेरी समझ में नहीं आता कि आखिर भारतीयकरण का मतलब क्या हो सकता है? क्या जो आदमी अपने भाषणों में, वेदों और उपनिषदों के मंत्र उद्धृत कर सकता है, वही भारतीय है? क्या हिन्दुस्तान के आम मुसलमान को इस बात की फुर्सत भी है कि वह भारत के अलावा किसी दूसरे देश की बात सोच सके? सच तो यह है कि हिन्दुस्तान का आम आदमी—चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान—खुद को ज़िंदा रखने की इतनी कठिन लड़ाई लड़ रहा है कि उसे अपने और अपने परिवार के अलावा और किसी के बारे में सोचने की फुर्सत ही नहीं है।

अभी हाल 'सारिका' में मैंने वदी उज्जमा की एक कहानी पढ़ी थी। इस कहानी में एक मुसलमान दर्जी है जिसे कई कारणों से बिहार का अपना गाँव छोड़कर पूर्वी पाकिस्तान जाना पड़ता है। वहाँ रहकर भी वह अपनी मुस्लिम धार्मिकता को बिहार के 'अपने गाँव' से अलग करके नहीं देख पाता। बहुत पहले लिखी गई मोहन राकेश की कहानी 'मलवे का मालिक' भी इसी बात की गवाही देती है कि जो असली भारतीय-जन है, उसके भारतीयकरण का सवाल नहीं उठता। यह जरूर है कि अब उसके मनुष्य होने या न होने के सवाल को शिद्दत से महसूस किया जाना चाहिए। सामान्य भारतीय जन जिस तरह की ज़िन्दगी बसर कर रहा है, उससे शक होता है कि लिखने-पढ़ने वाले हम लोग, भाषण देने वाले नेता, और देश चलाने वाले साहब लोग—उसे आदमी की तरह जिन्दा रहने का नैतिक हक देना चाहते भी हैं या नहीं?

भारतीय-जन की इस करुण हालत को सांप्रदायिकता की समस्या के समानान्तर देखने की जरूरत है। इसलिए कि पिछले बाईस वर्षों में एक 'नकली भारतीय' भी पैदा हो गया है और अंग्रेज़ी न केवल इसकी जुबान में है बल्कि इसके सोचने-समझने का तरीका भी अंग्रेजों जैसा है। यह आकस्मिक नहीं है कि अंग्रेज़ों के द्वारा बोये गये विष-बीज को यह पढ़ा-लिखा वर्ग जाने-अनजाने सींच रहा है। ऊपरी मेल-मिलाप और रहन-सहन की एकता के बावजूद 'शहरी हिन्दू और मुसलमान' गाँव के अनपढ़ लोगों से ज़्यादा दकियानूस और क्रूर हैं। यह भी आकस्मिक नहीं है कि मुसलमानों में 'पॅन-इस्लामिज़्म' और हिन्दुओं में 'कट्टर-हिन्दूवाद' को उकसाने वाले लोग अंग्रेजी-दीक्षा से दीक्षित रहे हैं। रिक्शे-वाला यूनुस और होटल कामगार या बीड़ी मज़दूर घासीराम के दिलों में धार्मिकता के बावजूद अलगाव की घूर्त और क्रूर भावना नहीं है, लेकिन पुलिस इन्सपेक्टर वर्मा और अध्यापक मुहम्मद हुसैन के दिलों में दुश्मनी बढ़ती रही है। सांप्रदायिक दंगों में हिस्सा लेने वालों में अनपढ़ मज़दूर हो सकते हैं लेकिन ऐसे दंगों को पैदा करने में चालाक लोगों का हाथ रहता है।

कितनी अजीब बात है! शिक्षा से मनुष्य अपनी पाशविकताएँ भूलता है, लेकिन हमारे यहाँ शिक्षित होने के बाद लोगों की पाशविकताएँ बढ़ी हैं। लोगों के दिमाग तंग हुए हैं। इस लेख के आरंभ में ही मैंने कहा है कि सांप्रदायिक दंगों में—दंगे पर विचार कम किया जाता है। सांप्रदायिकता की भावना को दंगे में बदलने से रोका जा सकता है। उसका तात्कालिक दमन किया जा सकता है। पर दंगे रुकते नहीं हैं। रोक सकने वालों के दिमाग तंग और सड़े हुए हैं। बड़े-बड़े शहरों के बड़े-बड़े पुलिस अफसरों के सोचने का ढंग या तो गुरु गोलवलकर-जैसा है या एक कदम आगे बढ़कर बाल ठाकरे-जैसा।

सन् १९६४ के मार्च महीने में मेरे अपने शहर रायगढ़ में हिन्दू-मुस्लिम दंगा हुआ था। दुर्घटना के वक्त मैं वहाँ मौजूद नहीं था। बाद में मैंने कई लोगों से सुना कि पुलिस वाले चाहते तो दंगा रुक सकता था। कई लोगों ने तो दबी जुबान से यह भी कहा कि कलक्टर और पुलिस वालों ने दंगा करने वालों को छूट दे रखी थी। ये लोग अपनी बात खुलकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसलिए नहीं कह पाते हैं क्योंकि डरते हैं। औसत हिन्दुस्तानी आदमी की हालत यह हो गयी है कि अगर वह खून होते हुए भी देख ले तो 'फँस जाने' के डर से गवाही नहीं देगा। नतीजा यह होता है कि 'दंगा-तत्त्व' की छान बीन कभी नहीं हो पाती। गुंडे अपना काम पूरा कर जाते हैं। पुलिस वाले और अफसर लोग तंग दिमागों से अपना दायित्व पूरा करने में लगे रहते हैं। अक्सर यह होता है कि दंगे के वक्त एक हिन्दू पुलिस वाला अपने को पुलिस वाला नहीं बल्कि हिन्दू समझता है—और हिन्दू-गुंडे के साथ उसके संबंध हिन्दू-भाई जैसे हो जाते हैं।

लेकिन ऐसा क्यों है? सारी ऊपरी आधुनिकता के बावंजूद, अफसरों, नेताओं और पुलिस वालों का दिमाग इतना तंग क्यों है? वे भारतीयता के अर्थ को इतना संकीर्ण क्यों कर लेते हैं? जवाब है शिक्षा। पिछले बाईस वर्षों में और उसके पहले भी—शिक्षा के प्रारंभिक सोपान से लेकर अन्त तक, लोगों के दिमाग में भारतीयता की एक गलत तसवीर भरी जाती रही है। नतीजा यह हुआ है कि हम भीतर से मध्ययुगीन और दकियानूस रह गये हैं। हम अपनी परंपरा को बड़ी-बड़ी पोथियों में सुरक्षित जानकर खुश हैं। आधुनिकता का मतलब हमारे लिए टेरेलिन के कपड़े और सिनेमा के गाने हैं। स्वतन्त्रता के बाद हमने, शिक्षा के द्वारा आधुनिक संस्कृति की परिकल्पना को पुष्ट करने का ज़रूरी काम नहीं किया है। इसलिए हमारे देश के पढ़े-लिखे लोग देश के सबसे ज्यादा अय्याश लोग हैं। ये वे लोग भी हैं जिनके दिमागों में सांप्रदायिकता से फायदा उठाने की चालाकियाँ भरी हुई हैं।

जाहिर है कि जहाँ सांप्रदायिकता की भावना से लड़ने के लिए, शिक्षा में बुनियादी परिवर्तन की ज़रूरत है, वहीं अकस्मात उबल पड़ने वाले दंगों को रोकने के लिए, उस इलाके के अफ़सरों के दिमाग ठीक करने की ज़रूरत भी है। जनता की तकलीफ से बेखबर, सत्ता की लड़ाई में मगन रहने वाले राजनेता सोचें कि देश के टूटने का मतलब—उनका भी अन्त है। □

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन

लेनिन-जन्मशती का एक आलोचनात्मक उपहार

नामवर सिंह

सोवियत संघ से आने वाली हर पुस्तक की तरह चेलिशेव की पुस्तक 'सुमित्रानंदन पंत तथा आधुनिक हिंदी कविता में परंपरा और नवीनता' का भी सबसे पहले राजनीतिक महत्त्व है। इस राजनीतिक कुतूहल को शांत किये बिना पुस्तक के साहित्यिक महत्त्व की ओर ध्यान आकृष्ट करना संभव नहीं है; इसलिए आरंभ में ही यही स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि चेलिशेव की इस पुस्तक में ऐसा सनसनीखेज़ कुछ भी नहीं है—खास तौर से ऐसी कोई चीज़ तो निश्चय ही नहीं है जिसे हिंदी के मार्क्सवादी आलोचकों के खिलाफ़ इस्तेमाल किया जा सके। उदाहरण के लिए पंतजी की परवर्ती काव्य-साधना के विषय में, जिसकी परिणति 'लोकायतन' में हुई है, चेलिशेव की भी यही मान्यता है कि "जिस मात्रा में पंतजी आदर्शवादी दर्शन के घने वन की गहराइयों में पैठते जाते हैं, उतनी ही मात्रा में उनकी कविता का कलात्मक स्तर गिरता जाता है, उसकी भावात्मक परिपुष्टि, भाषा का सौंदर्य, उज्ज्वलता एवं अभिव्यक्तिशीलता घटती जाती है, प्रतिमांकन धुँधला-सा होता जाता है।" (पृ० २२०) इसी प्रकार 'पल्लव' और 'गुंजन' में चेलिशेव भी "प्रगतिशील स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों की प्रधानता मानते हैं" (पृ० १०३) और 'ग्राम्या' को "आलोचनात्मक यथार्थवाद की ड्योढ़ी पर" (पृ० १४५)। यह मूल्यांकन सामान्यतः हिंदी के मार्क्सवादी आलोचकों के मत से ही मिलता-जुलता है।

किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि चेलिशेव की पुस्तक हिंदी आलोचना का रूसी अनुवाद मात्र है। यह सही है कि पुस्तक में हिंदी आलोचकों के मत कदम-कदम पर उद्धृत किये गए हैं—मार्क्सवादी आलोचकों से ज्यादा गैर-मार्क्सवादी आलोचकों के, जिनमें से कुछ के नाम तो औसत हिंदी पाठक के लिए भी नये हैं; और कम-से-कम दो की छूट तो खटकती भी है: रामचन्द्र शुक्ल और रामविलास शर्मा; फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अपने विवेचन में चेलिशेव उद्धृत आलोचकों के मत पर निर्भर नहीं हैं। पंतजी के काव्य के संबंध में उनकी व्युत्प्रेक्षाएँ अपनी हैं और निष्कर्ष तक पहुँचने की पद्धति भी।

चेलिशेव की आलोचनात्मक क्षमता की विशेषता पंतजी की काव्य-साधना के ऐतिहासिक विश्लेषण में सबसे ज्यादा प्रकट हुई है। पंतजी की कविता में विकास के तीन सोपानों की चर्चा तो प्रायः की जाती है किंतु काव्य के स्तर पर विकास-पथ के ब्यौरे देने का कार्य चेलिशेव ने किया है। इस दृष्टि से पंतजी की कविता में 'प्रगीत-नायक' की अवधारणा का विकास सबसे उल्लेखनीय है। "पंतजी का आरंभकालीन प्रगीत-नायक विस्फारित नेत्रों से संसार को ताकता है, उसकी महानता से आश्चर्यचकित हो उठता है, आनंदित हो जाता है, दुःख तथा आशा-निराशा का अनुभव करता है, पर निषेध का शब्द उसके मुँह से कभी नहीं निकलता और न वह दुष्टता के विरुद्ध संघर्ष ही छेड़ता है।" (पृ० ४५) 'गुंजन' तक पहुँचते-पहुँचते वह "प्रगीत-नायक अपनी अनेक भ्रांतियों और वैयक्तिक मनोविन्यासों से मुक्त हो जाता है, अपने निजी सुख एवं कल्याण को वह अब समस्त जनता के सुख से भिन्न नहीं मानता।" (पृ० ६६) चौथे दशक के मध्यकाल अर्थात् 'युगांत' तक आते-आते पंतजी के प्रगीत-नायक का यह विशेष स्वभाव प्रकट होता है: "काव्यगत 'मैं' और बाह्य माध्यम अर्थात् तीव्र और निर्मम वास्तविक के बीच हृदयभेदी एवं अजेय संघर्ष का अभाव।...वह कल्पनामय स्वप्नसृष्टि से मुँह मोड़ते हुए जनता के समीप आकर उनकी सहृदयतापूर्वक सहायता करना तो चाहता है पर

१. सुमित्रानंदन पंत तथा आधुनिक हिन्दी कविता में परम्परा और नवीनता; लेखक: ई० चेलिशेव; प्रकाशक: राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; मूल्य: दस रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जानता नहीं कि यह कैसे किया जाय।" (पृ० १०७) इसके बाद "'ग्राम्या' संग्रह में पंतजी का काव्यनायक मानवतावादी मनुष्य का प्रतीक है। वह गहरे सामाजिक अन्याय को सह लेता है, पूर्ण जीवन के स्वप्न देखता है। श्रमजीवी कृषक वर्ग की दयनीय दशा के प्रति गहरी सहानुभूति रखते हुए, शोषण, अंधकार एवं अज्ञान से मुक्त समाज के अपने प्रिय आदर्शों को साकार रूप न मिलने से बहुत व्यथित होते हुए भी पंतजी का काव्यनायक एक निष्क्रिय स्वप्नदर्शी ही रह जाता है।" (पृ० १६२) इसी प्रकार कवि की साधना के अन्य सोपानों में भी 'प्रगीत-नायक' की परिकल्पना को प्रस्तुत करते हुए चेलिशेव ने ठोस रूप में विकास की रेखाएँ निरूपित की हैं।

प्रगीत-नायक के अतिरिक्त बिंब-विधान का विकास-निदर्शन भी चेलिशेव के विवेचन की मुख्य विशेषताओं में से एक है। उषा और प्रभात के बिंब पंतजी की कविता में आदि से अंत तक बराबर प्रयुक्त हुए हैं, किंतु चेलिशेव की सूक्ष्म आलोचना-दृष्टि ने यह लक्षित किया कि उषा और प्रभात के बिंबों में क्रमशः अर्थ-परिवर्तन होता गया है। इस दृष्टि से 'वीणा' के प्रभात संबंधी बिंब से 'गुंजन' का प्रभात-बिंब भिन्न है और 'गुंजन' से 'युगांत' का तथा 'युगांत' से 'स्वर्ण-किरण' के प्रभात-बिंब विशिष्ट हैं। इस प्रकार चेलिशेव ने पंतजी के बिंब-विधान का जो ऐतिहासिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है, वह इस क्षेत्र में उनकी विशिष्ट देन है।

इसी प्रकार चेलिशेव ने पंतजी के सौंदर्यबोध, सर्जनात्मक प्रणाली, काव्य-भाषा तथा छंद-योजना का भी क्रमिक विकास दिखलाया है। मार्क्सवादी आलोचना से जिन्हें यह शिकायत है कि उसमें काव्य के कला पक्ष के विवेचन की उपेक्षा की जाती है उन्हें यह देखकर संतोष होगा कि चेलिशेव की इस पुस्तक में एक-तिहाई से अधिक अंश काव्य-शैली के विवेचन से संबद्ध है। उल्टे चेलिशेव को यह शिकायत है कि "यद्यपि पंतजी के विषय में अब तक बहुत लिखा गया है, तथापि उनकी कला-प्रणाली के विकास की समस्या लगभग अछूती ही रही है। यदि कभी-कभार पंतजी की कला-प्रणाली की चर्चा छिड़ती भी है तो नियमतः उसमें उनकी कविता का स्वच्छंदतावादी स्वरूप ही दर्शाया जाता है।" (पृ० २२३) संभवतः इसी अभाव की पूर्ति के लिए चेलिशेव ने पंतजी की काव्य-साधना के प्रत्येक सोपान की कला-प्रणाली का विवेचन विस्तार से स्वतंत्र अध्यायों में किया है जिससे उनकी सूक्ष्म कलाग्राही दृष्टि का परिचय प्राप्त होता है। एक ऐसे अध्येता के लिए यह उपलब्धि साधारण नहीं है जिसकी मातृभाषा हिंदी नहीं है।

चेलिशेव के विश्लेषण की विशेषता सबसे अधिक पंतजी के जीवन-दर्शन के प्रसंग में व्यक्त हुई है। पंतजी का जीवन-दर्शन हिंदी आलोचकों के बीच सबसे ज्यादा विवादास्पद रहा है और उसके विषय में प्रायः एकांगिता प्रदर्शित की गई है। किंतु चेलिशेव ने द्वंद्वात्मक दृष्टि का सफल उपयोग करते हुए उस जीवन-दर्शन में निहित असंगतियों को ही लक्षित नहीं किया बल्कि उसे समग्रता में भी देखा है। इस द्वंद्वात्मक दृष्टि के उपयोग का एक उदाहरण है 'ग्राम्या' का विश्लेषण, जिसे प्रायः अन्तर्विरोधों से मुक्त प्रगतिशील और यथार्थवादी माना जाता है। इस प्रसंग में चेलिशेव ने एक ओर शिवदानसिंह चौहान और दूसरी ओर विक्टर बालिन की मान्यताओं का खंडन करते हुए लिखा है कि "ग्राम्या संग्रह के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि पंतजी की समस्त काव्य-साधना की तरह ही इसमें भी उनकी वैचारिक भूमिका एवं सृजन प्रणाली की असंगति एवं अनिश्चितता दिखाई पड़ती है; यह सही है कि अपनी अन्य रचनाओं की तुलना में पंतजी इस संग्रह में जन-जीवन के अत्यधिक निकट पहुँचे हैं, पर इसका अर्थ यह नहीं कि वह यथार्थवादी बन गए।" (पृ० १८२) इस कथन को और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने आगे लिखा है: "उक्त संग्रह की अधिकांश कविताओं में कवि एक स्वच्छंदतावादी कलाकार के रूप में ही हमारे सामने आता है।···कवि की भाववादी विचारधारा, गांधीवाद के भाववादी-मानवतावादी आदर्शों का अनुयायित्व और प्रत्यक्ष भारतीय वास्तविकता के स्थान में अखिल मानवतावादी नैतिक रूपांकन के प्रयत्न उक्त (यथार्थवादी) प्रवृत्तियों के विकास में बाधक बने रहे। वास्तविकता के प्रति असंतोष के कारण पहले ही की तरह रूपांकन की ऐतिहासिक वास्तविकता को क्षति पहुँची और कवि अपने भाववादी-मानवतावादी आदर्शों तथा मानवता के उज्ज्वल भविष्य के संबंध में काल्पनिक स्वप्नों के आधार पर वास्तविकता का पुनर्निर्माण करने के लिए प्रयत्नशील रहा।··· पर अब कवि के स्वच्छंदतावाद का स्वरूप उसकी प्रारंभिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधना के कालखंड की तुलना में बहुत-कुछ परिवर्तित हुआ है, उसमें अधिक सक्रिय रेखाएँ दृष्टिगोचर होती हैं।" (पृ० १८३) 'ग्राम्या' के विषय में चेलिशेव का यह मूल्यांकन यही नहीं कि युक्तिसंगत है बल्कि मेरी जानकारी में इतना संतुलित मूल्यांकन अन्यत्र दुर्लभ है।

द्वन्द्वात्मक दृष्टि का दूसरा उदाहरण है 'पंचम दशक से सप्तम दशक की दार्शनिक कविता' के प्रसंग में चेलिशेव का विश्लेषण। पंतजी के इस परवर्ती विकास को कुछ लोग नितान्त रहस्यवादी मानते हैं। चेलिशेव ने इस मत का खंडन करते हुए स्पष्ट लिखा है कि इस काल में भी पंतजी मार्क्सवाद से विमुख नहीं हुए। (पृ० २२६) चेलिशेव की दृष्टि में "प्रगतिशील एवं प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोणों के सन्देहपूर्ण संश्लेषण में ही पंतजी की विचारधारा एवं काव्य-साधना की वैचारिक निर्बलता के मूल निहित हैं। यहीं से उनके वैचारिक-सौंदर्यात्मक आदर्शों का सूत्रपात होता है जो वास्तविकता से कहीं दूर हैं और कहीं-कहीं उसका मिथ्या अर्थ लेते हैं। इन सभी कारणों से पंतजी की युद्धोत्तरकालीन काव्य-साधना में निष्क्रिय एवं प्रतिक्रियावादी स्वच्छन्दतावाद की धारा का उदय हुआ, जिससे वास्तविकता के यथार्थ चित्रण में और मानव को उसके भगवत् जीवन की समस्त जटिलता के बीच समझ लेने में बाधा आई। वैचारिक भूमिका की भ्रमपूर्णता कवि के लिए मनुष्य के आन्तरिक विश्व की थाह लेने, उसके स्वभाव का उद्घाटन करने, सामाजिक माध्यम के साथ उसका संबंध दिखाने और सुन्दरतर जीवन के लिए संघर्ष की दिशा में उसका मार्गदर्शन करने में बाधा बन गई।" (पृ० १९४) चेलिशेव ने पंतजी के मानववाद और आशावाद को उनके चिंतन की शक्ति मानते हुए भी इस मानववाद की सीमा की ओर स्पष्ट संकेत करते हुए लिखा है कि "मनुष्य के अधिकार की घोषणा एवं मानव-व्यक्तित्व के अपने मूल्य का समर्थन करते हुए तथा भावी 'स्वर्णयुग' के पूर्ण मानव, 'सांस्कृतिक चेतना' के विकास इत्यादि के स्वप्न देखते हुए पंतजी तत्त्वतः मनुष्य को सामाजिक जीवन से पृथक् कर देते हैं और उसकी चेतना को कोई एक ऐसी पृथक् वस्तु मानते हैं जो बाह्य प्रभावों के परे और किसी विशिष्ट ऊर्ध्व नियम के अनुसार विकसित होती है। पंतजी की युद्धोत्तरकालीन रचनाओं में मानव जैसे देश और काल-बाह्य स्वरूप में उपस्थित होता है जो वर्ग-विषयक एवं राष्ट्रीय स्वत्व से वंचित है।" (पृ० १९५)

पंतजी की पाँच दशकों की लम्बी अवधि के बीच फैली हुई काव्य-साधना में बदलते हुए जीवन-दर्शन का समग्रतः मूल्यांकन करते हुए चेलिशेव ने अन्त में यह निष्कर्ष निकाला है कि वे विचारों में वस्तुतः सारसंग्रही अथवा सर्वोत्तमग्राही (एक्लेक्टिक) हैं। पंतजी में सर्वोत्तमग्राहिता की प्रवृत्ति 'युगवाणी' में भी थी (पृ० १४३) और 'स्वर्णकिरण' से लेकर 'लोकायतन' तक के काल में भी (पृ० १९१, २२६)। उन्होंने वस्तुवादी और भाववादी जीवन-दृष्टियों के सामंजस्य का असंभव प्रयास निरंतर किया। (पृ० १९४) किन्तु चेलिशेव का विश्लेषण यहीं समाप्त नहीं होता। उन्होंने इससे भी आगे जाकर इस अन्तर्विरोधपूर्ण जीवन-दृष्टि के ऐतिहासिक-सामाजिक कारणों की ओर भी संकेत किया है। उनके अनुसार कवि के "वैचारिक-सौंदर्यात्मक आदर्शों में प्राप्त होने वाली सर्वोत्तमग्राहिता, असंगति और विरोधाभास प्रायः वही हैं जो भारतीय बुर्जुआ बुद्धिजीवियों की विचारधारा द्वारा पूर्णतया अपनाए हुए थे; इनमें भारतीय समाज में उक्त वर्ग की दोमुँही भूमिका प्रतिबिंबित होती थी जो गठन की ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण संभव हुई थी। स्वामी विवेकानन्द, गांधीजी और श्री अरविन्द का अनुगमन करते हुए पंतजी ने पंचम-षष्ठ दशकों की अपनी कविता में भारतीय सभ्यता के असाधारणत्व और विशिष्ट आध्यात्मिक स्वरूप पर बल देने का प्रयत्न किया—यह सभ्यता मानो बुर्जुआ समाज के वर्ग-कलहों सहित सभी असंगतियों की औषधि थी।" (पृ० १९१) यदि युगवाणी-ग्राम्या काल में यह असंगति काव्य के लिए विशेष अहितकर नहीं हुई तो इसलिए कि उस समय देश के स्वाधीनता-संघर्ष में वामपक्षी शक्तियों का उभार था और कवि उनके साथ एक हद तक अपना लगाव महसूस करता था। इसके विपरीत पाँचवें-छठे दशक में यदि यह असंगति काव्य के लिए घातक सिद्ध हुई तो उसका कारण यह है कि उसमें प्रतिक्रियावादी विचारों का अनुपात अधिक हो गया जिसके मूल चेलिशेव के अनुसार तत्कालीन भारतीय जीवन में विद्यमान थे। यहाँ चेलिशेव ने उन आलोचकों का खंडन किया है जो कवि में इन प्रवृत्तियों के उदय को किसी दार्शनिक दृष्टिकोण के प्रभाव या उसके चरित्र की वैयक्तिक विशेषताओं या फिर स्वास्थ्य के बिगाड़ पर आधारित मानते हैं। (पृ० १८५) कहने की आवश्यकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं कि चेलिशेव ने पंतजी की वैचारिक असंगतियों के वस्तुगत सामाजिक कारणों का निर्देश करके हिन्दी आलोचना को समृद्ध किया है; और इससे पंतजी के साथ ही अन्य कवियों को भी समझने में मदद मिलती है। उल्लेखनीय है कि इस काल में पंतजी के सहकर्मी किन्तु उनसे अधिक विद्रोही और सामाजिक चेतना-संपन्न निराला में भी अध्यात्मवादी प्रवृत्तियाँ प्रबल हो उठी थीं।

इसके बावजूद चेलिशेव ने पंतजी को इस बात का श्रेय दिया है कि वे पाँचवें-छठे दशक की क्षयग्रस्त प्रवृत्तियों से मुक्त रहे और पश्चिम की उस बुर्जुआ प्रतिक्रियावादी विचारधारा का प्रभाव उन पर नहीं पड़ा, जिससे ग्रस्त प्रयोगवादी लेखक मानवता-विरोधी भूमिका निभा रहे थे। (पृ० १८७) चेलिशेव के अनुसार "मानव में, सदसद् विवेक बुद्धि की उज्ज्वल शक्तियों की विजय में, अपनी मातृभूमि तथा समस्त मानवता की स्वाधीनता में आशावादी विश्वास ने हमारे मानवतावादी कवि के लिए अपने साहित्य में पतनशील प्रवृत्तियों के प्रवेश के विरुद्ध विश्वासार्ह सुरक्षा-साधन का काम किया।" (पृ० १८९) यह सही है कि पंतजी इस काल में भी हमेशा की तरह प्रचंड आशावादी बने रहे। सवाल यह है कि इस आशावाद से पंतजी की कविता का क्या हित हुआ ? चेलिशेव यह स्वीकार करते हैं कि इस आशावाद के बावजूद पंतजी की कविता का पतन हुआ; फिर साहित्य की पतनशील प्रवृत्तियों से बचने का क्या लाभ ? सभी जानते हैं कि परवर्ती निराला में पंत से आशावाद कम था—बल्कि निराशा का स्वर ही प्रधान था; फिर भी निराला पंत से श्रेष्ठ कविताएँ दे गए। क्यों ? स्पष्ट है कि कविता में उत्कर्ष या ह्रास का सम्बन्ध आशा या निराशा से अनिवार्य नहीं है; आशा और निराशा अपने आप में काव्य के उपकारक नहीं हैं। महत्त्वपूर्ण है आशा और निराशा में निहित सामाजिक वस्तु। किन्तु लगता है कि चेलिशेव इस प्रश्न की जटिलता में न जाकर केवल एक अतिसरलीकृत निष्कर्ष से सन्तुष्ट हो गए।

वैसे, चेलिशेव ने 'ज्योत्स्ना' नाटिका की कला-प्रणाली का जो सूक्ष्म विश्लेषण किया है उससे स्पष्ट है कि वे आशावादी जीवनदृष्टि को काव्य के उत्कर्ष का अनिवार्य तत्त्व नहीं मानते। 'ज्योत्स्ना' नाटिका अपने लोकमंगलवादी स्वर और आशावादी जीवनदृष्टि के बावजूद एक असफल कृति है क्योंकि उसमें "कोई चरित्र-दर्शन नहीं है। इसके समस्त पात्र बस लेखक की कुछ निश्चित कल्पनाओं के थक्के हैं। इसीलिए नाटक का संघर्ष और उसके कथानक का विकास चरित्रों के टकराव एवं विकास के फलस्वरूप नहीं उत्पन्न हुए हैं।" (पृ० ७५) वस्तुतः जैसा कि चेलिशेव ने एक अन्य प्रसंग में कहा है, " 'प्रकृति के अक्षय सामंजस्य के कवि' पंतजी के सृजनात्मक व्यक्तित्व के लिए कोई भी तीव्र विरोधाभास या टकराव अपरिचित ही है।" इसलिए "पंतजी के काव्य-नायक के स्वभाव में सच्ची नाटकीयता का अभाव ही है।" (पृ० १०७) स्पष्ट है कि काव्य के लिए सीधी-सरल आशा या निराशा से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है आशा और निराशा का टकराव। पंतजी इस टकराव से अपने-आपको साफ बचाकर आशा के कल्पना-लोक में जा छिपते हैं और उनके आशावाद की यह काल्पनिकता ही उनकी सबसे बड़ी कमज़ोरी है। ऐसा नहीं है कि पंतजी की इस कमज़ोरी से चेलिशेव अपरिचित हैं। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि इस काल्पनिकता के कारण 'दिग्विजय' शीर्षक संगीत-रूपक प्रभावशाली नहीं बन पड़ा, जो वस्तुतः चेलिशेव के परम-प्रिय विषय प्रथम सोवियत अन्तरिक्ष यात्री यूरी गगारिन की अन्तरिक्ष उड़ान के गौरवार्थ लिखा गया था। इस कृति की असफलता का कारण बतलाते हुए चेलिशेव ने लिखा है कि "उसमें वास्तविकता का कोई गुमान भी नहीं दिखाई देता। रूपक के प्रसंग का अंकन ठोस ऐतिहासिक घटना-स्थिति से कटा हुआ-सा है, अन्तरिक्ष-विजय की समस्या उसमें भाववादी, साधारणीकृत और नैतिक धरातल पर उठाई गई है।" (पृ० २१०) आशावादी पंतजी इसी वायवीपन के साथ कविता में भारतीय जनता अथवा विश्व-मानव की मंगल कामना करते हैं और काव्य का अमंगल होता है। इसलिए इस वायवी आशावाद और मानववाद से भारत-सोवियत मैत्री के आयोजनों को भले ही बल मिले, न तो काव्य को कोई शक्ति मिलती है और न इतिहास को ही ! कायदे से चेलिशेव की तर्क-पद्धति इसी निष्कर्ष की ओर ले जाती है, किन्तु खेद है कि वे किन्हीं कारणों से इस निष्कर्ष से बचने का प्रयास करते दिखते हैं।

जीवन के प्रति आशावादी दृष्टिकोण को चेलिशेव इतना मूल्यवान मानते हैं कि उन्हें यह दृष्टिकोण अनिवार्यतः श्रेष्ठ काव्य का आधार प्रतीत होता है। उनका कुछ ऐसा खयाल है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि क्रान्तिकारी दर्शन अपनाने मात्र से श्रेष्ठ कविताओं की रचना सम्भव हो जाती है। 'युगवाणी' में पंतजी की 'श्रमिक' शीर्षक कविता देखकर वे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि "जीवन के पुनर्निर्माण में मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी और प्रधान भूमिका को पहले-पहले स्पष्ट और निश्चित रूप से घोषित करने वाले पंतजी इस बात में रवीन्द्रनाथ ठाकुर और प्रेमचन्द से भी काफी आगे बढ़ गए।" (पृ० १३१) इसी प्रकार 'युगवाणी' में 'प्रकाश' आदि कविताओं को देखकर वे यह कहते हैं कि "प्रभात के प्रतीक में क्रान्तिकारी आशय भरते हुए पंतजी रवीन्द्रनाथ से आगे बढ़ गए हैं।" (पृ० १३७) संभवतः इसी वजह से उनकी दृष्टि में 'क्रान्ति' और 'मार्क्स के प्रति' शीर्षक कविताएँ "सर्वोच्च शिखर जैसी प्रतीत होती हैं।" (पृ० १४२) स्पष्टतः चेलिशेव की दृष्टि में स्वस्थ सामाजिक दृष्टि और 'श्रमिक', 'क्रान्ति', 'मार्क्स' आदि कुछ निश्चित विषय ऐसे हैं जिन पर लिखी हुई कविता अनिवार्यतः अच्छी होती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कविता के मूल्यांकन के लिए यह दृष्टि निहायत सपाट है। जीवन-दर्शन तथा सृजनात्मक प्रणाली के सम्बन्धों के अतिसरलीकरण से ही ऐसी दृष्टि का प्रादुर्भाव होता है। अनेक स्थलों पर भौतिकवादी द्वन्द्वन्याय का अत्यन्त सफल प्रयोग करने वाले चेलिशेव ऐसे अवसर पर यह भूल जाते हैं कि वास्तविकता के आधार से विच्छिन्न आशावाद—चाहे वह क्रान्तिकारी आशय से ही पूर्ण क्यों न हो, कविता को "सामान्यताओं के सागर" में डुबो देता है और कविता अपनी जीवंतता खो बैठती है। इसीलिए अच्छे-से-अच्छे विषय पर भी कभी-कभी बेहद खराब कविताएँ देखने में आती हैं। संभवतः इसी वजह से कुछ आलोचक 'यूटोपिया' को साहित्य के लिए अनुपयुक्त मानते हैं।

फिर भी इन सीमाओं के बावजूद चेलिशेव ने पंतजी की कुछ कविताओं के कलात्मक गुणों का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण किया है जो हिन्दी काव्य की व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र की मूल्यवान निधि है। इस दृष्टि से 'युगवाणी' की 'दो लड़के', 'दो मित्र' तथा 'ग्राम्या' की 'गाँव के लड़के', 'ग्रामीण युवती' आदि कविताओं का विश्लेषण अत्यन्त मार्मिक है। इसी प्रकार 'पल्लव' की 'परिवर्तन' शीर्षक लम्बी कविता का विश्लेषण भी अत्यधिक मौलिक है। वैसे, 'परिवर्तन' की इस व्याख्या से पूरा का पूरा सहमत होना मुश्किल है। चेलिशेव का यह कहना सही है कि "इस रचना के प्रतीक गहरी सामाजिक-ऐतिहासिक विषय-वस्तु से अनुप्राणित हैं," किन्तु उसे १९१९-२३ के साम्राज्यवादी दमन और उसके प्रतिरोध का प्रतिबिम्ब कहना आलोचक का मानसिक आरोप है। "कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन वह सुवर्ण का काल" जैसे अतीतोन्मुख दोहद के भाव से आरम्भ होने वाली कविता जिस सामाजिक 'परिवर्तन' की व्यंजना करती है उसका सम्बन्ध पुरानी सामन्ती व्यवस्था के विनाश से अधिक है, साम्राज्यवादी दमन से कम। यही नहीं बल्कि 'परिवर्तन' के 'प्रलय' और 'मृत्यु' के प्रतीकों में प्रथम महायुद्ध की छाया देखना तो और भी हठाकृष्ट है। चेलिशेव ने इस कविता में जीवन-मृत्यु और सृष्टि-प्रलय के द्वन्द्वात्मक विन्यास को सही लक्षित किया है, किन्तु इसके बाद इस पर विचार करना आवश्यक है कि कविता की संरचना में इस द्वन्द्व का विकास नहीं होता बल्कि चक्राकार आवृत्तियाँ होकर ही रह जाती हैं, जिसके कारण यह कविता कुछ फुटकल गीतों की शृंखला बनकर रह गई है। कारण, पंतजी की 'परिवर्तन' की धारणा ही चक्राकार एवं आध्यात्मिक है। उसमें किसी प्रकार के वास्तविक परिवर्तन और विकास के लिए कोई स्थान नहीं है। इसलिए जीवन-प्रेम और आशावादी स्वर के बावजूद यह कविता अंततः एक भँवर में छोड़कर रह जाती है।

किंतु यह पुस्तक केवल सुमित्रानंदन पंत के मूल्यांकन तक ही सीमित नहीं है। चेलिशेव ने पंतजी की कृतियों का विस्तृत विश्लेषण इसलिए किया है कि "पंतजी की कृतियों और उनके जीवन-दर्शन के विश्लेषण से समस्त आधुनिक भारतीय साहित्य के विकास के महत्त्वपूर्ण नियमों को ढूंढ़ निकालना सुकर हो जाता है।" (पृ० १८) इस प्रकार इस पुस्तक में चेलिशेव का मुख्य प्रयोजन है **पंतजी के माध्यम से आधुनिक भारतीय साहित्य के महत्त्वपूर्ण नियमों की खोज।** इस दृष्टि से पुस्तक की 'भूमिका' संक्षिप्त होते हुए भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

आधुनिक भारतीय साहित्य के विकास के जिस प्रमुख नियम का चेलिशेव ने उल्लेख किया है वह है स्वच्छंदतावाद के साथ-साथ यथार्थवाद का उदय। यह नियम चेलिशेव की अपनी खोज नहीं है बल्कि इसे प्राच्य साहित्य के सोवियत विशेषज्ञ प्रोफेसर नि० इ० कोनरड पहले ही निरूपित कर चुके हैं और चेलिशेव इस नियम के लिए प्रोफेसर कोनरड के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आभारी हैं। 'यथार्थवाद की समस्याएँ तथा पूर्वी देशों के साहित्य' (१९५७) शीर्षक निबंध में कोनरड ने यह स्थापित किया है कि "जहाँ पाश्चात्य देशों के साहित्य में यथार्थवाद का उदय स्वच्छंदतावाद के बाद क्रमिक रूप में हुआ, पूर्वी देशों के साहित्य ने स्वच्छंदतावाद के पथ पर चरण रखा ही था कि उस पथ को ठीक से अपना लेने के पहले ही त्वरा से आगे को अर्थात् यथार्थबाद की ओर लपक पड़ा; इस कारण यथार्थवाद में गिनी जाने वाली बहुत-सी रचनाओं में स्वच्छंदतावाद के तत्त्व विद्यमान रहे।" कोनरड के अनुसार यह ऐसी विशेषता है जिसकी आवृत्ति न्यूनाधिक मात्रा में सभी पूर्वी साहित्यों में होती रही। भारतीय साहित्य पर इस नियम को लागू करते हुए चेलिशेव ने यह लिखा कि "भारतीय सांहित्य में स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों के साथ-साथ यथार्थवाद का उदय हुआ।" (पृ० १०) हिंदी साहित्य में पंत, निराला, प्रसाद के साथ प्रेमचन्द का उदय इस नियम की सत्यता का ठोस प्रमाण है। हिंदी आलोचक इस तथ्य से सर्वथा अपरिचित रहे हों, ऐसा तो नहीं है, किंतु इतने स्पष्ट रूप से उन्होंने इस नियम को निरूपित नहीं किया था; इसलिए इस विशेषता की ओर ध्यान दिलाने का श्रेय निश्चय ही चेलिशेव को देना होगा।

पर सवाल इस नियम के सत्यापन का है। यथार्थवाद का जो भी अर्थ लिया जाय, यह कहना गलत है कि स्वच्छंदतावाद के साथ यथार्थवाद का उदय केवल पूर्वी देशों के साहित्य की विशेषता है। अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों या फिर रूसी साहित्य के रोमांटिक कवि और कथाकार पुश्किन में यथार्थवाद के सन्निवेश को इनकार नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर जहाँ तक हिन्दी कविता के इतिहास का सम्बन्ध है, एक तरह का यथार्थवाद तो स्वच्छंदतावाद से पहले ही विद्यमान था जिसे रामचन्द्र शुक्ल ने द्विवेदीयुगीन 'इतिवृत्तात्मकता' की संज्ञा दी थी। आखिर बीसवीं सदी के शुरू में 'कृषक', 'विधवा' और 'अमलतास' जैसे विषयों पर लिखी हुई वर्णनात्मक कविताएँ यथार्थवादी नहीं तो क्या थीं! क्या वे कविताएँ आरंभिक प्रगतिशील युग की यथार्थबादी कविताओं की याद नहीं दिलातीं? इसलिए तात्पर्य यदि हिंदी के स्वच्छंदतावादी काव्य में यथार्थवाद के समावेश से है तो सचाई यह है कि छायावादी कवियों ने प्रयास करके उस स्थूल यथार्थवाद का तिरस्कार किया था। निराला की 'भिक्षुक' जैसी आरंभिक कविताएँ वस्तुतः पूर्ववर्ती सुधार-युग के करुणोत्पादक यथार्थवाद का ही अवशेष मालूम होती हैं जिन्हें अतिरिक्त गौरव देना गलत है। और यदि छायावाद में यथार्थवाद के समावेश का अर्थ कविता को यथार्थ के निकट ले जाने से है तो फिर छायावाद की ऐसी संकुचित परिभाषा करनी पड़ेगी जिसका जीवन के यथार्थ से कोई संबंध न हो। किन्तु जैसा कि चेलिशेव ने स्वयं स्वीकार किया है, "वास्तविकता के कलात्मक अर्थोद्घाटन की स्वच्छंदतावादी प्रणाली आधुनिक हिंदी कविता के विकास में एक महत्त्वपूर्ण नियम-सी रही है।" (पृ० २) ऐसी स्थिति में जबकि स्वच्छंदतावाद "वास्तविकता के कलात्मक अर्थोद्घाटन की प्रणाली" है, उसमें अलग से यथार्थवाद के समावेश की आवश्यकता नहीं रह जाती। इसलिए कोनरड द्वारा स्थापित और चेलिशेव द्वारा समर्थित नियम का केवल यह अंश हिंदी के लिए सत्य ठहरता है कि यहाँ यथार्थवाद में भी स्वच्छंदतावाद के तत्त्व विद्यमान थे, जैसा कि प्रगतिशील काव्य में दृष्टिगोचर होता है, यहाँ तक कि प्रेमचन्द के "आदर्शोन्मुख यथार्थ" वाले 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' जैसे आरंभिक उपन्यासों में भी स्वच्छंदतावाद मिश्रित यथार्थवाद की ही झलक मिलती है। उल्लेखनीय है कि पंतजी की काव्य-साधना के विवेचन के दौरान चेलिशेव ने भी कहीं 'यथार्थवाद मिश्रित स्वच्छंदतावाद' या 'स्वच्छंदतावाद मिश्रित यथार्थवाद' जैसी अवधारणा का सहारा नहीं लिया है। इसके विपरीत उन्होंने 'प्रगतिशील स्वच्छंदतावाद', 'क्रान्तिकारी स्वच्छंदतावाद' तथा 'सक्रिय स्वच्छंदतावाद' जैसे शब्दों का प्रयोग किया है जो स्पष्टतः स्वच्छंदतावाद के अधिक यथार्थोन्मुख छोर के सूचक हैं।

किन्तु इसके बावजूद चेलिशेव की उक्त स्थापना हिन्दी स्वच्छंदतावाद के निजी वैशिष्ट्य को समझने में काफी दूर तक सहायक है। इस संदर्भ में चेलिशेव की एक अन्य धारणा पर्याप्त प्रासंगिक है। उनका कहना है कि "हिन्दी कविता में छायावाद के कुछ अनुसंधानकर्ता-आलोचक छायावाद पर यूरोपीय स्वच्छंदतावाद के प्रभाव का अतिमूल्यांकन करते दिखाई देते हैं।...यह स्वीकार करना चाहिए कि आधुनिक भारतीय साहित्य के विकास-पथ पर पश्चिमी साहित्य का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है, पर यह प्रभाव उतना निर्णयकारी नहीं रहा है।" इस प्रकार चेलिशेव ने हिन्दी छायावाद के राष्ट्रीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैशिष्ट्य की ओर संकेत किया है। सवाल यह है कि हिन्दी छायावाद का वह राष्ट्रीय वैशिष्ट्य क्या है? क्या इस वैशिष्ट्य का सम्बन्ध केवल भारत की धार्मिक-सांस्कृतिक परंपराओं तक ही सीमित है? चेलिशेव इस विषय में काफी स्पष्ट हैं। उन्होंने हिन्दी छायावाद को नवीन सांस्कृतिक जागरण तथा राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन का प्रतिबिंब माना है। इसका अर्थ यह है कि हिंदी के छायावाद की विशिष्टता भारत के स्वाधीनता आन्दोलन की राष्ट्रीय प्रवृत्तियों से सम्बद्ध है। चेलिशेव ने जहाँ इतने आलोचकों के मत उद्धृत किए हैं, वहाँ वे इस संदर्भ में स्पष्टता के लिए रामविलास शर्मा का यह कथन उद्धृत कर सकते थे: "अंग्रेजी के रोमांटिक साहित्य और हिन्दी के छायावादी साहित्य में महत्त्वपूर्ण भेद है। हिंदी का छायावादी साहित्य सामंत-विरोधी औद्योगिक क्रान्ति के बाद का साहित्य नहीं है। वह साम्राज्यवाद के विरुद्ध भारतीय जनता के संघर्षकाल का साहित्य है। उसमें सबसे सशक्त स्वर देश की स्वाधीनता और जनतंत्र प्राप्त करने की आकांक्षा का स्वर है।...अंग्रेजी रोमांटिक साहित्य का एक सीमांत समाजवादी विचारधारा को छूता है तो दूसरा आदर्शवाद की घटनाओं में डूबा हुआ है। हिन्दी के छायावादी साहित्य का एक सीमांत साम्राज्य-विरोधी, सामन्त-विरोधी विचार-धारा को छूता है तो दूसरी ओर सामन्तवाद का समर्थन करने वाली अनेक आदर्शवादी धाराओं में डूबा हुआ है।" (लोकजीवन और साहित्य, पृ० ८२-८३)।

वस्तुतः राष्ट्रीयता के साथ स्वच्छंदतावाद के उदय का सम्बन्ध घनिष्ठ है। यदि भारतीय साहित्य में स्वच्छंदतावाद का उदय भारत की राष्ट्रीय स्वाधीनता के संघर्ष से संबद्ध है और इस प्रकार भारतीय स्वच्छंदतावाद के अपने विशिष्ट चरित्र का निर्माण हुआ, तो इसके साथ भारत की प्रत्येक भाषा के साहित्य में भी स्वच्छंदतावाद की अपनी जातीय विशिष्टता है। इस दृष्टि से हिंदी का छायावाद बंगला के स्वच्छंदता-वादी काव्य से एक हद तक समानता रखते हुए भी बहुत-सी बातों में भिन्न है। यही बात मराठी, गुजराती, मलयालम, उर्दू अथवा किसी अन्य भारतीय भाषा के स्वच्छंदतावाद के बारे में भी कही जा सकती है। चेलिशेव के विवेचन की यह सीमा है कि जहाँ उन्होंने भारतीय स्वच्छंदतावाद के राष्ट्रीय वैशिष्ट्य की बात उठाई वहाँ उन्होंने इस वृहत्तर परिवृत्त में हिंदी छायावाद की अपनी विशिष्टताओं का सवाल नहीं उठाया, उल्टे उन्होंने जगह-जगह रवीन्द्रनाथ के प्रभाव को अतिरिक्त महत्त्व दिया। जहाँ इतना सामान्य प्रश्न भी न उठाया गया हो वहाँ हिंदी छायावाद सम्बन्धी अन्य गहरे प्रश्नों की अपेक्षा ही क्या?

वस्तुतः हिंदी के छायावादी काव्य की राष्ट्रीय विशेषता की चर्चा करते समय सम्पूर्ण विश्व-साहित्य के स्वच्छंदता-वादी आन्दोलनों के राष्ट्रीय वैशिष्ट्य का उल्लेख करना आवश्यक है। स्वयं यूरोप के ही प्रायः हर देश का रोमांटिक काव्यान्दोलन एक हद तक दूसरे देश से प्रभाव ग्रहण करते हुए अपने राष्ट्रीय गौरव का उन्नायक रहा है। इंग्लैंड के रोमांटिक आन्दोलन ने फ्रांस की राज्य-क्रान्ति से प्रेरणा ली, किन्तु उसने अपने देश की लोक कथाओं, लोक गीतों, मिथकों आदि को आधार बनाकर साहित्य को राष्ट्रीय रंगत दी। इसी प्रकार रूस, पोलैंड, हंगेरी, जर्मनी और इटली का भी रोमांटिसिज्म प्रथमतः अपने राष्ट्र की सांस्कृतिक गरिमा की चिंता से संबद्ध था। प्रत्येक देश के रोमांटिसिज्म ने सामान्य जन-जीवन का आधार लेकर उस अभिजात वर्ग के विरुद्ध विद्रोह किया जो अपनी रुचियों में विदेशी—सामान्यतः फ्रांसीसी संस्कृति का गुलाम था। और अपने इस प्रयास में रोमांटिक कवियों को दूसरे देश के साहित्य से प्रेरणा लेने में कोई विरोधाभास न दिखा। इस प्रकार यदि हिंदी के छाया-वादी कवियों ने अंग्रेजी साम्राज्य से लड़ते हुए भी अंग्रेजी रोमांटिक काव्य से प्रेरणा ली तो इसमें न तो कोई विरोधा-भास था और न राष्ट्रीय वैशिष्ट्य का निषेध ही।

फिर भी चेलिशेव का यह कहना सही है कि आधुनिक भारतीय साहित्य के विकास में पश्चिमी साहित्य का प्रभाव निर्णयकारी नहीं रहा है। उन्होंने इस प्रभाव का अतिमूल्यांकन करने वाले हिंदी आलोचकों का खंडन उचित ही किया है, किंतु वे इस ब्योरे में नहीं गए कि वे आलोचक दरअसल थे कौन? यह प्रश्न अनावश्यक नहीं है। इससे आधुनिक कविता के विकास के अन्य अनेक प्रश्न उलझे हुए हैं।

वस्तुतः जिन आलोचकों ने हिंदी छायावाद पर पाश्चात्य प्रभाव को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया था वे छायावाद के विरोधी और प्राचीन काव्य के समर्थक थे। पाश्चात्य प्रभाव का हौवा खड़ा किया गया था अंध राष्ट्रवादी आग्रह के साथ। उल्लेखनीय है कि वे छायावाद को अभारतीय ही नहीं बल्कि असामाजिक, पलायनवादी और अस्वस्थ मनोवृत्ति की उपज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहते थे। प्रतिक्रिया की ये शक्तियाँ छायावाद युग में ही समाप्त नहीं हो गईं। उन शक्तियों के आक्रामक प्रयास छायावाद के बाद प्रगति, प्रयोग, नयी कविता तथा आज के दौर में भी देखे जा सकते हैं। इन नई काव्य-प्रवृत्तियों पर उनके आरोप भी वही पुराने हैं : पाश्चात्य प्रभाव का हौवा। चेलिशेव की इस पुस्तक के संदर्भ में हिंदी साहित्य की इस स्थिति का उल्लेख इसलिए आवश्यक है कि स्वयं वे भी आगे चलकर पाश्चात्य प्रभाव के उसी अतिमूल्यांकन के शिकार हो गए हैं। पाँचवें से सातवें दशक की जिस कविता को उन्होंने पश्चिम के पतनशील बुर्जुआ साहित्य का प्रभाव कहा है, वह भी छायावाद के समान ही अपना राष्ट्रीय वैशिष्ट्य रखती है। पंतजी की दृष्टि से देखने पर निश्चय ही उस पर पतनशील पाश्चात्य साहित्य का गहरा प्रभाव दिखाई पड़ेगा, लेकिन चेलिशेव के लिए कोई विवशता तो नहीं कि वे और बहुत-सी बातों में पंतजी की जीवन-दृष्टि को असंगतिपूर्ण मानते हुए भी इस मामले में उन्हीं की दृष्टि अपनाएँ। सचाई तो यह है कि पाँचवें दशक और उसके बाद की हिंदी कविता का विकास पंतजी के माध्यम से नहीं समझा जा सकता है। आखिर जो पंत बकौल चेलिशेव अपनी काल्पनिक जीवन-दृष्टि के कारण इस काल की जीवंत वास्तविकता से कटे रहे, वे इस काल की कविता के ही प्रतिनिधि कैसे हो सकते हैं? आश्चर्य है कि चेलिशेव की द्वन्द्वात्मक दृष्टि इस स्पष्ट असंगति को न देख सकी। एक वस्तुवादी आलोचक के नाते उन्हें यह प्रश्न करना चाहिए था कि क्या मुक्तिबोध जैसे कवि पतनशील पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव की उपज हैं? लगता है, चेलिशेव के सामने यह प्रश्न ही नहीं उठा, इसलिए उनसे पाँचवें दशक के बाद के साहित्य के विकास के सही नियमों की अपेक्षा नहीं की जा सकती। उन्हें न तो इस काल के भारतीय जीवन की वास्तविकता का सही ऐतिहासिक बोध है और न उस वास्तविकता को प्रतिबिंबित तथा परिवर्तित करने वाले काव्य से ही परिचय है। इसीलिए वे इस काल के भारतीय साहित्य में यथार्थवाद की सीमाबद्धता और निर्बलता पर खेद प्रकट करते हुए कहते हैं कि आधुनिक भारतीय कवि "अभी भी भारत के ऐतिहासिक विकास के खाके को विस्तृत एवं पूर्ण रूप में उद्घाटित एवं स्पष्ट नहीं कर पाएँ?" (पृ० १८) संभवतः निराशा का यह स्वर सुमित्रानंदन पंत पर ही सारा ध्यान केन्द्रित करने का परिणाम है।

हिंदी की समकालीन कविता में निस्सन्देह अनेक असंगतियाँ हैं। वास्तविकता के कलात्मक उद्घाटन में यह कविता सर्वथा निर्दोष नहीं है और कुछ कवियों के वैचारिक-सौंदर्यात्मक दृष्टिकोण निश्चित रूप से प्रतिक्रियावादी हैं। किन्तु इन सबको पश्चिम के पतनशील बुर्जुआ साहित्य का प्रभाव कहना अतिसरलीकरण है। कविता के इन मनोगत भ्रमों को सही-सही आँकने के लिए वर्तमान भारत की ऐतिहासिक परिस्थितियों का वस्तुगत विश्लेषण अपेक्षित है। चेलिशेव ने इस ब्योरे में जाने के बजाय सरलता और सुविधा का मार्ग अपनाया और समकालीन कविता को कवियों की विचारधारा में निःशेष करके दूसरे अतिसरलीकरण की भूल की।

किंतु इस असहमति के बावजूद चेलिशेव की पुस्तक महत्त्वपूर्ण है। सुमित्रानंदन पंत पर इतनी मुकम्मल और संतुलित पुस्तक दूसरी नहीं है। भारत के स्वाधीनता आन्दोलन की पृष्ठभूमि में आधुनिक हिंदी कविता का ऐसा ऐतिहासिक विश्लेषण कम हुआ है। मार्क्सवादी आलोचना असंदिग्ध रूप से इस पुस्तक से समृद्ध हुई है। इस तथ्य का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा कि यह पुस्तक संयोग से लेनिन जन्मशती के वर्ष में प्रकाशित हुई है और आधुनिक भारतीय साहित्य के विषय में अपनी गहरी दिलचस्पी तथा पैनी समझ का प्रमाण देकर चेलिशेव ने एक स्तर पर महान् लेनिन के क्रान्तिकारी उद्देश्य में ही योग दिया है। लेनिन जन्मशती के अवसर पर एक सोवियत अध्येता का हिंदी के लिए इससे उपयुक्त उपहार और क्या हो सकता है? ▱

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

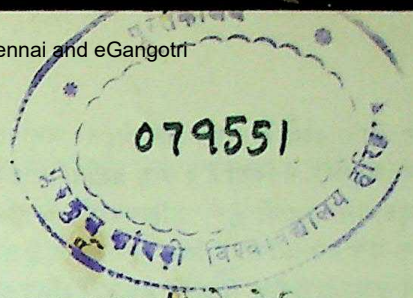

अराजकतावाद से लेनिनवाद की ओर

विश्वनाथ त्रिपाठी

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ७८वें वर्ष में प्रवेश कर चुके हैं। इस आयु में अपनी पिछली मान्यताओं को बदलना मुश्किल काम है। ऐसे लोग दुर्लभ हैं जो इस परिपक्वावस्था में भी विकास करने की क्षमता बनाए रख सकते हैं। पं० बनारसी दास चतुर्वेदी की पुस्तक 'नीलकंठ गोर्की' पढ़कर पता चलता है कि वे ऐसे ही दुर्लभ व्यक्तियों में से हैं। चतुर्वेदी जी अपने को अराजकतावादी घोषित करते रहे हैं, प्रिंस क्रोपाटकिन के परम भक्त रहे हैं। अराजकतावादी होने के बावजूद वे गांधी, रवीन्द्रनाथ, सी० एफ० एण्ड्रूज और राजेन्द्र प्रसाद और जवाहरलाल नेहरू के प्रशंसक रहे हैं। एक साथ इतने महापुरुषों का प्रशंसक होना ही प्रकट करता है कि वे विचारों में अराजकतावादी और व्यवहार में मानवतावादी रहे हैं। उनका जीवन घटना-संकुल रहा है, हिन्दी पत्रकारिता के विकास में उन्होंने महत्त्वपूर्ण योगदान किया है, तीव्र विवादों को उठाया और उकसाया है, निराला और उग्र जैसे साहित्यकारों पर प्रहार किया है और हजारीप्रसाद द्विवेदी, दिनकर और अज्ञेय जैसे लेखकों-कवियों के प्रारम्भिक रचनात्मक-विकास से सम्पृक्त रहे हैं। उन्होंने पत्रकार, विचारक और आन्दोलनकारी के रूप में जो कुछ किया है, उस सबसे सहमत या असहमत हुआ जा सकता है, लेकिन उनकी दीर्घ और निरन्तर समाज-साधना को कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करना उनके विरोधियों और प्रशंसकों सबका कर्तव्य है।

जिस-तिस किसी आदमी को संस्था कह देना आसान है, किन्तु किसी व्यक्ति का संस्था बन पाना निहायत मुश्किल काम है। इसके लिए निष्ठा, दृढ़ता, संगठन-शक्ति, कौशल, धैर्य सभी कुछ चाहिए। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी में ये गुण हैं, इसीलिए वे सचमुच एक व्यक्ति नहीं, संस्था हैं। संस्थाधिपति प्रायः लक्ष्मीपति भी बन जाते हैं। मैंने जितना उन्हें देखा है, उसके आधार पर कह सकता हूँ कि वे अपरिग्रही भी हैं। बड़े-बड़ गांधीवादी और आदर्शवादी क्या-से-क्या हो गए हैं, इसे देखकर सोचें तो समझ में आता है कि चतुर्वेदी जी कितने श्रद्धास्पद हैं! यह भी समझ में आता है कि पुरानी मान्यताओं का मोह छोड़ पाने की शक्ति का सम्बन्ध अपरिग्रह से भी है।

चतुर्वेदी जी ने 'नीलकंठ गोर्की' में घोषित किया है :

"दुर्भाग्य की बात है कि मेरे मन में यह आशङ्का उत्पन्न हो गई है कि महात्मा जी के तरीके को हमने असफल बना दिया है और लेनिन की कार्य-पद्धति ही इस मुल्क का उद्धार कर सकेगी। पशु-श्रेणी के करोड़ों व्यक्ति समझाने-बुझाने से नहीं मानने के। वे डंडे के बूते पर ही सही मार्ग पर लाए जा सकेंगे।"

महात्मा जी का तरीका असफल क्यों हो गया?

गांधीजी ने धनपतियों को समाप्त करने की आवश्यकता नहीं समझी थी। वे मानते थे कि राजा और धनपति भी समाजवादी हो सकते हैं यदि वे समाज की सेवा करें। वे धनवानों को 'ट्रस्टी' बनने की राय देते थे। लेकिन चतुर्वेदीजी ने समझ लिया है कि **"हमारे देश का साधन-सम्पन्न वर्ग ट्रस्टी बनने को तैयार नहीं। अन्याय से अर्जित धन-सम्पत्ति पर वह युग-युगान्तर तक अपना काबू रखना चाहता है, पर समस्त जनता में अनन्त काल तक धैर्य धारण करने की शक्ति नहीं। जब फोड़े का इलाज मरहम-पट्टी से न हो सके तो आपरेशन अनिवार्य हो जाता है।"**

ऐसी स्थिति में लेखक का क्या कर्तव्य है?

चतुर्वेदीजी ने यह पुस्तक मुख्यतः लेखकों को परिस्थिति और कर्तव्य से अवगत कराने के लिए लिखी और संपादित की है। लेखकों का क्या कर्तव्य है इस पर उन्होंने स्वयं विचार किया है और गोर्की की प्रसिद्ध कहानी 'एक पाठक'

नीलकंठ गोर्की : लेखक, बनारसीदास चतुर्वेदी, प्राप्ति स्थानः नवहिन्द प्रकाशन, सुल्तान बाजार, हैदराबाद; मूल्य ८० पैसे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का अनुवाद भी दे दिया है। इस कहानी का अनुवाद श्री प्रकाश चन्द्र चतुर्वेदी ने किया है। यह कहानी गोर्की की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कहानी है—साहित्यकारों के लिए। साहित्यकार यदि यश-प्राप्ति के लिए ही लिखता है तो वह सूदखोर है। कहानी में एक पात्र के रूप में चित्रित पाठक कहानीकार से कहता है : "तुम तो इसलिए देते हो कि जीवन से और जन से और अधिक प्राप्त कर सको। तुम इतने दरिद्र हो कि कुछ भी भेंट नहीं दे सकते। तुम सूदखोर हो, अपने अनुभव के टुकड़ों को उधार देते हो जिससे ब्याज के रूप में तुम्हें यश प्राप्त हो सके।" (पृ० ३२)। उदास, थकी और हारी जिन्दगी सभी मूल्यों पर व्यंग्य करती है। लोग ओछेपन के सामने हथियार डाल चुके हैं। ओछेपन से हारा हुआ व्यक्ति "सूअरों की भांति सदा जिन्दगी बिताना चाहता है·· जब भी उसके सामने कोई 'आदर्श' का नाम लेता है वह व्यंग्य से हंस देता है।" और यह हंसी भी कैसी होती है? यह हंसी सहज निष्कपट और सरल नहीं होती—"अब वे हंसते हैं दुष्टता से, ओछेपन से; अक्सर आंसुओं के बीच से"। इस स्थिति से लोगों को उबारने के लिए उन्हें गतिशील बनाना है, उन्हें जिन्दगी की खूबसूरती की ओर आकृष्ट करना है। इसके लिए साहित्यकार को मनुष्य के पशुत्व को कोड़े लगाने की जरूरत है। स्थिति ऐसी है कि मनुष्य को प्रेम करने वाले साहित्यकार के लिए मनुष्य के पशु पर कोड़े लगाना अनिवार्य हो गया है।

इस कहानी को 'नीलकंठ गोर्की' में सम्मिलित करने का उद्देश्य साहित्यकारों को अपने कर्तव्य के प्रति सचेत करना था। गोर्की के प्रति चतुर्वेदीजी के आदर की भावना का मुख्य कारण उसकी संघर्षमयता है। चतुर्वेदीजी महापुरुषों की जीवनी पढ़ने और लिखने के बेहद शौकीन रहे हैं। उन्होंने "प्रिंस क्रोपाटकिन, महात्मा गांधी, बाबू राजेन्द्रप्रसाद, पंडित जवाहरलाल नेहरू, स्टिफन ज्विग और मैक्सिम गोर्की के जीवन-चरित्र बड़ी रुचि से पढ़े हैं" लेकिन इन महापुरुषों और गोर्की में महान् अन्तर यह है कि "गोर्की समाज के सबसे निचले वर्ग से निकलकर ऊपर आये थे"। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी जानते हैं कि "गरीबी किसे कहते हैं इसीलिए वे 'प्रथम' पांच भाग्यशाली चरितनायकों के महत्त्व की कद्र करते हुए भी कहते हैं : "तथापि मेरी स्वाभाविक सहानुभूति निस्सन्देह उस दुर्भाग्यशाली अभागे छठे व्यक्ति यानी गोर्की के प्रति है। मैं प्रथम पांचों की प्रशंसा करता हूँ पर मेरी हार्दिक श्रद्धा तो गोर्की को ही समर्पित है।" (**मैक्सिम गोर्की का आत्मचरित्र**)।

चतुर्वेदीजी गोर्की के दोनों रूपों—व्यक्ति और साहित्यकार से प्रभावित हैं। वे व्यक्ति और साहित्यकार की अभिन्नता पर बल देने वाले चिन्तक हैं। आज ऐसे निर्भीक चिन्तकों की बड़ी आवश्यकता है। चतुर्वेदीजी की ईमानदारी का इससे बड़ा सबूत क्या हो सकता है कि मृत्यु की छाया में बैठ कर उन्होंने लेनिन के रास्ते को श्रेयस्कर बताया। मृत्यु और परलोक का भय बड़े-बड़े क्रांतिकारियों को भक्त और रहस्यवादी बना देता है। लेकिन चतुर्वेदीजी ने आपरेशन थियेटर में जाने के पूर्व इस देश के लोगों को गांधीवादी रास्ते की सीमाएँ बताईं। उन्होंने साहित्यकारों से विशेष अनुरोध किया कि वे समय के अनुसार अपने कर्तव्य को पहचानें और उस पर चलें। देश की दशा को सबसे अधिक प्रभावशाली ढंग से तो राजनैतिक कार्यकर्त्ता ही बदल सकते हैं। लेकिन सभी लेखक राजनैतिक कार्यकर्ता नहीं बन सकते। राजनैतिक कार्यकर्ता न बन पाना एक बात है और राजनीति से कोई सरोकार न रखना या उसे साहित्यकार के लिए संदर्भहीन समझना दूसरी बात है।

जनता साहित्यकार से अपेक्षा रखती है कि वह जीवन को सुखी और सुन्दर बनाने की कोशिश में अपने ढंग से काम करे। देश की जनता ज्यों-ज्यों सचेत होती जाएगी उसकी यह अपेक्षा बढ़ती जाएगी। चतुर्वेदीजी ने साहित्यकारों को सावधान किया है : "वह वक्त शीघ्र ही आने वाला है जब कि इस देश की जाग्रत जनता प्रत्येक सजीव लेखक से सवाल करेगी—जनाब! किस प्रकार की समाज-व्यवस्था में विश्वास रखते हैं और तदनुसार काम करने की कितनी सामर्थ्य है?"

यानी साहित्यकार को प्रतिबद्ध होना पड़ेगा—सामाजिकता से, उसे अधिक जवाबदेह होना पड़ेगा। इसका परिणाम सुखद होगा। जनता साहित्य में रुचि लेगी। साहित्यकार और पाठक परस्पर आमने-सामने होंगे।

गोर्की के प्रति चतुर्वेदी जी की यह श्रद्धा उनके प्रति भी हमारे हृदय में श्रद्धा जगाती है।

●

07955

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज से सदियों पूर्व भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक और जाती
एकता की मंगलमयी कल्पना को नाट्यकला के माध्यम से प्रक
रूप देनेवाले आदि नाट्याचार्य भरत के कृतित्व का विश्लेष
तथा मूल्यांकन प्रस्तुत करनेवाला एक बहुमूल्य ग्रन्थ

भरत और भारतीय नाट्यकला

भारतीय नाट्यकला के अध्येताओं के लिए अतीव उपयोगी और प्रामाणिक शोधकृति

डॉ० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित

बिहार विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में विद्वान लेखक ने भारतीय नाट्यकला विषयक सम्पूर्ण उपलब्ध सामग्री का अवगाहन करते हुए दिखाया है कि नाट्यकला के इस व्यापक क्षेत्र में भरत की देन क्या है और उनका परवर्ती नाटककारों, नाट्यशास्त्रियों और रंगशिल्पियों पर क्या प्रभाव पड़ा है।

पुस्तक में विवेचित उल्लेखनीय विषय

- भरत का व्यक्तित्व और नाट्यशास्त्र का काल-निर्धारण
- भारतीय नाट्योत्पत्ति और तत्सम्बन्धी विभिन्न वाद
- भरत-कल्पित नाट्यमंडप का स्वरूप
- दशरूपक विकल्पन, इतिवृत्त-विधान और पात्र-विधान
- नाट्य के रस और भाव
- अभिनय विज्ञान
- नाट्य का प्रस्तुतीकरण
- नाट्य-प्रयोग विज्ञान
- नाट्य वृत्ति, प्रवृत्ति और लोकधर्मी एवं नाट्यधर्मी रूढ़ियाँ
- नाट्य की उपरंजक कलाएँ : गीतवाद्य और नृत्य
- आधुनिक भारतीय रंगमंच

पुस्तकालय

रायल आकार में ६०० से अधिक पृष्ठ : रैक्सिन की मजबूत एवं आकर्षक जिल्द :
मूल्य ३०.०

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
दिल्ली-६ पटना-६
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज से सदियों पूर्व भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक और जाती
एकता की मंगलमयी कल्पना को नाट्यकला के माध्यम से प्रक
रूप देनेवाले आदि नाट्याचार्य भरत के कृतित्व का विश्लेष
तथा मूल्यांकन प्रस्तुत करनेवाला एक बहुमूल्य ग्रन्थ

भरत और भारतीय नाट्यकला

भारतीय नाट्यकला के अध्येताओं के लिए अतीव उपयोगी और प्रामाणिक शोधकृति

डॉ० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित

बिहार विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में विद्वान लेखक ने भारतीय नाट्यकला विषयक सम्पूर्ण उपलब्ध सामग्री का अवगाहन करते हुए दिखाया है कि नाट्यकला के इस व्यापक क्षेत्र में भरत की देन क्या है और उनका परवर्ती नाटककारों, नाट्यशास्त्रियों और रंगशिल्पियों पर क्या प्रभाव पड़ा है।

पुस्तक में विवेचित उल्लेखनीय विषय

- भरत का व्यक्तित्व और नाट्यशास्त्र का काल-निर्धारण
- भारतीय नाट्योत्पत्ति और तत्सम्बन्धी विभिन्न वाद
- भरत-कल्पित नाट्यमंडप का स्वरूप
- दशरूपक विकल्पन, इतिवृत्त-विधान और पात्र-विधान
- नाट्य के रस और भाव
- अभिनय विज्ञान
- नाट्य का प्रस्तुतीकरण
- नाट्य-प्रयोग विज्ञान
- नाट्य वृत्ति, प्रवृत्ति और लोकधर्मी एवं नाट्यधर्मी रूढ़ियाँ
- नाट्य की उपरंजक कलाएँ : गीतवाद्य और नृत्य
- आधुनिक भारतीय रंगमंच

पुस्तकालय

रायल आकार में ६०० से अधिक पृष्ठ : रैक्सिन की मजबूत एवं आकर्षक जिल्द :
मूल्य ३०.०

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
दिल्ली-६ पटना-६
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar
श्रीमती शीला सन्धू, मैनेजिंग डायरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०,

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Compiled
1999-2000

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

COMPILED

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

LIB. G.K.V.